।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ।।

जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति

संकलनकर्ता एवं व्याख्याकार :

परमपूज्य श्री परमहंस जी महाराज का कृपा-प्रसाद

स्वामी अड़गड़ानन्द जी

श्री परमहस आश्रम

शक्तेषगढ़, चुनार-मिर्जापुर (उ० प्र०)

फोन - (०५४४३) २२४४०



प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

२९ ए, फ्रेंच रोड (मर्चेण्ट क्लब के सामने)

चौपाटी, मुम्बई - ४००००७

प्रकाशक-
श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
२९ ए, फ्रेंच रोड, मर्चेंट क्लब के सामने, चोपाटी,
मुंबई - ४०० ००७ भारत
फोन· (०२२) ५६३० ३८११
फैक्स: (०९१-२२) २३६४ ३१०९
वेबसाईट: www yatharthgeeta com
ईमेल· contact@yatharthgeeta com

संस्करण	- प्रथम, गुरु पुर्णिमा,			१९९४	- १००० प्रतियॉं.
	- पुन:प्रकाशित	-		१९९६	- १००० प्रतियॉं.
	- पुन:प्रकाशित	-	दिसम्बर	१९९७	- २००० प्रतियॉं.
	- पुन:प्रकाशित	-	मार्च	१९९८	- २००० प्रतियॉं.
	- पुन:प्रकाशित	-	नवम्बर	१९९८	- २००० प्रतियॉं.
	- पुन.प्रकाशित	-	अगस्त	१९९९	- २००० प्रतियॉं.
	- पुनं:प्रकाशित	-	अप्रैल	२०००	- २००० प्रतियॉं.
	- पुन.प्रकाशित	-	दिसम्बर	२०००	- ५००० प्रतियॉं.
	- पुन.प्रकाशित	-	दिसम्बर	२००१	- २००० प्रतियॉं.
	- पुन प्रकाशित	-	दिसम्बर	२००२	- २००० प्रतियॉं.
	- पुन:प्रकाशित	-	सप्तम्बर	२००३	- २००० प्रतियॉं.

मूल्य - रु. २००.००

मुद्रक-
प्रिया ग्राफिक्स
मुम्वई - ४०० ०७२





WORLD RELIGIOUS PARLIAMENT

(विश्व धर्म संसद)

C-121, KIRTI NAGAR, NEW DELHI - 110 015 (INDIA)

विश्वगौरव सम्मानपत्र

वेदवेदांग आयुर्वेद ज्योतिषादि शास्त्रपरम्परासुरक्षाव्रती, अखिल संस्कृतवाङ्मयसंरक्षण—प्रचार—प्रसारपक्षधर आर्षसनातनमर्यादाजीवनपद्धतिसदाचारपरायण, "सर्वभूतहिते रत —वसुधैव कुटुम्बकम्" के सद्भावना पर्यावरण से ओतप्रोत,

सम्माननीय श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज - परमहंस आश्रम

निवासी शक्तेशगढ़ चुनार (मिर्जापुर) को

अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन मे विश्वगौरव सम्मानपत्र से विभूषित किया जाता है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा ।

World Religious Parliament is pleased to confer
The Title of Vishwagaurav
In recognition of his meritorious contribution for World Development
through श्रीमद्भगवद्गीता, धर्मशास्त्र, (भाष्य यथार्थ गीता)
दिनांक कुम्भ मेला 10-4-98 हरिद्वार

Chairman (जगद्गुरु)
Presentation Committee

Acharya Prabhakar Mishra
Chairman
World Religious Parliament

बीसवी शताब्दी के अंतिम महाकुम्भ के अवसर पर हरिद्वार मे समस्त शंकराचार्यो, महामंडलेश्वरो, ब्राह्मण महा सभा और ४४ देशो के धर्मशील विद्वानो की उपस्थिति मे विश्वधर्म संसद द्वारा पूज्य स्वामी जी को "विश्वगौरव" सम्मान पत्र प्रदान किया गया।




WORLD RELIGIOUS PARLIAMENT

(विश्व धर्म ससद्)

C-121, KIRTI NAGAR, NEW DELHI - 110 015 (INDIA).

भारतगौरव सम्मानपत्र

वेदवेदाग आयुर्वेद ज्योतिषादि शास्त्रपरम्परासुरक्षाव्रती, अखिल सस्कृतवाङ्मयसंरक्षण—प्रचार—प्रसारपक्षधर आर्षसनातनमर्यादाजीवनपद्धतिसदाचारपरायण, "सर्वभूतहिते रत —वसुधेव कुटुम्बकम्" के सद्भावना पर्यावरण से ओतप्रोत,

सम्माननीय श्री स्वामी अडगडानन्द जी महाराज

निवासी ______ को

अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन मे भारतगौरव सम्मानपत्र से विभूषित किया जाता है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा ।

World Religious Parliament is pleased to confer
The Title of Bharatgaurav
In recognition of his meritorious contribution for World Development
through Spiritual Discourse

विश्वनाथ ...
Chairman ... महाधीश, कर्नाटक
Presentation Committee

Acharya Prabhakar Mishra
Chairman
World Religious Parliament

मानव मात्र का धर्मशास्त्र श्रीमद्भगवत गीता, की विशुद्ध व्याख्या ''यथार्थ गीता'' को धर्म ससद द्वारा दि १० ४ ९८ को महाकुम्भ के अवसर पर 'भारतगोरव' के सम्मान पत्र से सम्मानित किया गया।



विश्व धर्म संसद्

WORLD RELIGIOUS PARLIAMENT

C-121, KIRTI NAGAR, NEW DELHI 110 015 (INDIA)

सम्मान प्रमाणपत्र

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" के मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित विश्व में निरोगसमाज की स्थापना तथा शारीरिक मानसिक बौद्धिक सामाजिक स्वास्थ्य की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील एवं बाह्य तथा आन्तरिक पर्यावरण की स्वच्छता के लिए संकल्पित विश्व धर्मसंसद् प्राच्यअर्वाच्य ज्ञान विज्ञान की किसी भी शाखा के माध्यम से मानवता की सेवाओं मे समर्पित व्यक्तियों को सम्मान करने मे गौरव समझती है।

इसी धारणा-अवधारणा के दृष्टिकोण से उल्लेखनीय ज्ञान तथा सेवाओ के लिए श्री विश्वमानव को एक धर्मशास्त्र दाता विश्वगौरव स्वामी अड़गड़ानन्द जी को — यथार्थ गीता धार्मिक — क्षेत्र/विषय में — विश्वगुरु — सम्माननीय उपाधि से सम्मानित तथा जनसेवा के क्षेत्र में अग्रणी प्रमाणित करती है।

श्रीमद् भगवद् गीता भाष्य "यथार्थ गीता" धर्मशास्त्र है।

World Religious Parliament is pleased to confer the above Title in recognition of his meritorious contribuiton for World Development through ____________________

26-1-2001

Chairman
Presentation Committee
or
Presiding Authority

महाकुम्भ
मेला



प्रयाग

Acharya Prabhakar Mishra
Chairman (Indian Region)
World Religious Parliament

विश्व धर्म परिषद ने विश्व मानव धर्मशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य 'यथार्थ गीता' पर परम पूज्य विश्व गौरव परमहस स्वामी श्री अडगड़ानन्द महाराजजी को प्रयाग के परम पावन पर्व महाकुम्भ के अवसर पर दिनाक २६-१-२००१ के 'विश्व गुरु' की उपाधी से विभूषित किया।

अनन्तश्री विभूषित,

योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्दजी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया

(चित्रकूट)

के परम पावन चरणों में

सादर समर्पित

–अन्तस्प्रेरणा



अनन्तश्री विभूषित, योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्दजी

के हस्ताक्षर

"आत्मने मोक्षार्थं जगत हिताय च"



श्री श्री १००८ श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

सत्संग करते हुए–

जन्म : शुभ सम्वत् विक्रम १९६९. (१९११ ई.)

महाप्रयाण ज्येष्ठ शुक्ल ७, २०२६ दिनाक २३/०५/१९६९



श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी

(परमहंस महाराज का कृपा प्रसाद)

गुरु-वन्दना

ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सुरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुखराशि, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वैष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
जय सद्गुरु.....भारी।।

ॐ

वन्दना

भवसागर तारण कारण हे, रविनन्दन-बन्धन-खण्डन हे।
शरणागत किंकर भीत मने, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

हृदि-कन्दर-तामस-भास्कर हे, तुम विष्णु प्रजापति शंकर हे।
परब्रह्म परात्पर वेद भणें, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

मन-वारण-कारण अंकुश हे, नर त्राण करे हरि चाक्षुष हे।
गुण-गान-परायण देवगणे, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

कुल-कुण्डलिनी तुम भंजक हे, हृदि-ग्रन्थ विदारण कारण हे।
महिमा तव गोचर शुद्ध मने, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

अभिमान-प्रभाव-विमर्दक हे, अति हीन जने तुम रक्षक हे।
मन-कम्पित-वंचित-भक्ति-घने, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

रिपुसूदन मंगलनायक हे, सुख-शान्ति-वराभय दायक हे।
भय-ताप हरे तव नाम गुणे, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

तव नाम सदा सुख-साधक हे, पतिताधम-मानव पावक हे।
मम मानस चंचल रात्रि दिने, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

जय सद्गुरु! ईश्वर प्रापक हे! भवरोग-विकार विनाशक हे।
मन लीन रहे तव श्रीचरणे, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

"सद्गुरु की शरण में जाओ, सम्पूर्ण योग की कुंजी मिलेगी।"

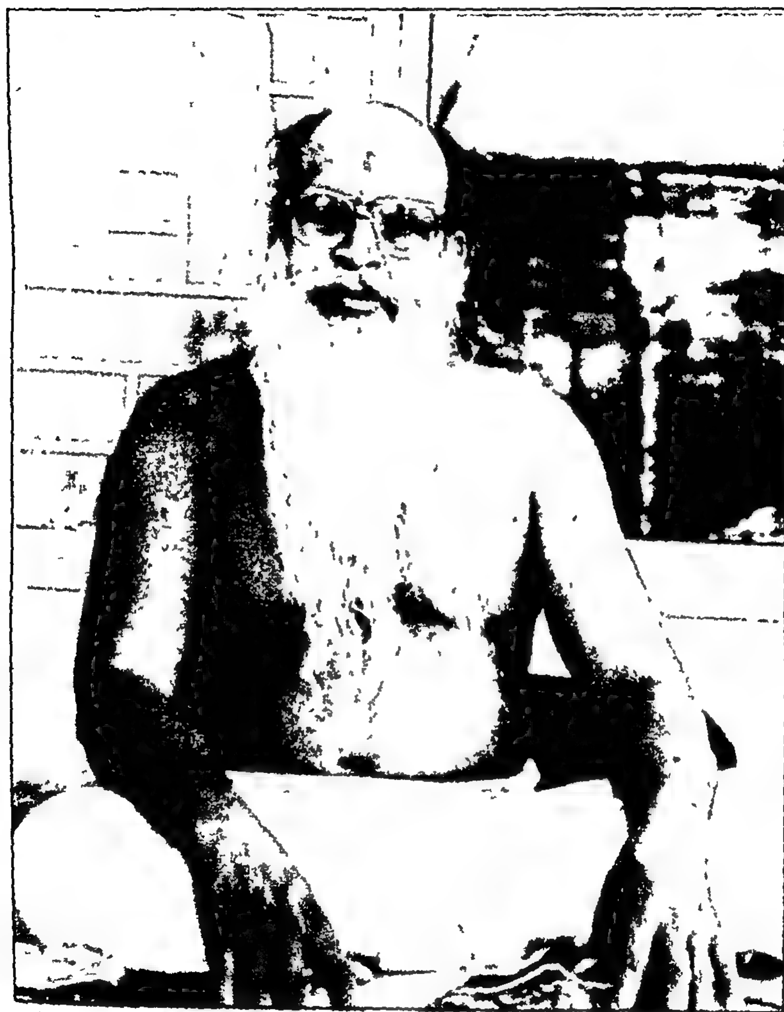


श्री गुरुदेव भगवान के शिष्यो मे प्रथम स्थितप्रज्ञ विभूति

स्वामी श्रीसच्चिदानन्द जी महाराज

श्री परमहंस आश्रम, धारकुण्डी, सतना–मध्यप्रदेश

"सद्गुरू की आज्ञा-पालन साधक की सच्ची साधना है।"



श्री गुरूदेव भगवान के शिष्यो मे द्वितीय स्थितप्रज्ञ विभूति

स्वामी श्री भगवानानन्द जी महाराज

श्री परमहंस आश्रम, अनुसूइया, चित्रकुट—मध्य प्रदेश

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ सख्या

विषय	पृष्ठ संख्या

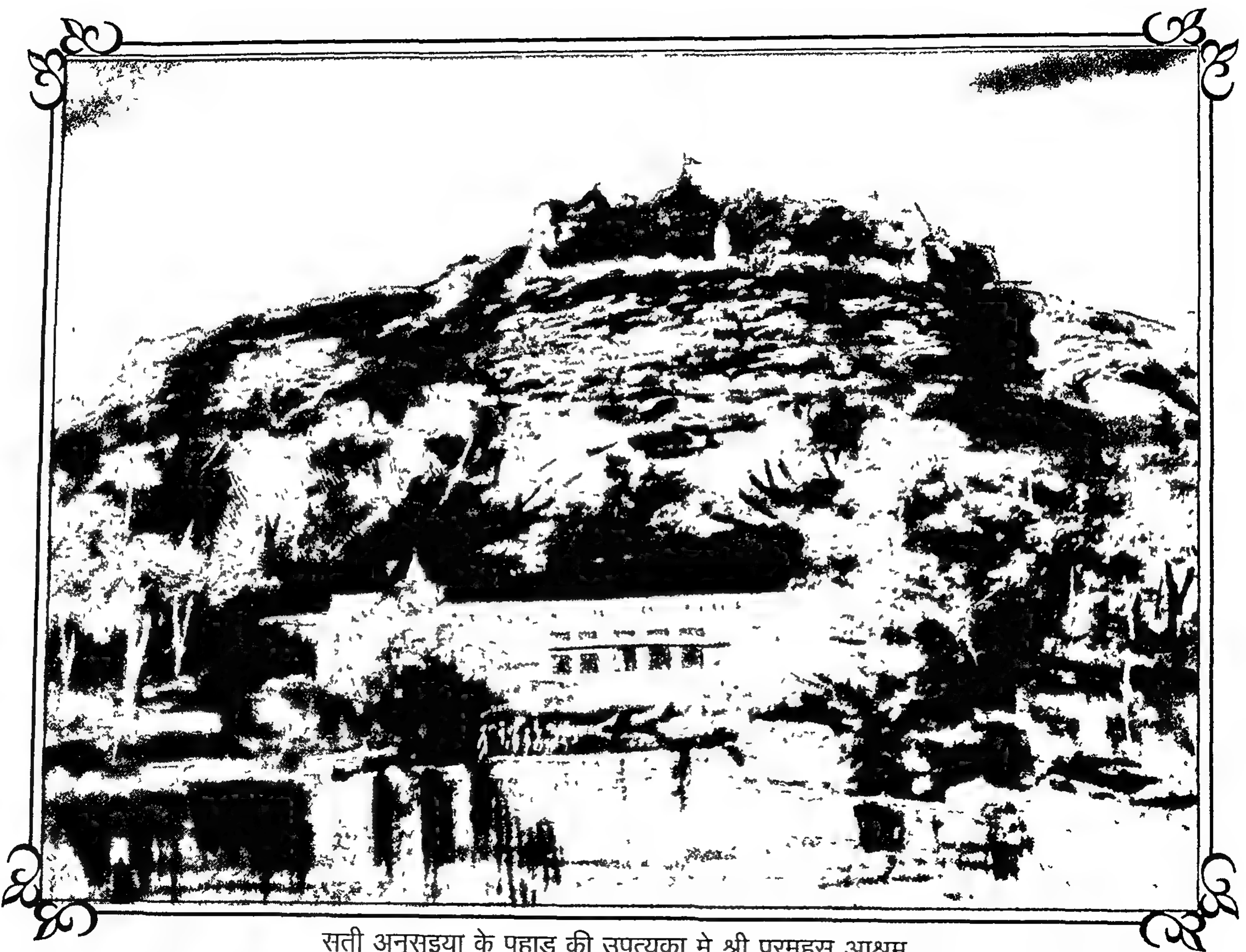
विषय	पृष्ठ संख्या

विषय	पृष्ठ संख्या

विषय	पृष्ठ संख्या

तृतीय उच्छ्वास

चित्र-सूची



सती अनुसुइया के पहाड की उपत्यका मे श्री परमहस आश्रम

प्राक्कथन

यह सार्वभौमिक सत्य है कि जब-जब जनमानस में आसुरी प्रवृत्तियों का बाहुल्य होने लगता है तथा सत्प्रवृत्तियॉं ह्रासोन्मुखी होकर प्रश्रय चाहती हैं, तब-तब समाज की विषम परिस्थितियों के बीच नवजागरण का सदेश लिये महापुरुषों का अभ्युदय होता है। कुछ ऐसी ही धार्मिक साम्प्रदायिकता एव आडम्बर के शमनहेतु सच्चे अध्यात्म पथ-प्रदर्शक के रूप में परमपूज्य श्री परमहसजी का सृष्टि मे अभ्युदय हुआ। श्री परमहस स्वामीजी का आविर्भाव एक ऐसे प्रकाशपुज के रूप में जनमानस के बीच हुआ था, जिनकी ज्योतिर्मयी रश्मियों ने धार्मिक आडम्बर एव तिमिराच्छादित अन्तर्मल को नष्ट कर अखिल ससृति को आलोकित कर दिया।

वास्तव में वह गुरु, गुरु नहीं जो आती हुई मौत से न बचा ले ओर वह शिष्य, शिष्य नहीं जो गुरु के हाथ का यत्र बनकर, उनके आदेशों मे प्रवृत्त होकर गुरु की स्थिति को न पा ले। ऐसी ही परमपावन विभूति श्री परमहसजी महाराज के जीवन-दर्शन के प्रति कुछ न कुछ लिखने के लिये न जाने कब से मेरे मानस में भाव तरगित हो रहे थे, किन्तु अन्तर्जगत् से किनारा न मिलने के कारण उनकी अभिव्यक्ति न हो सकी। सौभाग्यवश इस वर्ष ग्रीष्मकाल में श्री परमहस आश्रम धारकुण्डी में रुकने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। परमार्थ-पथ को प्रशस्त करनेवाले ब्रह्मज्ञ श्री स्वामीजी, परमहस आश्रम धारकुण्डी महाराजजी ने मुझे अन्तर्देश से सम्बल प्रदान कर इस कृति के सकलन में अक्षुण्ण प्रेरणा से अनुप्राणित किया है। उनके अतुलनीय योगदान और महती कृपा के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने में वाणी असमर्थ है तथापि इस महती कृपा के लिये मैं कोटिश हार्दिक आभार प्रदर्शित करते हुए उनका चिरऋणी हूॅ। लेखनी केवल इस आशा और विश्वास के साथ उठ रही है कि श्री स्वामीजी आद्यान्त भावों को स्वरूप देने मे प्रेरणात्मक आशीर्वाद देते रहेंगे, साथ ही अनुसुइया आश्रम के वर्तमान स्वामी श्री भगवानानन्दजी के प्रति भी मै हृदय से कृतज्ञ हूॅ, जिनकी बहुत पूर्व से ही मुझ पर असीम कृपा रही है। यह एक परम्परागत प्रवृत्ति हो गयी है कि किसी न किसी रूप में सभी अनुयायी शिष्यगण अपने-अपने गुरुजनों की प्रशसा करने मे नहीं थकते, किन्तु प्रशस्ति गायन से शिष्य गुरु-ऋण से निवृत्त नहीं होता। उसे क्रमश यौगिक प्रक्रिया के द्वारा प्रयोगात्मक पथ पर चलकर गुरु के गुरुत्व को प्राप्त करना पडता है। शुद्ध स्तुति तो वह है कि सद्गुरु परमात्मा की जिस पराकाष्ठा में स्थित है, साधक क्रमश चलकर उसी पराकाष्ठा में लीन हो जाय। वास्तव में उसी साधक के द्वारा गुरु के गुणधर्म प्रगट होते है। अत उसी की अन्तिम उपलब्धि के फलस्वरूप गुरु का नाम सार्थक होता है। समर्थ सद्गुरु के उत्कृष्ट जीवन-चरित्र को लिपिबद्ध करना सामान्य सामर्थ्य के परे है। यह जो कुछ भी लिखा जा रहा है, उन्हीं महापुरुष की महती अनुकम्पा का प्रतिफल है।

समय के प्रवाह में जीवनमुक्त महापुरुष श्री परमहसजी भी अपने पार्थिव शरीर का परित्याग कर हमारे बीच से ठीक उसी प्रकार उठ गये, जिस प्रकार राम, कृष्ण, बुद्ध इत्यादि। जो विशेषतायें उपरोक्त महापुरुषों में थीं, वे पूर्णतया श्री परमहसजी के जीवन-वृत्त में भी अवतरित हैं। उपरोक्त महापुरुषों के जीवन में कुछ ऐसी अलौकिक एव चमत्कारपूर्ण समस्याओ का शमन पाया गया, जिन्हें देखकर जन-समाज उनके प्रति आकर्षित हुआ। कुछ ऐसी ही विलक्षण घटनाओं का हल

श्री परमहंसजी के सान्निध्य से भी जन-जीवन को मिला, जो असंख्य मानवों के संतोष का अमरस्रोत बन गया है।

चित्रकूट की जनता स्वभावत: राम के प्रति श्रद्धा रखनेवाली है। इसी विशेष गुण के कारण धर्मी कही जा सकती है। वैसे यहाँ आये दिन डाकुओं के क्रूर बर्बरता के उदाहरण मिलते हैं। ऐसी सामाजिक क्रूरता के बीच श्री परमहंसजी का आगमन जन-जीवन को सद्मार्ग की नयी दिशा देने में अभूतपूर्व कार्य किया है। सैकड़ों पागल उनके दर्शन से तत्काल ठीक होते देखे गये हैं। वे आज भी जीते-जागते उनकी दुहाई देते हैं। कतिपय घटनायें तो ऐसी विलक्षण हैं जिन्हें देख-सुनकर बुद्धि चकाचौंध हो जाती है। कुछ ऐसे रुग्ण व्यक्ति चिकित्सकों से जवाब पाकर आपके पास कृपायाचना हेतु आये जो अद्यावधि जीवित हैं।

श्री परमहंस महाराजजी के सान्निध्य में विरक्त शिष्यत्व के लिये अनेक व्यक्ति आये, परन्तु शरण कुछ ही लोगों को मिली। जनसाधारण की स्थिति आप हृदय से टटोलते और परीक्षण करने के उपरान्त शरण देने से इनकार कर देते थे। कुछ लोग तो ऐसे भी थे जो इन अप्रिय शब्दों को सुनकर अनशन कर देते थे, परन्तु स्थान पात्र-सुपात्र का मूल्यांकन करने के पश्चात् उपयुक्त अधिकारी को ही दिया जाता था। श्री महाराजजी के देदीप्यमान शिष्यों में पावन विभूति श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी, परमहंस आश्रम धारकुण्डी आज क्षेत्रीय समाज के लिये उपलब्ध हैं, जिनकी अन्तश्चेतना से नि:सृत ज्ञान की पीयूष-धारा अनवरत धारकुण्डी की अपार्थिव गुफा से प्रवाहित है।

प्रस्तुत कृति के प्रथम उच्छ्वास में जीवनादर्श पर प्रकाश डालने वाली कतिपय आश्चर्यजनक घटनाओं का परिचयात्मक पद्धति में उल्लेख किया गया है, जिन्हें हृदयंगम कर जीवन-पथ पर चलनेवाले पथिक सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य का सान्निध्य प्राप्त कर सकते हैं। कृति के द्वितीय उच्छ्वास में आत्मानुभूति के चरमोत्कर्ष पर आसीन करनेवाली उनकी अमरवाणी बारहमासी की व्याख्या एवं सदुपदेशों का चयन किया गया है। अन्तिम उच्छ्वास में पूज्य महाराज जी द्वारा प्रयुक्त कतिपय लोकोक्तियों, लोकेतर शक्तियों एवं विद्या का संकलन है, जिनके माध्यम से वे भाविकों का पथ-प्रदर्शन एवं अनेकानेक साधनोपयोगी भूमिकाओं का निदर्शन करते थे। सरल, सरस मुहावरों से गम्भीर तात्त्विक सिद्धान्तों का विवेचन कर सकना परमहंसजी की अपनी विशेषता थी, जिसके अवगुण्ठन में ब्रह्मविद्या की शुष्कता तिरोहित हो जाती थी। किन्तु इन सबसे विलक्षण तो महाराजजी की अपनी शैली थी, जो अन्तरतम तक प्रविष्ट होती चली जाती थी।

इस कृति को मैं अपनी सामर्थ्य से ही नहीं अपितु सेवाभाव से अन्तर्जगतीय प्रेरणानुकूल भाषाबद्ध कर रहा हूँ। इसके संकलन में त्रुटियों व विचारों की क्रमबद्धता का विशेष ध्यान रखा गया है तथापि विचारों के स्पष्टीकरण में विशृंखलता होने पर प्रिय पाठकगण व साधक अपनी ही एक उपलब्धि समझकर हृदयंगम करेंगे।

—सद्गुरु कृपाश्रयी, जगत्बन्धु
स्वामी अड़गड़ानन्द



प्रथम उच्छ्वास

पूज्य श्री परमहंस महाराजजी
(सती अनुसुइया, चित्रकूट)
का जीवन-वृत्त

जीवनादर्श पर प्रकाश डालने वाली
कतिपय आदर्श घटनायें

आदर्श जीवन

जीवन-परिचय

(सन् १९११ ई० से १९६९ ई० तक)

परिवर्तनशीलता निखिल ससृति का शाश्वत विधान है। अपराजेय कालचक्र की चपेट में वडे से वडे साम्राज्य के उत्थान एव पतन की कहानियॉ अकित रहती है। अजेय शक्तियॉ भी पलभर मे धराशायी हो जाती है। भौतिक वैभव की विशाल अट्टालिकायें न जाने कहॉ अन्तराल में विलीन हो जाती है, परन्तु देशकाल, परिस्थितियों की सीमा के उपराम, जीवनमुक्त व्यक्तित्व एव कृतित्व युग-युगान्तर तक विश्व-वाटिका को सुरभित जीवन-पुष्प से सुवासित करता रहेगा। ऐसे ही परमशान्ति प्राप्त महापुरुषो की इकाई में परमपूज्य श्री परमहस महाराजजी का जीवन-वृत्त भी अवतरित है।

आपका जन्म गोरखपुर के अचल में, जो इस समय दो भागों में विभक्त है, वर्तमान देवरिया जिले के रामकोला नामक ग्राम मे सन् १९११ ई० मे हुआ था। आपका सस्नेह लालन-पालन करनेवाली माता फूलमानी देवी और पिता श्री जगरूप शर्मा जी हुए। प्राय जन्म से ही महापुरुषों की अलौकिकता का दिग्दर्शन होने लगता है। रमलशास्त्रियो ने शिशुरूप में श्री परमहस महाराजजी को भी देखकर उनके दिव्य भावी जीवन का सकेत करते हुए उनकी मॉ से पूछा कि यह असाधारण बालक तुम कैसे पा गयी? यह तो तुम्हारे योग्य नहीं है। पहले तो मातृ हृदय भावी अनिष्ट की कल्पना से कॉप उठा परन्तु ज्योतिपी के यह कहने पर कि यह या तो राजा होगा या योगी, मातृ हृदय आश्वस्त होकर पुन शिशु-स्नेह में प्रवृत्त हो गया। नमक-मिर्च उतारकर मॉ शिशु को घर के भीतर ले आयी कि कहीं नजर न लग जाय।

बाल्य जीवन की विलक्षण घटना

जब आपकी अवस्था लगभग छ मास की थी, लोकदृष्टि मे उस बाल्यावस्था में ही एक कालवत् हृदय विदारक घटना घटित हुई। अचानक एक दिन आपके पलग के ऊपर एक भयानक सर्प चढ गया और देखते ही देखते शरीर पर कुण्डली मारकर बैठ गया। व्यक्तियों के द्वारा उस विषधर को हटाने का भरसक प्रयास किया गया। अन्त में एक रज्जु मे मेढक बॉधकर उसकी ओर सर्प को आकर्पित करने का यत्न किया गया। मेढक को देखकर भक्षण की लालसा से सर्प ज्योंही हटा कि मॉ के हृदय का वात्सल्य उमड पडा। दौडकर मॉ अपने शिशु को पुचकारने लगी।

शालेय शिक्षा

पॉच वर्प की अवस्था मे आपकी शिक्षा प्रारम्भ हुई परन्तु पढने-लिखने में आपका मन नहीं लगता था। पाठशाला मे प्रवेश हुए अभी तीन दिन ही हुए थे कि पण्डितजी ने किसी अपराध के परिणामस्वरूप स्केल उठाई और हथेली पर तीन रेखायें उकेर दीं। लडका मचल गया। रुलाई बन्द हीं न हो। पुत्र-स्नेहवश मॉ का हृदय करुणा से भर गया, जिसके फलस्वरूप बालक पुन पाठशाला न जा सका। इसके उपरान्त अध्ययन की शृखला सदा के लिये टूट गयी। एक घटना आज भी

परमहंस जी की दुर्लभ मुद्रायें

श्री सद्‌गुरुदेव पूज्य परमहंसजी के गृहत्याग के पश्चात्
साधना एवं स्वरूप स्थिती के विविध चित्र

स्मरणीय हे कि एक वार चित्रकूट मे [illegible] करना पडा था। यह भी आध्यात्मिक [illegible]

व्यायाम की प्रेरणा

जिस क्षेत्र में आपका जन्म हुआ था, वह पहलवानों के [illegible] था। आपने पॉच वर्ष की अवस्था में ही पहलवानों के दाव पेंच देखकर [illegible] व्यायाम व पहलवानी की ओर हो गया। पहलवानों मे [illegible] रखते थे। पहलवानी का क्रम चल निकला। नियमित व्यायाम करके शरीर को [illegible] बनाने मे आप विशेष ध्यान देने लगे। परिणामत कालान्तर मे आपने [illegible] क्षेत्र में ख्याति प्राप्त कर ली।

परिणय-सूत्र

वहू के लिये लालायित माँ ने पीछे पड़कर आपका विवाह भी करा दिया। विवाह हो तो गया किन्तु पहलवान को अपना शरीर इतना प्रिय होता है कि उससे बढ़कर कुछ भी अच्छा नहीं लगता। पत्नी से कोई प्रयोजन नहीं था। कुछ दिन तो ऐसे ही चला किन्तु माँ के प्रयत्नों के फलस्वरूप क्रमश: चार सन्तानें हुई, जो दीर्घजीवी हैं और आज भी हैं।

आकाशवाणी एवं सन्त-मिलन

एक वार आप इसी पहलवानी के नशे में कुछ दूर स्थित वाजार की तरफ जा रहे थे कि अनायास मार्ग में झण्डा लिये हुए 'सीताराम-सीताराम' ध्वनि उच्चारण के साथ कोई महात्मा दिखाई पडे। उनके चले जाने के पश्चात् यह आवाज आती है कि इस साधु को भोजन कराओ। इस प्रभावपूर्ण वाणी को सुनकर मस्तिष्क चकरा गया। सडक की पुलिया का सहारा लेकर अपने को सयत करते हुए आसपास के लोगों से पूछा कि कुछ सुनायी पडा? इस पर उत्तर मिला कि यहाँ सुनने की कौन-सी वात है? महाराज जी कहा करें कि अज्ञात आवाज इतनी तेज थी कि लगता था कि मीलों सुनायी पडी होगी। आप कहा करें कि हमें आश्चर्य होता था कि मस्तिष्क के वीच में कौन वोल पडा? ऐसा प्रतीत होता था कि कोई दैवी घटना है। कुछ भी हो, महात्मा को भोजन कराना ही चाहिये - ऐसा सोचकर उनको खोजना प्रारम्भ कर दिया। दिनभर खोजने के उपरान्त भी जव महात्मा न मिले तव आप निराश होकर घर लौटने लगे। इसी वीच अकस्मात् पथ में आते हुए उन्हीं महामूर्ति के दर्शन हुए। आतुरतापूर्वक प्रणाम करके उनसे आपने पूछा कि महाराज जी! 'सीताराम-सीताराम' का ही उच्चारण करते रहेंगे या कुछ खायेंगे भी। तव महात्मा ने पूछा कि क्या खिलाओगे?

सयोग की वात, आपके पास केवल तीन पैसे थे, जो तत्कालीन भोजन-सामग्री के लिये पर्याप्त थे। वाल्योचित स्वभाव के कारण इसी सीमित धनराशि से आपने सोचा कि घर के लिये सामान भी ले लिया जाय और महात्मा को भोजन भी करा दिया जाय। इसी धारणा से आपने विनम्रतापूर्वक सत्तू ग्रहण करने का आग्रह किया। महात्मा विगड खडे हुए- "सत्तू भी कोई भोजन है।" पुन उसी वेग से एक तरफ जाने लगे। महाराज जी दौडकर पुन चरणों मे प्रणत हुए, वोले-

"बाल स्वभाववश ऐसी वाणी निकल गयी, आपकी जो रुचि हो पायें।" वारम्वार आग्रह के उपरान्त तथाकथित महात्मा ने भोजन-प्रसाद ग्रहण किया। भोजन से तृप्त होकर उन्होंने आपसे पूछा कि भोजन क्यो कराये, क्या चाहते हो? मन में किसी भी वस्तु की अभिलाषा न होने के कारण वहुत समय तक विचार करने के उपरान्त आपने कहा कि "मैं किसी से कुश्ती में पराजित न होऊॅ।" यह सुनकर महात्माजी हॅसकर गालियॉ देते हुए कहे कि 'एवमस्तु' और चले गये ।

महापुरुष की दृष्टि में जीत नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। प्रकृति के सामान्य वन्धन को जीतने के अभिमान से ही सस्कार साधक के मानस पर पड जाते हैं। इसीलिये महावली काल से भी अपराजेय होने का आशीर्वाद देकर वे चले गये। अव आपको ऐसा प्रतीत होने लगा कि आशीर्वाद साथ ही साथ चल रहा है, जवकि अभी दृष्टि सासारिक ही थी ।

उनके चले जाने पर पता चला कि वे महात्मा सात दिन से निराहार थे। उनका प्रण था कि यदि भगवान खिलायेगे तभी भोजन करेंगे। प्राय लोग सोचते हैं कि किसी को वे खिलाते हैं किन्तु यह भ्रम है। पुण्यात्माओ को प्रेरित कर भगवान अपने भक्तों को खिलाते हैं। जो खिलाता है वह भी सन्त आत्मा है।

सन्त से प्राप्त आशीर्वाद

उन महापुरुष के आशीर्वाद से आपको विश्वास हो गया कि मुझे किसी से भी कुश्ती में पराजित न होना पडेगा। सोचने लगे, दो-एक लोगों से दाहिने-वायें हाथ मिलाकर सीधे गामा से टक्कर लेगे। एक बार नाम तो हो जाय। इस क्षेत्र मे आता ही रहता है और अब तो उसके आने का समय भी समीप है, कुश्ती मे गिरना तो है नहीं। उक्त घटना के ठीक तीन दिन बाद ही कुश्ती का आयोजन हो गया। यद्यपि प्रतिद्वन्द्वी आपकी दृष्टि के अन्दर ही था परन्तु दैवयोग से मल्लयुद्ध में शीघ्र ही आपको उससे पराजित होना पडा। आप सिर नीचा करके चले आये और तीन दिनों तक लज्जावश घर के बाहर नहीं निकले। आप निरन्तर यही सोचते रहे कि कहॉ गया वह आशीर्वाद और कहॉ गयी वह वाणी। आगे चलकर जव उसी आशीर्वाद के फलस्वरूप अनुसुइया आश्रम मे अनुभव हुआ कि अव जन्म-मरण का वन्धन टूट चुका है तो आन्तरिक प्रसन्नता से विह्वल हो उठे और विचार करने लगे कि भगवान या महापुरुष की वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। यदि उस समय मल्लयुद्ध मे विजयी भी हो जाता तो परिणाम हार ही तो था। शरीर भी तो आखिर एक दिन जीर्ण हो जाता। यथार्थत कालजयी होना ही सन्त प्रवर के आशीर्वचन की अपराजेयता थी।

वृद्धा द्वारा तरुणी का सन्देश

यह एक अत्यधिक रोमाचकारी घटना है, जिसके फलस्वरूप ही भावी साधनात्मक जीवन का शुभारम्भ है। घटनाक्रम इस प्रकार है--

निकट के किसी गॉव के एक परिवार मे किसी लडके का गौना हुआ था। नवविवाहिता तरुणी के रूप-रग से आकर्षित होकर कुछ मनचले नवयुवको ने वासनेच्छा से उसके घर आना-जाना प्रारम्भ कर दिया परन्तु उस तरुणी ने किसी की तरफ झुकाव नहीं लिया। उसने एक



सत से प्राप्त आशीर्वाद

वृद्धा के हाथ पत्र भेजकर आपको बुलवाया। पहलवान होने के कारण आपका जीवन सयमित था परन्तु उस समय सस्कारवश युवावस्था के नशे में चूर आपको ऐसा प्रतीत हुआ "मनहु रंक जिमि पारस पावा।" किसी प्रकार दो-चार घण्टे व्यतीत कर सायकाल सज-धजकर अधेरी निशा में शनै.-शनै. उसके घर की तरफ वढना प्रारम्भ कर दिया। रह-रहकर यह भावना मन में कसक जाती थी कि कहीं मैं पाप-कर्म में तो नहीं प्रवृत्त हो रहा हूँ। इसी विचार-विमर्श में निमग्न होकर जैसे ही आप आगे बढ रहे थे कि अचानक आवाज आयी--"महान पाप करने जा रहे हो, नरक में जाओगे।" अत्यन्त भय के कारण शरीर रोमाचित होकर कॉप उठा। करीव आधे घण्टे वाद जव अधीर होकर आप लौट रहे थे तो मन्द स्वर में सुनायी पडा-"आगे देवालय में तुम्हारे गुरुदेव हैं।"

सद्गुरु-दर्शन

उपरोक्त वाणी के आधार पर आप देवालय की खोज मे धीरे-धीरे चल पडे। घना अन्धकार के कारण उस देवालय के अन्त कक्ष मे कोई दिखायी न पड़ा। अव आप विचार करने लगे कि अतीव विचित्र लीला है, पता नहीं कौन जोर से वोलता है और कौन धीरे से। ठीक उसी समय मन्दिर से किसी के खॉसने की आवाज आयी। पहुँचकर देखते है कि एक महात्मा मन्दिर के कोने में बैठे थे। साष्टाग प्रणाम करके उनके प्रकाश व भोजन की व्यवस्था किया। भोजनादि के उपरान्त सम्पूर्ण रात्रि सत्सग चलता रहा और आप चरण चापते रहे। सद्गुरुदेव महाराजजी से आप बारवार प्रश्न करते और वे शकाओं का शमन करते हुए यथोचित उत्तर देते गये। त्रिदिवसीय अल्पावधि में ही साधन-भजन की युक्ति बताकर गुरु महाराजजी वाहर चले गये। अब आप घर से विरक्त रहकर तत्परतापूर्वक साधना में रत हो गये। इसी बीच श्वास पकड में आने लगी और ध्यान जमने लगा।

पूज्य महाराजजी कहते थे कि उन्होने साधु वनने का कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था। भरा-पूरा परिवार था, वाल-वच्चे थे। परिवार से लगाव भी था किन्तु भगवान ने चेतावनी देकर बलात् साधु वना दिया। जव तक भगवान न कहे, घर छोडना पाप है किन्तु जब भगवान कह दें तो घर में रहना भी पाप है। जैसे प्रधानमत्री जब चाहे किसी नागरिक को अपने पास बुला सकता है, भले ही वह कितना ही व्यस्त क्यो न हो, उसी प्रकार भगवान विषयों मे फॅसे अत्यन्त जकडे जीव को जव चाहे अपने पास बुला सकते हैं। **लीला करन चहत प्रभु जबहीं। कारण खड़ा करत हैं तबहीं।।** वे ऐसा जुगाड लगा देते हैं कि उसे करना ही पडता है ।

हमने प्रश्न किया--"महाराजजी! आपको आकाशवाणी क्यो हुई? सामान्य जनो के साथ तो ऐसा नहीं होता?" उन्होने वताया--"हो, यह शका मुझे भी थी। एक दिन भगवान ने अनुभव में वताया कि मैं पिछले सात जन्मों से साधु रहा हूँ। चार जन्मों में कहीं तिलक लगाये तो कहीं कमण्डलु लिये विचरण कर रहा हूँ। सच्चे मन से साधुता के लिये प्रयत्नशील था किन्तु योग-क्रिया जागृत नहीं थी। पिछले तीन जन्मों से युक्तियुक्त योगोत्कृष्ट अच्छा साधु रहा, जैसा कि होना चाहिये। योग-क्रिया जागृत थी। पिछले जन्म में पार लग गया था, निवृत्ति हो चली थी किन्तु दो इच्छयें मन में वनी रहीं--एक विवाह की, दूसरी गॉजा पीने की। भगवान ने थोडे ही समय में सव कुछ दिखा-सुनाकर अपनी शरण में ले लिया।

भजन की शुरुआत

महाराजजी के घर से दो-तीन फर्लांग दूर एक वगीचा था। वहाँ एकान्त देख महाराजजी उसी बगीचे में झाड़ियों की ओट में बैठ गये, चिन्तन में लग गये। आरम्भ के चार-छ. दिन तक लोग समझ ही न सके कि वे कहाँ चले गये । क्रमश. लोगों को पता चला तो वे अटकल लगाने लगे कि इन्हें हो क्या गया? कोई बीमारी तो नहीं हो गयी? किसी ने कहा कि जव से लंगड़ू बावा मिले हैं तभी से ऐसा है। लगता है उन्होंने कोई जादू-टोना कर दिया। कोई मत्र पढ़ दिया।

लंगड़ू बाबा

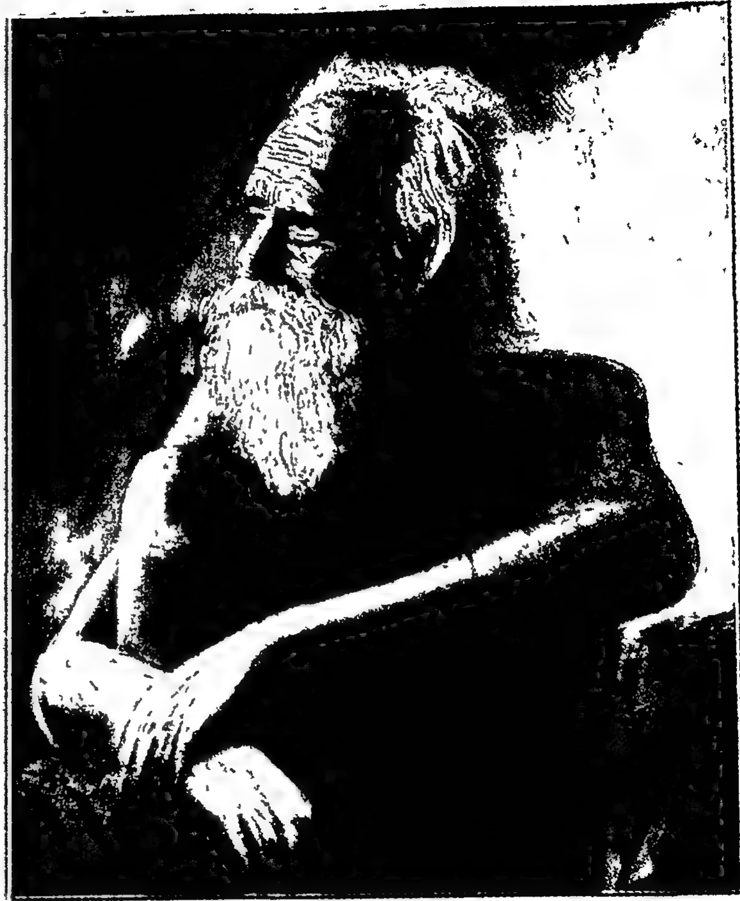
शिव मन्दिर मे जिन गुरु महाराज ने साधन-क्रम वताया था, सम्पूर्ण क्षेत्र उन महामानव को लगडू बाबा या सत्सगी महाराज के नाम से जानता था। महाराजजी ने पहले भी पचासों वार उन्हें देखा था। वे एक पॉव के लगडे थे, इसलिये कोई उन्हें लगडू भी कहता था। दुनिया पागल कहती थी और महाराज जी भी उन्हे पागल ही जानते थे। किन्तु आकाशवाणी ने वताया कि आपके गुरु महाराज हैं तभी वे समझ पाये। वस्तुत. वे तत्त्वदर्शी महापुरुष थे। योग की रहस्यमय ब्रह्मविद्या उनके पास थी। सद्गुरु के सारे गुण उनमें थे किन्तु लोग उन्हें पागल ही समझते रहे।

घर और गाव के लोग सत्सगी महाराज को ढूँढने में लगे थे। संगी-साथी सभी खोज में जुट गये कि मिले तो उनकी पिटाई की जाय। उन्होंने हमारे लडके को न जाने क्या सिखा दिया। लोग ढूँढते ही रह गये किन्तु सत्सगी महाराज का कहीं पता ही न चला। चार माह पश्चात् वे दीख पडे तो पूरा गॉव ही उमड आया। मॉ तो पीछे पड़ गयी--"बाबा कौन सा जादू-टोना कर दिया, हमारे लडके को बर्बाद कर दिया।" वे जोर से बिगडे--"हूँ, हमने बर्बाद कर दिया। अपना कर्म नहीं देखती। कोई पागल होता है, कोई मरता है, कोई जीता है तो इसमे हम क्या करें? अपने लड़के को घर क्यों नहीं ले जाती।" सचमुच बाबा का मत्र बड़ा प्रभावशाली निकला। उन पर जब विश्वास हो गया तो कोई क्या उठा ले जाता।

सद्गुरु के परकाया प्रवेश से मन का रुकना

पर्यटन करके चार माह पश्चात् जिस दिन सद्गुरु महाराज लौटे, उस दिन आपका मन भजन करने में अधिक रमा। आपने गुरु महाराजजी से विनीत भाव में प्रार्थना किया कि क्या कारण है कि भजन मे आज की तरह मेरा मन कभी स्थिर नहीं हुआ? आश्वासनपूर्ण सहज वाणी में गुरुदेव वोले कि मैं तुम्हारे मन को पकड ध्यानस्थ हो जाता हूँ । अब परमहस महाराजजी विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुरुदेव महाराज़जी के छ शिष्यों का विकास शायद इसी कारण से नहीं हो पाया कि महाराजजी मन पकडकर छोड देते हैं। फलत. मन की अस्थिरता के कारण कुछ समयोपरान्त उन्हें अशान्ति का अनुभव होने लगता है। आपने इस प्रक्रिया को समझ कर सानुरोध गुरु महाराजजी से प्रार्थना किया कि कृपया मेरा मन न पकडा जाय वरन् मेरे ध्यान में वह क्षमता प्रदान की जाय, जिससे मै पूर्णरूपेण मन के चाचल्य को अवरुद्ध कर स्थिर कर लेने में समर्थ हो सकूँ। मन यदि पकडने के उपरान्त पुन आपके द्वारा छोड दिया जायेगा तो स्वाभाविक चचलता आ जायेगी। अत आन्तरिक सम्बल प्रदान कर ही मुझे अनुग्रहीत करने की कृपा करें।





पूज्य श्री सत्सगी महाराज एव पूज्य श्री परमहस महाराजजी

भजन की शुरुआत

महाराजजी के घर से दो-तीन फर्लाग दूर एक वगीचा था। वहाँ एकान्त देख महाराजजी उसी बगीचे में झाडियों की ओट में वैठ गये, चिन्तन में लग गये। आरम्भ के चार-छ दिन तक लोग समझ ही न सके कि वे कहाँ चले गये । क्रमश· लोगों को पता चला तो वे अटकल लगाने लगे कि इन्हें हो क्या गया? कोई वीमारी तो नहीं हो गयी? किसी ने कहा कि जव से लगडू वावा मिले हैं तभी से ऐसा है। लगता है उन्होंने कोई जादू-टोना कर दिया। कोई मंत्र पढ़ दिया।

लंगडू बाबा

शिव मन्दिर में जिन गुरु महाराज ने साधन-क्रम वताया था, सम्पूर्ण क्षेत्र उन महामानव को लगडू बाबा या सत्सगी महाराज के नाम से जानता था। महाराजजी ने पहले भी पचासों वार उन्हें देखा था। वे एक पॉव के लगडे थे, इसलिये कोई उन्हें लगडू भी कहता था। दुनिया पागल कहती थी और महाराज जी भी उन्हे पागल ही जानते थे। किन्तु आकाशवाणी ने वताया कि आपके गुरु महाराज हैं तभी वे समझ पाये। वस्तुत वे तत्त्वदर्शी महापुरुष थे। योग की रहस्यमय ब्रह्मविद्या उनके पास थी। सद्गुरु के सारे गुण उनमें थे किन्तु लोग उन्हें पागल ही समझते रहे।

घर और गाव के लोग सत्सगी महाराज को ढूँढने में लगे थे। सगी-साथी सभी खोज में जुट गये कि मिले तो उनकी पिटाई की जाय। उन्होंने हमारे लडके को न जाने क्या सिखा दिया। लोग ढूँढते ही रह गये किन्तु सत्सगी महाराज का कहीं पता ही न चला। चार माह पश्चात् वे दीख पडे तो पूरा गॉव ही उमड आया। मॉ तो पीछे पड गयी--"बाबा कौन सा जादू-टोना कर दिया, हमारे लडके को बर्बाद कर दिया।" वे जोर से बिगडे--"हूँ, हमने बर्बाद कर दिया। अपना कर्म नहीं देखती। कोई पागल होता है, कोई मरता है, कोई जीता है तो इसमें हम क्या करें? अपने लडके को घर क्यों नहीं ले जाती।" सचमुच बाबा का मत्र बडा प्रभावशाली निकला। उन पर जव विश्वास हो गया तो कोई क्या उठा ले जाता।

सद्गुरु के परकाया प्रवेश से मन का रुकना

पर्यटन करके चार माह पश्चात् जिस दिन सद्गुरु महाराज लौटे, उस दिन आपका मन भजन करने में अधिक रमा। आपने गुरु महाराजजी से विनीत भाव में प्रार्थना किया कि क्या कारण है कि भजन में आज की तरह मेरा मन कभी स्थिर नहीं हुआ? आश्वासनपूर्ण सहज वाणी में गुरुदेव वोले कि मैं तुम्हारे मन को पकड ध्यानस्थ हो जाता हूँ । अब परमहस महाराजजी विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुरुदेव महाराज़जी के छ शिष्यों का विकास शायद इसी कारण से नहीं हो पाया कि महाराजजी मन पकडकर छोड देते हैं। फलत मन की अस्थिरता के कारण कुछ समयोपरान्त उन्हें अशान्ति का अनुभव होने लगता है। आपने इस प्रक्रिया को समझ कर सानुरोध गुरु महाराजजी से प्रार्थना किया कि कृपया मेरा मन न पकड़ा जाय वरन् मेरे ध्यान में वह क्षमता प्रदान की जाय, जिससे मैं पूर्णरूपेण मन के चाचल्य को अवरुद्ध कर स्थिर कर लेने में समर्थ हो सकूँ। मन यदि पकडने के उपरान्त पुन· आपके द्वारा छोड दिया जायेगा तो स्वाभाविक ~ ल आ जायेगी। अत आन्तरिक सम्वल प्रदान कर ही मुझे अनुग्रहीत करने की कृपा करें।

तब आशीर्वाद देते हुए गुरु महाराजजी ने कहा कि ऐसा ही होगा।

परकाया प्रवेश करके किसी के मन को उन्नतोन्मुख कर देना, मोड देना, ध्यानस्थ कर देना आदि गुरु महाराजजी के लिये एक साधारण वात थी। इस विलक्षण प्रक्रिया के द्वारा मुमुक्षु साधकों के लिये परम कल्याण का पथ प्रशस्त हो जाता है। किन्तु भजन की उत्कट लगन के कारण आप स्वय करना चाहते थे।

उस दिन से महाराजजी स्वय प्रयत्न कर ध्यान में लगने लगे और चार महीने में ही हृदय में स्वरूप पकड़ में आ गया और ध्यान लगने लगा।

साधना-क्रम

आप रात्रि दो बजे से प्रात छ बजे तक आत्मचिन्तन में अनुरक्त रहते थे। प्रात कालीन दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होने के पश्चात् पुन ध्यानस्थ हो जाया करते थे। आत्म-चिन्तन के लिये उपयुक्त एकान्त वातावरण चाहने के उपरान्त भी प्राय· सत्सगप्रेमियों से अनिच्छित भाव से सत्सग करते थे। निशा के प्रथम प्रहर में नौ बजे तक निवृत्त हो जाया करते थे। पुन· ब्राह्ममुहूर्त में उठकर इष्टोपासना में रत हो जाते थे। निरन्तर साधनारत रहने के परिणामस्वरूप परमहस महाराजजी की यह स्थिति हो गयी कि दिन-प्रतिदिन कृशकाय होने लगे और उनकी पाचनशक्ति विगड गयी। भोजन की इच्छा ही नहीं होती थी। निद्रा सयत होने लगी। कोई पास में आकर बैठ जाता तो महाराजजी को ऐसा लगता कि यह कव उठकर चला गया। किसी का वैठना और वोलना अच्छा नहीं लगता था। लोगों का आना कम हो गया किन्तु पुत्र की इस शारीरिक दशा को देखकर माता का हृदय करुणा से भर गया। वह उनके साधना-स्थल में ही पहुँचकर उन्हें स्वल्पाहार के लिये बाध्य किया करती थी। क्रमश· शारीरिक क्षीणता को देखकर जनमानस में यह सदेहास्पद चर्चा हो गयी कि आप पीलिया के रोगी हैं न कि योगी। जब ऐसी सदिग्ध चर्चा व्यापक रूप से होने लगी तो यदा-कदा आपके मन में भी खिन्नता की लहर दौड जाती थी। ऐसी विषम परिस्थिति में अन्तर्देश से आश्वस्त रहने के लिये अनुभव हुआ करे कि साधना में प्रवृत्त रहो, भावी उपलब्धि मगलमय है ।

जब महाराज जी गृह त्यागकर साधनरत हो गये, साथी पहलवानों ने निश्चय किया कि

श्री परमहंसजी की वाणी (निद्रा का विधान)

चौबीस घण्टे मे चार घण्टे से अधिक सोना योगी के लिये अत्यन्त घातक है। तीव्र अनुराग एव विरह-वैराग्य वाले साधकों को निद्रा आती ही नहीं। उनका एक-एक दिन तो सदियों की तरह कटता है। इन लक्षणो से विहीन मायिक शत्रुरूपी निद्रा से पराजित होकर आज सोते हैं और जन्मान्तरो में सोना ही है। योगी के लिये श्वान निद्रा का विधान वताया गया है। जिस प्रकार रात्रि मे पत्ता हिलते ही कुत्ता उठकर भौंकने लगता है, उसी प्रकार योगी भी इस भय से चिन्तित निद्रालाभ लेता है कि कहीं विजातीय परमाणु आक्रमण न कर दें। विरही को नींद कब आती है। अत· मन को धिक्कारते हुए इससे सतत् सघर्ष करते रहना चाहिये।

सन्तजी की कुछ न कुछ सेवा कर दिया करें। उनसे भजन सीखा जाय या उनकी बुद्धि सुलझाकर घर-गृहस्थी की ओर ही मोड दिया जाय। वे महाराजजी की सेवा में लग गये। उन्होंने वहाँ वगीचा लगाया।

प्रभातफेरी

कुछ दिनों पश्चात् इन पहलवानों ने प्रस्ताव रखा--"सन्त जी! प्रभातफेरी हो जाय। सवेरे-सवेरे गाँववालों मे भी भक्ति की लहर फैल जायेगी।" महाराजजी को भी यह प्रस्ताव पसन्द आया। प्रात चार बजे महाराजजी उन लोगों को जगा देते और वे लोग ढोलक-मजीरा लेकर महाराजजी के साथ 'सीताराम-सीताराम' की धुन लगाते हुए पूरी टोली गाँव की परिक्रमा करती और अधेरा रहते ही महाराजजी सहित सभी लोग कुटिया मे लौट आते थे। तत्पश्चात् अपने-अपने घरो को प्रस्थान कर देते थे। यह कीर्तन लगभग चार महीने चला। प्रारम्भ में तो पन्द्रह-बीस लोगों से ही प्रभातफेरी चली। धीरे-धीरे भक्ति की लहर दौड गयी। काफी लोग प्रभातफेरी में सम्मिलित होने लगे। सख्या बढती गयी। लोग प्रभातफेरी की प्रतीक्षा में पहले से ही जागकर तैयार रहते थे।

एक दिन महाराजजी नित्य की तरह दो बजे रात से भजन में बैठे थे, ठीक चार बजे से कुछ पहले आपको हठात् झपकी आ गयी। ऑख खुली तो उजाला हो चुका था। आप पश्चाताप करने लगे कि आज नियम टूट गया। प्रभातफेरी नहीं हुई। वे किसी को जगा नहीं सके। सब लोग दु खी मन से बोले- "सन्तजी, आज आपने जगाया नहीं।" आप कुछ नहीं बोले।

सूर्योदय के साथ ही गाँव से लोग आने लगे। वे बोले--"सन्तजी! आज आप किस रास्ते से प्रभातफेरी करते निकल गये। बडी मधुर ध्वनि सुनायी दे रही थी। हम प्रतीक्षा कर रहे थे कि आप जब सामने से निकले तो हम लोग भी टोली मे सम्मिलित हो जायँ किन्तु आज आप किस मार्ग से निकल गये?"

महाराजजी ने सोचा कि आज तो हम गये ही नहीं, कदाचित् ये लोग खिल्ली उडा रहे हों। तब तक दूसरे मुहल्ले के लोग आये, तीसरे मुहल्ले से भी आये। उन सबने पूछा कि आज तो बडी मधुर ध्वनि में प्रभातफेरी हो रही थी। हमलोगों ने स्पष्ट सुना। आप किस रास्ते से निकल आये? महाराज जी को बडी ग्लानि हुई कि आज भगवान को मेरे लिये कितना कष्ट उठाना पडा। उन्होंने मेरे लिये प्रभातफेरी की। अब आज से कीर्तन बन्द। कीर्तन तो बन्द हो गया किन्तु इस घटना से इतना विश्वास वढा कि महाराजजी जी-जान से चिन्तन में जुट गये।

इष्ट की व्यापकता में विश्वास

भजन कुटीर से थोडी दूर पर किसी सज्जन का बगीचा था। इस बगीचे से नित्य आम्र फलों की चोरी हो जाया करती थी। वगीचे का मालिक आपको सन्देहास्पद भाव से गालियाँ दिया करता था। एक दिन आपने अन्तर्देश के माध्यम से गुरु महाराजजी से विनयपूर्वक प्रश्न किया कि मैं फलों को न तो तोडता ही हूँ और न उन्हें पाने की इच्छा ही रखता हूँ तव क्यों यह बागवान मेरे ऊपर मिथ्यारोपण करके भला-बुरा कहा करता है। नियमित रूप से सतसग में भाग लेने वाले सज्जनों को बागवान का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। एक दिन साग्रह रुककर कुछ लोगों ने प्रतिशोध

की भावना से महाराजजी से कहा कि आप रात्रि में हमें जगा दें। हमलोग फल तोडेंगे। देखते हैं बगीचे का मालिक किस तरह से अपने फलों की रक्षा करता है। इसी भाव से उत्प्रेरित होकर निद्रालाभ करने लगे। क्रमश निस्तब्ध रजनी का आगमन हो रहा था, महाराजजी इसी विचार में निमग्न रहे कि तथाकथित व्यक्तियों को फल तोडने के लिये जागृत कर प्रोत्साहित करना कहीं अनुचित तो नहीं होगा। ऐसी ही विचार वीथियों में उलझे हुए परमहस जी पुनः वही अनुभव प्राप्त करते हैं कि कोई व्यक्ति कुटीर की ओर आता हुआ दिखायी देता है और उनके समीप पहुँचकर वह इस सूक्ति का उच्चारण करता है--**"जननी सम जानहि पर नारी, धन पराव विष ते विष भारी।"** विचार करना प्रारम्भ किया तो भयावह अपशकुन होने लगे। निश्चयात्मक निर्णय मिला कि तुम जिस कार्य में प्रवृत्त हो रहे हो वह महान पाप है। निशा में आम्र फलों के तोडने की योजना बनाने वाले व्यक्तियों ने उठकर महाराजजी से सानुरोध प्रश्नात्मक शैली में विनय किया कि महाराजजी रात्रि में हमलोगों को न जगाने का क्या कारण था? स्वाभाविक रूप से सरलतापूर्वक आपने उत्तर दिया कि इष्ट ने मना कर दिया था। यह है सर्वव्यापी इष्टदेव की व्यापकता। ठीक ही है--**"हरि व्यापक सर्वत्र समाना।"**

वह महाप्रभु अन्यान्य माध्यमों से हमें सतत् सजग रहने के लिए चेतना प्रदान करते रहते हैं। वह व्यक्ति उसी रास्ते से चार वर्षो से रात्रि में अपने खेत आया-जाया करता था परन्तु उक्त वर्णित सूक्ति का गायन कभी भी नहीं किया। इस तरह श्री परमहस महाराजजी को साधनात्मक जीवन के आरम्भ मे ही ईश्वर की सार्वभौमिकता का आभास हुआ।

भजन परीक्षा की कसौटी पर

साधनरत जीवन की परीक्षा लेने के लिये प्रतिस्पर्धा के आवेश में किसी सम्पन्न रईस के द्वारा आपके प्रतिकूल यह षड्यत्र किया गया कि शासकीय व्यवधान पैदा कर इन्हें पथभ्रष्ट किया जाय। इसी भावना को कार्यान्वित करने के लिये उस सम्पन्न व्यक्ति ने उपेक्षा भाव से कहा कि ये पाखण्डी और ढोंगी हैं। हम देखते हैं कि हमारे द्वारा आयोजित मुकदमे को राम-नाम की पैरवी से कैसे जीतते है? तब आपने सहज भाव से उत्तर दिया कि जब पारिवारिक जीवन एव आत्मीयजनों से ही सम्बन्ध विच्छेद हो गया तो मुझे मुकदमे से क्या प्रयोजन? ग्रामवासियों ने व्यग्यात्मक चुटकी ली कि यदि राम-नाम सत्य होगा तो ये अवश्य मुकदमा जीत जायेंगे। जिस दिन मुकदमे का निर्णय था, अचानक एक दिन पूर्व गुरुदेव आ पहुँचे और दृढ़तापूर्वक आश्वासन देते हुए उन्होंने कहा कि जाओ, ध्यानस्थ होकर न्यायाधीश के स्वरूप को अपने अन्त करण में पकड करके स्वानुकूल भावनात्मक परिवर्तन उसके हृदय-देश में कर लेना, तुम्हारी विजय होगी। कारण यह कि उस रईस ने राम-नाम को चुनौती दी है। यद्यपि न्यायाधीश का निर्णय आपके प्रतिद्वन्द्वी के अनुकूल होनेवाला था परन्तु अन्तत निर्णय आपके पक्ष में ही घोषित हुआ। वे सस्नेह जमींदार से बोले, "देख, राम-नाम सच्चा है या नहीं। मुझसे खेत-क्यारी से कुछ भी मतलब नहीं है।" फिर क्या था! गुरुदेव के चरणों में अपार श्रद्धा हो गयी। इस घटना का विवरण सुनाते हुए महाराज जी कहा करें, "हो! भगवान चाहें तो पत्थर पर भी दूब जम सकती है।"

धर्मपत्नी को उपदेश

सत्पथिक होने के पूर्व आपका एक भरा-पूरा खुशहाल परिवार था। आपके पारिवारिक जीवन में धर्मपत्नी एव कुछ बच्चे और अन्य लोग थे। क्रमश भजन में आपकी तल्लीनता देखकर एक बार आपकी धर्मपत्नी पूर्ववत् श्रृंगार करके शान्त रजनी में आपसे मिलने की इच्छा लेकर कुटीर में पहुँची। महाराजजी उनके भावो को परखते हुए स्वभावत बोल पडे कि अभी यह ठन-गन समाप्त नहीं हुआ? उत्तर मिला--"क्या मैं विधवा हूँ?" आपने कहा--"विधवा नहीं तो क्या! साधु होना और मरना बराबर है।" बस! क्या था? करुण क्रन्दन की चीत्कार ने सारे वातावरण को स्तम्भित कर दिया। सुहाग के सभी अलंकरण धर्मपत्नी ने उतारकर फेंक दिये। पत्नी का आर्तनाद सुनकर ग्राम्यवासी देखने आये। अन्तत उन्हे इस रहस्यात्मक घटना का पता चला। धर्मदेवी नैराश्य भाव से गृह वापस आ गई। घटनोपरान्त आने-जाने वाले व्यक्तियों से आप इसका दृष्टान्त दिया करते थे, **"त्रिया चरित्रं पुरुषस्य भाग्यम्, दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः।"**

भगवत्पथ पर चलनेवाले पथिकों को नारी का आकर्षण पथ-भ्रष्ट कर देता है। अत श्रृंगारिक हाव-भाव से बचकर ही हम साधनोन्मुखी हो सकते हैं। जैसा कि आप कहा करते थे--"जब माया परीक्षा लेती है तो नामर्द मर्द हो जाते हैं और बूढ़े जवान हो जाते हैं।" तात्पर्य यह है कि माया-बन्धन से इष्टदेव की महती कृपा से ही बचा जा सकता है।

नल पर गुरुदेव का स्नान और चेतावनी

प्राय दस-बीस दिन के अन्तराल पर सत्सगी महाराज आ जाया करते थे। उनके आगमन पर महाराजजी उनकी सेवा में लग जाते थे। सेवा साधना की आधारशिला है। महाराजजी भली प्रकार सेवा में रत रहते और सत्सगी महाराज साधना के सूक्ष्म उतार-चढ़ाव से अवगत कराते रहते थे।

महाराजजी के आचरण पर सत्सगी महाराजजी की सतर्क दृष्टि रहती थी। महात्मा सरल हृदय होते हैं किन्तु साधक की भूल की संभावना पर वे बड़े कठोर हुआ करते है।

एक बार महाराजजी अपने गुरुदेव सत्संगी महाराजजी को एक हैन्ड पम्प पर स्नान करा रहे थे। इतने में एक सुन्दर-सी कन्या भी घडा लेकर जल लेने वहीं आ गयी। वह कुछ देर खडी रही। महाराजजी ने देखा कि वह ऊव रही थी। आप उसे धैर्य बँधाने के लिए उसकी ओर देख लेते कि किचित् रुको, गुरुदेव को स्नान कर लेने दो। गुरुदेव ने उस कन्या की ओर दृष्टिपात् करते हुए देखा तो नहीं किन्तु जान गये। तमककर बोले--'बन्द करो' और एक ओर हट गये। उन्होंने उस कन्या से पानी भर लेने को कहा। वह घडा भरकर चली गयी।

सत्सगी महाराज पुन. स्नान करने लगे और बोले--"जानते हो, मछली कैसे फँसती है? कँटिये में थोडा-सा चारा चिपकाकर पानी में फेंकते हैं। पहले तो मछली उसे दूर से देखती है, फिर उसे जरा-सा चाटती है, इधर-उधर देखती है और भाग जाती है। पुन वह चारे के पास आती है, अपने को रोक नहीं पाती। ज्योंही वह चारे को झपटती है त्योंही कँटिया गले में फँस जाता है। जहाँ डोरी हिली कि मछली मारने वाला उसे खींचकर पानी से वाहर जमीन पर 'धम्म' से पटक

देता है। समझे! मछली कैसे पकडी जाती है?" महाराजजी बोले- "जी, मैंने देखा है।" सत्सगी महाराज पुन तड़के--"अभी कहता है कि देखा है।" महाराजजी के मुँह में उँगली डालकर बोले- "इस प्रकार उसे बाहर जमीन पर धों से पटक देते हैं।"

अब महाराजजी ने शान्त रहने में ही भलाई समझी, क्योंकि ज्योंही कुछ कहने का प्रयास करते, गुरु महाराज चौगुने वेग से गालियाँ देने लगते थे। समझ में नहीं आता कि क्यों गालियाँ दे रहे हैं।

सायकाल दर्शनार्थी, सत्सग सुननेवाले कुटी पर आने लगे। सत्सगी महाराज को प्रणाम कर लेने के पश्चात् वे उधर बढने लगे, जिधर महाराज जी बैठे थे। सत्संगी महाराज ने उन्हें टोकते हुए कहा--"अरे बाबू! कहाँ जा रहे हो, आओ बैठो।" उन्होंने कहा- "थोडा सन्तजी को भी प्रणाम कर लेते।" सत्सगी महाराजजी ने कहा- "सन्तजी, कैसा सन्त? यह तो मेहरिया ताक रहा था।" लोगों ने महाराजजी से पूछा "सन्तजी! गुरु महाराज यह क्या कह रहे हैं?" महाराजजी बोले- "भाई हमें तो पता नहीं!" सत्सगी महाराज पुन तमक कर बोले- "फिर कहता है कि हमें पता नहीं है। वह लडकी जो पानी भरने आयी थी, उसे तुमने नहीं देखा था?" महाराजजी ने निवेदन किया-"महाराजजी! मेरे मन में उसके प्रति कोई दुर्भाव नहीं था।" सत्सगी महाराज जी ने कहा- "हाँ बेटा! नानी के आगे ननिअउरे का बखान। अब हमीं को समझाने चला है। अरे! मछली पहले इसी प्रकार ताकती है, जिस प्रकार तू ताक रहा था। ऐसे ही क्रमश समीप होते-होते माया जीव को मछली की तरह फँसाकर चौरासी लाख योनियों में पटक देती है।" पचासो लोगों के बीच सत्सगी महाराजजी की ताडना का क्रम आधे घण्टे तक चलता रहा। इस ताडना से महाराजजी को बड़ा सतोष हुआ। इस निर्देश का उन्होंने कड़ाई से पालन किया जो आगे चलकर निराधार विचरणकाल में आपका गुरु के समान सहायक सिद्ध हुआ।

गृह में भयंकर उत्पात

जब परमहसजी भजन करने में अनुरक्त हो गये तो कुछ समय के उपरान्त घर में भयकर उत्पात प्रारम्भ हो गया। इसका कारण चाहे जो भी रहा हो, अनायास घर के छप्पर की बडेर चर्र-चर्र करने लगी, जिसके परिणामस्वरूप समस्त परिवार सशकित हो गया। यहाँ तक कि आगे चलकर परिवार के सदस्यों का क्रमश निधन होने लगा। एक सदस्य की अन्त्येष्टि क्रिया पूरी नहीं हो पाती थी कि दूसरा भी काल कवलित हो जाता था। पारिवारिक जन आपके समक्ष शव रखकर रुदन करते हुए कोसते थे कि जब से तुम भजन करने लगे तब से घर का सत्यानाश हो गया। मृत्यु का यह क्रम यहाँ तक चला कि धीरे-धीरे परिवार के ग्यारह सदस्य काल के कराल गाल में पिस गये। इस प्रकार की रोमाचकारी घटनाओ का भावी सकेत देते हुए पहले ही गुरु महाराजजी कह जाते थे कि अब तुम्हारी परीक्षा है, सतर्क रहना- कभी अनुभव में, कभी प्रत्यक्ष। यह रोना-पीटना लगा ही रहता था परन्तु इस प्रकार की स्तम्भक घटनाओं के बीच भी आप अनवरत साधना-तल्लीन रहे। मात्र यह गुरु महाराजजी की ही कृपा थी।

एक दिन आप भजन मे बैठे थे कि आपको सन्देश मिला कि जिस धूनी पर बैठकर तापते

हो, उसी की विभूति लेकर जाओ और घर में छिडक दो। इसके बाद आज से न तो वड़ेर चर्र-चूॅ करेगी और न किसी का अन्तकाल होगा। परिवार में जो वचे हैं, वे दीर्घजीवी होंगे। वहॉ पर वैठना नहीं, खडे-खडे ही लौटकर चले आना।'' भगवान का आदेश था इसलिये महाराजजी उठे, विभूति उठाया, घर के भीतर गये। चारो ओर ऊपर-नीचे विभूति छिडककर वाहर निकल आये। मॉ से आपने कहा- ''देखो, आज से न तो बडेर चर्र-चूॅ करेगी और न कोई मरेगा। अव तेरा घर ठीक हो गया।'' ऐसा कहकर महाराज जी कुटी की ओर चल पडे। माँ ने पीछा किया। वह अनुरोध करती रहीं किन्तु आप निर्विकार भाव से आकर अपनी कुटीर में वैठ गये।

क्षणासक्ति पर इष्ट-आदेश

महाराजजी के गृह-निष्क्रमण का पॉचवॉ वर्ष हो चला था। वगीचे के वृक्ष स्वादिष्ट फलों से लद गये थे। क्रमश भजन मे मन भी रमने लगा था। आपके अन्दर एक बार विचार आया कि भजन तो करना ही है, यहीं रहकर क्यों न किया जाय। मन मे जैसे ही बगीचे के प्रति क्षणिक आसक्ति हुई, तत्काल अन्तर्जगत् से इष्टदेव का आदेश मिला कि प्रयाग के लिये प्रस्थान करो। बस क्या था! आदेशानुसार आपने प्रयाग के लिये प्रस्थान कर दिया। प्रयाग पहुँचकर इष्टदेव से विनय किये कि अब क्या करे? तब आदेश हुआ कि वस्त्रो को उतार कर रख दो और गंगा के किनारे-किनारे चलो। थोडी-सी आसक्ति के फलस्वरूप वस्त्रो को भी त्यागकर उन्हें दिगम्बर होना पडा। अतएव **''अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः''**--के सिद्धान्त का पालन पूर्णरूपेण साधक को अपनी साधना के दौरान करना चाहिए। अब आप इष्ट पर निर्भर होकर गगा नदी के तटवर्ती क्षेत्रो मे विचरने लगे। वहॉ आपके परिचय का कोई भी नहीं था परन्तु क्षण-क्षण में साधना-पथ में प्रवृत्त करनेवाला अन्तर्यामी ही उन्हें दृढता प्रदान करता रहा। इसलिए महाराजजी समय-समय पर अपने उपदेशो के दौरान यह वाक्य दुहराया करते थे- अरे! साधु अपने से नहीं बना जाता बल्कि भगवान ही बना देते हैं।

प्रयाग की घटना

तीर्थराज प्रयाग इलाहावाद के पास गगा और यमुना इन दो नदियों का पवित्र सगम है। इस घटना के पूर्व आप इसी सगम मे नौका विहार कर रहे थे। गॉव के कुछ भक्त आपके साथ थे। सगम के वीच नौका पर होनेवाले सत्सग के परिणामस्वरूप विभिन्न सम्प्रदायों को माननेवाले साधु-महात्माओं के साथ वाद-विवाद हो गया। तर्क-वितर्क मे काफी तनाव बढ गया। इसके बाद आपने सत्सग करनेवाले महात्मा का अनजान में ही एक फूटा लोटा लेकर उसे गगाजल से पूरित कर दिया। इस चमत्कारपूर्ण कार्य को देखकर तथाकथित महात्मा आश्चर्यचकित हो गये। वे परस्पर विचार-विमर्श करने लगे कि इस फूटे हुए लोटे में गगाजल कैसे रुक गया। अन्तत वे निश्चय करते हुए वोले कि यदि आपके स्पर्श मात्र से छिद्रित पात्र मे भी जल रुक जाता है तो आपकी वाणी नि सन्देह हर देश-काल और परिस्थिति में सत्य और हमारे लिए अनुकरणीय है। यह सुनकर आपके मन में वडा विस्मय हुआ। आपने इष्टदेव से क्षमा प्रार्थना की कि मै यह समझ भी नहीं पाता कि भगवन्! आप क्या-क्या चमत्कार दिखाते हैं।



प्रयाग की घटना

इस घटना के वाद आप कई वार विशेष पर्वो पर प्रयाग पधारे। माघ का मेला था। चतुर्दिक गगा के पावन कूल पर महात्माओं की धूनियाँ एव तम्बू लगे थे। आपके पास कुछ भी नहीं था। ऐसी अवस्था में परिभ्रमण करते हुए आप त्यागियों की जमात में जा पहुँचे। वे सब के सब आपको देखकर बोल पडे--"चल खडिया कहीं का! बस बनकर आ गये साधु, न तिलक का पता न माला का! लगे साधुओं की नकल करने! चलो! चलो! दूर हटो!" सरल भाव से मुस्कराते हुए कुछ दूर जाकर गगा के किनारे बालू पर बैठकर आप ध्यानस्थ हो गये।

उसी समय एक प्रतिष्ठित साधुप्रेमी किसी सेट द्वारा साधु-मण्डली निमत्रित हुई और उन्हीं के साथ यह अज्ञात लोक में विचरण करने वाला अवधूत भी निमत्रित किया गया। साम्प्रदायिकता की सकीर्ण भावना से प्रेरित उन साधुओं ने आपकी उपेक्षा करते हुए उस सेट को ललकारा कि इस खडिया को खिलाना है या साधुओं को। सेट ने विनीत भाव से कहा कि- "ये चाहे जैसे भी हों, मेरे निमत्रित साधु हैं। मैं इनका तिरस्कार नहीं होने दूँगा।" भोजन के पूर्व जैसे ही पत्तल पड़ना प्रारम्भ हुआ कि पास के साधुओं ने घृणास्पद भाव से कहना आरम्भ कर दिया कि ऐसा लगता है, यह खडिया कई दिनों से स्नान नहीं किया है। परन्तु, उस श्रद्धालु सेठ ने महाराजजी की भोजन-व्यवस्था वडे अच्छे ढग से की। आप कई दिनों से क्षुधापीड़ित थे। जैसे ही दो-तीन ग्रास ग्रहण कर पाये कि निर्दय आकाश से वडी-वडी बूंदे टपकने लगीं। सन्तवाणी से उत्तेजित होकर इन्द्र के लिए दो-चार शब्द प्रस्फुटित हुए कि ऐसे ही समय में तुम्हें जलवृष्टि करनी थी। फिर क्या था! सन्त-महिमा के फलस्वरूप जलवृष्टि रुक गयी और मेघाच्छन्न आकाश निर्मल हो गया। सारा समाज इस अलौकिकता को देखकर आश्चर्यचकित हो गया।

भोजन के उपरान्त आप जैसे ही निर्विघ्न हस्त प्रक्षालन करने लगे, सभी उपस्थित साधुओं एव गृहस्थों ने आपको घेर लिया। यह कहकर कि 'गगाजी में हाथ धोऊँगा', आप चल पडे। सारा समाज उनके पीछे हो लिया। वे शीघ्रता से गगाजी में प्रवेश कर उस पार निकल गये और वहाँ बॉसों के एक प्रकोष्ठ में स्थिर मन होकर वैठ गये। उनके पीछे दौडने वाली भीड ने यत्र-तत्र उन्हें खोजने का प्रयास किया। कुछ लोग नौका लेकर उस पार पहुँचे, परन्तु सारा प्रयास असफल रहा। वे लोग महाराजजी को पुन. न पा सके। अब वे हताश होकर एक दूसरे को कोसने लगे कि हम दुर्भाग्यशाली हैं क्योंकि एक अद्भुत महापुरुष हमारे वीच से अन्तर्ध्यान हो गये। हम लोग ठीक से दर्शन भी नहीं ले पाये, वस हाथ मींजना ही हाथ लगा। अपने प्रवचन के दौरान महाराज जी यदा-कदा इस घटना की ओर सकेत करके कहा करते थे कि--"सुनो, भगवान ही वाणी को पूरा करते हैं। ऋद्धि-सिद्धि कुछ नहीं होती। परन्तु पूर्ण विश्वास व स्थिरता होनी चाहिये।"

प्रयाग कुम्भ के मेले में

विभिन्न स्थानों का परिभ्रमण करते हुए एक वार पुनः कुम्भ मेले में आप प्रयाग पधारे। आप पागल की भाँति इतस्तत भ्रमण कर रहे थे। कोई बैठने भी नहीं देता था। इसी वीच किसी धर्मपरायणा रानी द्वारा साधुओं को आमंत्रित किया गया। साधुओं की भीड मे आप भी साथ-साथ चल पडे। आपको देखते ही किसी सिपाही ने धक्का देते हुए दुतकार कर कहा--"चल पगले कहीं का! यह भण्डारा महात्माओं के लिये है न कि तुम जैसे पागलों के लिये।" और वरवस उनका

हाथ मरोडकर उन्हें पीछे ढकेल दिया। क्षणिक करुणा का सचार मानस पटल में होने के फलस्वरूप वे विचार करने लगे कि जव सर्वव्यापी, सर्वनियन्ता महाप्रभु सवके हृदय से वोलता है तो मेरी यह विडम्बना कैसी? ऐसा लगता है कि साधुत्व की सीमा को हमने उपलव्ध ही नहीं किया। इन्हीं विचारों के भॅवर में पडे हुए कुछ दूर पर दृढप्रतिज्ञ होकर आप वैठ गये कि अव मैं क्षुधा-तृप्ति के लिए किसी के यहॉ नहीं जाऊॅगा । मुझे इस मार्ग में प्रवृत्त करनेवाला इष्टदेव ही मुझे भोजन प्रदान करेगा तो खाऊॅगा अन्यथा नहीं। कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् ही एक सन्तसेवी सेठ ने वहॉ पहुॅचकर आपसे भोजन के लिये आग्रह किया। आपने निस्पृहतापूर्वक उत्तर दिया कि यदि भगवान यहीं भोजन देंगे तो करूॅगा, नहीं तो उपवास ही सत्य है। ऐसा सुनकर वह सेठ विभिन्न प्रकार के व्यजनो का थाल उसी स्थान पर ले आया। भोजन से निवृत्त होकर आप घूमने-फिरने लगे और जाकर उसी स्थान पर पहुॅचे जहॉ कि सिपाही ने धक्का दिया था। देखते हैं कि सिपाही वहीं पडा कराह रहा है। उसे आभास हो रहा था कि आज मैंने एक सन्त का अपमान किया है। हो सकता है उसी का प्रतिफल मुझे मिल रहा हो। आपकी इधर-उधर खोज हो रही थी। सौभाग्यवश आप स्वत· विचरते हुए वहॉ पहुॅच गये, जहॉ वह सन्तरी उदरशूल से पीडित था। देखते ही लोगों ने आपको घेर लिया और विनम्र शव्दों मे प्रार्थनीय ढग से कहा कि महाराजजी क्षमा करें, यह प्रहरी आपसे अवगत नहीं था। सन्त स्वभावानुसार आपने उसके प्रति दयार्द्र होकर स्पर्श किया। तत्क्षण ईश्वर की अनुकम्पा से उसके पेट का दर्द समाप्त हो गया। ऐसा चमत्कारपूर्ण दृश्य देखकर रानी भी भाव विभोर हो गयी। देखते ही देखते दर्शकों की अपार भीड़ उमडने लगी। आप किसी प्रकार रात्रि के घने अन्धकार मे उस स्थान का परित्याग कर आगे चल पड़े।

परिभ्रमणकाल में जौनपुर

एक समय विचरण करते हुए आप जौनपुर जा निकले। वहॉ व्यक्तियों से भेंट न होने के कारण रात्रि के निस्तब्ध वातावरण में आप किसी समीपस्थ बगीचे में मीठे अमरूद के फल खाकर पुन ध्यान और जप की प्रक्रिया में सलग्न हो जाते थे। सयोगवश एक दिन बागवान ने आपको अमरूद तोडकर खाते हुए देखा। उसने कहा- "भगवन्! मेरा यह बगीचा आपका ही है, स्वच्छन्दतापूर्वक आप फलास्वादन करें परन्तु आपको स्वत अपने सुकोमल हाथों से फल तोडने का कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। मै स्वयमेव आपकी सेवा में फलार्पण करूॅगा। कुछ समय के पश्चात् वहॉ ग्रामीण लोगों का आवागमन प्रारम्भ हो गया। भाविकगण नियमित रूप से विविध भोज्य सामग्री आपकी सेवा मे पहुॅचाने लगे। आप सभी खाद्य सामग्रियों को एक साथ उबालकर खा लिया करते थे। भोज्यपात्र के रूप में आपके पास मिट्टी की एक हॅडिया थी, जो अमरूद की डाली में लटकी रहती थी। सामग्री समाप्त होने पर भाविक लोग पुन उस हॅडिया को भर जाते थे। इस तरह निस्पृह होकर आप भजन में मस्त रहते थे ।

जौनपुर का कब्रिस्तान

एकान्तप्रिय होने के कारण जनकोलाहल से दूर परिभ्रमण करते हुए आप शहर से वाहर कब्रिस्तान जा पहुॅचे। प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में सर्वत्र नीरवता छायी हुई थी। वहॉ एक कुऍ

के सहारे आप ध्यान लगाकर बैठ गये। इसी बीच अनायास आपको अनेक प्रकार की कुत्सित आत्माओं की आवाजें सुनायी देने लगी। महाराजजी का ध्यान जैसे ही टूटा, वे इतस्तत देखने लगे। भीमकाय विभिन्न प्रकार की आत्माये अनेक आकार-प्रकार में दृष्टिगोचर होने लगीं। उनकी ओर से दृष्टि हटाकर पुन ध्यान में आप बैठे तो तत्काल आपको सकेत मिला कि ये वे आत्मायें हैं, जो अपने पूर्वजन्म के कुसंस्कारों का भोग भोग रही हैं। पूर्वजन्म के सस्कार व पाप इतने जघन्य थे कि न शरीर धारण करने योग्य हैं और न मुक्त होने योग्य ही। इसलिये यत्र-तत्र अपने-अपने कल्याण की खोज में भटक रही हैं। अन्तर्जगत् से सकेत प्राप्त करने के पश्चात् जब महाराजजी ने पुन सामने दृष्टि डाली तो वही विविध आकार-प्रकार वाली दूषित आत्माये आपके चरणों के नीचे गिडगिडा रही थीं। उन आत्माओं ने विनय करते हुए कहा कि हमलोग पूर्वजन्म में व्यभिचार, कत्ल, चोरी आदि पाप कर्मो में प्रवृत्त रहे, इसलिये दिशाविहीन होकर भटक रहे है। कृपा कर आप हमारा इस निकृष्ट योनि से छुटकारा दिलाकर कल्याण करें। सन्त स्वभाववश करुणार्द्र होकर महाराजजी उनके प्रति दयालु हो गये। द्रवीभूत हो उन्हें कल्याण का आशीर्वाद देकर आप वहाँ से प्रस्थान कर दिये। इस तरह अनायास ही सन्त-महात्माओं के सामीप्य में आने से जन्म-जन्मान्तर के पाप कट जाते है और मन निर्मल होकर कल्याण-पथ में प्रवृत्त हो जाता है ।

विचरणकाल में निस्पृह आकाशवृत्ति

जौनपुर से प्रस्थान के पश्चात् आप इष्टदेव को हृदय में धारण कर निरावलम्ब विचरने लगे। काशी, आगरा, मथुरा, उज्जैन, बम्बई, गोंडा आदि स्थानों का परिभ्रमण करते समय किसी से आप भिक्षाटन नहीं करते थे। स्वाभाविक रूप से जो कुछ भी रूखा-सूखा मिल जाता था उसी का भोग लगाकर अलमस्त भजन मे लगे रहते थे। आप क्षुधा-शान्ति की धारणा से कभी किसी के यहाँ माँगने नहीं गये क्योंकि प्रारम्भ से ही यह दृढ विश्वास था कि **मोर दास कहाई नर आसा**। तात्पर्य यह कि ईश्वरावलम्बित होने पर सासारिक लोगों से सहयोग की अपेक्षा रखना निरर्थक है। विचरणकाल में निरन्तर आठ-दस दिनों तक का उपवास आपके लिये साधारण बात थी। आपके अटपटे स्वरूप को देखकर बहुत से व्यक्ति आपको पागल की सज्ञा प्रदान करने लगते थे, परन्तु थोडी-सी वार्ता होने के पश्चात् उनके अज्ञानान्धकार से पूरित हृदय मे सन्त-वाणी की ज्ञानरश्मियाँ प्रवेश करने लगती थीं। वे आपके पीछे चल देते थे। उपेक्षा करने पर भी वे आग्रहपूर्वक सग नहीं छोडते थे। आप रात्रि के समय किसी आश्रम या गाँव का अवलम्ब लेकर इसलिये नहीं रुकना चाहते थे कि कहीं हृदय में प्रवाहित होनेवाली अविच्छिन्न भजन की धारा टूट न जाय।

शिशिरकाल में विकम्पित कर देनेवाली असहनीय ठण्डक की रात में भी आप बाँसों के प्रकोष्ठ में बैठकर भजन-ध्यान की स्थिति में लीन रहते थे। प्रात.काल उठकर आप एक-दो घण्टा धूप में विश्राम किया करते थे। लोगों के उत्कण्ठापूर्वक यह पूछने पर कि महाराज जी आप सर्प-विच्छुओं के अड्डे में किस तरह छुपे रहते हैं? तब आप मुस्कराते हुए उनसे कह दिया करते थे कि देखो, सर्प-विच्छू लौकिक दृष्टि मे ही हैं। साधक की दृष्टि इष्टमयी होती है। इष्टदेव उसे जिस तरह रखते हैं, उन्हीं के आदेशों पर यन्त्रवत् चलता रहता है।

गगा के किनारे-किनारे विचरण का यह क्रम चलता रहा। दो उपवास, तीन उपवास आये दिन की घटना थी। एक दिन महाराजजी गंगा के किनारे बेठे थे कि एक किसान उधर से निकला। वह बोला, "यहाँ क्या बैठे हो? बस्ती में जाओ और भिक्षा कर लो।" महाराजजी ने कहा, "मुझे भिक्षा नहीं करनी है।" वह बोला, "ऐसे केसे चलेगा?" प्रेम से मुस्कराकर महाराजजी ने कहा, "भगवान जिसे डडा खटखटायेगे वही खिलायेगा। तू क्यों चिन्ता करता है?" वह किसान 'अच्छा महाराजजी!' कहकर चला गया। लगभग एक घण्टे पश्चात् वही किसान भोजन लेकर आया। उसने निवेदन किया कि भगवन्! प्रसाद ग्रहण कर लें। महाराजजी ने पूछा, "तू क्यों चला आया?" उसने हँसकर कहा, "समझ लें, भगवान ने मुझे ही डडा खटखटाया है, इसलिये चला आया।"

कर्मनाशा के किनारे देवी मन्दिर में

गगा के दाहिनी ओर विचरण करते महाराजजी विहार की सीमा पर पहुँचे। आगे कर्मनाशा नदी थी। घाट पर साधारण-सा मेला लगा था। एक वैष्णव महात्मा कुटी बनाकर वहीं रहते थे। उन्होंने महाराजजी को देखा तो बैठने के लिये कहा। भोजन कराया और बोले, "सन्तजी! यहीं कहीं आसन लगा दूँ?" महाराजजी ने कहा, "नहीं, यहाँ भीड़भाड है, हमें कहीं एकान्त बता दें।" उन्होने कहा, "इस ओर निकल जायँ।" महाराजजी ने कर्मनाशा नदी का किनारा पकड़ा। लगभग एक किलोमीटर चलने पर एक मन्दिर-जैसा दिखाई पडा।

अधेरा फैल चुका था। मन्दिर के समीप ही दो-तीन सघन पेड थे। वहाँ अधेरा कुछ अधिक ही था। ठडक का विचार कर महाराजजी ने उन घने वृक्षों के नीचे ही रात्रि व्यतीत करने का निश्चय किया। मन्दिर के भीतर भी उन्होने देखा। मन्दिर देवी का था। फर्श पर लाल-लाल कुछ चमक रहा था। पैर रखने पर कुछ चिपचिपा-सा प्रतीत हुआ। मन्दिर के छत की ओर दृष्टि गयी तो घण्टे के बगल मे एक सर्प लटक रहा था। कुछ दुर्गन्ध भी आ रही थी। इतने में दो कुत्ते पीछे से हॉव-हॉव करते दौड़े। महाराजजी ने डॉटा तो कुत्ते पीछे हट गये। महाराजजी ने विचार किया कि मन्दिर के भीतर कुछ गन्दगी प्रतीत होती है अत वे पुन वृक्षों की छाया में जाकर बैठ गये। दोनों कुत्ते भी कुछ दूरी पर वैठ गये।

आप सम्पूर्ण रात्रि भजन मे तल्लीन रहे। सूर्योदय से पहले देवी मन्दिर का पुजारी कुछ लोगों के साथ आया। उसने पूछा, "सन्तजी! आप यहाँ कब आये?" महाराजजी ने बताया कि उन महात्मा के यहाँ प्रसाद पाया और कुछ रात होते ही यहाँ आ गये। समाचार सुनकर वे महात्मा भी चले आये। गॉव में जो भी सुनता, वहाँ एकत्र होने लगा। महाराजजी ने पूछा, "बात क्या है?" वडा पुजारी कहने लगा, "महाराजजी! आप सिद्ध पुरुष हैं। यहाँ रात रुकने पर आज तक कोई जीवित नहीं वचा। बहुत-सी दुर्घटनायें यहाँ हो चुकी हैं। आप पूरी रात यहाँ बैठे रह गये और जीवित भी हैं, यह महान् आश्चर्य का विषय है।" वे लोग महाराज जी को छोड़ते ही न थे। उन्होंने महाराजजी का स्वागत वड़े भाव से किया। तीन दिन तक वे लोग महाराजजी को रोके ही रह गये। एक दिन महाराज जी रात्रि में उठे और धीरे से प्रस्थान कर गये।

महाराजजी ने वताया, "हो! जव सुवह उठकर देवी का मन्दिर देखा तो खून पडा था। ऊपर

देखा तो वकरो की वहुत सी टॉगे लटक रहीं थीं- पेडों पर। इसलिये कुत्ते भी वहॉ रात को रहते थे। जहॉ भी भोजन रहेगा, कुत्ते, साप या मेढक भी तो वहीं रहेगे। लोग अकारण ही 'भूत-भूत' करके मर जाया करते थे- **"यह भ्रम भूत सकल जग खाया। जिन-जिन पूजा तिन-तिन गाया।।"** कहीं कुछ भी न था।

महाराजजी पुन गगा-तट की ओर लौट पडे। विचरण चलता रहा। जहॉ शाम होती, वे वहीं रुक जाते थे। गॉव के वाहर कुछ दूर एकान्त देखकर वे वैठ जाते थे। कोई सन्त कुटी दिखाई पडती तव भी वे उसके भीतर नहीं जाते थे। महाराजजी का विचार था कि यदि कुटी मे कोई होगा तो व्यर्थ के व्यवहार और वाद-विवाद में भजन का समय ही तो नष्ट होगा अत वे रात्रि वाहर एकान्त में ही व्यतीत करना पसन्द करते थे। प्रात' धूप निकलते समय महाराजजी का ध्यान टूटता तो वॉस-वृक्षों की छाया से वाहर आ जाते और धूप मे लेट जाते। एक ही नींद में दस-ग्यारह बज जाते थे। वस इसके अतिरिक्त महाराजजी सोते नहीं थे।

शिशिरकाल में दिगम्बरावस्था

परिभ्रमणकाल की इसी श्रृखला में आप काशी जा पहुँचे। वहॉ रात्रि के नीरव वातावरण में बिच्छू-सा डक मारनेवाली सर्दी का अतिक्रमण करते हुए आप कई घण्टे भजन में निमग्न रहते थे। जब सुरति अन्तर्देश मे स्थिर हो जाती थी तो वाह्य सर्दी का प्रभाव नगण्य हो जाता था। काशी में रुकने के वाद आप मैदानी क्षेत्र की ओर बढने लगे। कुछ देर चलने के बाद किसी गॉव के समीप दो लडकियॉ महाराजजी को देखकर दौडती हुई उनके समीप आ गई। आप पूर्णत दिगम्बर थे। ऐसी स्थिति में आपको देखकर वे युवतियॉ हॅसने लगीं और आपस मे कहना प्रारम्भ कर दिया कि अरी! ये तुम्हें पसन्द कर रहे हैं। दूसरी बोली, "नहीं, तुम्हें पसन्द कर रहे हैं।" उनके वार्तालापों का आपके मन पर कोई असर नहीं पडा वल्कि आप अपनी मस्ती में ही डूवे रहे।

इसी बीच एक ग्रामीण व्यक्ति जाता हुआ दिखाई पडा। उसे देखकर वे लडकियॉ शर्म के कारण चिल्लाकर भागने लगीं। उस व्यक्ति ने उन लडकियों से पूछा कि क्यों भाग रही हो? उन लडकियों ने उत्तर दिया कि इन्हें नग्न देखकर हमे भय लग रहा था। उनके इस कथन को सुनकर वह ग्राम्यवासी महाराजजी को देखते ही सन्त समझकर प्रणाम किया और आग्रह के साथ आपको गॉव ले जाने के लिए हठ करने लगा परन्तु आप गॉव के बाहर ही दस दिन तक उसके आग्रह करने पर रमे रहे। इसके पश्चात् उस स्थान को छोडकर पुन आप आगे बढ गये। ऐसी विषम परिस्थिति और एकान्त मे भगवान ही वैराग्य की रक्षा करते है, नहीं तो बडे से बडे साधक भी काम की चपेट मे आकर पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं।

उन दिनों आपके दिगम्बर शरीर पर शिशिर, ग्रीष्म तथा पावस ऋतुयें व्यतीत होती चली जा रही थीं। वॉस का प्रकोष्ट आपको बहुत प्रिय था क्योकि सर्दी के दिनों में वह स्थान अन्य खुले स्थानों की अपेक्षा अधिक गरम रहता है। आप शाम होते ही बॉसों के प्रकोष्ठ में वैठकर ध्यान करने लग जाते थे। जब तक ध्यान नहीं लगता था तब तक तो ठडक लगती थी किन्तु ज्योही ध्यानस्थ होते, वाहर से शरीर पर कुछ ठडक सी प्रतीत होती, रोये भी फूटे रहते किन्तु शरीर पर

भली प्रकार गर्मी आ जाती थी। वातावरण सहन करने योग्य हो जाता था। सुरत ध्यान में लग जाती थी। वे एकाध वार सुरत लगाये-लगाये ही पॉव नीचे-ऊपर कर लेने थे और सवेरा हो जाता था। इसी क्रम मे दिन-मास-वर्ष व्यतीत होते जा रहे थे।

कभी-कभी रात्रि मे ध्यान उचट जाता था। ध्यान हटते ही इतनी टडक लगती थी कि शरीर कॉपने लगता था। हवा तीर की तरह लगती थी। टडक हड्डियो तक धॅसती चली जाती थी। ऐसी दशा मे टडक से बचने के लिये महाराजजी लगभग एक फर्लांग तेजी से दौडते और पुन उसी वेग से लौटते। इस दौड से उनके शरीर में कुछ गर्मी जा जाती थी। उसी गर्मी में वे पुन. वैठकर ध्यानस्थ हो जाया करते थे। प्राय ध्यान लग जाता था। वाहर की गर्मी शान्त होते-होते शरीर के भीतर गर्मी आ जाती थी और वह रात्रि सुरत की डोरी के साथ वीत जाती थी।

महाराजजी के उस विचरण में दो-चार रात्रियॉ ऐसी भी रहीं कि सारे प्रयत्नों के उपरान्त भी ध्यान नहीं पकड में आया। रात्रि का एक-एक पल वडे मुश्किल से व्यतीत हुआ। तव पूछा जाय कि महाराजजी वह रात्रि कैसे बीती? बोले--"हो, हम ही जानते हैं कि वह कैसे बीती। यूँ समझो की बीत गयी।" गगा किनारे घूमते-घूमते पैर में विवाई फट गयी थी। टडी-टडी रेत उसमें विधती तो सम्पूर्ण शरीर मे एक टीस की लहर-सी कौंध जाती थी। "फूटे करम तो फटे विवाई।" किन्तु वे करते भी क्या? भगवान का आदेश था कि तुम्हें इसी प्रकार रहना है। आदेश में घट-वढ नहीं करना चाहिए।

रामनगर के भक्तों के बीच

विचरण करते हुए महाराजजी काशी की गलियो से होते हुए रामनगर किले के पीछे गगा के किनारे पहुँच गये। वहॉ नोनिया लोगो की बस्ती थी। लोग सम्पन्न थे। पहले तो उन लोगों ने आपसे एक मन्दिर मे रहने का प्रस्ताव रखा, किन्तु आपकी असहमति देख उन सबने किले की दीवार से सटकर एक झोपडी बना दी। आप उसी मे बैठ गये। सब के सब बडी श्रद्धा से आपकी सेवा करने लगे। उनके बाल-बच्चे भी वहॉ आने लगे। एक लडकी रात दो बजे से ही आपके सामने खडी हो जाती और पॉच बजे तक एक स्थान पर खडी एकटक देखती रहती, पुन' गायब हो जाती। दो दिन वाद आपको आभास हो पाया कि कोई खडा है। आपने देखा तो बिटिया थी। आपने उसके घर वालों का पता लगने पर बुलवाया। उन लोगों को उस कन्या की शादी-विवाह का परामर्श दिया और आशीर्वाद दे विदा कर दिया।

आप कहा करे--"हो! भगवत्पथ के पथिकों के लिए एकान्त में विघ्न ज्यादा हैं। जो एकान्त में भी अपने वैराग्य की रक्षा कर लेता है, वह महान है। साधु को अपनी टेक का पक्का होना चाहिये, प्रतिज्ञावद्ध रहना चाहिये। देखो न! दिगम्बर वेश का कौतूहल ही उसे खींच ले आया था।"

फकीर के साथ भोजन

महाराजजी को निराधार विचरण पसन्द था। चलने से पूर्व आप कोई योजना बनाकर नहीं चलते थे। साधारण टहलने जैसी चाल से आप किसी भी दिशा में चल पडते थे। कहॉ जाना है, मार्ग में कोन-सा स्थान पडेगा- इत्यादि सुविधा-असुविधा का आपको भान ही नहीं होता था।

चलते समय भी आपका ध्यान श्वास-प्रश्वास पर ही रहता था? नाम जप और सुरत पर अनवरत दृष्टि रहती थी। उपवास आपके लिये सामान्य-सी वात थी। कोई भोजन करा देता तो आप स्वीकार कर लिया करते थे।

चलते-चलते आप एक कुटी में पहुँच गये। वहाँ एक मुसलमान फकीर रहता था। उसने प्रणत हो निवेदन किया-- "महाराजजी! हम मुसलमान फकीर हैं। हमारे हाथ की रोटी क्या आप खायेंगे?" महाराज जी ने कहा--"भाई! सन्त के लिये जाति-पाति, कवीला, सम्प्रदाय, कुल, गोत्र, मजहब का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इस पथ में तो केवल एक लक्ष्य रह जाता है-- उस परमतत्त्व परमेश्वर का चिन्तन! हमें तो हिन्दू-मुसलमान मे कोई अन्तर समझ में नहीं आता। हॉ, तुम फकीर हो, यह वताओ तुम्हारे अन्दर कोई भेदभाव तो नहीं है?" उसने कहा--"नहीं महाराज! हमारे अन्दर भी कोई भेदभाव नहीं है।"

महाराजजी ने कहा--"जैसे 'अल्लाह-अल्लाह' कहते हो, उसी तरह दो वार 'राम-राम' कहो तो खा लेंगे।" अब उसके मुख से राम का नाम निकलता ही न था। आपने कहा--"जब तुम्हारे अन्दर इतना भेद भरा है तो हम कैसे खा ले? जब उसने देख लिया कि नाम का उच्चारण किये विना आप प्रसाद ग्रहण नहीं करेंगे तो उसने चार वार 'राम-राम' कहा। आपने उसके हाथ का प्रसाद पाया।

भोजनोपरान्त महाराजजी ने उससे सत्सग वार्ता की। उसने वताया- "भेद तो कुछ भी नही है किन्तु कूट-कूटकर ऐसा भ्रम भर दिया गया है कि शीघ्र हृदय से निकलता ही नहीं हे ओर इसलिये राम-राम कहने में मुझे भी सकोच हो रहा था।" आपने कहा, "परमात्मा का चिन्तन करते रहो, गुरु महाराज में सुरत लगाये भर रहो, भगवान यह भ्रम स्वय मिटा देंगे।" उस फकीर को योग-साधन और चिन्तन का उपदेश देकर महाराजजी आगे वढ चले ।

यमुना किनारे माताओं का भजन

एक दिन आप यमुना के किनारे भजन में बैठे थे। ब्राह्मवेला में महिलायें स्नान इत्यादि के लिए भजन गाते जा रही थीं--

तैंने हीरा सों जनम गँवायो, भजन बिनु बावरे।।
कदे न आयो साधु सरन में, कदे न हरिगुन गायो।
पचि-पचि मर्‍यो बैल की नाईं, सोइ रह्यो उठि खायो।।
.....भजन बिनु बावरे।।

सवेरे का समय! इतना अच्छा भजन कि मन करता था याद हो जाय। परन्तु आगे की पक्तियॉ वे माताऍ न जाने किस भाषा में अथवा किस आरोह-अवरोह के साथ गा रही थीं कि समझ में ही नहीं आता था। मात्र उपर्युक्त पक्तियॉ ही पकड में आयीं, जिन्हे महाराजजी कभी-कभी गुनगुनाया करते थे।

महाराजजी का कहना था कि कहीं लाख दुर्गुण क्यों न हो, एकाध गुण अवश्य होगा। साधक वस उसी एक गुण को ले लेता है।

समिटि समिटि जल भरहि तलावा। जिमि सद्गुन सज्जन पहिं आवा।।

भगवान दत्तात्रेय ने कुत्ते मे भी सद्गुरुओं का एक गुण देखा। कुत्ते में अनेक अवगुण होते हैं फिर भी उसमें यह गुण तो है ही कि किसी ने डण्डा उठाया तो भाग गया, पुचकारा तो चला आया। अवधूत को इसी प्रकार मान-अपमान से रहित, सन्तोषी होना चाहिए। श्री परमहसजी भी साधना मे सहायक गुणो पर सतर्क दृष्टि रखते थे। अत. हर साधक को सतर्कता बनाये रखनी चाहिए। विरह, वैराग्य और चेतावनी से भरपूर उक्त भजन को महाराजजी ने अपनी स्मृति पटल पर सँजो लिया।

आगरा नगर विचरण-पथ पर

आप विचरण करते हुए आगरा पहुँचे। सम्पूर्ण दिन यमुना नदी के किनारे इधर-उधर घूमते रहे। सध्यावेला में आप गल्ला मण्डी में घूमते हुए पहुँच गये। सेठ-साहूकार अपनी-अपनी दुकानें वन्द कर रहे थे। आपको वहाँ जहाँ कहीं भी अनाज के दो-चार कण विखरे हुए दिखाई देते थे, उन्हे चुन-चुनकर चबाया करते थे। आपको यह करते हुए देखकर धनीमानी सेठ-साहूकारों में उत्कण्ठा जागृत हुई। वे परस्पर वार्तालाप भी करने लगे, परन्तु आपसे बोलने का साहस उन्हें नहीं हुआ। दूसरे दिन भी आपका यही क्रम देखकर उन सम्पन्न सेठों ने एक-एक मुट्ठी चना आपकी तरफ फेकना प्रारभ कर दिया। आपने उन चनो को नहीं उठाया। आप उठे और यमुना किनारे चले गये। आपको अनिच्छा से यह कर्म करते हुए देखकर क्रमश सभी लोग आपके व्यक्तित्व की ओर आकर्षित होने लगे। यहाँ तक कि महाराजजी को रोककर उन लोगों ने अनवरत दो वर्षो तक सेवा की। उनके यहाँ आवासकाल में श्रद्धालुओं का ताँता लगा रहता था। कोई उन्हें वस्त्राभूपण भेंट करता, तो कोई उन्हे सेवा द्वारा सन्तुष्ट करना चाहता था परन्तु आप सवको सन्तुष्ट करने के पश्चात् भेंट मे प्राप्त वस्त्राभूषणो को दर्शनाभिलाषियों के बीच वितरित कर दिया करते थे। उनके भेट-भाव से अलग रहकर आप निस्पृहतापूर्वक इष्ट के ध्यान में निमग्न रहते थे।

कंचन कामिनि से निवृत्ति

जहाँ आप मन्दिर मे निवास करते थे, वहाँ एक विधवा स्त्री भी विविध भेंट सामग्रियाँ लेकर पहुँच जाया करती थी, जिसे समीपवर्ती लोग 'बुआ' कहकर सम्बोधित करते थे। धीरे-धीरे क्रमागत आने-जाने से उस नारी के हृदय में कुत्सित विचारो का अकुरण हुआ। वह एक दिन सज-धजकर एक वडी धनराशि का प्रलोभन देकर कामेच्छा से आपके प्रति सर्वस्व न्यौछावर करने को उद्यत हो गयी और कहने लगी--"हमलोग इस धनराशि से खा-पीकर एक साथ भजन करेंगे।" परन्तु साधकों का जीवन इतना लचीला नहीं होता कि वह दिशाहीन होकर किसी तरफ भी परावर्त हो जाय, फिर भी साधनावस्था में कुछ सस्कार पड ही जाया करते हैं। रात्रि मे आपको स्वप्न-संकेत मिलता है कि आपके गुरुदेव दो व्राह्मणों को पीले वस्त्र धारण करवाकर पहुँच गये और वोले, "यह औरत को लेकर भागा जा रहा है, इसको पकडो और शुद्ध करो।" अनुभव मे ही आपको स्नान कराकर मन्त्रोच्चारण के साथ पवित्र किया गया। आदेश मिला- शीघ्र इस स्थान का परित्याग कर दो, इसी में तुम्हारा कल्याण निहित है। ज्योंही महाराजजी की ऑख खुली, वे तुरन्त उठे और वहाँ



(ईष्टदेव के सरक्षण मे)
कचन-कामिनी से निवृत्ती

से चल दिये। इसी प्रकार स्थान-स्थान पर होनेवाले प्रबल मायिक आक्रमणों से आपको इष्टदेव बचाते गये।

जैसा कि आप प्रायः सत्सग के दौरान कहा करते थे, "माया किस स्तर पर अनुकूल है और कब प्रतिकूल- यह साधक की समझ के बाहर की चीज है। भगवान अथवा गुरुदेव ही प्रेरक का स्थान ग्रहण करते हैं तब वह बच पाता है। भगवान सर्वत्र हैं और माया भी सर्वत्र है किन्तु क्रियारूप से हृदय में स्थान पा लेने से सद्गुरु ही सर्वत्र मिलते हैं। इस अवस्था में आप कहीं भी रहें, मानसिक विचारों के उठते ही वे आपकी रक्षा करेंगे।"

कुपात्र को दान

एक दिन आप यमुना तट पर भ्रमण कर रहे थे। रास्ते मे पॉच रुपये का एक नोट गिरा था। ज्योंही आपकी दृष्टि उस पर पडी, आदेश मिला कि उसे ले लो। आप सोचने लगे कि इसे लेकर करूँगा क्या? किन्तु आदेश मिलता रहा तो आपने उस रुपये को उठा लिया और मन्दिर पर चले आये। आपको इष्ट से आदेश मिला कि यह रुपया राधेलाल दलाल को दे दो। उसने तुम्हारी बडी सेवा की है, आजकल वह विपन्न है।

राधेलाल जी व्यापार में दलाली का कार्य करते थे। उन्होंने बहुत धन कमाया था। बाजार में उनकी बडी साख थी। वह स्वभाव के बहुत सरल थे किन्तु जुआ खेलने का व्यसन था। सट्टे में 'गुब्बा' और जाने क्या-क्या लगाते थे। उस जमाने में उन पर अस्सी हजार रुपये का कर्ज था। आपने उनसे कहा- "राधेलाल! देख ताखे में पॉच रुपया रखा है, तू ले ले।" यह सुनते ही राधेलाल उदास हो गये। वह कहने लगे- "अरे गुरु महाराज, आपकी कृपा ही पर्याप्त है। आपने मेरे लिये पैसा क्यों छू दिया?" बहुत आग्रह पर भी उसने वह रुपया नहीं उठाया। वह ठहरा पहले-का धनी आदमी! कितना भी वह टूट गया था तो क्या हुआ, सन्त का पैसा लेने की मनोवृत्ति ही नहीं बना सका।

महाराजजी सोचने लगे- "भगवान ने कहा इसे दे दो और यह लेता नहीं है। क्या किया जाय?" उसके जाने के पश्चात् उसका एक छोटा-सा लडका आया। आपने उससे कहा-"ताखे से फूल निकालकर फेंक दो।" वह फूल निकालने लगा तो बोला, "महाराजजी! इसमें तो पॉच रुपया भी है।" आपने कहा- "अच्छा, तो तू पॉच रुपया पा गया। ठीक है, ले जा और कुछ खा-पी ले।" लडका तो लडका! वह रुपया लेकर चला गया।

महाराजजी आगरा से चलते समय राधेलाल से बोले, "देख! तू कर्ज-कर्ज बहुत चिल्लाता है, अब हम तो जा रहे है किन्तु तुझे धन मिले तो कुछ दान-पुण्य कर देना और मेरा भी स्मरण करते रहना।" कालान्तर में जब महाराज जी अनुसुइया मे स्थायी रूप से रहने लगे थे, पता लगाते-लगाते राधेलाल दलाल भी वहॉ पहुँच गया। वह कहने लगा- "महाराजजी! आपके जाने के दो दिन बाद ही मैंने तीन लाख रुपये कमाये। कर्ज भी पट गया, दान-पुण्य भी किया। आगरा में जितने भी गरीब मेहतर और डोम थे, उन सबको खिलाया और सबको छककर शराब पिलाया। ऊपर से उन्हें पैसा भी बॉटा।

महाराजजी बिगडे- " क्यों रे! दान तो सुपात्र को दिया जाता है। दान में शराब पिलायी जाती है क्या? तुम्हारे देने से उनके पास पैसा टिकेगा? बोल टिका?" उसने बताया- "नहीं महाराजजी! लोग दूसरे दिन उस पैसे की शराब छान-फूँककर मस्त हो गये लेकिन मैं कठिनाइयों से फिर घिर गया हूँ और तभी से आपकी खोज में हूँ।" महाराजजी बोले- "हूँ बेटा! कुपात्र को दान देने से दाता नष्ट हो जाता है। अब जुआ बन्द करके भजन कर, तभी तेरी कठिनाइयाँ दूर होंगी।" इस प्रकार आश्वासन देकर महाराजजी ने उसे विदा कर दिया।

पूज्य महाराज जी प्राय कहा करते थे- हो! जिस दिन से आप छोटा-सा भी दान करते हैं, उस दिन से ससार को किसी न किसी मात्रा में त्यागते हैं। दान मुक्ति की ओर ले चलता है। दान कई प्रकार के होते है, जैसे- स्वास्थ्यदान, विद्यादान, अन्नदान इत्यादि। अन्न सबका जीवन है, किन्तु आयु पूरी होने पर अन्न रहते हुए भी काम नहीं देता। अन्त में विद्या भी काम नहीं आती। इन सबसे श्रेष्ठ दान अभयदान है। परमात्मा में ही अभय है। उसमें प्रवेश दिला देना सद्गुरुओं का दान है। हो! ससार मे सब दानी ही बने है। **हाथी स्वान लेवा दई।** दस रुपया चढाते हैं तो बदले मे हाथी मागते है। असली दानी तो मैं हूँ, जो मोक्ष देता हूँ और बदले में कुछ भी नहीं लेता। **सोई महि मण्डित पडित दाता-** एक ओर सन्त दानी है दूसरी ओर भगवान महादानी!

"माँगहु जो कछु भाव मन महादानि अनुमानि।।"
"हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।।"

अहैतुकी कृपा करनेवाले इस संसार में या तो भगवान हैं या भगवान के अनन्य सेवक! वही मौलिक दाता है। इस सर्वोत्कृष्ट दान को पाने के लिए साधक को भी एक दान देना होता है- वह है मन का दान, विचारों का दान, इष्ट के प्रति मन-क्रम-वचन से समर्पण!

शीश काटि चरनन धरे, तब पैठे घर माँहि।

उज्जैन के कुम्भ-पर्व पर

एक समय उज्जैन मे कुम्भ-पर्व पर लाखो महात्माओ की भीड एकत्रित हुई थी। वहाँ आप भी पर्यटन करते हुए अनायास ही पहुँच गये। वहाँ पर बहुत से मठाधीश हजारों साधुओं को आमन्त्रित कर भोजन करा रहे थे। किसी नागा बाबा के साथ आपको भी एक भण्डारे में जाना पडा। पहले तो आप जाने से इन्कार कर रहे थे परन्तु सगवश चले गये। वहाँ भीड-भाड में बहुसख्यक लोगों को भोजनार्थ आया देखकर आप यह विचार करने लगे कि यह कौन साधु है जो हजारों सन्त-महात्माओं को निमंत्रित कर भोजन करा रहा है और एक मैं हूँ कि स्वत भोजन की कामना से चला आया हूँ। इस प्रकार विचार-विमर्श मे भटकती हुई आपकी बुद्धि इस निर्णय पर पहुँचती है कि मैं यहाँ से भण्डारे की उपेक्षा करके चला जाऊँगा और तत्काल लौट पडे। शनै-शनै चलकर एक मील दूर क्षिप्रा नदी के तट पर किसी वृक्ष की छाया में आप बैठ जाते हैं। आश्वस्त होकर दृढतापूर्वक मन ही मन आप निर्णय लेते हैं कि यदि भगवान यहीं खिलायेंगे तभी खाऊँगा अन्यथा नहीं। निराहार तीन दिन बीत गये। चौथे दिन प्रात काल ही एक महात्मा उस ।न मे निकले और बोले कि बैठे रहिये, लक्ष्मी मिलेंगी। ठीक उसके एक प्रहर उपरान्त ही एक

माई हाथ मे लोटा लिये वहॉ से निकली। किसी अज्ञात शक्ति से प्रेरित होकर उस माई ने महाराजजी के आसपास सफाई करके उनके भोजनादि की पूर्ण व्यवस्था की। वह अनवरत तीन-चार घण्टे तक सेवा में खडी रह गयी। उसके सेवाभाव को देखकर महाराजजी ने पूछा, "भवानी! क्यो खडी हो? क्या चाहती हो? तुम कहॉ जा रही थी और क्यों लौट पडी? तुम्हें क्या हो गया?" उसने अति विनम्र भाव से कहा कि मै स्नान करने जा रही थी। अचानक मेरे मस्तिष्क में यह आवाज आयी कि इनकी सेवा करो, ये साधु हैं। मैं आश्चर्य मे पड गयी कि कौन-सी सेवा करूँ? तव से मै निरन्तर यही सोच रही हूँ कि आपकी सेवा किस तरीके से करूँ? मैं तो आपके चरण कमलों का दर्शन करके ही तृप्त हो गयी। अव आपकी कृपा चाहिये। इसके पश्चात् वह नियमित रूप से वहॉ आने-जाने वालो को भोजन कराती थी व प्रसाद वितरण की व्यवस्था आदि करती थी। यह व्यवस्था श्री महाराजजी की तरफ से उस महिला के माध्यम से होती थी।

उपरोक्त महिला एक ख्यातिप्राप्त अधिवक्ता की धर्मपत्नी थीं। उनके पास कुछ धनराशि व्यक्तिगत रूप से थी, जिसे वह आपके सेवार्थ अर्पित करना चाहती थीं। वार-वार आग्रह करने पर भी आप विचलित नहीं हुए वरन् उस स्थान को त्यागकर अन्यत्र चले गये।

उज्जैन मे ही कुम्भ के पुनीत पर्व पर परम्परानुसार चारो मठों के शकराचार्यो ने सत वेषधारियों को सन्यास मे सम्मिलित होने का आह्वान किया। उनके उद्घोष को सुनकर महाराजजी के मन में भी यह सकल्प उठने लगा कि मैं वहुत दिनों से इधर-उधर भटक रहा हूँ, क्यो न सन्यास-दीक्षा में सम्मिलित हो जाऊँ। उक्त विचार उठते ही उनके अन्तर्देश में हलचल मच गयी। उसी क्षण इष्ट का सकेत मिलता है कि तुम्हारे जैसा चेला और तुम्हारे जैसा गुरु कहीं है ही नहीं। तुम किस जमात मे सम्मिलित होने जा रहे हो? यह सुनकर वे हार्दिक प्रसन्नता से उछल पडते हैं। वे इष्ट से क्षमायाचना करते है।

अपने उपदेशों के समय आप इस घटना का दृष्टान्त देकर समझाया करते थे कि साधक को इष्ट के अधीन होकर लगनरत रहना चाहिये। समय-समय पर अन्तर्जगत् से आदेश देकर इष्टदेव स्वत उसे पथ-विचलित होने से बचा लेते हैं।

हिमालय की उपत्यका में

गगोत्री, केदारनाथ और बद्रीनाथ की ओर भी महाराजजी ने पर्याप्त भ्रमण किया था। आप वताया करते थे कि उस क्षेत्र मे प्राय कुहरा-जैसा छाया रहता है। कुहरा छँटने पर हिममण्डित शिखर चॉदी की तरह चमकते थे। सूर्य निकलने को होता तो सर्वत्र नारगी रग मे शिखर रग जाते। थोडी ही देर में सोने की तरह पीला रग सर्वत्र विखर जाता। प्राकृतिक दृश्य पल-पल पर परिवर्तित होता रहता था। सीढी वना-वनाकर पहाड के ऊपर तक खेती होती थी। एक-एक मीटर तक के छोटे-छोटे खेत! शिखर से ढलान उतरते हुए तलहटी तक! झरनों से सिचाई! देखने मे बडा अच्छा लगता था। उस कडाके की सर्दी में भी वही दिगम्वर वेश! कहीं आपको धूना मिल जाता तो कहीं वह भी नहीं।

भ्रमण करते-करते आप देवप्रयाग पहुॅचे। एक स्थान पर चार महात्मा वैठकर गॉजा वना रहे

थे। आप भी वहीं पहुँच गये। उन महात्माओं में से एक ने कहा- "आइये सन्तजी! बैठें! दम लगायेंगे?" आपने सोचा कि ठडक अधिक है, दो फूँक इसे ले लेंगे तो कदाचित् गर्मी आ जाय- ऐसा सोचकर आप भी उन सबके समीप ही बैठ गये। गाँजे में अन्य मादक पदार्थ भी मिलाया जाता रहा। गँठकर तैयार हुआ तो बोले- "सन्तजी, चेताओ!" एक बाबा जी गाँजे के लिये अधिक व्यग्र थे। वे झटके से उठे, चिलम लिया और चेताने लगे। थोडा सुलगा! पहली बार खींचते ही चिलम से लपट ऊपर उठी और वे लटपटा कर गिरे। उनकी साँस ऊपर की ऊपर और नीचे की नीचे ही रह गयी।

सभी बाबा भाग खडे हुए। आप भी बिना कुछ सोचे-विचारे दौड़ पडे। दस-पन्द्रह कदम जाने के बाद आपने सोचा कि मैं भाग क्यो रहा हूँ और ये सभी क्यों दौड रहे हैं? भागने का कारण समझ में आया कि गाँजा पीनेवाला बाबा मर गया। भय का कारण समझ में आते ही उन महात्माओं के ऊपर आप बिगडे- "देखो! रुक जाओ, भाग क्यों रहे हो? इसमें कौन-सा अपराध हो गया है। सभी साथी ही तो थे। नशा कुछ अधिक होने से यह मर गया। तुम खींचते तो तुम भी मर जाते और हम खींचते तो हम भी मर सकते थे। किसी ने जान-बूझकर तो इसे मारा नहीं। फिर निर्दोष सन्तो को भय कैसा?" इतना सुनते ही वे सभी लौट पडे। सबने बैठकर विचार किया। पुलिस को सूचना दी गयी। थाने से लोग आये। पचनामा हुआ। दाह-सस्कार हुआ। पाँच अजली जल उन महात्मा को महाराजजी ने भी अर्पित किया। आपने सबको ढाँढ़स बँधाते हुए कहा कि यदि समय शेष है तो सन्मुख होने पर भी बाघ नहीं खा सकता और यदि आयु के दिन पूरे हो गये हैं तो पाँव की पनही ही काल है। सुन्दर भोजन, उत्तम शैय्या- यहाँ तक कि सुरक्षा व्यवस्था काल है। अत सुमिरन करो, उन सन्त और आप सबको शान्ति प्राप्त होगी और आप देहरादून के पथ पर अग्रसर हो गये।

उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहि बिरोध ।।

इष्ट की आज्ञा का महत्त्व

उन महात्माओं का साथ छोड आप दुर्गम घाटियों से गुजर रहे थे। एक सुनसान पथ दिखाई पडा। आपने विचार किया कि यदि रास्ता है तो आगे कोई स्थान भी होगा किन्तु वह वन विभाग का निर्जन पथ था। गगनचुम्बी विशाल वृक्षों का घना जगल, जहाँ-तहाँ हाथियों की लीद! शाम उतर आयी। पहाडों की ओट में सूर्य बहुत पहले ही छिप चला। एक स्थान पर कुछ मैदान जैसा था। उसके मध्य में एक विशालकाय वृक्ष देखकर आप उसी के नीचे बैठ गये। रात्रि मे आप वृक्ष की छाया में बैठकर आत्म-चिन्तन कर रहे थे कि इष्ट का आदेश हुआ--"यहीं बैठे रहो, तुम्हारा योगक्षेम यहीं पूर्ण होगा एव मानवीय कल्याण-पथ तुम्हारे द्वारा प्रशस्त होगा।" अनुभव की उसी श्रृखला में ही आप देखते हैं कि सम्पूर्ण वातावरण प्रकाशित है।

इष्ट से ऐसा निर्णय पाकर आपको बडी प्रसन्नता हुई। आप यह समझकर बैठ गये कि जब भगवान का यही मन है तो ठीक है। तीन दिन बैठे-बैठे ही बीत गये। निरन्तर शकुन भी मिलता रहा कि "ठीक है। सब वैसा ही होगा, बैठे भर रहो।" न तो भोजन की व्यवस्था थी और न तो

निवास का प्रबन्ध! चौथे दिन इष्ट से निर्देश मिला, "आज एक सिपाही दूध लेकर आयेगा किन्तु पीना मत!" आपने सोचा, जब इष्ट का यही आदेश है तो दूध छूयेंगे भी नहीं।

प्रात के लगभग सात-आठ बजे होगे, दूर पगडडी से एक व्यक्ति आता दिखाई पडा। कुछ देर मे वह आपके समीप आ गया और बोला- "महाराजजी! यह दूध पी लिया जाय।" महाराजजी चौंके, देखा तो सिपाही सचमुच दूध लेकर खडा है। कटोरे में लगभग तीन पाव दूध था। महाराजजी बोले, "आज हम दूध नहीं पियेगे, फिर कभी सेवा करना।" वह गिडगिडाने लगा, "महाराजजी! क्या हम इतने अभागे हैं कि आप हमारा दूध ग्रहण नहीं करेंगे। हमने आपको चौथे दिन देखा, परसो देखा, कल भी हमारी दृष्टि पडी, आप तभी से भूखे-प्यासे बैठे है--यह देखकर बडे भाव से आपके लिये दूध लाया हूँ। हम यहॉ के वनरक्षक है।" जो भी उसकी बुद्धि मे आता था, वह निवेदन करता जाता था।

उस वनरक्षक को हटाने के लिये महाराजजी जितना प्रयास करते, उसका आग्रह उतना ही बढता जा रहा था। अपशकुन निरन्तर हो रहा था। आपने यह भी बताया कि भगवान का आदेश नहीं है किन्तु वह समझ ही नहीं रहा था। वनरक्षक से पीछा छुडाने के लिये आपने खींझकर आदेश की अहवेलना कर कटोरा उठाया और दूध पी लिया।

सिपाही तो चला गया, किन्तु उसी क्षण महाराज जी को आदेश मिला--"उठो यहॉ से! अव यहॉ कुछ भी नहीं होगा। तुमसे रहते ही नहीं बनेगा।" आपने क्षमायाचना की, भरसक चरणो पर गिरकर रोये और गिडगिडाये परन्तु आशिक रूप से इष्ट की अवहेलना का परिणाम आपको भोगना पडा। चार दिन के भूखे-प्यासे महाराजजी अनिश्चित गन्तव्य की ओर चल पडे। इस घटना के उपरान्त अपने उपदेशों में आप कहा करते थे- "साधनावस्था में साधक को अन्तर्जगत् से प्राप्त होनेवाले इष्ट के आदेशों का अक्षरश पालन करना चाहिये। ऐसा न करने पर लक्ष्य की प्राप्ति में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है। यहॉ तक कि इष्ट की अहवेलना करनेवाले को जयन्त की तरह कहीं ठिकाना नहीं मिलता। समर्थ इष्ट की कृपा से ही साधक साधना-क्षेत्र मे क्रमागत सफलता प्राप्त करता है।"

मधवापुर ग्राम्यांचल में चातुर्मासा

परिभ्रमणकाल में महाराजजी काशी, अयोध्या, मुम्बई, नासिक, उज्जैन, हरिद्वार, गया और कलकत्ता तक गये। गगा, यमुना, नर्मदा, कर्मनाशा इत्यादि विशिष्ट नदियॉ आपकी भ्रमणस्थली रही हैं। यही आपका विचरण क्षेत्र था। एक बार आप अयोध्या में थे। रात्रि में विश्राम करते हुए विचार किया कि वर्षा-ऋतु आ गयी है, ऐसे में विचरण नहीं हो पाता, अत कहीं रुककर चातुर्मास करना चाहिये। इस सकल्प के अनन्तर ज्योंही आप चिन्तन में बैठे, अनुभव (इष्ट का आदेश) मे दिखाई पडा- एक बियावान कानन, बीच में सडक और आवाज आयी, "इधर मॉ का घर है, उधर पिता का घर है, पास में बेल का एक पेड है उसी के नीचे रहो।

समाधि से चैतन्य होकर आप विचार करने लगे कि भगवान भी कितने विनोदी हैं। मेरे माता-पिता तो न जाने कव के छूट गये और भगवान कहतें हैं- इधर मॉ का घर है और उधर

पिता का घर है। अस्तु, जिधर सकेत हुआ आप उधर ही चल पडे। सूर्य अस्त हो चुका था, निशा का अन्धकार गहराता जा रहा था। आप रुक गये। जब आपने इधर-उधर देखा तो सडक के एक ओर देवी का मन्दिर और दूसरी ओर शकरजी का। आपने विचार किया कि कहीं यहीं तो माँ-बाप नहीं हैं? तुरन्त शकुन मिला कि यही स्थान है। आपको याद आया, तब तो बेल का पेड़ भी होना चाहिए। जहाँ उन्होने इधर-उधर दृष्टि दौडाई, एक पेड दिखाई पडा। समीप जाकर देखा तो वह पेड बेल का ही था। पेड के नीचे बैठते ही अच्छे शकुन मिलने लगे कि यही चातुर्मास्य स्थली है।

आस-पास के क्षेत्र में यह प्रचार हो गया कि देवी मन्दिर पर एक पागल आया है इसलिए औरतों के साथ दो-चार जवान लाठी लेकर आते। महिलाएँ पूडी-हलुआ बनाकर देवी को चढातीं और लौट जाती थीं। महाराजजी को किसी से कोई प्रयोजन ही न था। एक-एक करके दिन बीतते जा रहे थे। पाठशाला में पढनेवाले बच्चों को भी ज्ञात हुआ कि वहाँ एक पागल बैठा है। प्रात पाठशाला जाते समय बच्चे उधर से ही जाते थे। अबोध बच्चे पत्थर फेंकते अपने रास्ते पर बढ जाते थे। वे परस्पर कहते भी थे--"देखो रे! वह रहा पगला!"

छठे दिन देवी का दर्शन करनेवाली एक महिला ने महाराजजी से कहा-"सत्तू लेंगे! हमें अकेले वहाँ आने मे डर लग रहा है। मैं समझ नहीं पा रही हूँ कि आप कौन हैं? यदि सन्त हों तो यह सत्तू ले ले।" आपने हाथ उठाया, सत्तू लिया। इस प्रकार आपने छठें दिन थोड़ा-सा सत्तू खाया, पानी पीया और पुन चिन्तन में लग गये।

विद्यालय जानेवाले बच्चे क्रमश प्रगल्भ हो चले थे। पत्थर मारने में उन्हें मजा मिलने लगा। चुपचाप बैठे महाराजजी से उन्हें अनिष्ट की आशका भी नहीं थी, अत वे समीप आकर पत्थर फेंकने लगे। सातवें दिन एक बच्चे ने अत्यन्त समीप आकर पत्थर फेंका। वह पत्थर आपकी पीठ पर जा लगा।

महाराजजी ने सोचा, अब तो ये निडर होते जा रहे है। बालक और बन्दरों का स्वभाव एक जैसा होता है। अत वे उठ खडे हुए, बिगडे और ललकारा, "धर-धर, जाने न पाये।"

अचानक अप्रत्याशित परिवर्तन देख बालकों का झुण्ड भागने की हड़बड़ी में एक दूसरे से टकराकर गिर पडा। वे चींखते हुए, उठते-गिरते भागकर घर पहुँचे। किसी प्रकार सबने बताया-"पगला खा गया।" पन्द्रह-बीस जवान लाठी-बल्लम लेकर दौड पडे। सभी बच्चों की खोज होने लगी कि कौन-सा लडका विद्यालय से नहीं आया? चारो ओर से घेरा डालते, एक-दूसरे को सचेत करते वे आपकी ओर बढते आ रहे थे। वे आपस में कह भी रहे थे- "देखना, भागने न पाये।"

ग्रामीणों का अनुमान था कि कोई पागल होगा तो शोर सुनकर भाग जायेगा, किन्तु आप यथास्थान ध्यान में बैठे थे। ग्रामीणों में से कोई लाठी घुमा रहा था, कोई गाली दे रहा था। किसी ने कहा, इनमें तो बडी शान्ति है- जैसा अच्छे साधु-महात्माओं में होती है, पागलों में नहीं। पहले पता तो लगा लें। पदारथ काका को बुला लिया जाय।

ठाकुर रामपदारथ सिह मधवापुर के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वे बडे सत्सगी तथा साधुसेवी थे। कबीर की वाणियों से वे अधिक प्रभावित थे किन्तु सेवा हर महापुरुष की करते थे। आते ही उन्होंने एक दोहा पढा-

एक बार हरि घोड़ा भये, ब्रह्मा भये लगाम।
चाँद सूरज रविका भये, चढ़ि गये चतुर सुजान।।

दोहा पढकर उन्होंने प्रणाम किया। आशीर्वाद की मुद्रा मे महाराजजी ने हाथ उठाया। उन्होंने दोहे का आशय जानना चाहा तो आपने मुस्कराते हुए उन्हें सम्बोधित कर कहा कि सर्वस्व का हरण करनेवाले एकमात्र हरि हैं। वे जब मन में प्रवाहित हो जाते हैं तब इस हरि से प्रेरित और पूरित मन ही घोडा है। हरि के विरह मे हरि से सयुक्त मन ही घोडा है। चराचर जगत् में भागनेवाला, असख्य योनियों में दौड लगानेवाला यही मन है, यही घोडा है। किन्तु जब यह हरि से सयुक्त हो जाता है तो यह चढने योग्य हो जाता है। **ब्रह्मा भये लगाम**- वुद्धि ही ब्रह्मा है। **"अहंकार शिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान"**- यह साधारण वुद्धि नहीं, इष्टमयी बुद्धि ही लगाम है। ऐसी बुद्धि से ही इस मनरूपी घोड़े को पकडा और नियत्रित किया जाता है। **चाँद सूरज र्विका भये**- चन्द्र अर्थात् इगला (ईडा) और सूर्य अर्थात् पिगला नाडी अर्थात् भीतर जानेवाली और बाहर आनेवाली दोनों श्वास, वायॉ और दायॉ दोनो स्वर- यह दोनों श्वास ही घोडे के दोनों ओर लटकनेवाली दो पायदान (रकाबें) हैं। इसी श्वास-प्रश्वास के यजन द्वारा इसी पायदान पर कदम रखकर चतुर लोगो ने मन का निरोध कर लिया अर्थात् घोडे पर चढ गये।

इतना सुनते ही उनके हृदय के कपाट खुल गये। वे चरणों मे गिर गये और सभी ग्रामवासियों को समझाया कि ये एक उच्चकोटि के सन्त हैं। वह बूढा गॉववालों पर बरस पडा- "तुम लोगो को शर्म नहीं आती। सात दिन से ये सिद्ध महापुरुष भूखे-प्यासे बैठे हैं। पूरा गॉव जल जायेगा। इनकी सेवा करो। कम से कम हमें ही बताया होता। सभी अपने-अपने घर की ओर दौड-पडे। कोई दूध ले आया तो कोई दही, तो कोई कुछ सामग्री लिये चला आ रहा है। व्यवस्था हो चली। बात की बात मे भक्तिभाव की एक लहर सम्पूर्ण गॉव में दौड गई। सफाई होने लगी। पूरा गॉव ही सेवारत हो गया।

बूँदा-बॉदी होने लगी थी। आप बेल के नीचे ही आसीन थे। लोगों ने महाराजजी से मन्दिर में चलने को कहा, किन्तु आपने कहा, "नहीं यहीं रहना है।" सबने निश्चय किया कि सवेरे पहला कार्य आपके लिए झोपडी बनाना होगा, कल और कोई कार्य नहीं होगा। सवेरा हुआ। महाराजजी ने देखा, वे सभी लोग हल के साथ जा रहे हैं। जबकि शाम को सभी ने झोपडी बनाने का निर्णय स्वय लिया था।

अचानक वादल घिर आये। मूसलाधार पानी बरसने लगा। सबने हल पुन घर रखा और

चतुर वही है जो एक परमात्मा की शोध मे सलग्न है।

चतुराई चूल्हे पड़ी, घूरे पड़ा अचार।
तुलसी राम भजन बिनु चारों बरन चमार।।

अर्थात् वह चतुराई चूल्हे में पडने योग्य है, जलने योग्य है, वह आचार-विचार, शिष्टाचार कूडेदान मे पडने योग्य है- यदि एकमात्र राम, उन परम प्रभु का भजन नहीं है। भजन के विना चारो वर्ण केवल अस्थि-चर्म मात्र है। मात्र शरीर के पोषक है कि 'यह मेरा है, यह तेरा है।' एक परमात्मा की भक्ति ही सच्ची चतुराई है।

आपके पास आ गये। आपने कहा- "अव करो न जुताई! चले क्यों आये? अव कुछ मत करो, भागो यहाँ से।" आप विगडते ही रहे किन्तु लोग झोपडी वनाने में जुट पड़े। तीन दिनों तक बूँदा-बाँदी का क्रम नहीं टूटा किन्तु तीनों दिन वे सव भींगते हुए झोपडी सजाते ही रह गये। झोपडी बन गई, आपका धूना झोपडी मे लग गया और चातुर्मासा प्रारभ हो गया।

पुनर्जन्म

मधवापुर मे एकान्त पाकर आप टहला करते थे। श्वास में सुरत लगाई और चल पडे। एक मकान के पार्श्ववर्ती पथ से आप जव भी निकलते, उस घर से लगाव हो जाया करता था। कई दिनो तक ऐसा हुआ। आपको लगा कि इस घर को हमने कभी देखा है क्या? इस स्थान से इतना आकर्षण क्यो है? इष्ट से उत्तर मिला कि, "पिछला जन्म इसी घर में हुआ था। पैदा होकर मात्र ढाई माह तक जीवित थे। वही सस्कार अव तक पीछा कर रहा है।" अव आपने उस घरवालों से पूछा तो घरभर एकत्रित हो गये। उन्होने वताया- "महाराजजी! वडा होनहार लडका था। उसके फिर कोई सन्तान नहीं हुई।" पचासी वर्ष की वृद्धा (ठकुराइन साहिवा) माताजी भी पहुँच गईं और लगी आँसू बहाने। महाराजजी अपने उपदेशो में कहा करें- हो! न जाने इस जीव ने कितनी माताओं को रुलाया है, अपनत्व का प्रसार किया है। कितनी योनियों का भ्रमण कर यह मानव-तन मिला है। इसे सार्थक करना चाहिए।

विमूढाः नानु पश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषाः। (गीता १५/१०)

इस आत्मा को केवल ज्ञानचक्षु वाले ही जानते हैं, मूढलोग नहीं जानते। हो! मुझे कई जन्मों का हाल भगवान ने बताया है, किन्तु कोई पतिआई? विश्वास तभी होता है जव हम स्वयं देखें। महाराजजी ने उन सवको सान्त्वना देकर विदा कर दिया किन्तु इसका रहस्योद्घाटन नहीं किया।

बिल्व फलों की रक्षा

मधवापुर मे आप जहाँ निवास करते थे, उसके समीप ही एक स्वादिष्ट बेल के वृक्ष के फलों में (जो आज भी है) अत्यधिक मिठास होने के कारण कीडे पड जाया करते थे। ग्रामवासियों के विशेष आग्रह पर श्रीमद्भागवत् पुराण के पारायण का आयोजन किया गया। इस धार्मिक आयोजन से लाभान्वित होने के लिए विशाल जनसमूह उपस्थित हुआ। जव आप कार्यक्रम का निरीक्षण करते हुए प्रशान्त मुद्रा मे बैठे थे कि एकाएक इसी वीच लगभग ढाई-तीन किलो वजन का एक बिल्व फल आपके सिर के ऊपर गिर पडा। आप सिर पकडकर रह गये। थोडी देर मे अपनी सरल वाणी मे आपने उपस्थित विशाल जनसमूह के बीच यह घोषणा की कि आज से यह बेल कभी कीडों से सडकर नहीं गिरेगा। आज तीस-पैंतीस वर्षो की एक लम्बी अवधि बीत चुकी है परन्तु अद्यावधि एक फल भी सडकर उस वृक्ष से नहीं गिरा। मधवापुर ग्राम मे आज भी उस बेल के फलों का वितरण प्रसाद-रूप मे किया जाता है।

मरणासन्न को जीवनदान

ग्रामवासियों के महान् अनुरोध एव अनुकूल वातावरण होने के कारण महाराजजी कुछ दिनों तक मधवापुर में रुक गये। वहाँ एक भोला-भाला वनरक्षक शासकीय सेवा में रहता था। सन्तप्रेमी



मरणासन्न को जीवनदान

होने के कारण आप में उसकी प्रगाढ श्रद्धा थी। उसने चातुर्मास के लिए पर्याप्त लकडियों की व्यवस्था कर दिया और समय-समय पर पहुँचकर आपकी यथासाध्य सेवा करता था। दैविक प्रकोप के फलस्वरूप वह ब्राम्हण एक बार हैजे की चपेट में आकर मरणासन्न हो गया। उसके मृतप्राय होने की सूचना आपके पास भी पहुँची। लोगों ने बताया- "महाराजजी! वह वनरक्षक मिश्रा, जो आपकी सेवा में रहता था, बिस्तर पर पडा हुआ अन्तिम साँस ले रहा है। यहाँ तक कि वैतरणी के लिए उसे गाय भी दी जा चुकी है। पता नहीं किस क्षण साँसों का क्रम टूट जाय।" महाराजजी थोडी देर तक मौन रहे, फिर बोले- "मरने-जीने को तो ससार पडा है, फिर साधु की सेवा करने से क्या लाभ? जब मरना ही था तो भगवान ने हमारी सेवा क्यों करवाई? क्यो, क्या वह सचमुच ही मर गया?" आपने विभूति ले जाकर उसे खिलाने की आज्ञा दी। पहले तो लोगों को आपकी गरिमा पर विश्वास नहीं हुआ, लेकिन प्रात जब मिश्राजी बैलगाडी मे बैठकर आये तब सबको आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने बताया कि आपकी विभूति लगाते ही मैं अपने को स्वस्थ महसूस करने लगा। मैं नीचे से उठकर चारपाई पर लेट गया। मैंने देखा कि आप मेरी चारपायी पर बैठे है, मेरे सीने और मस्तक को सहला रहे हैं और कह रहे हैं- "घबडइहे न! मैं आ गया हूँ। अब मरिहे न।" मैं रातभर आपको देखता रहा, प्रात चार बजा तो थोडी आँख लग गई। महाराजजी! आप कब चले आये?

मिश्राजी के शरीर में आशातीत सुधार से श्रद्धालुओं का विश्वास आपके प्रति और भी सुदृढ हो गया। मिश्राजी पूर्ववत् सेवा-कार्य में प्रवृत्त हो गये। यह थी भगवत् कृपा की अप्रतिम देन! आज भी इस घटना को प्रत्यक्ष देखनेवाले व्यक्ति जीवित हैं, पूज्य परमहसजी के शुभचिन्तक है।

भविष्यद्रष्टा महाराजजी

मधवापुर में मरती-जीती अनेक घटनाये हुई। एक बार कीर्तन चल रहा था। रात्रि के दस बजे थे। महाराजजी बोले- "कीर्तन बन्द कर दो।" लोगो ने पूछा- "क्यों महाराजजी?" आपने बताया- "लगता है कोई विकल होकर आ रहा है, उसका काम होने लायक नहीं है।"

लोगों ने निवेदन किया- "महाराजजी! भला इतनी रात गये कौन आयेगा?" तब तक दूर जगल में एक लालटेन दिखाई पडा। मनकापुर स्टेट के चार-छ लोग आये, उन्होंने बताया कि उनका लडका लखनऊ मे पढता है। इस समय अस्पताल मे भर्ती है। शाम को तार मिला है। हमलोगों ने सोचा कि आपका दर्शन कर लें।"

महाराजजी ने कहा- "भैया! मै अभी इन लोगो से यही कह रहा था कि अब तो निराशा ही हाथ लगेगी। हाँ, आप लोग शीघ्र यहाँ से निकल जायें तो सहयोग मिलेगा।"

वे लोग गये और उस लडके को दिवगत पाया, किन्तु पार्थिव शरीर प्राप्त करने में सफल हो गये। प्राय महाराजजी हर बात जान जाया करते थे। किन्तु प्रस्तुत उतना ही करते थे जितने की आवश्यकता समझते थे। यह स्वभाव हर महापुरुष का रहा है। **"जानत हूँ पूछिय कस स्वामी।"** भगवान राम जानते हुए भी अनजान की तरह व्यवहार करते थे।

सन्तकृपा से परमार्थ-पथ

भजन की सुविधा एव जनस्नेह के कारण मधवापुर में आप दो बार रुके। रात्रि में लगभग ग्यारह बजे तक भाविक लोग बैठे रहा करते थे और आपको गाँजा बनाकर दिया करते थे। उनमें से एक गरीब पासी भक्त भी ठाकुरों के भय से दूर बैठा रहा करता था। जब सब सत्सगप्रेमी वहाँ से चले जाते तो वह भी आपके पास बैठकर विनय किया करता कि "मैंने अच्छी शराब बनायी है, कृपया पान कर लिया जाय।" आपने उसे डॉटते हुए कहा कि, "यह तुमलोगों के व्यवहार की वस्तु है। साधु-महात्माओं के प्रति ऐसा कहना अशोभनीय है।" वह हठ करता रहा, तब आपने उसके दुराग्रह को देखते हुए यह कहकर शराब होंठों से लगा लिया कि "पाप-दोष के भागीदार तुम होगे।" प्रात काल ही सूचना मिली कि वह पासी पेट की पीडा से मर रहा है। जब कई बार लोगों ने पेट के पीडा की चर्चा की तो आप बोल पडे कि रात में वह मुझे शराब पिलाने की हठ कर रहा था। हो सकता है, उसी के दुष्परिणाम में वह असाध्य न हो जाय। अन्त में मरणासन्न स्थिति मे ही वह महाराजजी के पास लाया गया। उसे स्पर्श करते हुए आपने विभूति खिलाने की आज्ञा दी। विभूति खिलाने के साथ ही वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। तत्पश्चात् सदा-सदा के लिए वह शराब त्यागकर सन्त हो गया। उसके जीवन में यह विलक्षण परिवर्तन देखकर ग्रामवासी स्तब्ध हो दॉतो तले उँगली दबाने लगे। लोगो को विश्वास हो गया कि- **सठ सुधरहि सत्संगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई।।**" का आदर्श दृष्टान्त सत्य ही है। इसी प्रकार सहज दयालु सन्त किसी के द्वारा दुराग्रह करने पर भी उसका कल्याण कर देते हैं। "**जिमि कुठार चन्दन आचरनी**" की ही भॉति उसका पथ प्रशस्त हो जाता है। ऐसा ही तिलस्मी परिवर्तन शराब पिलानेवाले पासी के जीवन में भी हुआ।

कण्ठमाला

मधवापुर से विदा होने पर महाराजजी को कण्ठमाला का रोग हो गया। फूलों के हार की तरह पीव से भरी छोटी-छोटी फुसियॉ आपके गले के चारो ओर निकल आई। किंचित् दुर्गन्ध का आभास हो रहा था। आपने भगवान से पूछा कि कोई पाप न करने पर भी इतना घृणित रोग क्यों हो गया? अनुभव में भगवान ने बताया- "फिर कभी शराब छुओगे?" आप कहते थे- "हो! उस श्रद्धालु सेवक को भी दण्ड मिला और मुझे भी। साधक को शराब कदापि नहीं पीना चाहिए। इससे चेतना लुप्त हो जाती है और भजन छूट जाता है।" किन्तु आपका जब अनुसुइया में निवास हुआ, उस समय से आपके लिए विधि-निषेध नहीं रह गया। क्योंकि निवृत्ति के पश्चात् महापुरुषों के कर्मो का न पाप परिणाम होता है, न पुण्य।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण स्थितप्रज्ञ महापुरुष के लक्षण बताते हुए कहते हैं- "अर्जुन! जिसे आत्मा का साक्षात्कार हो गया, जो आत्मा से तुष्ट है, ओत-प्रोत और स्थित है उस योगी के लिए कर्म करने से न कोई लाभ है और न छोडने से कोई हानि।" अब मोरे लिए विधि-निषेध नहीं है। तुमलोग साधक हो। साधना में हर शील का पालन आवश्यक है। गृहस्थों को वे कहते- गृहस्थी का निर्वाह करते हुए भजन करो। यदि भूल भी होगी तो भगवान क्षमा कर देंगे, किन्तु विरक्त साधु को भगवान कभी क्षमा नहीं करते। उसे नारद की तरह कडा प्रायश्चित करना पडता है।"

जनकोलाहल के बीच ध्यानस्थ

मधवापुर से एक बार आपकी अभिलाषा जन्मभूमि की ओर जाने की हुई। परन्तु जाने का निश्चय करते ही भयकर अपशकुन होने लगा। तत्पश्चात् आपको सकेत मिलता है कि जन्मभूमि का जाना हानिकारक होगा। आप जन्मभूमि जाने के विचार को त्यागकर पश्चिम दिशा मे विचरण करते हुए बम्बई पहुँच गये। वम्बई-जैसे व्यस्त एव कोलाहलपूर्ण शहर में महाराजजी की स्थिति एक पागल की ही भॉति थी। आप दो-तीन दिनो से निराहार थे। घूमते-फिरते आप किसी हलवाई की दुकान के पास पहुॅच गये। जलेबियॉ देखते ही मन में खाने की इच्छा जागृत हुई। आप खाली हाथ। पैसे छूते भी न थे, मॉगने का विधान भी नहीं किन्तु जलेवी के लिए मन जोर मारने लगा। मन में हो रहा था कि जलेबी का थाल उठा ले। फिर विचार आया कि यह सन्तपुरुषो का कार्य नहीं है। अत उन्होंने मन को समझाया- तुम तो भजन करने आये थे, यह बीच में जलेबी कहॉ से आ गई। जलेबी में ऐसा क्या है कि तू हठ करने लगा है? आज भूखा है तो क्या हुआ? भोजन की व्यवस्था तो भगवान करते हैं। वे जब आवश्यकता समझेंगे, खिलायेंगे। तू क्यो चिन्ता करता है?

अपने मन को इस प्रकार समझाकर आप सडक के किनारे जन-कोलाहल के बीच ही ध्यान लगाकर बैठ गये। उनका ध्यान यहॉ भी ठीक उसी प्रकार स्थिर हो गया, जिस प्रकार एकान्त वातावरण में होता था। साधक जिस समय अपनी चित्तवृत्तियो को एकाग्र कर मन को स्थिर करते हुए साधनात्मक प्रक्रिया की क्षमता प्राप्त कर लेता है, ऐसी स्थिति में वह कहीं भी ध्यानस्थ हो सकता है। ध्यान में आप इस प्रकार लीन हो गये कि सारा दिन ध्यान-तन्द्रा में ही ससार को भूले रहे। क्रमश ध्यान समाधि मे परिणत हो गया।

उस भीड से एक श्रद्धालु निकला। उसने कहा- "सन्तजी!" महाराजजी को सुनाई पडा- "गुन्न!" वह तो समाधि में थे। उसके दुबारा जोर देकर पुकारने पर महाराजजी को सुनाई पडा- "सन्तजी!" महाराजजी सोचने लगे कि कदाचित् भगवान मुझे सन्त कह रहे हैं। उस भक्त ने पुन पुकारा तव आपकी समाधि टूटी। उन्होने देखा कि सामने हाथ मे थाल लिये एक भक्त खडा निवेदन कर रहा था- "महाराजजी भोजन कर लें।" उसने महाराजजी को विधिवत् भोजन कराया, पानी पिलाते हुए हस्तप्रक्षालन कराया, सादर प्रणाम किया और चला गया। महाराजजी अपने को भीड से घिरा हुआ पाते है और किसी तरह उनसे बचकर आप एकान्त की ओर चल पड़ते है।

नारियल खाने की इच्छा

समुद्र के किनारे एक खोमचेवाले ने नारियल का आधा-आधा टुकडा एक के ऊपर एक विधि से सजाकर रखा था। देखने मे वडा आकर्षक लग रहा था। महाराजजी के मन में आया कि एक टुकडा मिलता तो खाते। आपने तुरन्त मन को समझाया कि भजन छोडकर कुछ भी दिखाई पडेगा वहीं दौड जाओगे क्या? आप आगे वढ गये। एक पेड के नीचे वैठ गये। अचानक नारियल का एक टुकडा ठीक सामने गिरा। ऊपर देखा तो एक कौआ था। वह कहीं से उठा लाया था। खाने के प्रयास में वह नारियल उसके चंगुल से छूट गया था। आपने उसे उठा लिया तो शकुन मिला।

महाराजजी उसे खा गये और इस आपूर्ति पर भगवान को बहुत धन्यवाद दिया। योग की चरमोत्कृष्ट अवस्था में इच्छा का स्फुरण होते ही व्यवस्था हो जाया करती है।

जो इच्छा करिहउ मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।

दूधभिक्षा में मछली

एक दिन बहुत सबेरे ही महाराजजी मुम्बई की गलियों से गुजर रहे थे। लोग अभी सो रहे थे। चहल-पहल का शोर अभी फूटा न था। एक महिला दूसरी मंजिल से कुछ पराठे नीचे सड़क पर फेंकने जा रही थी। आपको देखा, उसका विचार बदल गया। उसने कहा, "ओ बाबाजी! पराठे हैं, लोगे?" आपने सोचा कि बिना माँगे मिल रहा है, यह दूधभिक्षा है अतः खड़े हो गये। वह महिला तेजी से नीचे उतरी और आपके हाथ पर पराठे रख दिया। चिकने-चिकने तीन-चार पराठे और उस पर घुइयाँ-जैसी सब्जी।

चलते-चलते महाराजजी ने एक ग्रास मुँह में डाला। मछली-जैसा स्वाद लगा। आप विचार करने लगे कि साधु को तो माँस-मछली-मदिरा इत्यादि का सेवन नहीं करना चाहिए। इसने बिना माँगे दिया है। बिना माँगे जो मिले, उसका त्याग भी नहीं करना चाहिए। हमने तो माँगा भी नहीं था। भगवान ने यह क्यों दिला दिया? इसे खायें या न खायें। कभी मन करता था इसे फेंक दें तो कभी विचार आता था कि बिना माँगे मिला है, दूधभिक्षा है। भगवान भी जैसे रूठ गये हों। कोई निर्देश भी नहीं दे रहे थे कि खाओ या न खाओ। न शकुन, न अपशकुन। इसी ऊहापोह में सोचते-सोचते आप मीलों निकल गये। ग्रास मुँह में ही था। अन्ततः आपने सबका सब फेंक दिया। एक नल पर मुँह धोने लगे। बगल में पान की एक दुकान थी। दुकानदार ने आपको देखा तो दौड़कर आया, बोला- "लीजिए सन्तजी! मुखशुद्धि, पान खा लें।" आपने पान खाया और उसे आशीर्वाद देकर आगे बढ़ गये।

महाराजजी को स्मरण हो आया कि जब वे रेलगाड़ी में बैठकर मुम्बई आ रहे थे तो उस समय बगल की सीट पर एक यात्री मछली खा रहे थे। आपके मन में आया कि मछली खाने का इनका तरीका अलग है। मछली इस प्रकार पकड़ना चाहिए, इस तरह से खाना चाहिए इत्यादि। भगवान ने देखा कि यह भजन छोड़कर मछली का चिन्तन कर रहा है इसलिए भगवान ने उसे दिलाकर उससे घृणा पैदा कराया और उसे फेंकते ही मुखशुद्धि की व्यवस्था देकर आपका समर्थन किया। पुनः भगवान बोलने, बताने और आदेश देने लगे।

जंगल में सहायता

महाराजजी पैदल ही मुम्बई से बाहर आ गये। रैल की पटरी के बगल से चलते जा रहे थे। अँधेरा फैलने लगा। न कोई आदमी दिखाई पड़ता था, न कोई गाँव! आप धीरे-धीरे अपनी धुन में, योगाभ्यास में सुरत लगाये बढ़ते जा रहे थे। इतने में पटरी से खट्-खट् की आवाज आने लगी। आपको लगा कि कोई रेलगाड़ी आ रही है। आप खड़े हो गये। मालगाड़ी जा रही थी। ज्योंही गार्ड का डिब्बा सामने आया, गाड़ी रुक गयी। गार्ड ने आपको बुलाया। आप गार्ड के डिब्बे में चढ़ गये। उसने झंडी दिखाई और गाड़ी पुनः चल पड़ी। गार्ड ने टिफिन डिब्बे से अपना भोजन निकाला

और बडे आग्रह से आपको खिलाया। कटनी रेलवे स्टेशन के पास, जहाँ आप उतरना चाहते थे, उसने जगल में गाडी रोककर आपको विदा किया। इस प्रकार भगवान ही प्रेरणा करके अपने भक्तों को सुविधा दिला देते हैं अन्यथा जगल में कोई गाडी क्यो रोकता, जबकि जगल में गाडियों के लुटने का भय बना रहता है।

जन्मभूमि की ओर

विचरण करते-करते जन्मभूमि की ओर जाने के लिए आपकी इच्छा पुन बलवती हो गई। अपशकुन के वावजूद भी आप गन्तव्य स्थान के प्लेटफार्म पर पहुँच गये। तत्क्षण आपको चेतावनी के रूप में इष्ट का आदेश होता है कि आ तो गये, उतरना मत। ऐसी इच्छा साधक के लिए अभिशाप है। लेकिन दुराग्रह कर आप गाडी से नीचे उतर ही गये। उतरते ही आपको ऐसा आभास होता है कि आपके इष्ट निर्देशन में कोसते हुए कह रहे हैं कि तुम साधु नहीं हो, घर चले जाओ। आप अवाक् किकर्तव्यविमूढ होकर सोचने लगते हैं कि इतने मे हृदय से एक प्रकाशपुंज निकलकर शून्य में विलीन हो जाता है। इस अपौरुषेय घटना से आपकी भावना पर ऐसा कुठाराघात हुआ कि आप डेढ वर्ष तक भजन कुटीर में पडे निरन्तर रोते ही रह गये, साथ ही भगवान से क्षमायाचना करते रहे। आपने प्रतिज्ञा किया कि अव जन्मभूमि आने की अभिलाषा कभी न करूँगा। दयालु इष्टदेव ने आपको क्षमा करते हुए आदेश दिया, "अब तुम बाहर चले जाओ।" रात्रि की नीरवता मे जब आप गाँव के बाहर निकल रहे थे, एक परिचित व्यक्ति से भेंट हो गयी। उसको समझाते हुए आपने कहा कि अब मैं जन्मभूमि कभी भी वापस न आऊँगा।

आप प्राय अपने उपदेशों के दौरान यह कहा करें, "देखो, साधु होना और मरना बराबर है। दुनिया में और कोई है भी परन्तु घरवालों के नाम पर कोई नहीं है। भगवान परम दयालु हैं। वे ऐसे बातें करते हैं जैसे हम और आप।" **जानि गरल जे संग्रह करहीं। कहहु उमा ते काहे न मरहीं।।** जब भगवान रक्षक हो जाते हैं तो विष नहीं पीने देते। ईश्वर के प्रति असीम विश्वासपूर्ण हृदय के साथ आप इसके उपरान्त सदा के लिए जन्मभूमि का ममत्व छोडकर पुन साधना के प्रशस्त मार्ग में प्रवृत्त हो गये। इस घटना का उदाहरण देकर आप समझाया करें कि साधना-काल में जन्मभूमि के प्रति किंचित् मात्र भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए क्योकि इस भावना से प्रेरित होने पर पथभ्रष्ट होने की सम्भावना रहती है। साधुओ का मार्ग तो ऐसा है कि-

जो घर फूँके आपना, चलै हमारे साथ।

कश्मीर से चित्रकूट प्रस्थान

उपरोक्त घटनोपरान्त आपने कश्मीर की ओर प्रस्थान कर दिया और चलते-चलते जम्मू पहुँचे। वहाँ स्टेशन पर उतरकर खडे ही हुए थे कि एक सरदार ने आकर प्रणाम किया और पूछा, "क्यों महाराजजी! आप कश्मीर जाना चाहते हैं?" आपने सहज वाणी में स्वीकारात्मक उत्तर दिया कि कश्मीर जाकर आजीवन समय विताना चाहता हूँ। वह भाविक सरदार आपकी वेशभूषा को देखकर वस्त्रों के अभाव का अनुभव किया और विनययुक्त वाणी में बोला कि वहाँ सर्दी अधिक पडती है। आप वस्त्रविहीन रहकर सर्दी से किस प्रकार वचेंगे? यदि आप रुक जायँ तो वस्त्रों की

व्यवस्था कर दूँ। उसने आपके पास कुछ देर मे अगूर लाकर सेवा में अर्पित कर दिया और स्वयं कपडा तैयार कराने की भावना से वहाँ से रवाना हो गया। उसके जाने के वाद आप यह विचार करने लगे कि जीवनपर्यन्त किस तरह रहूँगा। अन्तर्द्वन्द्व में आपका मन अनिर्णित स्थिति में भटक रहा था कि इसी बीच आकाशवाणी हुई कि चित्रकूट चलो। आप आध्यात्मिक सन्त थे। फिर यह शका हुई कि चित्रकूट तो हृदय-देश में है। उस चित्रकूट के लिए या वाह्य चित्रकूट के लिए प्रस्थान करूँ। यथार्थत जब चित्त कूटस्थ हो जाय तव वही चित्रकूट है। तत्काल इष्ट द्वारा निर्णय मिलता है कि शरीर से रहना हो तो वाह्य चित्रकूट के लिए प्रस्थान करो। उसी रात्रि में आप वहाँ से चल दिये। वस्त्रो की व्यवस्था करनेवाले उन सज्जन को क्या सुख-दु ख हुआ होगा, यह कल्पनातीत है।

ज्योतिषी पर कृपा

जम्मू से चित्रकूट की यात्रा के क्रम में महाराजजी जौनपुर आ गये। वहाँ से आपका विचार बनारस जाने का था। मार्ग में एक घर दिखाई दिया। घर के मालिक ठाकुर साहव की दृष्टि महाराजजी पर पडी, वह दौडकर आये। सादर प्रणाम कर आपको उन्होंने एक तख्त पर वैठाया और विधिवत् भोजन कराया। एक पडितजी वहाँ पर पहले से ही वैठे थे। वे आपसे भोजनोपरान्त अपनी व्यथा कहने लगे, "महाराजजी! हमने व्याकरण तथा ज्योतिष की शिक्षा प्राप्त की है फिर भी न जाने कौन-सा कुसस्कार है कि वच्चों का उदर-पोषण भी नहीं हो पाता। ऐसी शिक्षा से क्या लाभ?" आप शीघ्र ही द्रवीभूत होकर बोले-"अच्छा जाओ, कल तुम्हें पॉच रुपये मिलेंगे।" उन दिनों पॉच रुपयो का बडा मूल्य था। घी एक रुपये का दो सेर विकता था। पंडितजी ने पूछा,"महाराजजी! क्या सचमुच पॉच रुपये मिल जायेंगे?" आपने हॅसते हुए कहा, "जुवान से निकल ही तो गया है, मिल जाय तो मान लेना। देखो, क्या होता है?" फिर साधनोपयोगी चर्चा होने लगी। रात काफी बीत गयी थी। आपने वहीं विश्राम किया।

दूसरे दिन सवेरे एक धोबी उसी रास्ते से बड़ी तेजी से चला जा रहा था। ठाकुर ने पूछा, "कहाँ इतने सवेरे?" उसने बताया, "पडितजी को बुलाने जा रहा हूँ, पास के गॉव मे, हमें कथा सुननी है।" ठाकुर साहब ने बताया,"पडितजी? यह क्या बैठे है।" पडितजी गये, कथा सुनायी। उस धोवी ने पडितजी को धोती-कुर्ता, बीस किलो गल्ला और पॉच रुपये दक्षिणा भी दिया। पडितजी काफी कुछ पा गये।

दोपहर से कुछ पहले ही प्रसाद पाकर महाराजजी प्रस्थान कर चुके थे। अभी वे दस कदम ही आगे वढे थे कि सिर पर गठरी रखे पडितजी भागे चले आ रहे थे। कुछ दूर से ही वोले, "अरे महाराजजी! थोडा-सा रुक जाइए।" उन्होंने गठरी नीचे रखा और आपके चरणों में दण्डवत किया। वे सस्कृत में आपकी स्तुति करने लगे, "परमहसाय नम, महापुरुषाय नम, दिव्य विभूतये नम" और न जाने क्या पढते रहे। कहने लगे, "महाराजजी! जैसा आपने कहा था, पॉच रुपये मिले और भी वहुत कुछ मिल गया। महाराजजी आप तो सिद्ध पुरुष हैं।"

महाराजजी ने सोचा, ससार ही दु खी है। अभी पूरा गॉव टूट पड़ेगा तो आफत खडी हो जायेगी इसलिए आप वोले, "नहीं हो, वाणी निकल गई तो क्या हो गया? ये वस्तुएँ जो प्राप्त हुई हैं यह तो हमने नहीं कहा था।" पडित जी वोले, "नहीं महाराजजी! महापुरुष सदैव अपना रूप

छिपाये रहते है। हमलोगो का अहोभाग्य है कि जो आपके चरण यहाँ पड गये।" वे जोर-जोर से प्रशसा करने लगे। लोग जुटने लगे।

प्रकरण बदलने के उद्देश्य से महाराजजी ने कहा, "पडितजी! आप ज्योतिषी हैं न! मेरा हाथ तो देखें!" पडितजी कहने लगे, "महाराजजी! आप तो कर्म-संस्कार से ऊपर हैं, कर्मो के बधन आप काट चुके हैं। आपका हाथ क्या देखना?" आपने कहा, "फिर भी देख लेने मे क्या आपत्ति है?" पडितजी ने कहा, "महाराजजी! क्या आप सचमुच कह रहे है?" आपने कहा, "हाँ भाई! सचमुच ही कह रहा हूँ।"

पडितजी बहुत देर तक महाराजजी के दाहिने हाथ की रेखाए देखते रहे, बीच-बीच में महाराजजी की ओर भी देख लेते थे। अन्ततोगत्वा बोले, "महाराजजी! आपका स्वरूप देखने से तो ऐसा नहीं लगता किन्तु यदि ज्योतिष सही है तो आपको पापग्रह लगा है।"

पडितजी के मुख से ऐसा निकलते ही महाराजजी की बायीं बाँह तडतड लगी फडकने। फडकन बन्द ही न हो। आप विचार करने लगे, "कहता तो यह है किन्तु मेरी बाँह क्यो फडकने लगी? क्या पडित ने सच कहा है?" आपको तुरन्त समर्थन मिला कि पडितजी ठीक कह रहे है। आप उदास हो गये। कुछ प्रसन्नता भी हुई कि भगवान ने पहले ही सतर्क कर दिया। उन लोगों से पीछा छुडाकर आप अपने पथ पर आगे बढ गये।

यात्रा-पथ पर काशी एवं प्रयाग (हठयोग)

इष्टवाणी के अनुसार कश्मीर से काशी होते हुए प्रयाग पहुँचकर मार्ग में आपने एक दिन विश्राम किया। काशी में आपको अनुभव मिला कि सन्त हरिहर बाबा शिवस्वरूप है। श्री हरिहर बाबा गगा नदी में एक बजडे (नौका) पर निवास करते थे। आप उनका साक्षात्कार करते हुए प्रयाग आ गये।

प्रयाग बाँध पर कुछ हठयोगी निवास करते थे। आपको भजन मे बैठे देखकर एक नवयुवक योगी ने प्रश्न किया कि मैं यह देख रहा हूँ कि आप दो बजे रात्रि से ही ध्यान में लगे हैं। अरे, जब अन्दर मल भरा है तो ध्यान कैसे होगा? मैं तो अभी तक यह समझ पाया हूँ कि पेट मे मल रहते हुए भजन का होना असम्भव है। नेती-धौती आवश्यक है परन्तु आप इन क्रियाओ के किये बिना ही ध्यान में रत हैं। महाराजजी ने हँसते हुए उत्तर दिया कि मल तो मन मे होता है, स्थूल शरीर की आँतों को साफ करने से क्या होगा? जन्म-जन्मान्तर के दूषित सस्कार ही हमारे लिए मल हैं। उन्हीं का पर्दा पडा हुआ है इसलिए मलावरण हैं, जो भजन मे चित्त को चलायमान कर देता है इसीलिए विक्षेप है। ये सभी मल ही तो हैं। जिसके द्वारा मन का मैल साफ हो जाए और मन रुक जाए, वही यौगिक प्रक्रिया है। यह साधन अनुभवी महापुरुषो द्वारा ही जागृत किया जाता है जो जन्म-जन्मान्तरों के मलों को मिटाकार इष्ट में नियुक्त कर देता है। इन मानसिक चिन्तन का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। गीता योग है किन्तु उसका एक भी सूत्र नेती-धौती-वस्ती से सम्बन्धित नहीं हैं। रामचरितमानस भी उसी इष्ट से योग कराता है किन्तु उसमें भी नेती-धौती आदि का वर्णन नहीं मिलता। महर्षि पातजलि और कबीर इत्यादि ने भी इसके लिए कहीं स्थान

नहीं दिया। प्राचीन महापुरुषों ने इसका कोई वर्णन नहीं किया, जबकि वे प्रभु की पूर्ण एवं अभिन्न स्थिति वाले थे। नेती-धौती-वस्ती इत्यादि शारीरिक उपचार हैं। पेट के विकार में धौती व नवली क्रिया करने से लाभ होता है। शीर्षासन करने से सिर के विकार दूर होते हैं। इस प्रकार कठिन से कठिन शारीरिक विकारों का शमन हम इन माध्यमों से कर सकते हैं, परन्तु योग की पराकाष्ठा अर्थात् प्रभु को नहीं पा सकते। योग मे पायी जानेवाली प्रक्रिया एक ही हे-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

इस कल्याण-मार्ग में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है। अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओं मे बॅटी रहती है इसलिए अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं।

महात्मा जगल में भजन करते थे, जहॉ अनेक प्रकार की बीमारियों का प्रकोप रहता था। औषधिया सुलभ न होने के कारण इसको उन्होंने चिकित्सा का माध्यम बना रखा था। प्राचीनकाल में आज की तरह चिकित्सा की सुविधायें न थीं। मलेरिया बुखार में तीन-तीन महीने तक लोग पडे रहते थे। दीर्घकाल तक अस्वस्थ रहने के कारण चिन्तन-क्रम टूट जाता था, इसलिए योगियों ने अपने भजन मे से कुछ क्षण निकालकर इस प्रक्रिया में लगाना प्रारभ किया। इस प्रकार हठयोगियों को साधन-पथ की उपयुक्त दिशा देकर आप चित्रकूट के लिए चल पडे।

देहाध्यास

एक बार आप प्रात चार बजे अयोध्या पहुँचे। सुनसान सडकों पर वे ध्यानावेश में चले जा रहे थे। हवा चलने लगी। बादल घिर आये। कुछ बूँदा-बॉदी होने से ठंडक भी बढ़ चली। महाराजजी को एक विशाल कक्ष दिखाई पडा। उन्हें वह किसी साधु का आश्रम जैसा लगा। वे उस कक्ष में प्रविष्ट हो गये और जाकर एक कोने में बैठ गये। उनका विचार था कि बूँदा-बॉदी बन्द हो तो आगे बढे। ऊपरी मजिल पर औरत-बच्चों का स्वर सुनाई दे रहा था। उसी समय पॉच किलो का एक बडा सा लोटा हाथ मे लिए, यज्ञोपवीत कान पर चढ़ाते, पहलवानी अदाज में डग भरते एक महात्मा सीढियो से उतरे।

महाराजजी पर दृष्टि पडते ही वह महात्मा बोले, "ऐं! कौन हो तुम? यहॉ कैसे चले आए? जानते नहीं यह किसका निवास है?" महाराजजी बोले, "हमे रुकना नहीं है। बूँदा-बॉदी कम होते ही हम चले जायेंगे। हमे कुछ चाहिए भी नहीं। इसलिए हमने आपको कष्ट देना उचित नहीं समझा। वह महात्मा लडके, "ऐ! सन्तों जैसी बातें करता है!" कुछ अनाप-शनाप कहते हुए उन्होंने महाराजजी की गर्दन पकडी। महाराजजी ने भी वहॉ से चल देना अच्छा समझ आगे बढने लगे फिर भी वह महोदय इतने क्रोध में थे कि आपकी गर्दन से हाथ नहीं हटाया। दरवाजे के बाहर दो-तीन सीढियॉ उतरनी शेष थीं। महाराजजी को अपनी गर्दन पर दबाव बढ़ता प्रतीत हुआ। आप समझ गये कि अब यह धक्का देकर गिराना चाहता है। ज्योंही उसने बल लगाया, महाराजजी पूर्व पहलवान तो थे ही, पैतरा बदलकर पुट्ठों में हाथ डाल उसे सीढियों पर पटक दिया और दो-चार हाथ ऊपर से भी लगाया तथा कहा, "अब बोलो! मुझे क्यों धक्का दे रहे थे? सडक पर गिरता तो पट्टी कौन बॉधता? तुम्हारे आगे-पीछे तो स्त्री-बच्चे हैं। अब कर सिकाई और खा हलवा!"

वह चिल्लाया, "बचाओ रे, पगला मारा।" उसे उसी स्थान पर छोड महाराजजी सडक से आगे निकलकर रेलवे स्टेशन पहुँच गये।

वहाँ दो महात्मा तिलक लगाए, स्वरूप बनाए आपस में बातें करते चले आ रहे थे, "क्यों सीतारामजी! वह जो अमुक महन्थ है, उस स्थान का, कभी किसी साधु को जिसने एक रोटी तक नहीं दी, रामजी की इच्छा से एक पगले से आज भेंट हो गयी। अच्छी पिटाई की। हम अभी देखकर आ रहे है।" वह लोग महाराजजी के समीप ही खडे होकर वार्तालाप कर रहे थे। इधर महाराजजी सोच रहे थे कि मुझे देखकर कहीं ये आकार-प्रकार मिलाने न लगे! कहीं मुझे पहचान न लें! इनका कौन भरोसा? अभी तो ये उसकी निन्दा कर रहे हैं, मुझे पहचानते ही कॉव-कॉव करके सभी घेर लेंगे। तब तक गाडी आ गई। महाराजजी तुरन्त चढ गये। गाडी चल पडी। तभी महाराजजी का मन भजन में लग पाया अन्यथा मन रह-रहकर उचट जाता था। इस घटना तक महाराजजी को अपने शरीर की ऐंठ बनी रहती थी कि हमारे भीतर इतना बल या हममे यह गुण हैं किन्तु क्रमश आपने इस देहाध्यास पर भी विजय पा ही लिया। उन्मुक्त विचरण चलता रहा। **कभी मुट्ठी भर चना तो कभी घी घना, कभी वह भी मना।**

एक बार आप ग्रामीण अचलो से गुजर रहे थे। खेतो के मध्य ही आपने आसन लगा लिया। फाल्गुन महीने का उत्तरार्ध था। प्रात कालीन सनसनाती वायु जड-चेतन को प्रकम्पित कर रही थी। शीत निवृत्ति हेतु महाराजजी ने चतुर्दिक देखा। दूर अग्नि जलती दिखायी पडी। आपने सोचा, फसलो की सुरक्षा करते किसी कृषक ने आग जलायी होगी। अस्तु उधर ही बढ गये। समीप पहुँचकर आपने पाया, वहाँ सन्तो की कुटिया थी। पॉच त्यागी महात्मा मात्र केले की छाल पहने, शरीर पर विभूति मलने, योगासन करने और गोमुखी में हाथ डाल भजन करने मे व्यस्त थे। महाराजजी ने नमन की मुद्रा में किचित् सिर झुकाया एव धूनी के समीप बैठ गये।

अकस्मात् उन सन्तो का स्वर गूज उठा, "धूना छू लिया! धूनी का मत्र जानते हो? आग प्रज्वलित का मत्र सीखा है?" महाराजजी ने सहज भाव से कहा, "ठडक लग रही थी। थोडा ताप लेने दें फिर मत्र भी वता देंगे।" उनमे से एक महात्मा ने महाराजजी का हाथ पकडा, ढकेल दिया ओर बोले, "खडिया कहीं का! सन्तो-जैसी बाते करता है!" महाराजजी के मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। उनकी अन्तश्चेतना मे केवल इतना ही आया कि ठडक तगडी लग रही थी किन्तु इन लोगों ने तापने नहीं दिया। शान्त भाव से वे पुन चिन्तनरत अग्रसर हो गये। उसी दिन भगवान ने वताया, "आज तुम्हारा देहाभिमान समाप्त हो गया।" महाराजजी को बडी प्रसन्नता हुई।

कालान्तर में जव महाराजजी अनुसुइया मे प्रतिष्ठित हो गये, उनमे से तीन महात्मा तीर्थाटन करते वहाँ आये। आपने उन्हें देखते ही पहचान लिया। उन्हें सादर वैठाया, लस्सी पिलाया, भोजन-प्रसाद-धूना इत्यादि की व्यवस्था दी। प्रात सत्कार सहित उन्हे विदा किया और कहा, "त्यागीजी, दर्शन देते रहिएगा!" उन्होने कहा, "महाराजजी! हम लोग किस अर्थ में त्यागी हैं? गॉव में पडे हैं। निर्धारित ग्रामों से अन्न एकत्र कर जीवनयापन कर रहे हैं। त्यागी तो आप हैं जो इस घोर जगल में भगवान अत्रि की तरह विराजमान है। हम सव आपका दर्शन कर कृतकृत्य हैं।" महाराजजी ने उन्हें आश्वस्त किया, "त्यागीजी। आपने दर्शन दिया भी और लिया भी! एक ही

स्वरूप है।"

वे अभी सौ ही कदम गये थे कि महाराजजी ने हँसते हुए विनोद में बताया, "हो, हमने जिसकी चर्चा की थी कि हमे धूनी नहीं तापने दिया, हाथ मरोडा और धकेला, वह यही थे।" भक्तों में से एक ने लाठी उठाया और कहा, "हमारे गुरु महाराज का हाथ मरोडा! इन त्यागियों की ऐसी की तैसी।" महाराजजी ने उसे रोका और समझाया, "इसमें त्यागियों का दोष नहीं था। वह तो भगवान ने ही उन्हें प्रेरित कर हमारी परीक्षा ली कि इसका देहाध्यास गया या नहीं। उस दिन यदि मन में किंचित् भी कुढन आ जाती तो हम यहाँ न होते, जाने कहाँ होते!"

भगवान कृष्ण कहते हैं, "अर्जुन! देहाभिमानियों की गति नहीं होती। शरीर सौष्ठव, विद्या, कुलीनता, सम्पन्नता इत्यादि का देहाध्यास निराधार विचरण से ही निर्मूल होता है। "**सम मान निरादर आदरही, सब सन्त सुखी विचरन्त मही।**" देहाभिमान की निवृत्ति हेतु इष्ट में समर्पित भाव से विचरण एवं चिन्तन अपरिहार्य है।

कर्वी स्टेशन पर विचित्र स्वप्न

इसी चित्रकूट यात्रा-क्रम मे क्रमश चलकर महाराजजी कर्वी पहुँचे। अन्तर्जगत् से महाराजजी को निर्णय मिला, "अब ठीक है, अब भगवान के दरबार में नौकरी लग गयी।" आपको इस सूचना से बडी प्रसन्नता हुई। आपने निश्चय किया कि स्टेशन पर बैठकर सम्पूर्ण रात्रिपर्यन्त भजन ही करेंगे।

रात्रि के नौ बजे थे। अभी आप आसन लगाकर बैठे ही थे कि ध्यान में एक दिव्य रूप आया। सफेद वस्त्र पहने एक महिला आई। गोरा दमकता हुआ चेहरा! ममतामयी दृष्टि से स्नेहपूर्वक देखते हुए उन्होंने कहा, "हाथ खोलो!" आपने हाथ फैला दिया। उस देवी ने आपकी हथेली पर एक मणि रख दिया, जिससे जगमग-जगमग प्रकाश चारों ओर फैल रहा था। पुन वह बोली, "अब मुट्ठी बन्द कर लो, आपको मणि प्राप्त हो गयी है किन्तु आज सोना मत!" एक आवाज आयी- **राम भगति मनि उर बस जाके।**

महाराजजी ने सोचा कि यह कौन-सी बडी बात है। वे विधिवत् आसन लगाकर बैठ गये किन्तु थोडी देर बाद ही नींद सताने लगी। महाराजजी आँख धोकर बैठे किन्तु नींद के झोंके आते ही रहे। जीवन में उतनी नींद पहले कभी नहीं आयी थी। आपको रात-रात भर भजन करने का अभ्यास था किन्तु उस दिन नींद के ऐसे झोंके आते रहे मानो दो-तीन दिन से सोये ही न हों।

निद्रा से सघर्ष करते-करते चार बज गये। आपने सोचा कि अब तो सवेरा हो रहा है, घटे-दो घटे की बात है, थोडा कमर सीधी कर लें। अत स्टेशन की छडदीवार से पीठ सटाकर बैठ गये। अभी दो ही इच दीवार से पीठ लगी ही थी कि तत्काल नींद आ गयी। नींद में ही एक दृश्य आया। काला कपडा पहने एक कुरूप औरत की प्रतिमा आयी। उसने कहा, "मुट्ठी खोलो!" आपने मुट्ठी खोल दिया। उस औरत ने आपके हाथ से मणि ले लिया और उसके स्थान पर मदार जैसा एक रद्दी फल रखकर कहा, "मुट्ठी बन्द करो! क्यों, सो गये!" आपने तुरन्त जाकर घडी देखी। चार बजकर दस मिनट हुए थे। ठीक से नींद भी नहीं आयी थी। आप अपने को कोसने

लगे, "सोओ न! अब मणि तो गई! जन्मभर सोते रहो!" फिर सोने का प्रयत्न किया किन्तु नींद नहीं आयी।

महाराजजी कहा करते थे, "हो! आज्ञा-पालन ही भजन है। भगवान कोई असम्भव आज्ञा देते ही नहीं। आज्ञा में किसी प्रकार की अपनी इच्छा नहीं जोडनी चाहिए और न भगवान की आज्ञा का उल्लंघन ही करना चाहिए। सीताजी ने जरा-सी अपनी इच्छा कर ली, रेखा (आज्ञा) का उल्लघन किया, भोगना पडा।

हरि की आज्ञा उल्लघि के, करै जो स्वेच्छाचार।
जहाँ जाय तहॉ काल है, कहैं कबीर विचार।।

उस दिन यदि न सोते तो इसी अनुसुइया में पत्ते-पत्ते में सर्वत्र बिजली लग जाती, मेरे चारो ओर पहरा लगा रहता, तुम लोग मेरा दर्शन न पाते और मैं न जाने क्या-क्या कर देता। साधुता की महिमा का प्रकाश फैल जाता। अब तो मेरा खुला दरबार हो गया।"

चित्रकूट में महाराजजी

कर्वी से महाराजजी चित्रकूट पहुँचे। आपने इष्ट से पूछा, "चित्रकूट तो लम्बा-चौड़ा है। चौरासी कोस में फैला क्षेत्रफल चित्रकूट कहलाता है। साठ-सत्तर किलोमीटर की तो पचक्रोशी परिक्रमा ही होती है। अब रहे कहॉ?" अनुभव मे इष्ट से आदेश मिला, "अनुसुइया जाओ!"

चित्रकूट मे महाराजजी रामघाट पर रुके थे। यज्ञवेदी नामक मदिर में एक महात्मा भडारा कर रहे थे। आप भी वहॉ चले गये। महाराजजी से पूछा गया कि वे किस अखाडे के है। महाराजजी का कोई अखाडा या सम्प्रदाय तो था नहीं, इसलिए उन लोगों ने कहा, "भरपेट प्रसाद नहीं मिलेगा। एक मालपुआ और दो पूडी लेकर पगत से दूर बैठो, पता नहीं कौन जाति के हो?" महाराजजी ने कहा, "खायेंगे तो भरपेट खायेंगे अन्यथा कैसा भण्डारा?" आप वहॉ से लौट आये।

थोडी दूर निकल जाने पर दूसरे मदिर के एक महात्मा ने आपको प्रणाम किया, सादर बैठाया। उन्होंने साग, रोटी, कढी इत्यादि परोस कर विधिवत् भोजन कराया और श्रद्धापूर्वक विदा किया। आप कहा करें, "हो! भगवान ही अपने भक्तों को खिलाया करते हैं।"

अनुसुइया की ओर

स्फटिक शिला से आगे बढने पर घनघोर जगल प्रारम्भ हो गया। इतनी सॅकरी पगडडियों से अनुसुइया जाना पड़ता था कि कपडे फट जाते थे। शरीर कॅटीली झाडियों से बिध जाता था। मदाकिनी के किनारे-किनारे कभी नाले और घाटियों मे चढकर तो कभी उतरकर महाराजजी आगे बढ रहे थे। कहीं-कहीं झाडिया इतनी घनी थीं कि बैठकर, झुककर उनके नीचे से अपने निर्वस्त्र शरीर को किसी प्रकार बचाने का प्रयास करते आप अनुसुइया की ओर अग्रसर हो रहे थे। उस समय कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि यहॉ कभी सडक भी बन सकती है। बाबूपुर से आगे दुर्गम घाटियों से गुजरते समय महाराजजी को थोडी प्रसन्नता हुई कि वे ऐसे जगल में जा रहे हैं जहॉ न आदमी हैं और न आदिम जाति। चलो, पापग्रह से तो पीछा छूटा। क्योंकि साधु के लिए स्त्री ही पापग्रह कही जाती है। ऐसे भयावह जगल में साहसी व्यक्ति भी जाने से डरते हैं

तो वहाँ औरत क्यों जाएगी।

इन्हीं विचारो के बीच महाराजजी झुरी नदी तक आ गये। वहाँ आपको एक चरवाहा मिला। आपने पूछा,'अनुसुइया कितनी दूर है?' उसने बताया- बस आगे अनुसुइया ही है। उस पहाडी के नीचे! एक कोस! महाराजजी का यद्यपि अनुमान था कि वहाँ कोई रहता नहीं होगा फिर भी मुँह से निकल ही गया,"वहाँ कोई रहता तो नहीं?" वह बोला, "हाँ, एक बाईजी रहती हैं- द्रौपदीबाई!"

महाराजजी विचार में पड गये कि पाप-ग्रह तो स्वरूप बनाकर वहाँ पहले से ही बैठा हे ओर वहीं रहने का आदेश है। हम अकेले हैं। एकान्त में खतरे भी ज्यादा हुआ करते हैं। हमारा वेश भी दिगम्बर है, किया क्या जाय?

इसी तर्क-वितर्क में आप अनुसुइया पहुँच गये। आपने सोचा, पहले द्रौपदीबाई से ही मिल लें। 'माताजी' या 'बहनजी' कहकर उसे सम्बोधित कर प्रणाम कर लेंगे। उसके भाव गन्दे भी होंगे तो बदल जायेंगे। है तो कुछ गडबड क्योंकि उसका नाम लेते ही अपशकुन होने लगा है। ऐसा सोचते-विचारते महाराजजी सीधे वहीं पहुँच गये, जहाँ अनुसुइया मदिर के पास वह एक कोठरी मे दिनभर बन्द रहा करती थी।

द्रौपदीबाई

महाराजजी ने आवाज लगायी, "माताजी! दरवाजा खोलिए, दर्शन दीजिए, हम एक साधु हैं।" भीतर से खट्-खट् की आवाज आती थी। लगता था, कोई भीतर है किन्तु दरवाजा नहीं खुला। लगभग पाँच मिनट तक महाराजजी दरवाजे पर खडे ही रह गये। पुन आपको होश आया कि आपको हो क्या गया है? मैं किस बाई का दर्शन करने चला आया? पापग्रह ही नहीं, पापग्रह का बाप भी क्यों न हो, रक्षा तो भगवान करते हैं। मैं अपनी रक्षा स्वयं क्यों करने लगा हूँ? आप वहाँ से चल पडे। अनुसुइया मदिर के समीप ही सिद्धबाबा के आश्रम के भग्नावशेष दिखाई पड रहे थे। आप सीढियो से ऊपर की ओर बढ चले। वहाँ एक तख्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे पडा था, महाराजजी उसी पर आसीन हो गये।

जब जगल में कोई भी नहीं रह जाता, दौपदीबाई अपनी कोठरी से निकलकर मन्त्रोच्चारण के साथ अगरबत्ती जलाकर, लोटे मे जल लेकर तीर्थ मे स्थापित सम्पूर्ण मूर्तियों पर जल छिडकते, अगरबत्ती घुमाते हुए आगे बढ जाती थीं। यही उनकी पूजा थी। सिद्धबाबा के स्थान में भी हनुमानजी की एक छोटी-सी मूर्ति थी। वहाँ भी पूजा करने के लिए द्रौपदीबाई नित्य की तरह सीढियाँ चढ़ती गई।

महाराजजी तख्त पर शान्तिपूर्वक लेटकर ध्यान में लगे थे कि कुछ दूरी से ही द्रौपदीबाई की दृष्टि उन पर पड गई। वह स्तब्ध रह गई। उससे न तो भागते बनता था और न आगे ही बढते बनता था। जिन हनुमान की पूजा करनी थी, महाराजजी के तख्त के समीप थे। महाराजजी की धड़कन बढने लगी। आप सोचने लगे कि यह घबडाहट कैसी, कोई खतरा है क्या? जगल तो है ही, कहीं शेर-भालू तो नहीं है? आपने अगल-बगल देखा, कुछ दिखाई नहीं पडा। पीछे पलटकर देखा तो बाईजी! वे बोले, "अच्छा बाईजी! आओ पूजन कर लो। हम बाबा हैं। वह हम ही थे

जो दर्शन करने गये थे।" उसे आगे बढता न देखकर आपने सोचा, यह डर रही है इसलिए दस कदम दूर हट गये। द्रौपदीबाई दौडकर ऊपर चढी। हनुमानजी के ऊपर अगरबत्ती, पानी फेका और भाग गयी। अगले तीन दिनो तक आप वहीं रहे किन्तु वह ऊपर दुबारा नहीं दिखाई पडी।

सिद्धबाबा का करामाती तख्त

महाराजजी उसी तख्त पर आसीन थे। जब भली प्रकार अँधेरा हो गया, नीरव रजनी में उस तख्त से आवाज आयी, "यह हमारी जगह है।" महाराजजी ने चारों तरफ देखा, बडा आश्चर्य हुआ कि तख्त भी बोलता है। दूसरे दिन पुन. आवाज आयी, "यह हमारी जगह है। आप नीचे जाइये।" तीसरे दिन पुन. आवाज आयी, "हम पतित हो गये हैं, यह हमारी जगह है। आपकी जगह नीचे है।" आपने विचार किया कि लगता है कोई अच्छे महापुरुष थे, जो पतित हो गये। जब ये पतित ही हो गये तो इस जगह से हमें क्या लेना-देना! ये इतना भी जानते हैं कि हमारी जगह इस पहाडी के नीचे है। अत हम अपनी जगह में ही क्यों न बैठें! आप वहॉ से उठे--अपनी जगह की तलाश में।

सिद्धबाबा की सीढियो से उत्तर मन्दाकिनी के किनारे एक विशाल शिलाखड था, लोग उसे ब्रह्मशिला कहते थे, आप उसी पर जाकर बैठ गये। इष्ट ने थोडा दक्षिण की ओर बढने का आदेश दिया। आप दक्षिण आकर सीढियो के पास बैठ गये। पुन कुछ उत्तर की ओर बढने का हल्का सकेत मिला। आप धीरे-धीरे कदम रखते हुए उस स्थान पर आ गये, जहॉ वर्तमान आसन है। तुरन्त ही आपको आदेश मिला,"बैठ जाओ! जीवनपर्यन्त यहीं रहना है। यही जगह है। केवल बैठे भर रहो।" इष्ट के आदेशानुसार आपने आसन लगा लिया और समाधिपर्यन्त वहीं विराजमान रहे।

भोजन के लिए आदेश

धीरे-धीरे महाराजजी को बैठे चौदह दिन हो गये। खाने-पीने का वहॉ कोई भी प्रबन्ध नहीं था। गर्मी का महीना था। भूख और प्यास के कारण शरीर कृश हो गया। इन्द्रियॉ क्रमश शिथिल पडने लगीं। चौदहवें दिन लघुशका के साथ कुछ रक्त भी गिरा अत करुणा-सी हो आई। इष्टदेव के प्रति भी कुछ शव्द प्रस्फुटित हो गये- "इष्टदेव बने बैठे हो, घोर जगल में लाकर पटक दिया, न खाने को न पीने को! जव शरीर ही नहीं रहेगा तो भजन कौन करेगा?" उसी दिन इष्ट का रूखा-सा आदेश मिला, "खाना ही है तो कल से खाओ!"

दूसरे दिन लगभग बारह बजे आपको आभास हुआ कि सीढियो से ऊपर कोई गया और थोडी देर पश्चात् वापस भी चला गया। आसन समीप ही था किन्तु घने जगलों की ओट में दस कदम भी आगे तक देख पाना सम्भव न था। लगभग चार बजे आप सीढियों की ओर घूमते हुए आये। आपने देखा कि सीढियों के ऊपर आधा मन (लगभग वीस किलो) चना रखा है। ज्योंही दृष्टि चने पर पडी आदेश मिला कि आज यही खाना है। आपने एक मुट्ठी चना सेवन किया और पानी पी लिया। थोडा चना खप्पर में रख लिया। उस समय महाराजजी के पास यही एक पात्र था। इतने में वन्दर आ गये और लड-भिडकर, चूॅ-चूॅ करके सब चना खा गये।

इस दिन के पश्चात् किसी न किसी को प्रेरणा हो जाती और उस घोर जगल में भी आपकी

भोजन-व्यवस्था अयाचित स्वतः होने लगी। सन्तों की भाषा में यह आकाशवृत्ति है। महाराजजी न कभी किसी से कुछ मागते थे, न भिक्षा किया करते थे। व्यवस्था तो चलने लगी किन्तु आप असमजस में पड गये कि भगवान ने यह रूखा वचन क्यो कहा, "खाना ही है तो कल से खाओ।" वस्तुत वे चाहते क्या थे? उसी दिन आपको अनुभव में बताया गया कि यदि इक्कीस दिन भोजन न करते तो आजीवन आपको भोजन की आवश्यकता न पडती, ज्यों के त्यों बैठे रहते और चेहरा इसी प्रकार दमकता रहता।

महाराजजी बिफर पडे, "हो, क्या कहें! उस दिन खून देखकर हमारी बुद्धि में पत्थर पड गया था। अरे, चौदह दिन तो हो ही गये थे, सात ही दिन शेष थे। वे भी बीत जाते। भगवान भी ऐसी परीक्षा लेते हैं कि बुद्धि काम नहीं करती। यदि भगवान सीधे कह देते कि बेटा! अभी सात दिन और धैर्य रखो तो क्या हो जाता? जन्म भर खाना न पड़ता। मैं ज्यों का त्यों बैठा रहता और चेहरे में रचमात्र भी अन्तर न होता। अन्त में आप कहा करें, "हर साधक को चाहिए कि भगवान के आदेश मे अपनी बुद्धि न लगाये, अन्यथा अपना ही जीवन भार हो जाता है।

अनुसुइया में आरंभिक कुछ दिन

जहाँ महाराजजी बैठे थे, पीछे टूटी-फूटी कोठरियाँ थीं। दरवाजा किसी में नहीं था। उनमें सेहुड के मोटे-मोटे पेड और लघु झाडियाँ उग आयी थीं। सामने ही एक कुआँ भी था, जो झाडियों से आच्छादित था। छ महीने के बाद आपको पता चल पाया कि यहाँ कोई कुआँ भी है। झाडी-झखाड कटवाकर उसे साफ किया गया, जिसमें एक नरकंकाल मिला। बडे-बड़े मच्छरों का प्रकोप था। झाडियों मे इधर-उधर चलने में छ-छ हाथ लम्बे सर्प पैर में लिपट पडते थे, रोंगटे खडे हो जाते थे। पॉव झटकने पर वे दूर गिरते और लम्बे होकर धीरे-धीरे चल देते थे। उनके स्वभाव मे कोई परिवर्तन नहीं आता था।

शेर के आगमन पर शाम होते ही जगल में तहलका मच जाता था। बन्दरों की चिक-चिक, कहीं चीते की आवाज, कहीं भालू की गुर्राहट! पूरा जगल अशान्त हो उठता था। इसी वातावरण में आपका निवास वहाँ आरम्भ हुआ।

एक दिन आपने आसन के आस-पास घूमते हुए पुरानी कोठरी की तरफ विहगम दृष्टि डाली। उसमें रक्तयुक्त कई ककाल-जाल पडे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे हाल ही में किसी की हत्या की गई हो। आप सोचने लगे कि यहाँ कौन आता होगा? इसी विचारक्रम में जैसे ही रात्रि का अन्धकार बढता गया, त्योंही आपको एक चीता कोठरी की तरफ जाता हुआ दिखाई दिया। वह हिसक पशु बार-बार आपकी तरफ देख रहा था और आप मुस्कराते हुए आसन से ही उसे गालिया दे रहे थे। चीते के चले जाने के पश्चात् आप यह निश्चय करते हैं कि इसी पशु के द्वारा ये अस्थियाँ एकत्रित की गयी हैं। आप यह भी समझ गये कि हिसक पशुओ ने इन खण्डहरों को अपना निवास बना रखा है। यह तो उसका घर है।

दूसरे दिन एक आदिवासी आया। आपने उससे कहा, "क्यो रे! तुम कोठरी की सफाई कर दोगे?" उसने कहा, "हाँ महाराजजी!" उसने जगली टहनियों से झाडू बनाया, तुमडी से पानी लाया

और कोठरी की सफाई कर दिया। उसके पश्चात् शेर ने उसमे आना बन्द कर दिया किन्तु जब तक जीवित रहा (लगभग पन्द्रह वर्ष) वह वहीं अगल-बगल ही रहा करता था। जब लोगों की निगाह पडती वे सकेत करते, "महाराजजी! वहॉ तो शेर बैठा है।" तब आप हॅसते हुए कहा करते थे, "हो! मोर पहरेदार है।"

हिंसक पशुओं एवं बर्बर डाकुओं के बीच

जैसा कि सर्वविदित है, चित्रकूट के समीप अनुसुइया का भयावह वन्य प्रान्तर हिसक पशुओं एव बर्बर डाकुओ का केन्द्र था। ऐसी दुरूह और विषम परिस्थितियों के मध्य भी आप इष्ट के आदेशानुसार प्रकृति की प्रतिकूलताओ को स्वानुकूल बनाकर स्थिरचित्त से चिन्तन में लगे रहे।

चौदहवें दिन कुछ डाकू टहलते हुए उधर ही आ निकले। उनकी दृष्टि महाराजजी पर पडी। एक ने कहा, "यहॉ बाबा बैठे है!" सरदार बोला, "उसे भगाओ!" छोटा सरदार श्रद्धालु था, उसने कहा, "बाबा नीक है, उपद्रव करेगा तो भगा देंगे।" आपस में कुछ वाद-विवाद करते आश्वस्त होकर वे चले गये। महाराजजी शान्त भाव से अपने आसन पर यथावत भजनरत रहे।

भजन का क्रम अहर्निश चलता रहा परन्तु भयावह वन की नीरवता मे हिसक पशुओं एव बर्बर डाकुओं का भय लोगों को बना ही रहता था। इस कारण से कोई भी महात्मा अनुसुइया में स्थिर होकर रहने का साहस नहीं करता था। आस-पास के लोग भी वहॉ से आने-जाने में भयभीत रहते थे। यदि वहॉ किसी साधु व तीर्थयात्रियो द्वारा कभी रुकने का साहस किया भी जाता था तो निश्चित रूप से उन्हे प्राणों की बलि देनी पडती थी। आये दिन ऐसी घटनाऍ घटती रहती थीं, जिनमें से एक महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख यहॉ किया जा रहा है।

मन्दाकिनी के किनारे आकर चोरी-डकैती करनेवाले अपनी धनराशि का विभाजन किया करते थे। उस समय छोटी-छोटी रियासतों के कारण राज्य कर्मचारियों द्वारा सुरक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं था। आसपास के गॉवों में आये दिन चोरी-डकैती एव हत्याऍ हुआ करती थीं। एक बार कुछ डाकू आसन से निकट ही थोडी दूर पर बैठकर अपने धन का बॅटवारा करने लगे और हास-परिहास के साथ शर्बत बनाने में लग गये। इसी बीच एक डाकू की नजर महाराजजी पर पडी। उसने अपने साथियों को सम्बोधित करते हुए कहा, "यहॉ कोई बाबा भी बैठा हुआ है।" उनमें से एक ने कहा, "बैठा है तो हम क्या करें?" पहला डाकू कुछ उदारचित्त था। उसने कहा कि बाबाजी को भी शर्बत दे दिया जाय। उसके तीन-चार बार आग्रह के बावजूद महाराजजी ने यह कहते हुए कि "मैं चोरी का धन नहीं खाता"-शर्बत लेने से इनकार कर दिया। इतना सुनकर एक क्रूर स्वभाववाला डाकू आग बबूला होकर हाथ में लाठी ले मारने के लिए सीढियों पर चढने लगा। तत्काल उसके दूसरे साथी ने हाथ से शर्बत फेंककर उसे पकड लिया और वापस नीचे आकर अपने-अपने हिस्सों को बॉट रात्रि में ही वहॉ से रवाना हो गये।

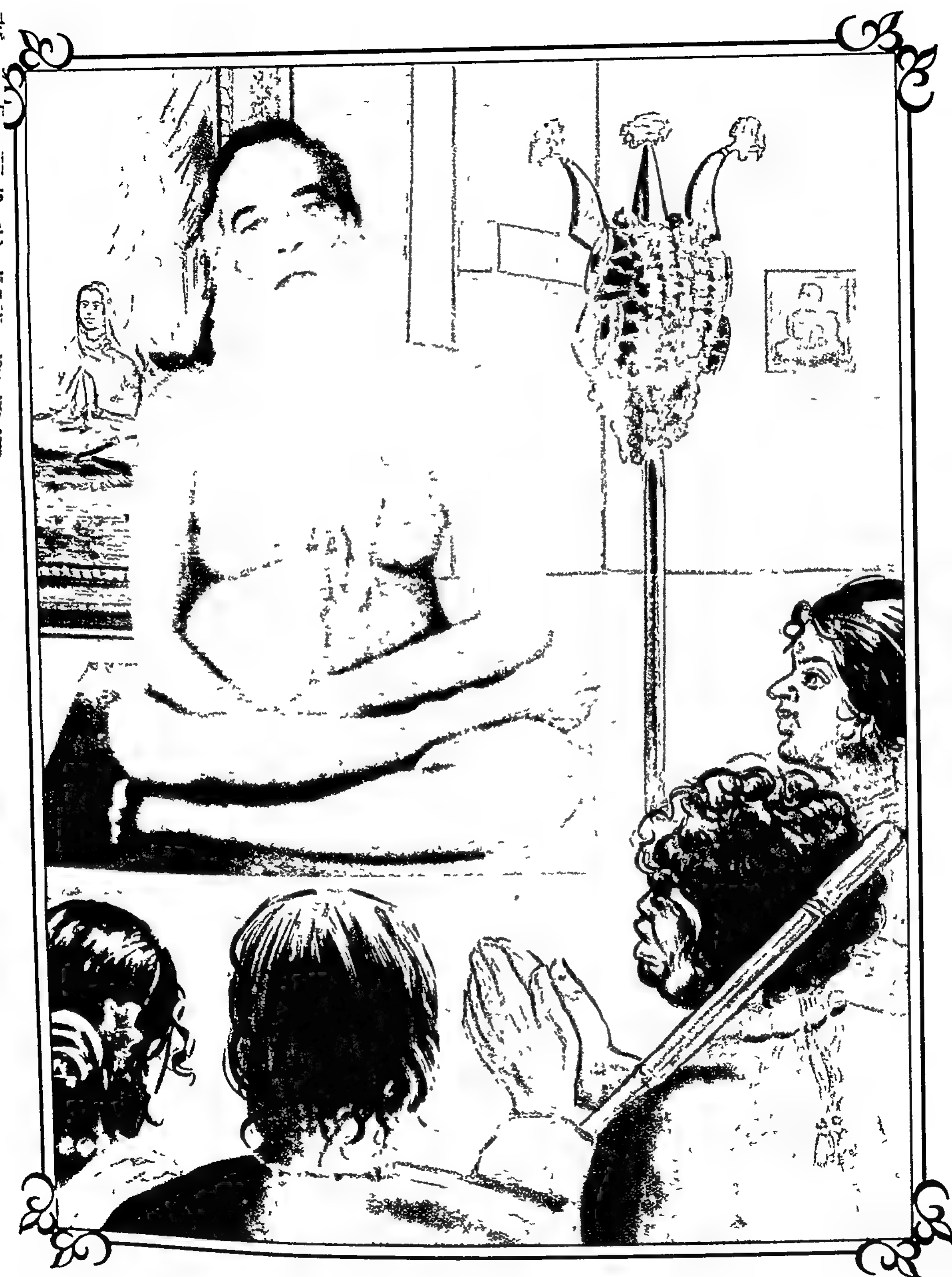
आश्रम से लगभग दो मील दूर झूरी नदी पर उन्हें एक भयकर घटना का शिकार होना पडा। वे दूसरे दिन घर से प्रतिशोध की भावना से चले थे। अचानक किसी व्याघ्र की भयकर गर्जना सुनाई पडी। ऐसी घटना उनके समक्ष कभी भी नहीं घटी थी, जबकि प्राय वे उसी रास्ते से

आया-जाया करते थे। परस्पर विचार-विमर्श करने लगे कि लगता है बाबा कुछ जानता है, उसी की यह करतूति है। किसी तरह पुनः वे घर पहुँच गये लेकिन उनमें जो लाठी लेकर मारने दौड़ा था, सन्निपात के भीषण रोग से पीडित हो गया। कई दिन निरन्तर उपवास करने के कारण वह मरणासन्न हो गया। उसका साथी, जो शर्बत पिलाने को कह रहा था, पता नहीं किस अज्ञात प्रेरणा से प्रभावित होकर आपके पास कृपायाचना के लिए पहुँचा। उसे देखते ही महाराजजी मुस्कराते हुए पूछे, "क्या हालचाल है?" आद्योपरान्त वह सभी घटनाओं का विवरण देकर क्षमायाचना करने लगा और विनम्र शब्दों में कहा, "महाराजजी! मेरे साथी की हालत मरणासन्न है।" अपनी स्वाभाविक दयालुता के कारण आपने विभूति ले जाकर खिलाने को कह दिया। विभूति-सेवन से उसे पूर्ण स्वास्थ्यलाभ हो गया। स्वस्थ होने के उपरान्त अपने कुकृत्यों पर पश्चाताप करता हुआ वह आपके चरणो मे पडकर क्षमायाचना किया और सदा-सदा के लिए चोरी का कार्य छोड़ दिया। इस अलौकिक हृदय-परिवर्तन को देखकर जनमानस में सन्त-महात्माओं के प्रति असीम श्रद्धा एव विश्वास की लहर दौड गई। समस्त क्षेत्र इन चोरों और बर्बर डाकुओं के भीषण आतंक से मुक्त हो गया।

कोल-भीलों का हृदय-परिवर्तन

भगवान राम के समय से ही चित्रकूट की भूमि कोल-भीलों की निवासस्थली रही है। सन्त-महात्माओ को भला ये क्या जाने, क्योकि बीहडों के वातावरण एवं शिक्षा के अभाव के फलस्वरूप ये स्वभावत असभ्य एव जडवुद्धि हुआ करते हैं।

एक समय कुछ कोल-भील अनुसुइया आश्रम के पास जंगल में शहद तोड़ने के लिए आए। उन्हे मना करते हुए आपने कहा कि तुम लोगो का आश्रम के पास शहद तोडना उचित नहीं है। कोलों ने प्रथमत स्वीकारात्मक भाव प्रकट किया परन्तु थोडे समय उपरान्त ही श्रीमुख वाणी की अवहेलना करके पहाड के ऊपर चढकर शहद तोडने का प्रयास करने लगे। इस पर आपने पुन बिगडना प्रारम्भ कर दिया, तब उनमे से एक ने कहा कि आप पूरा जंगल अपने अधिकार-क्षेत्र में ले रहे हैं, यह तो हमारा कार्य ही है। तत्पश्चात् अच्छी स्थिति के एक साधक ने विनम्रपूर्ण शब्दों में कहा, "महाराजजी! ये कोल-भील हैं, इन्हें क्या मालूम सन्त किसे कहते हैं? कहीं ऊपर पत्थर न फेंक दें।" आपने हॅसते हुए कहा, "अच्छा बेटा! कैसे तोडते हो? अब मैं उल्टी माला फेरता हूँ।"-ऐसा कहते हुए आप आसन पर विराजमान हो गये। इतने में ही जिस बॉस पर वह चढा था, शहद तोडने से पूर्व ही उसमे आग लग गयी। वह चिल्लाया-- बचाओ! बचाओ!! नीचे वालों ने बचाने के उद्देश्य से ज्योंही आगे बढ़ना चाहा कि उसकी धमक से एक भयानक अजगर फुँफकार मारकर खडा हो गया। सभी किंकर्तव्यविमूढ स्थिति में आ गये और उनके देखते ही देखते बॉसों पर चढा हुआ व्यक्ति धडाम से नीचे गिर पडा। उसके घायल हो जाने पर वे सभी आपस में चर्चा करने लगे कि लगता है बाबाजी ने कुछ कर दिया। वहॉ से कुछ दूर चलकर पुन एक वट वृक्ष के ऊपर दूसरा कोल चढकर शहद तोडने लगा। पता नहीं कैसे अव्यवस्थित होकर वह तत्काल नीचे आ गिरा, उसकी जीवनलीला समाप्त हो गयी। उसके साथी उसे लादकर गॉव ले गये। संयोग से दो-तीन दिन पश्चात् पूरा गॉव भयकर अग्निकांड के फलस्वरूप जलकर राख हो गया।



कोल-भीलो का हृदय - परिवर्तन

स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी कि कुछ लोग गाँव छोडकर अन्यत्र चले गये।

एक माह पश्चात् वे सब पथरा गाँव के पण्डित गणेश नम्बरदार के पास जाकर बोले, "हमलोगों से बतियावत नहीं बनत है, आप चलकर महाराजजी से माफी दिलवा दीजिए।"

उन पण्डितजी को आगे करके पूजा-सामग्री--अगरबत्ती, नारियल, बतासा के साथ सभी कोल-भील अनुसुइया आश्रम मे आये। पडितजी ने कहा, "महाराजजी! ये अज्ञानी हैं, भोले है, सन्तों से सद्व्यवहार करना ये क्या जाने! भगवान राम से भी इन्होंने यही कहा था-

पाप करत निसि बासर जाहीं। नहि पट कटि नहि पेट अघाहीं।।
यह हमार अति बड़ी सेवकाई। लेहि न बासन बसन चोराई।।

तब भी एक भील खटखटा नाम का था। वह सीताजी के कपडे-गहने उठाकर भागा, जिसे लक्ष्मणजी ने गुप्त गोदावरी में जाकर पकडा। इन कोल-भीलो के अपराध के परिणामस्वरूप गाँव जलकर राख हो गया है। महाराजजी! अब इन्हें क्षमा किया जाय।"

महाराजजी ने मुस्कराते हुए उन्हें आश्वासन दिया कि भटकने की आवश्यकता नहीं है। जाओ, कुशलतापूर्वक जीवन-यापन करो। वे सभी प्रणाम करके वापस लौट गये। इस घटना के फलस्वरूप जड़बुद्धि कोल-भीलों का भी हृदय परिवर्तित हो गया और वे लकडी आदि पहुँचाकर यथाशक्ति आश्रम की सेवा करने लगे।

मलेरिया का प्रकोप

मन्दाकिनी का उद्गम एव समशीतोष्ण जलवायु के कारण अनुसुइया के सघन जगलो मे मच्छरों का प्रकोप अधिक था। महाराजजी के निवास के अनन्तर क्षेत्रीय श्रद्धालु दर्शनार्थ आने लगे थे, उनमें से अधिकाश मलेरिया ज्वर से ग्रस्त रहते थे। किसी को दूसरे दिन, किसी को तीसरे दिन तो किसी को चौथे दिन बुखार नियमित आता। उन बीहडों मे डाक्टरों और वैद्यो का भी अभाव था। लोग आकर महाराजजी से निवेदन करते, "महाराजजी! कई महीने से बुखार आ रहा है, अब तो मर रहा हूँ।" आप स्नेहिल दृष्टि से देखते और कहते, "पापी कहीं का! कहता है मर रहा हूँ। अच्छा, ले विभूति खा ले और कर दण्डवत्!" ज्योंही वह झुकता, महाराजजी एक छडी पीठ पर मार देते थे और हँसते हुए पूछते थे, "कब है बुखार की बारी?" कोई बताता अँतरा है, कोई कहता तिजारी है तो कोई चौथिया बताता। महाराजजी उसे सान्त्वना देते कि अब यह बारी बिता करके ही आना, देखो क्या होता है! समय बीतने पर वह बड़े उत्साह से दूध इत्यादि लेकर आता और बताता कि बुखार तो नहीं आया। महाराजजी कहते, "हूँ! पाप तू करो और भोगें बाबाजी! जाओ बेटा, बुखार तो गया।"

महापुरुष किसी का भोग अपने ऊपर ले लिया करते हैं। "**तुरत विभीषण पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सोई सेला।**"

इस प्रकार आये दिन कोई न कोई आश्रम पहुँचता ही रहता था। अस्तु, महाराजजी को भी मलेरिया बुखार हो आया। क्रमश बुखार प्रतिदिन आने लगा।

अनुपान में दूध का विधान

महाराजजी की ख्याति सुनकर 'वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन' के संचालक रामनारायण शास्त्री मित्रों सहित आने लगे थे। वे आपके लिए मलेरिया की दवा, सेवन-विधि समझाते हुए ठीक होने की गारटी देकर रख जाते। आप हॉ, हूँ! कर लेते किन्तु वे लोग जव पुन आते तो वही दवा ज्यों की त्यों रखी मिलती। वे लोग उदास होकर उलाहना देते, "अभी तक आपने दवा क्यों नहीं ली? देखिए आपका शरीर काला पड गया है, वुखार ज्यों का त्यों है।" वे दवा लेने का आग्रह करते किन्तु महाराजजी कहते थे, "हो! भगवान का आदेश नहीं है।" वे लोग प्रार्थना कर पुन दवा रख जाते फिर भी आप उसका प्रयोग नहीं करते थे। अपने उपदेशों में आप कहा करें, "हो! जव भी दवा पर दृष्टि पडे, भगवान मना कर देते थे कि मत सेवन करो, यह भोग है।"

ज्वर का प्रकोप शान्त न हुआ। वैद्यजी की दवा अभी ज्यों की त्यों रखी थी। उसके अनुपान मे दूध का विधान था। सयोग से उन दिनों एक यादव कुछ गायों के साथ अनुसुइया में रहने लगा था। गायो के रहने की जानकारी पाते ही आपने विचार किया कि एक-दो दिन दवा सेवन कर लेते तो वैद्यजी का भी मान रह जाता, अत उसके पास गये और पूछा कि क्या तुम्हारे यहॉ दूध होना है? मुझे दवा के लिए आवश्यकता थी, दोगे?" उसने सादर प्रणाम किया और कहा, "दूध तो होता है देगे क्यो नहीं! सव आपका है, किन्तु आप द्रौपदीवाई से कह लेते तो अच्छा होता क्योकि सम्पूर्ण दूध मैं उन्हें दे देता हूँ। बदले में वे रोटी वनाकर मुझे देती हैं।" आप स्त्री से वार्ता करना उचित न समझकर चुपचाप लौट पडे।

द्रौपदीबाई को महाराजजी के आगमन की आहट लग चुकी थी। वह ग्वाले के पास गयी। जानकारी प्राप्त कर पहाडी के ऊपरी किन्तु सक्षिप्त रास्ते से अनुसुइया मंदिर में आ गयी। आप मदाकिनी के किनारे-किनारे आश्रम की ओर लौट रहे थे। मदिर से द्रौपदीवाई ने कहा, "दण्डवत् परमहसजी! इधर कहॉ गये थे? कोई काम था क्या?" आप बोले, "कोई खास काम नहीं था, यों ही घूमने निकले थे।" उसने कहा, "फिर भी कोई बात तो होगी ही!" महाराजजी ने कहा, "नहीं, कोई वात नहीं है।"

मन्दाकिनी के किनारे से आते ही महाराजजी ने द्रौपदीवाई को ग्वाले से पूछताछ करते देख लिया था। वह सव कुछ जानकर भी अनजान बन रही थी इसलिए उसके हर वाक्य पर ज्वर सतप्त महाराजजी की अप्रसन्नता बढती ही जा रही थी। उसने पुन कहा, "कम से कम अनुसुइया माता का दर्शन तो कर लीजिए।" आपने कहा, "नहीं करना है दर्शन।" वह बोली, "जब आप देवी-देवताओ के दर्शन नहीं करते तो यहॉ भजन किसका करते हैं?"

उन दिनों महाराजजी को एक अलफी मिल गई थी। घुटने से नीचे ढीला कुर्ता! वही आप शरीर पर डाले थे, नीचे से तो पूर्ववत् दिगम्बर ही थे। अलफी उठाकर आप वोले, "इसका भजन करता हूँ! न भजन न चिन्तन, चुडैल कहीं की! पीछे पड गयी है।"

द्रौपदीवाई हॅसते हुए भाग गयी और बहुत देर तक हॅसती ही रही। समीपवर्ती गॉव से एक नाटा-सा पुजारी आया करता था। एक घटे पश्चात् वह आया। उसने हॅसने का कारण पूछा तो द्रौपदीवाई ने वताया, "परमहसजी विलक्षण महात्मा हैं"-और पुन हॅसने लगी। पुजारी भागकर

महाराजजी के पास आया और पूछने लगा कि बाईजी को आपने क्या बता दिया, आज वे वडी प्रसन्न हैं, हॅसती जा रही हैं। महाराजजी ने कहा, "वह पूछ रही थी कि किसका भजन करते है, मैंने वता दिया कि इस जननेन्द्रिय की सयम-पूजा कर रहा हूँ, क्योंकि जो नाभ्या और जिह्वा को वश में कर ले वही सन्त है। लाख पूजा करो, यदि इन्द्रिय-सयम नहीं है तो सब व्यर्थ है। पहली पूजा है मनसहित इन्द्रिय-सयम।"

वात भी ठीक थी कि यदि इन्द्रिय सयम नहीं है तो भजन कैसा? यही उपदेश भगवान राम ने वनवास काल में लक्ष्मण को चित्रकूट के अधिष्ठाता भगवान शिव ने बदर भेष में जिह्वा और जननेन्द्रिय पकडकर दिया था। भगवान राम ने इसका आशय बताते हुए कहा था कि यदि जिह्वा और जननेन्द्रिय सयम है तो साधक कहीं भी रह सकता है।

इस प्रकार महाराजजी व्यवहार में भी योगविद्या के गुह्यतम रहस्यो को उद्घाटित कर दिया करते थे। इस घटना के पश्चात् महाराजजी का दर्शन होने पर द्रौपदीबाई आपको बडी श्रद्धापूर्वक प्रणाम करती थी।

महर्षि अत्रि की विद्यमानता

अनवरत बुखार से महाराजजी का शरीर दुर्बल हो चला। उन्होने सोचा कि आगरा चले चलें, वहाँ भाविक भक्त हैं। दस दिन रहेगे, ठीक होकर पुन चले आयेंगे। आप आसन से उठे और ट्रेन से आगरा पहुॅच गये। वहाॅ के लोग बडी श्रद्धा से मिले।

उसी रात लगभग दो बजे महर्षि अत्रि का स्वरूप आपको ध्यान मे दिखाई पडा। उन्होंने कहा, "जव शरीर की चिन्ता करेगे तो भजन कैसे होगा? आश्रम चलें।" महाराजजी सकुचित होकर बोले, "आपने क्यों कष्ट किया? वहीं से सकेत कर दिया होता, हम पहुॅच जाते।" अत्रि महाराजजी ने कहा, "जब आप चले आये तो हमें आना ही पडा।" महाराजजी चिन्तन से उठ बैठे और उसी समय चल पडे। भगवान ने दवा भी नहीं करने दिया।

इस घटना के काफी दिनों बाद महर्षि अत्रि ने एक बार पुन महाराजजी को दर्शन दिया। एक पडितजी मुम्बई से अनुसुइया आए हुए थे। वे अनुसुइया मदिर के समक्ष किसी कामना से पडे थे। महाराजजी भी जानते थे कि ऐसा कोई मुम्बई से आया है। एक रात्रि महर्षि अत्रि का स्वरूप आया। वे कहने लगे, "यह पडित सात दिन से धरना दिये हुए है। यह प्राण देने पर तुला है। आप कहें तो इसे कुछ दे दिया जाय।"

महाराजजी ने विनम्र भाव से कहा, "आप हमसे क्यों पूछते है? आपकी जो इच्छा हो दे दें।" उन्होंने कहा, "आप ही तो यहाॅ हैं फिर पूछे किससे?"

महाराजजी वताते थे कि अत्रि, अनुसुइया सभी अपने सूक्ष्म शरीर सहज स्वरूप से अपने स्थान पर ज्यों के त्यों हैं। स्थूल शरीर तो राम और कृष्ण का भी नहीं रहा, मेरा शरीर भी किसी न किसी वहाने जाना ही है लेकिन सूक्ष्म शरीर से मैं सदैव रहूँगा। किसी भी ऋषि-महर्षि ने अपना स्थूल शरीर नहीं रखा। जो भी श्रद्धा से स्मरण करेगा, मैं मिलूँगा। वास्तव में आज भी महाराजजी दर्शन देते हैं। जो कोई मन-क्रम-वचन से आपका चिन्तन करता है उसके आगे-पीछे और साथ दिखाई पडते हैं।

रामलखनदास जी का आगमन

महाराजजी के ज्वर ने उग्र रूप धारण कर लिया था। उनकी कमजोरी वढती जा रही थी। शरीर इतना कमजोर हो चला कि पानी पीने जाने की हिम्मत नहीं रह गई। सामने मन्दाकिनी सौ गज नीचे से ही वह रही थी। वहॉ तक जाना, पानी पीना, लौटकर आसन तक आना भी कठिन हो चला था। आप किसी प्रकार घिसटते हुए जाते, पानी पीते, खप्पर भरते और लेकर आते थे। आते ही उसे पी जाते और फिर वही क्रम--आना और जाना। उनकी वह प्यास! लगता था कि जमाने भर की प्यास सिमटकर उन दिनों महाराजजी के पास आ गई थी।

एक दिन ज्वर के ही आवेश मे महाराजजी इष्ट को वहुत कुछ कह ले गये, "इष्ट वने वैठे हो! घोर जगल मे लाकर पटक दिया। आगे-पीछे देखने वाला भी यहॉ कोई नहीं। क्या मेरी तकदीर मे एक भी सेवक नहीं जो दो घूँट पानी तो पिलाता।" ज्वर के आवेश में कुछ खरी खोटी निकल गई।

इसके तीन दिन पश्चात् एक महात्मा आये और आपकी सेवा में लग गये। वह दौडकर पानी पिलाते, धूना चेताते तो कभी सफाई करने लगते। कभी कुछ तो कभी कुछ करते ही रहते। तीन दिन पश्चात् महाराजजी ने उनसे पूछा, "करे, तू कौन है? क्यों हमारे पीछे पडा है?" उन्होंने बताया, "महाराजजी! मै साधु हूँ। मेरा नाम रामलखनदास है। मैं वचपन से ही इस साधुवेष में हूँ। इस समय मेरी आयु साठ वर्ष है। जहॉ तक हो सका, सन्त-नियमों का मैंने पालन किया है। तीर्थों मे मेरी रूचि रही है।

तीन दिन पूर्व मै प्रयाग के मेले में था। वहॉ रात्रि में मुझे स्वप्न आया कि तुम्हारा गगा-यमुना-सरस्वती स्नान यही है कि अनुसुइया के परमहसजी की सेवा करो। दूसरे दिन भी ऐसा स्वप्न मिला। तीसरे दिन पुन आदेश मिला कि तुम्हारा कल्याण इसी में है! जाकर उन महापुरुष की सेवा करो। तुम्हारे गगा-यमुना तीर्थस्नान का यही फल है। जब लगातार तीन दिन तक यही स्वप्नादेश मिला तो हमने गगा-यमुना को प्रणाम किया, भागकर यहॉ आये और आपको पा गये। महाराजजी ने पूछा, "स्वप्न मे जिन महात्मा की सेवा का निर्देश मिला था, क्या वह मैं ही हूँ? कोई और न हो, ढूँढ लो।" उन्होने कहा, "महाराजजी! यही स्वरूप लगातार तीन दिनों तक मुझे दिखाई पडा। अब आप मुझे अपनी सेवा से विरत न करें।" इस प्रकार पूज्य श्री महाराजजी की सेवा का प्रथम सौभाग्य दैवी प्रेरणा से श्री रामलखनदास जी को प्राप्त हुआ।

द्रौपदीबाई का षड्यन्त्र

जैसा कि आपको विदित हो चुका है कि यह स्थान निर्जन और विपदाओं से भरपूर था, किन्तु महाराजजी के निवासोपरान्त यह सती अनुसुइया का आश्रम बाधाओं से मुक्त हो गया। यात्री और विरक्त सन्त स्वेच्छापूर्वक आने-जाने लगे। कुछ सन्त भजन के लिए उपयुक्त स्थान समझकर वहॉ रहने लगे। थोडे ही दिनों मे उनकी सख्या नौ हो गई। वे जगल में घास की कुटी वनाकर रहते थे।

एक दिन महाराजजी भजन में वैठे थे। प्रात के लगभग चार वजे का समय रहा होगा।

आपको किसी औरत की आवाज सुनाई पडी। उन्होंने रामलखनदास जी से कहा, ''यह सवेरे-सवेरे कौन बोलता है? देख तो।'' उन्होंने देखकर बताया कि महाराजजी! द्रौपदीबाई आई है। आप बोले, ''क्यों महारानी! हमने तुम्हें कई बार मना किया था कि रात्रि में इधर कभी मत्त आना, क्यो आ गयी?''

द्रौपदीबाई ने बताया--''कोई बदमाश मेरी कुटिया मे घुस गया था। उसने हमलोगो का सयम नष्ट करने का प्रयत्न किया। महाराजजी, उसे खोजा जाय।''

महाराजजी ने कहा, ''क्यो महारानी! तुझे मैंने हजारों बार सावधान किया कि तू यहॉ कभी सफल नहीं होगी, यह जगल है-**''विपिन विपति नहीं जाई बखानी''**- चित्रकूट जाकर रहो, किन्तु तुमने कभी ध्यान ही नहीं दिया। प्रकृति सर्वत्र है, सदैव सावधान रहना चाहिए। वैसे भी स्त्रियो को घर से बाहर निकलकर भजन करने का विधान नहीं है। शास्त्र मना करते हैं। स्त्रियों को अपने पति, भाई या पुत्र के सरक्षण में रहकर ही भजन करना चाहिए। हॉ, जब उदात्त अवस्था आ जाय, तब मीरा की तरह बाहर भी जाया जा सकता है। कदाचित् निकल भी पडी तो वहॉ रहना चाहिए जहॉ स्त्रियों का समूह हो, उनकी अपनी व्यवस्था हो। देख लिया, कैसा विघ्न उपस्थित हुआ है। अभी यहॉ से जाओ, सवेरे आना।'' विकल द्रौपदी वहॉ पहुॅच गयी जहॉ अन्य महात्माओ का निवास था।

उन महात्माओं के उकसाने पर द्रौपदीबाई ने श्रद्धा होते हुए भी पुलिस मे महाराजजी के विरुद्ध रिपोर्ट लिखा दिया कि परमहसजी मेरी कुटिया मे आये थे। उस समय भारत छोटे-छोटे राजे-रजवाडों के शासन में विभक्त था। चित्रकूट के ही क्षेत्र मे सात स्टेट थी। एक स्टेट मे एक कोतवाल और पॉच-सात सिपाही, इतनी ही पुलिस बल हुआ करती थी। दरोगा अपनी फोर्स लेकर आये और महाराजजी से कहा, ''आपके नाम से एक आरोप है, आप थाने चलिये।'' महाराजजी ने कहा, ''देखो, मैं सचमुच का साधु हूॅ। भगवान ने मुझे साधु बनाया है। मुझसे छेडछाड न करो। क्या हम तुम्हें अपराधी दिखाई दे रहे हैं? यहॉ और भी लोग रहते हैं। तू अपने ढग से सबसे पूछताछ कर ले, जो अपराधी है उसे पकड। पहले पता तो कर!''

दरोगा उन नौ महात्माओं और द्रौपदीबाई को साथ लाकर बोले, ''इन सबको मैं ले आया, अब आप भी थाने चलिये।'' आपने कहा, ''पहले तू इन सबकी अलग-अलग जॉच कर ले। हमें इस आसन से न उठा अन्यथा तुम्हारे ही सभी करम हो जायेंगे।''

दरोगा अपनी जिद पर अडा रहा। वह कहने लगा, ''महाराजजी! हम कानून से बॅधे हैं।'' आपने इष्ट से प्रार्थना की, ''भगवन्! यह कैसा षड्यत्र?'' आदेश मिला, ''पापग्रह का प्रभाव हे किन्तु तुम निर्भय भजन करो।'' सगुन मिलते ही आप आसन से उठकर चलने लगे। वे सोचते जाते थे कि देखें भगवान पाप-ग्रह का प्रभाव कैसे काटते हैं? सब लोग तो सिपाही के घेरे में जा रहे थे किन्तु महाराजजी कुछ दूर रहते हुए सहज भाव से शान्तिपूर्वक ध्यानस्थ होकर चल रहे थे।

थाने तक पहुॅचते-पहुॅचते द्रौपदीबाई पागल हो गयी। उसने अपनी साड़ी फाडकर फेंक दिया। कामतानाथ गॉव की कुछ स्त्रियों ने दौडकर उसे साड़ी पहनाया किन्तु वह पुन॰-पुन निर्वस्त्र हो जाती थी। वह कहने लगी, ''परमहसजी ने हमें कुछ कर दिया है। हमें यह क्या हो गया?

परमहसजी निर्दोष हैं। इन्हीं मे से कोई था।" भीड में सन्नाटा छा गया। लोगों ने समझा कि परमहसजी ने ही उसे शाप दे दिया है। द्रौपदीवाई चींख-चींखकर कहने लगीं,"इन्हीं साधुओं के कहने से मैंने परमहसजी का नाम लिया था, वे महात्मा निर्दोष हैं।" और चरणों में आ गिरीं-"महाराजजी! मुझे क्षमा करें।" आपने आशीर्वाद देते हुए प्रसन्न मुद्रा में कहा-

विना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय।
काम विगारे आपनो, जग में होत हँसाय।।

दरोगा का समाधान हो गया। उसने कहा-"टीक है, टीक है महाराजजी! अव आप जाइये। कोई बात नहीं है।" महाराजजी ने कहा, "वात क्यों नहीं है, तू मुझे आसन से उठाकर यहाँ तक लाया- यही गलत किया।"

कुछ माह पश्चात् द्रौपदीवाई सती अनुसुइया में रहने की इच्छा से लौट आयी। उसके साथ फिर कुछ विघ्न दृष्टिगोचर हुए तव उसने निर्णय लिया कि परमहंसजी टीक कहते हैं। वे महापुरुष हैं। अत उसने अनुसुइया आश्रम सदा के लिए त्याग दिया।

महाराजजी कहा करें, "हो! भगवान रक्षा करते हैं तभी साधक वच पाता है। अपनी वल-वुद्धि के भरोसे चलनेवाले भटक जाते हैं।"

धरी न काहू धीर, सवके मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुवीर, ते उवरे तेहि काल महुँ।।

शास्त्रार्थ में विजय

द्रौपदीवाई तथा भक्तो को सान्त्वना देकर आप वहाँ से विचरण करते हुए राजापुर की ओर निकल गये। राजापुर प्रसिद्ध सन्त और महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी की जन्मभूमि होने से विख्यात है। रात्रि में आपको अनुभव में दिखाई पड़ा कि शास्त्रार्थ हो रहा है और आप विजयी हो गये हैं। आप पढ चुके हैं कि महाराजजी की पार्थिव शिक्षा शून्य थी। शास्त्रार्थ या वाद-विवाद में पडना आपका स्वभाव भी न था। अत ऐसे अनुभव से महाराजजी को वडा कुतूहल हुआ।

दूसरे दिन विचरण करते हुए आप राजापुर पहुँचे। उस समय वहाँ सचमुच शास्त्रार्थ छिडा हुआ था। लोगों ने वताया कि तीन दिन से मानस की एक पंक्ति पर वहस चल रही है कि गोस्वामीजी ने अयोध्याकाण्ड में राम-वनगमन प्रसंग में- **"तेहि अवसर एक तापस आवा। तेजपुंज लघु वयस सुहावा।।"** कहकर जिस तपस्वी का वर्णन किया है, वह वास्तव में कौन था? उन लोगों ने महाराजजी से इस सन्दर्भ में विचार व्यक्त करने का अनुनय किया। महाराजजी ने कहा- "भाई, मान लें आप किसी के दरवाजे पर पहुँचते हैं, वह भला आदमी होगा तो दस कदम आगे ही आकर आपका स्वागत करेगा। इसी तरह भगवान राम जब चित्रकूट पधार रहे थे, कामतानाथजी स्वय विप्र का रूप धारण कर स्वागतार्थ आगे आकर मिले और लौट गये।"

यद्यपि महाराजजी ने विनोद में ही यह सव कहा था किन्तु वह इतना स्वाभाविक लगा कि सव वाह-वाह कर उटे। आपको विजयी घोषित कर उन सवने माला पहनायी। महाराजजी ने उनसे कहा- "यह मानस है। मानस अन्त करण को कहते हैं। यह तुम्हारे अन्त करण की कथा है। यह

तुम्हें तव समझाऊँगा जब और अधिक अभ्यास कर लोगे। खूब नाम जपा करो।" उन सबको सान्त्वना देकर आप आश्रम लौट आये।

कुछ दिनों पश्चात् जब स्टेटो का उन्मूलन हो गया तव उन दरोगाजी की नौकरी समाप्त हो गई। अपने सेवाकाल में उन्होंने जो कुछ अर्जित कर रखा था उससे एक ट्रक खरीदा। एक दुर्घटना में वह ट्रक खडड् मे गिरकर चकनाचूर हो गया। कुछ समय पश्चात् एक हाफ शर्ट और हाफ पैण्ट पहने दरोगाजी अनुसुइया आये और सादर प्रणाम किया। महाराजजी ने कहा, "अरे दरोगाजी! आओ बैठो।" वह बोले, "दरोगा क्या महाराजजी, अव तो कुछ भी नहीं रहा। जितना धन था वह सव समाप्त हो गया। परिवार मे छोटे-छोटे बच्चे है। पूरा परिवार भूखमरी के कगार पर है। महाराजजी! अब दया हो जाय। मैं लाला हूँ, कोई भी सहारा नहीं है। क्षमा करें! महाराजजी आशीर्वाद दे।" महाराजजी ने कहा, "ठीक है, ठीक है- विभूति खाओ और अव जाकर अपना परिवार देखो।" आपका आशीर्वाद प्राप्त कर वे प्रसन्न मन से चले गये और सानन्द रहते हुए सत्पुरुषों की सेवा करने लगे।

हाथ में फोड़ा

अनुसुइया के समीपस्थ ग्राम नवस्ता के एक पाण्डेयजी हैं- वलदेव पाण्डेय, उनके हाथ में फोडा हो गया। भयकर दर्द के कारण वह तीन दिन और तीन रात सो न सके। विकल होने पर वे महाराजजी का दर्शन करने चले आये। महाराजजी ने कहा- "पाडे, पूडी न बनइहे?" उन्होंने कहा, "मैं तो मरत हौ महाराजजी!" आपने कहा-"क्यों मर रहे हो, अभी तो पूडी बनानी है। जाकर बनाओ।" उन्होने निवेदन किया- "हाथ ही नहीं उट रहा है।" महाराजजी ने कहा, "ला! इधर ला! देखें तो।" महाराजजी ने उसे थोडा दबाकर ठोक-ठॉक दिया। वह पाण्डेय तो धीरे-धीरे पूडी निकालने लगे। लोग खा-पीकर चले गये तो महाराजजी के हाथ में दर्द उटने लगा।

नौवें दिन तो महाराजजी के हाथ मे इतना दर्द होने लगा कि न दिन को चैन पडता था और न रात को। आप वैठे-वैठे फोडे पर पानी का झरना देने लगे। इतना असह्य दर्द उठता कि ऑखों में ऑसू आ जाते थे। उन्होने भगवान से पूछा कि अब निवृत्ति हो गई तब यह फोडा क्यो? अनुभव में ही आपको वताया गया कि उस पण्डित का फोडा आपने स्पर्श करके स्वय ले लिया। उसे इस फोडे का कष्ट वारह महीने झेलना था, क्या आप इसे बारह दिन भी नहीं झेलेगे? अब महाराजजी ऑसू पोंछते और दिन भी गिनते जाते थे कि दस, ग्यारह और वारह- परसों फोडा ठीक हो जायेगा। वे स्वय से कहते- "भोग लो परमहसजी!" **दया विन संत कसाई। दया करी तो आफत आई।।** ठीक वारहवें दिन फोडा वह गया और ठीक भी हो गया।

इस घटना के पश्चात् महाराजजी किसी का स्पर्श करने और अपना चरण स्पर्श कराने के प्रति और भी चौकन्ने हो गये। तव से आप दूसरों का कल्याण करते हुए भी लोगों के स्पर्श से वचने लगे। जव श्रद्धालु अपनी व्यथा लेकर आपसे कृपायाचना करते, आप मात्र कृपादृष्टि से ही उन्हें अच्छा कर दिया करते थे। विशेष कारण उपस्थित होने पर वे स्पर्श भी करते थे। महाराजजी वताते थे कि निवृत्ति वाला महापुरुष अपनी इच्छा से स्पर्श कर ले तो यदि किसी की मृत्यु भी है तो टल जायेगी, किन्तु उन महापुरुष को भोगना पडेगा। कंकड मात्र से कोई पक्षी मर सकता है

किन्तु वैसे हजारो ककड किसी गजराज के लिए नगण्य हैं। इसी प्रकार जो पाप किसी शरीर को आत्मा से पृथक् कर देने में सक्षम है, महापुरुप सहज ही उसे झेलकर उसकी गति कुण्ठित कर देते है।

अनुसुइया के सिद्धवाबा

क्षेत्रीय श्रद्धालु महाराजजी के पास नियमित आने लगे थे। एक दिन उनसे आपने पूछा, "ये उजड़े हुए मकान किसके हैं?" उन लोगों ने वताया, "यह सव सिद्धवावा के आश्रम के खण्डहर हैं। सौ-डेढ सौ वर्प पहले यहॉ एक सिद्धवावा रहते थे। वे वड़े अच्छे महापुरुप थे। उनका नाम ही सिद्धवावा था और वे थे भी सिद्धपुरुप। एक लाख से अधिक उनके अनुयायी थे। उनके पास लगभग चार सौ गायें थीं। उनके यहॉ दस-पन्द्रह फीट व्यास की बडी तई में मालपुआ वनता था। भक्तों ने चार गॉव उनकी सेवा में अर्पित कर रखा था।

महाराजजी ने पूछा, "सिद्धवाबा के वश में क्या अब भी कोई है?" उन लोगों ने वताया, "एक लडका जिसका नाम गुरुप्रसाद है, ठाकुरों के यहॉ रहता है।" आपने सोचा कि कुछ भी हो, वह साधु का अश है। मेरे पास रहता तो सेवा करता। अत आपने उसे वुलवाया। सोलह-सत्रह वर्ष का एक दुबला-पतला-सा लडका आया। वह सहर्ष महाराजजी की सेवा में रहने लगा।

तीन दिनों बाद वह महाराजजी से बोला, "ठाकुरों को सूचना तो दे आऊॅ कि मैं अब महाराजजी की सेवा मे रहने लगा हूॅ।" वह अनुमति लेकर गया और जव लौटा तो उसके साथ में एक लडकी भी थी। महाराजजी ने पूछा, "क्यों रे! यह भवानी कौन है?" उसने वताया, "महाराजजी यह मेरी पत्नी है।" महाराजजी बिगडे, "क्यों रे! तूने बताया नहीं कि व्याह हो गया है। अव भाग यहॉ से, हम तुम्हें नहीं रख सकेगे। जाओ जहॉ से आये हो।" दोनों सुवक-सुवक कर रोने लगे। महाराजजी बडे असमजस में पड गये कि अव क्या करें? धीरे-धीरे एक-एक करके दिन बीतने लगे। चित्रकूट तक चर्चा फैल गयी कि महाराजजी के लड़का और लड़की आये हैं।

पापग्रह का अन्त

एक दिन महाराजजी धूने के पास बैठकर सत्सग कर रहे थे। सूरज पहाडियों की ओट में न जाने कव से जा चुका था। आपके पास चार-पॉच साधक और दो-चार भक्त बैठे थे। गुरुप्रसाद और उसकी पत्नी दूर बैठे किसी बात पर झगड़ रहे थे। अकस्मात् गुरु प्रसाद ने अपनी पत्नी को एक तमाचा मारा। पत्नी तपाक से उठी और जगल में ओझल हो गयी। गुरुप्रसाद ने कुछ देर तक तो प्रतीक्षा किया किन्तु जव एक घंटा वीत चला और वह न लौटी तो उसके सब्र का बॉध टूट पडा। वह जगल में चारों ओर खोजकर महाराजजी के पास आकर रोने लगा। उसने बताया कि उसकी पत्नी जगल में गायव हो गयी है। उसे खोजने का आदेश दें अन्यथा शेर-भालू उसे खा सकते हैं। आपने उसी को डॉटते हुए कहा, "जब पत्नी से इतना लगाव था तो चॉटा ही क्यों मारा?" आपने कहा, "खोजो हो! कहीं सचमुच शेर ही न खा ले।" गुरुप्रसाद तथा सभी भक्त खोजने में लग गये।

सूने जगल में आवाज देकर लोग उसे पुकारने लगे। रात काफी वीत गयी थी। महाराजजी

को भी दया आ गयी। उन्होने खडे होकर सगुन मिलाया, जिधर आदेश मिला उधर ही बढने लगे। आप दूसरे खण्ड की छत के ऊपर चढ गये। उन्हे मुडेर के पास कुछ काला-काला सा पडा दिखाई दिया। आपको लगा जैसे कोई अजगर पडा हो। और नजदीक जाने पर आप विचार करने लगे, यहॉ तो साफ-सफाई है, कोई लकडी गिर गई है क्या? अचानक वह उठी और महाराजजी की ओर दोनों हाथ फैलाकर दौडी। बायीं बॉह तडतड फडकने लगी। महाराजजी सावधान हो गये। समीप आते-आते उन्होंने गुरुप्रसाद की पत्नी को पहचान लिया और छडी उठाते हुए जोर से बिगडे, "धत् चुडैल कहीं की! ऊपर चढी चली आ रही है। देख रे! तेरी औरत यहॉ छत पर पडी है।" डॉटने से वह सहमकर रुक गयी। तव तक गुरुप्रसाद आया और पत्नी को ले गया।

उसी रात महाराजजी के अनुभव मे आया, "आज पापग्रह समाप्त हो गया। सूपनखा के नाक-कान कट गये। अब जीवन मे कोई बाधा नहीं है।" महाराजजी को बडा आश्चर्य हुआ कि, ओह! भोले-भाले इन बच्चो के अन्दर प्रवेश कर यह पापग्रह पीछा कर रहा था। उसी दिन पथरा गॉव के एक श्रद्धालु गणेश नम्बरदार को बुलाकर कहा कि जैसे भी हो, इनके लिए गॉव मे कोई व्यवस्था करो और आज ही इन्हें यहॉ से ले जाओ। देखो, कोई कष्ट नहीं होना चाहिए।

नम्बरदार ने तीन सौ रुपये का एक घर खरीदा और उसी समय दोनो को विदा कर दिया। कुल मिलाकर महाराजजी उस दिन बहुत प्रसन्न थे कि पापग्रह का अन्त हो गया और अब उनके लिए भविष्य में भी कोई खतरा नहीं रह गया था। **तुलसीदास एहि जीव मोह रजु जोई बॉधे सोई छोरे**। साधक को सदैव भगवान पर भरोसा रखना चाहिए।

सिद्धबाबा का तख्त और महात्मा

आश्रम में कोई बैठने की चौकी नहीं थी, जमीन पर ही आसन था, अत आपने सिद्धबाबा का तख्त मॅगा लिया। आप उसी तख्त पर बैठने लगे। श्रद्धालु तथा सन्त-महात्माओं का आना-जाना लगा था। एक महात्मा महाराजजी से बोले, "आप सिद्धबाबा के तख्त पर क्यों बैठते हैं?" महाराजजी ने हॅसते हुए कहा, "भाई, सिद्धो के तख्त पर सिद्ध ही बैठ सकता है इसीलिए तो बैठा हूॅ।" उन्होंने कहा, "क्यों! मैं नहीं बैठ सकता क्या?" आपने कहा, "नहीं, इस पर कोई पात्र ही बैठ सकता है।" उन्होंने हठ किया कि सिद्धबाबा हमारे सम्प्रदाय के थे, हम इसी पर बैठेंगे। महाराजजी ने व्यर्थ के विवाद में पडना उचित न समझ उस तख्त को दूर रखवा दिया और नीचे अपने आसन पर जाकर बैठ गये। उन महात्मा ने गोमुखी में हाथ डाला और तख्त पर बैठ अपना आसन लगा लिया।

दूसरे दिन प्रात महाराजजी को याद आया। उन्होंने इधर-उधर दृष्टि दौडाई किन्तु वे महात्मा कहीं दिखाई नहीं दे रहे थे। आपने लोगों से कहा कि उन्हें खोजो, आखिर चले कहॉ गये? खोजते-खोजते लोगों ने उन महात्मा को एक गुफा के अन्दर पाया। उस गुफा से बुखार की गध आ रही थी। भैंसे की तरह लाल-लाल ऑखों से घूरते हुए महात्मा बुखार के आवेग में कॉप रहे थे। एक सन्त ने कहा, "देखो, जाकर महाराजजी के चरणों में गिरो, क्षमायाचना करो, नहीं तो कॉपते-कॉपते मर भी जाओगे। कल अकारण ही महाराजजी से शरारत कर बैठे।" उन्हें अपनी भूल का अहसास हुआ। वे गये और महाराजजी के चरणों में साष्टाग दण्डवत् किया। महाराजजी

ने आशीर्वाद दिया और कहा, "धूनी में प्रणाम करके विभूति उठाकर लगाओ और खा लो।" विभूति खाकर वे बैठ गये। कुछ देर में जब उनका बुखार उतर गया तो वे बोले, "महाराजजी, यह विलक्षण तख्त है। रात को हमें नीचे गिराकर यह तख्त ही हमारे ऊपर चढ बैठा। सवेरा होने पर किसी तरह से हम इसके नीचे से निकले और गुफा में शरण ली। किसी तरह हमारी जान बच गयी। अब हमे आशीर्वाद मिले ताकि भविष्य में कोई ऐसी अप्रिय घटना न घटे और हमें भक्ति प्राप्त हो। आप महापुरुष हैं। महाराजजी! आप रहें, यहाँ इस तख्त पर हम कभी नहीं बैठेंगे। ऐसा निवेदन कर वे चले गये।

साम्प्रदायिकता का शमन

अल्पावधि मे ही अनुसुइया आश्रम में निर्विघ्न एव शान्तिपूर्वक निवास करते हुए श्री परमहसजी की प्रसिद्धि का प्रसार दूर-दूर तक होने लगा। साम्प्रदायिकता की सकीर्ण विचारधारा रखनेवाले गणवेशधारी सन्त-महात्माओ के बीच स्पर्धा की भावना अकुरित हो उठी। परिणामत इन रूढिवादी वेशधारियों ने आपको अघोरी, पाखण्डी आदि शब्दों से अपमानित करने का विफल प्रयास आरम्भ किया। उन लोगों की हरकतों का प्रभाव महाराजजी के ऊपर किंचित् मात्र भी नहीं पडता था। आप सहज वाणी में उन लोगों को समझा दिया करते थे कि भगवत्पथ में कोई सम्प्रदाय ऊँचा-नीचा नहीं है। यह रूढ़िवादिता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मैं स्वत सभी मत-मतान्तरों से होकर आया हूँ परन्तु मेरा इन पर कोई विश्वास नहीं है और न मेरा कोई सम्प्रदाय ही है। धीरे-धीरे इन रूढिवादी साम्प्रदायिक सन्त-महात्माओं का भ्रम दूर हो गया। उनके हृदय मे महाराजजी की साधुता के प्रति पूर्ण विश्वास एव श्रद्धा हो गयी।

अब भी महात्माओ का एक वर्ग ऐसा था जो आपके विरुद्ध षड्यन्त्र-रचना में क्रियाशील रहता था। उसी जमात के द्वारा किसी नागा बाबा को भडकाकर आपकी हत्याहेतु योजना तैयार की गयी। तथाकथित नागा बाबा हत्या की कल्पना से छूरा सहित अनुसुइया आश्रम आ पहुँचा। दूर से ही आपको छूरा दिखाकर वह कहने लगा, "परमहसजी! यह पैनी धारवाला छूरा आपके लिए ही है। बहुत तग करते हो सन्तो को! यह हमारी जगह है।"

महाराजजी ने भगवान से पूछा, "भगवन्! जब भजन ही करना था तब इस राग-द्वेष की जगह मे लाकर क्यो पटक दिया? कोई कहता है हमारी जगह है, तो कोई कहता है काटकर फेंक देंगे, आप दूसरे सम्प्रदाय के हैं।" तब भगवान ने कहा, "जब हमने बैठाया है तो बैठे भर रहो, तुमसे क्या मतलब।" इतना सुनकर आप निश्चिन्त हो गये और पुन चिन्तन में लग गये।

रात्रि के घने अधकार मे जैसे ही वह दुरात्मा षड्यत्र की पूर्तिहेतु आगे बढा कि तत्काल वह लकवा से प्रताडित हो गया। उसके अंग-प्रत्यंग अकड गये। इधर महाराजजी को सगुन मिलने लगे। बडे सवेरे चद्दर की झोली में बाँस डालकर पालकी-जैसा बनाकर दो महात्मा उसे उसमें बैठाकर आगे-पीछे चल रहे थे। तीसरे बाबा उसके कपडे, उसका चिमटा लिए पीछे-पीछे चल रहे थे। महाराजजी अपने आसन पर बैठे थे। सामने मन्दाकिनी के कूलस्थ रास्ते से वे सब निकले। वह षड्यन्त्रकारी अपना सही सलामत एक हाथ झोली से निकालकर लडखडाती आवाज में बोला, "परमहसजी दण्डवत्!" महाराजजी चौंके, "भाई तुम कौन हो?" वह बोला, "महाराजजी! मैं वही

नागा हूँ जो आपको छूरा दिखा रहा था।" आपने पूछा, "तूझे हो क्या गया?" वह बोला, " अरे महाराजजी! लकवा मार दिया। दाहिना अग ही बेकार हो गया है। महाराजजी आप हमे क्षमा कर दें।" महाराजजी ने दयाभाव से उस बाबा को प्रायश्चित भोग से मुक्त कर दिया। कालान्तर में उसके हृदय में महाराजजी के प्रति असीम श्रद्धा जागृत हो गयी।

इस प्रकार महाराजजी के पथ में आनेवाली समस्त विपत्तियो का स्वत शमन हो गया। आप निर्विघ्न योग-साधना में अनुरक्त रहकर जनजीवन का कल्याण करने लगे। प्राय महाराजजी साधकों को समझाया करते थे कि वस्तुत जब भगवान दया कर देते हैं तो विपत्ति ही सम्पत्ति बन जाती है। ध्रुव और प्रह्लाद के जीवन में भगवत् कृपा से विपत्तियाँ ही सम्पत्ति बन गयी थीं। इसलिए निर्भीकतापूर्वक विपत्तियों का स्वागत करना चाहिए।

जिस प्रकार विभिन्न विद्यालयों का अपना अलग-अलग गणवेश होता है किन्तु सबको शिक्षा और उनसे मिलने वाली उपाधियाँ एक-जैसी होती हैं, उसी प्रकार साधकों के रहन-सहन में जो भेद दिखाई पडता है वह उनकी श्रेणी के कारण है। कोई साधन के आरभिक स्तर पर है कोई मध्यम, उन्नत और उच्चतम अवस्था वाला है, तो इन सबका रहन-सहन भी अलग-अलग होगा। परमात्म-पथ पर चलनेवाली योगक्रिया एक है। अनुभूतियाँ एक-जैसी हैं, परिणाम एक-जैसा है तो सम्प्रदाय कैसा? यह तिलक, स्वरूप, वेशभूषा इत्यादि तो गुरु घराने की पहचान है। हैं सब एक ही पथ के पथिक!

आकाशवृत्ति से आश्रमीय व्यवस्था

प्रयाग से आये हुए महात्मा रामलखनदासजी प्रात नौ बजे तक महाराजजी की सेवा करके पुन सायकाल ही दिखाई पडते थे। एक दिन महाराजजी ने पूछा कि दिन में कहाँ गायव हो जाते हो? वह बोले, "महाराजजी! मैं भिक्षाटन किया करता हूँ।" महाराजजी ने कहा कि हमारी आकाशवृत्ति है। उन्हें भीख माँगने से मना किया तो वे बोले, "ऐसा है गुरु महाराजजी! कुछ सन्त-महात्मा भी तो यहाँ आते हैं। भिक्षाटन से उनकी सेवा हो जाती है।" महाराजजी ने समझ लिया कि इसकी आदत पड़ गयी है, यह जल्दी नहीं छूटेगी। उन्होंने केवल इतना ही कहा, "देखो! भिक्षाटन का एक भी दाना हमें मत खिलाना। मेरी कोठरी मे कुछ दिखाई पडे तो वनाकर खिला दिया करो अन्यथा तू मेरी चिन्ता छोडो।" किन्तु उनका भिक्षाटन वन्द नहीं हुआ।

रामलखनदास जी थे तो वयोवृद्ध किन्तु स्फूर्ति के भण्डार थे। सवेरे से शाम तक वे पचीसों किलोमीटर का चक्कर लगा आते थे। वैष्णव महात्माओ मे उनकी वडी ख्याति थी। वहुत से महात्मा उनके अतिथि हुआ करते थे।

पहाड की तलहटी मे नदी से कुछ ऊपर महाराजजी का आसन था। रामलखनदासजी का निवास आश्रम के ऊपरी खण्ड पर एक कोठरी मे था, जिससे महाराजजी की शान्ति में वाधा न हो। वैष्णव महात्मा दूर से महाराजजी को नमन करते हुए सीधे रामलखनदासजी के पास पहुँच जाते थे। वहाँ पहले वे भोजन करते थे और फिर चिमटा वजाकर वडे अनुराग से कीर्तन करते थे- "सीताराम-सीताराम-सीताराम जय सीताराम।" यही उनकी धुन रहती थी।

महाराजजी बताते थे कि उन सन्तों का यह कीर्तन सुनने में बड़ा अच्छा लगता था। भगवान का मधुर नाम ही तो लेते थे। घडीखाड हम भी बैठकर सुनते थे फिर मुझे लगता, यह सिर के ऊपर टन-टन कब तक चलेगा? अब तो हमारे शान्त चिन्तन में बाधा पड़ रही है। तब आप उन्हें सचेत करते हुए कहा करे, "जगल में भी बाधा! सीताराम-सीताराम! क्या सीताराम बहरे हैं जो चिल्ला रहे हो? वे कहीं भागे जा रहे हैं जो बुलाये पड़े हो? अरे! अपने खसम का नाम जुबान से नहीं लिया जाता। इष्ट का नाम अपने हृदय में सुमिरन के साथ लिया जाता है। हृदय में सुरत की डोर लगने का नाम भजन है।

कुछ महात्मा लोग प्रत्युत्तर में उबल पड़ते थे कि ये कैसे महात्मा हैं? न स्वयं राम-नाम जपते हैं और न हम सबको जपने देते हैं। रामलखनदासजी उन्हें समझाते कि उनसे मत बोलो। वे सन्त हैं, भजन की प्रक्रिया जानते है। रामलखनदासजी से वे कुछ कह तो न पाते थे किन्तु मन में कसक बनी रहती थी।

कुछ दिन पश्चात् उनमें से कुछ महात्मा वेदान्तीजी के पास अयोध्या गये। वेदान्तीजी अयोध्या के लब्धप्रतिष्ठ, शास्त्रो के निष्णात विद्वान तथा क्रियानिष्ठ सन्त थे। उन महात्माओं ने उन्हें सूचित किया, "अरे वेदान्तीजी महाराज, आप इतने बडे महापुरुष, अयोध्या के सर्वोपरि महात्मा और आपका चेला एक परमहस महात्मा की सेवा कर रहा है। न जाने वे किस सम्प्रदाय के है। न नहाते हैं न धोते है। चलकर बचावें अपने शिष्य को। बड़ा अनर्थ हो रहा है।"

वेदान्तीजी ने कहा, "ऐसा लगता तो नहीं किन्तु तुम कहते हो तो चलो।" अत वे दस शिष्यो के साथ अयोध्या से चले। उन्हे प्रेरित कर लानेवाला महात्मा भी साथ में मार्ग-दर्शन कराता आ रहा था। शाम के समय ग्यारह महात्मा और बारहवें वे साधु भी महाराजजी के सामने की पगडडी से होते हुए सीधे रामलखनदासजी की कुटिया पर चले गये। रामलखनदासजी ने गुरु महाराजजी को साष्टाग दण्डवत् किया। उनके पास कुछ बोरियां थीं, उसी आसन पर उन सबको बैठाया। उन सबके लिए भोजन की व्यवस्था की। उस समय जो भी उनके पास था (चने की रोटी और कैंथे की चटनी) प्रेम से उन सबको खिलाया।

उन सबकी सेवा से निवृत्त होकर रामलखनदासजी रात्रि बारह बजे महाराजजी की सेवा में पहुँचे और धीरे-धीरे महाराजजी का चरण दबाने लगे। महाराजजी ने पूछा, "आज तुम्हारे पास कौन लोग आये हैं? हैं तो ग्यारह-बारह लोग किन्तु चूँ तक नहीं। शाम से ही बडा सन्नाटा है।" उन्होंने बताया- "जी हमारे गुरुजी महाराज आये हैं।" महाराजजी ने पूछा, "अच्छा, अच्छा! तो किया उनकी सेवा?" वह उदास होकर बोले- सेवा क्या करता, अचानक जो आ गये। चने की रोटी और कैथे की चटनी थी।" महाराजजी ने कहा, "देख गुरु महाराज हैं तो विधि से सेवा कर। हमारी कोठरी में जो भी है सब ले जा और आदरपूर्वक उन्हे खिला-पिला।"

सवेरे भोजन बना तो घी से चुपडी हुई गेहूँ की रोटी, दो तरह की सब्जी, दाल, चावल, चटनी इत्यादि विधिवत् महात्माओं को परोसा गया। दो-एक ग्रास ग्रहण करने के पश्चात् वेदान्तीजी रामलखनजी के प्रति उन्मुख होकर बोले, "रामलखन! मैं तुम्हारा गुरु और तू हमारा शिष्य है। बोलो हे न?" वे बोले, "हाँ गुरु महाराज! इसमें कोई दो राय नहीं है, यह बिल्कुल सत्य है।"

उन्होंने पूछा, "मैं कुछ पूछूँ तो मेरे साथ कपट तो नहीं करेगा?" उन्होने कहा, "कभी नहीं।"

वेदान्तीजी ने कहा, "शाम को हमलोग आये तो प्रथम स्वागत में तुमने हम सबको चने का ठर्रा टिक्कड खिलाया, आज सवेरे ही यह पुष्कल व्यवस्था! ऐसा अन्तर क्यों? यह सब कहॉ छिपाकर रखा था?" रामलखनदास ने कहा, "गुरुदेव, कल हमारे पास वही था।" महाराजजी के साथ हुई वार्ता से अवगत कराते हुए उन्होने कहा, "गुरुदेव, यह सब परमहंसजी का ही प्रसाद है।"

वेदान्तीजी ने पूछा, "अच्छा यह बता, उनके पास यह राशन-पानी कहॉ से आता है और तेरे लिए कहॉ से आता है?" रामलखन ने बताया, "गुरुदेव, मैं तो दिनभर भिक्षा करता हूॅ। जो भी मिल जाता है, ले आता हूॅ। यह परमहसजी न तो स्वयं भिक्षा करते है, न किसी को करने देते हैं और न भिक्षान्न का हमारा एक भी दाना ग्रहण करते हैं। वे कहते हैं कि हमारे पास हो तो कुछ खाने को बना दिया करो, नहीं तो मेरी चिन्ता छोडो। फिर भी उनके पास कोई कमी नहीं रहती। कोई भक्त कुछ चढाने लगता है तो उसे दो गाली जरूर देते हैं।"

वेदान्तीजी ने कहा, "तुम रात-दिन मॉगते हो फिर भी चने की रोटी, वे किसी से मॉगते नहीं फिर भी कोई कमी नहीं। निश्चय ही वे सिद्ध पुरुष है।" भोजन छोडकर वेदान्तीजी उठ खडे हुए। हाथ धोया और आकर महाराजजी को साष्टाग दण्डवत् किया। वे कहने लगे, "महाराजजी, कुछ लुक्कड हमारे यहॉ अयोध्या गये और हमको भी फोड-फाड़कर ले आये। मेरा सौभाग्य ही था जो इस प्रकार आपके दर्शन हो गये। इस घोर जगल में आपका ऐसा निवास देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई है।"

रामलखनदास की ओर उन्मुख होकर उन्होने कहा, "देख रामलखनदास! मैं तुम्हारा गुरु हूॅ इससे मैं तुम्हें आदेश देता हूॅ कि इन महापुरुष की जीवनपर्यन्त सेवा करो। इनकी सेवा मेरी सेवा है।" वेदान्तीजी बडे आदरभाव से मिले और अन्य तीर्थो का अवलोकन करते हुए अवध धाम को चले गये। रामलखनदास महाराजजी की सेवा मे लगे रह गये।

महाराजजी समझाया करते थे, "हो! सन्तो के लिए शीलोच्छवृत्ति, भिक्षावृत्ति और आकाशवृत्ति इत्यादि मान्य वृत्तियॉ हैं। सभी उचित है। इनमें से आकाशवृत्ति सर्वोपरि है। किन्तु जब भजन भगवान की देखरेख में चलने लगता है तब इनमे से कोई भी वृत्ति सहायक नहीं होती। उस समय केवल एक वृत्ति रह जाती है कि भगवान चाहते क्या हैं? उन्हीं की इच्छा सर्वोपरि है। देहरादून में विना मॉगे दूध मिला-आकाशवृत्ति ही तो थी। उज्जैन में विना मॉगे बहुत कुछ मिल रहा था किन्तु भगवान ने उसे छूने भी नहीं दिया। जब भगवान भली प्रकार अपना लेते हैं, उस समय ऐसे साधक के लिए सृष्टि में न कुछ खाद्य है, न कुछ धारण करने योग्य है और न ही कहीं निवास स्थान है। उसके लिए इतना ही होता है जितना भगवान स्वीकृति देते हैं। भगवान वही देंगे जिसमें उसका शाश्वत हित हे। इसलिए सव लोग श्रद्धा और समर्पण के साथ नाम का जप करो, सद्गुरु के स्वरूप को हृदय में देखो, तुम्हें भी मिलेगा। यह कहने से समझ में नहीं आता, जव तक प्रत्यक्ष घटित न होने लगे।

जातिगत मोह

रामलखनदासजी स्वभाव के तीखे और स्वाभिमानी थे। गुस्सा तो सदैव उनकी नाक पर ही रहता था। ब्राह्मणो की कुलीनता का गौरव उन्हें प्राप्त था। वे वर्ण-व्यवस्था के पक्षधर थे।

एक बार महाराजजी आसन पर वैठे थे। उसी समय पॉच महात्मा महाराजजी की ओर आते दिखाई पडे। महाराजजी को अनुभव में मिला कि इन पॉचों में से कोई एक अच्छा सन्त है, जिसके पास वृत्ति है, योग-साधन है। महाराजजी को ज्योंही ज्ञात हो कि ये अच्छे सन्त हैं, उन्हें आप वडे प्रेम से बुलाते, बैठाते थे। भले ही वे किसी वेश में क्यों न हों। अत इन महात्माओं के लिए सकेत मिलते ही आपने उन्हें आदर से बुलाया--आइए सन्त जी, आइए! त्यागीजी वैठिए! उन्हें वैठाकर आपने उन्हें कुछ मिष्ठान्न प्रसाद दिया, पानी पिलाया और तदनन्तर गॉजा चढने लगा।

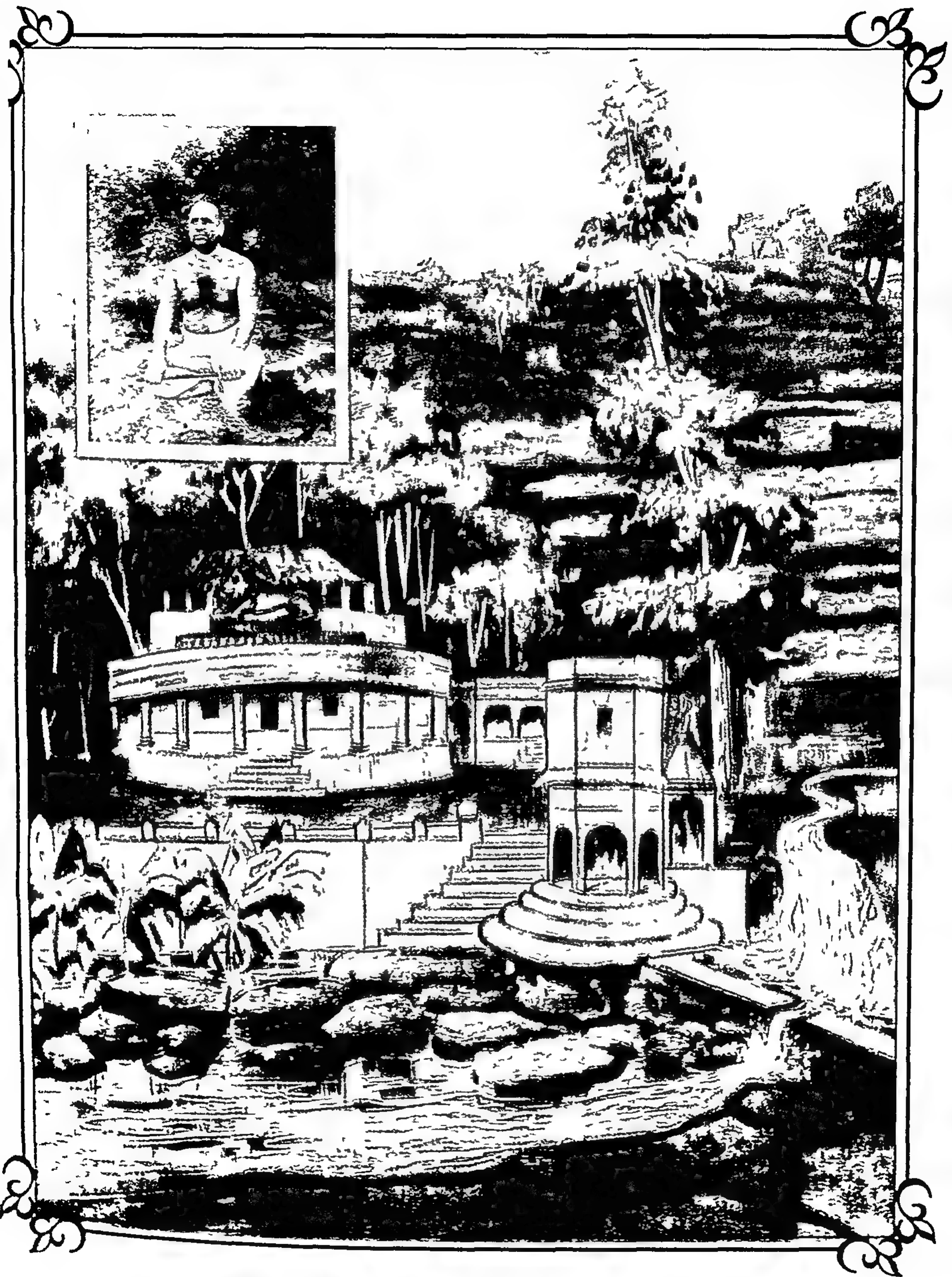
अचानक रामलखनदास जी ऊपर से आ गये। उनका चेहरा देखा तो वोले, "ऐं, कौन जाति के हो?" उन महात्माओं ने उत्तर नहीं दिया। रामलखनदास अपनी अवहेलना सहन न कर सके। वे तमककर बोले, "बोलते क्यों नहीं? सुनाई नहीं पड़ता क्या?" महाराजजी ने उन्हें रोका, वोले, "सनक गये हो क्या?"

उनमें से जो एक अच्छे महात्मा थे, उन्होने कहा, "देखिए, शरीर से तो हम पॉचों चमार हैं और पॉचों भजन कर रहे हैं।" इतना सुनना था कि रामलखनदास पुन. आवेश में आ गये। वे बोल उठे, "जब तुम लोग भजन करने लगोगे तो हल कौन जोतेगा? वड़े आदमियों का काम कैसे चलेगा?"

महाराजजी ने उन्हे शान्त किया और कहा, "क्यों मूर्खो जैसी बाते करते हो, सन्तों की क्या कोई जाति होती है? जो जाति-पॉति में ही उलझा है वह सन्त कहॉ!" रामलखनदास ने महाराजजी को प्रणाम किया और चले गये। कुछ देर वाद वे किटकिटाते हुए पुन चले आये और बोले, "शास्त्रो में तुमलोगो को भजन के लिए कहॉ लिखा है--**सब जाति-कुजाति भये मॅंगता।**" महाराजजी पुन बिगडे, 'भाग यहॉ से।' 'अच्छा महाराजजी!' कहकर वे पुन प्रणाम कर चले गये।

कुछ ही देर मे वे पुन आ गये। वे कहने लगे- "घोर कलियुग आ गया- "**ते विप्रन्ह सन आप पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहि।।**" क्यों साधु वन गये? बुद्धि खराब हो गयी क्या?" उनमे जो अच्छे महात्मा थे, बोले- "अच्छा वाबाजी! तीन बार मे आपने गाली तो बहुत दिया लेकिन तीन महीने मे आप मर भी जायेंगे।" रामलखनदास ने कहा, "अरे जाओ भी, चमारों के शाप से डागर नहीं मरते।" वे लोग महाराजजी को प्रणाम करके चले गये। महाराजजी ने रामलखनदास को समझाया कि सन्तों का अपमान नहीं करना चाहिए।

धीरे-धीरे इस घटना को सभी भूल गये। तीसरा महीना समाप्ति पर था। एक दिन रामलखनदास ने कहा, "गुरु महाराजजी! गॉव मे कुछ राशन रखा है, आज्ञा हो तो ले आऊॅ।" महाराजजी ने कहा, "रहने दे, राशन क्या होगा?" वे वोले, "महाराजजी! सन्तो के लिए अव कुछ शेप नहीं हे। मैंने भिक्षा मॉगकर सेमरिया गॉव में रख छोडा है, उसे ले आता तो अच्छा रहता। अनुमति मिल जाय तो ले आऊॅ।" महाराजजी ने फिर भी मना किया। जव हठ देखा तो कुछ न वोले।



पूज्य श्री १००८ स्वामी सच्चिदानन्द जी महाराज
एव परम पावन धारकुण्डी आश्रम

'मौनं स्वीकार लक्षणम्' समझकर रामलखनदास ने महाराजजी को प्रणाम किया और निकल पडे। वहॉ जाते ही उन्हे बुखार हो आया। गॉव के किसी व्यक्ति ने महाराजजी को सूचना दी कि उन्हें बुखार हो आया है। दूसरे दिन महाराजजी को सूचना मिली कि बुखार तेज हो गया है। महाराजजी ने कहा, ''यदि वहॉ बीमारी ठीक न होती दिखाई दे तो हमारे पास ले आओ।'' तीसरे दिन गॉववाले उन्हें लाने का उपक्रम कर ही रहे थे कि सहसा हालत बिगडी और शरीर छूट गया।

महाराजजी को उन महात्माओ की बात याद हो आयी। गणना करने पर वह तीसरे महीने का अन्तिम दिन निकला। महाराजजी ने कहा, ''ओह! मरने का समय आया तो उसकी बुद्धि खराब हो गयी। सन्तों की वाणी सही करने के लिए ही भगवान ने ही उसकी बुद्धि प्रेरित कर गॉव भेज दिया। उसका पाप उसे वहॉ भगाकर ले गया। मेरे पास रहा होता तो कम से कम मरता तो नहीं। एक सन्त शाप दे सकता है तो दूसरा उतार भी तो सकता है।

रामलखनदास जी को पहले से कोई बीमारी भी नहीं थी। अकस्मात् न जाने क्या हो गया। तीन दिन के बुखार मे ही शरीरान्त हो गया। **''कोई कहा सन्त हम चीन्हा। तुलसी कानों पर हाथ धरि लीन्हा।।''** तुलसीदासजी से किसी ने कहा, ''मैने उन्हे पहचान लिया, वे अच्छे सन्त हैं।''-यह सुनकर तुलसीदासजी ने अपने दोनों कानो को बन्द कर लिया। वे बोले, ''किन ऑखों से आपने सन्त को देखा?'' भगवान मन-बुद्धि से परे होते हैं और इधर सन्त भी मन-बुद्धि का निरोध कर भगवत्ता को प्राप्त करते है। इस प्रकार वह सन्त भी मन-बुद्धि से परे है। भगवान बता दें तभी जाना जा सकता है- **''सो जानहि जेहि देहु जनाई।''** उनकी कोई अन्य पहचान नहीं होती। वे सम्प्रदाय, मजहब, देश, जाति, वर्ण, रगभेद से परे होते है।

रामलखनदास का अन्तिम सस्कार हुआ। इस प्रकार महाराजजी के प्रथम सेवक का तिरोभाव उनके जीवनकाल मे ही हो गया।

अनुसुइया आश्रम के पूर्व ब्रह्मचारीजी

पुरातन काल से ही अनुसुइया योगसाधना का केन्द्र रहा है। यह भूमि अत्रि, दत्तात्रेय, चन्द्रमा, दुर्वासा, सती नर्मदा, सिद्धबाबा आदि महर्षियो के तपश्चर्या की स्थली थी। प्राकृतिक सुषमा के बीच निर्जन गुफाओं मे रहकर अनेकानेक मनीषियो ने यहॉ से आत्मानुभूति प्राप्त की है। ऐसे ही एक सन्त भजन की प्रारभिक अवस्था मे बाल ब्रह्मचारी के रूप में अनुसुइया की वनस्थली में तपश्चर्या हेतु यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए आये और यहॉ प्रशान्त वातावरण देख रम गये। ब्रह्मचारी जी अनवरत दो माह तक कन्द-मूल-फल आदि का सेवन करते हुए भजन करते रहे। पहले आप परमहसजी महाराज का दूर से ही दर्शन किया करते थे क्योंकि यह जनश्रुति हो गयी थी कि परमहस महाराज जादू जानते है। कुछ समयोपरान्त विचरण करते हुए ब्रह्मचारीजी जानकी कुण्ड पहुँचकर वहॉ निवास करने लगे। आपके रहन-सहन को देखकर वहॉ के प्रसिद्ध सन्त श्री रणछोडदासजी ने ब्रह्मचारीजी को वहॉ का मालिक नियुक्त कर दिया। उन्होंने कहा, ''मै प्राय बाहर रहता हूँ, आप ही यहॉ का कार्य-भार सॅभाले। कुछ दिन वहॉ रुकने के पश्चात् आप वहॉ की समस्त गतिविधियों से अवगत हो गये परन्तु मन शान्त नहीं हुआ। कारण कि आपकी

अन्तश्चेतना परमशान्ति के लिए व्यग्र थी। परिणामत· आप जानकी कुण्ड आश्रम त्यागकर अयोध्या पहुँच गये। वहाँ पर सुनियोजित ढग से भण्डारा करवाया परन्तु आपके अन्तस्थल में यहाँ भी अन्तर्द्वन्द्व तरगित होता रहता था। वार-वार इस हलचल के वीच श्री परमहस महाराजजी की वही परमशान्त मूर्ति आपके मानस पटल पर अकित हो जाती थी।

ब्रह्मचारीजी शिष्य के रूप में

इसी अन्तर्द्वन्द्व के वीच ब्रह्मचारीजी को स्वप्न होता है कि अनुसुइया आश्रम चलो, वहीं परमशान्ति मिलेगी। साथ ही साथ श्री परमहस महाराजजी को यह स्पष्ट सकेत मिलता है कि एक युवा साधक आपकी शरण में आ रहे हैं, उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश करिये। स्वप्न-सकेत के अनुसार ही ब्रह्मचारीजी श्री परमहस आश्रम अनुसुइया के लिए प्रस्थान करते हैं। यहाँ महाराजजी भी अनुभव मे निर्दिष्ट साधक की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। तव क्या था! घूमते-विचरते ब्रह्मचारीजी अनुसुइया आश्रम आ पहुँचे। यहाँ पर महाराजजी के चरणों के प्रथम दर्शन ने ही ब्रह्मचारीजी के मानस मे उठनेवाले समस्त अन्तर्द्वन्द्वों का पूर्ण शमन कर दिया। हृदय गदगद हो गया, वाणी मूक हो गयी। सदा-सदा के लिए उनके चरणारविन्दों में आत्म-समर्पण कर ब्रह्मचारीजी आत्मविभोर हो गये। श्री परमहस महाराजजी की छत्रछाया में सतत् साधनार्थ जीवन व्यतीत करते हुए सद्गुरुदेव की महती कृपा से कुछ ही वर्षों के उपरान्त वे जीवनमुक्त होकर अपने स्वरूप में लीन हो गये।

भविष्यद्रष्टा सन्त

एक वार ब्रह्मचारीजी को अनुभव में दिखाई पडा कि एक कुत्ता वेद पढ़ रहा है। आरोह-अवरोह, गति-लय के साथ मधुर ध्वनि में वेदपाठ अत्यन्त आकर्षक प्रतीत हो रहा था। ब्रह्मचारीजी ने अपना अनुभव महाराजजी को सुनाया। महाराजजी ने कहा, "देख, कुत्ते की तरह ऊलजुलूल वेश वनाये कोई अच्छे महात्मा आ रहे होंगे। ध्यान देना, कहीं वे निकल न जायँ।" लोग सतर्कता के साथ मन्दाकिनी के तटवर्ती मार्ग की निगरानी करने लगे। लगभग दस वजे पागलों जैसी वेशभूषा का एक व्यक्ति उस रास्ते से होकर निकला, जो सीटी वजाने की मुद्रा में कुत्ते की तरह 'ओहूम्-ओहूम्' की ध्वनि निकालते चले जा रहे थे। उन पर दृष्टि पडते ही महाराजजी को सकेत मिला कि जो कुत्ता वेद पढ रहा था, वह यही है।

महाराजजी ने उन महात्मा को सादर ले आने को कहा। किसी की समझ में नहीं आता था कि ऐसे भी महात्मा हो सकते हैं। फिर भी ब्रह्मचारीजी ने समीप जाकर उन्हें प्रणाम किया और आश्रम में ले आये। आश्रम में भी वे श्वास-प्रश्वास से अस्पष्ट जाप करते रहे। महाराजजी ने कहा, "थोडी देर के लिए अव यह जाप वन्द करो, पहले विचार तो कर लो कि कहाँ आये हो?" वे मुस्कराते हुए शान्तिपूर्वक वैठ गये।

ब्रह्मचारीजी ने स्वय भोजन वनाकर श्रद्धासहित उन्हें निवेदित किया। प्रसाद पाकर तृप्त हो वे वोले, "वहुत सुन्दर! वहुत वढिया! तीन साल, नहीं-नहीं छ साल! एकदम पार हो जायेगा। गुरु महाराजजी की सेवा में लगे रहो।" सामने पहाड की ओर देखकर उन्होंने कहा, "यह जंगल कट जायेगा।" कुछ क्षणों पश्चात् उन्होंने कहा, "यहाँ गायें चरेंगी।" दूसरे दिन उन्होंने प्रस्थान किया।

ब्रम्हचारी जी ने कुछ दूर तक जाकर बड़े सम्मान से उन्हें विदा किया।

उन दिनों किसी को कल्पना भी नहीं थी कि यह जगल कट सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार द्वारा जगलो को काटने का ठेका मिलने लगा। टेकरिया के भागवत प्रसाद जी ने नदी पार आश्रम के सामने पहाडी वृक्षों का ठेका लिया। जगल कटते-कटते आश्रम के सामने के वृक्षों की बारी आई। महाराजजी का ध्यान उधर गया। उन्होंने कहा, "यह कहॉ के कसाई आ गये। तुम लोग भागो यहॉ से। अरे! इन पेडों की छाया में हजारों पशु-पक्षी और मृग बैठे रहते हैं। कम से कम इन पेडों को तो छोड दो।"

मजदूरों ने महाराजजी का मन्तव्य भागवत प्रसादजी को कह सुनाया। पहले तो वह कुछ तैश में आये फिर बोले- ठीक है, महाराजजी की आज्ञा का पालन करो। वे वृक्ष आज भी है। वन्य पशु उनकी छाया में झुण्ड के झुण्ड बैठे दिखाई देते हैं।

कुछ दिनों पश्चात् एक त्यागी महात्मा उधर आ निकले। उनके पास चालीस गायें थीं। कटा हुआ साफ-सुथरा जगल पाकर उन गायो को उसी पहाडी पर चराने लगे। महाराजजी की दृष्टि पड़ी तो उन्होंने पूछा, "क्यों रे! उस पहाड़ी पर वह सफेद-सफेद क्या है?" लोगों ने बताया, "महाराजजी! गाये हैं।" महाराजजी ने कहा, "अरे! उन महात्मा ने कहा था जगल कट जायेगा- देखो कट गया। उन्होंने कहा था यहॉ गाये चरेगी-- देखो, वे चर रही हैं। और उन्होने क्या-क्या कहा था?" लोगों ने बताया, "ब्रम्हचारीजी को उन्होंने कहा था कि लगे रहो, छ· वर्षो मे लक्ष्य की प्राप्ति कर लोगे।"

ब्रम्हचारी को बडा हर्ष हुआ। अतिविशिष्ट अनुराग से वे चिन्तन में लग गये। सेवा और सुमिरन में उन्होंने दिन-रात एक कर दिया और छठें वर्ष ही महाराजजी की अनुकम्पा से धारकुण्डी गये और स्थिति मिल गयी।

वस्तुत **"ना जाने किस वेश में नारायण मिल जाय।"** वेशभूषा महात्माओं की पहचान नहीं है। महात्माओं को वही पहचान पाते हैं जिन्हें भगवान सन्देश दे देते हैं कि यह महात्मा हैं। यही वेश-भूषा हमारे दादा गुरु सत्सगी महाराजजी की थी। महाराजजी को आकाशवाणी हुई कि इस मन्दिर में गुरु महाराजजी है। किसी को कल्पना भी नहीं थी कि वह गुरु भी हो सकते हैं, किन्तु वह अन्तर्ज्ञान सम्पन्न ब्रम्हविद्या के ज्ञाता निकले।

पशु-पक्षियों के प्रति समत्व भाव

ऋषि परम्परानुसार आपके आश्रम में भी एक शुक पल रहा था। आप यह सोचा करते थे कि महात्माओं के तोता 'राम-राम' कहते हैं और दुष्टजनों के पालित पक्षी उनके आचरणानुकूल भला-बुरा कहना सीख लेते हैं। श्री परमहंसजी के सान्निध्य में रहने के कारण स्नेह से वह प्रतिपालित पक्षी भी 'राम-राम' रटने लगा। जरा-मरण का सम्बन्ध समस्त जीव-जगत् से है ही, अत वह तोता भी बीमार पड गया। आपको शरणागत पर दया आई, उसे गोद में रखकर पुचकारने लगे। आपने विचार किया कि यती-सती का बोलबाला है। सती सावित्री ने यमराज से सतीत्व के बल पर अपने पतिदेव को बचा लिया था। अत· में देखता हूॅ कि कैसे यह शुक

काल-कवलित होता है। ऐसा कहकर आसन में बैठकर बार-बार उसके सिर पर स्नेह से हाथ फेरने लगे। उस समय आपके पास एक ब्राह्मण, एक नाई और ब्रह्मचारी जी थे। जैसे ही दिवावसान हुआ, आश्रम के सम्मुख वृक्ष के पास किसी अज्ञात सत्ताधारी के खाँसने की आवाज़ सुनाई पडी। सब लोग उस पर सदिग्ध हो गये। तत्पश्चात् वही आवाज नदी के उस पार सुनाई दी और यहाँ तक कि यत्र-तत्र सर्वत्र से विलक्षण खाँसने की आवाज आने लगी। बैठे हुए लोग भयभीत हो गये। तब आपने कहा कि शका करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह यमराज है- ऐसा कहते हुए सभी को विश्राम के लिए आदेश दिया और स्वयं भी आसन पर बैठ गये। अन्य व्यक्तियों को भी भय एव जिज्ञासा की उथल-पुथल में नींद नहीं आई। खाँसने की वह चमत्कारपूर्ण आवाज रात्रि की नीरवता को लगभग एक घण्टे तक भग्न करती रही। यह उत्पात चल ही रहा था कि आप तोते को लेकर भीतर के आसन में बैठ गये और भजन करना प्रारभ कर दिये।

रात्रि के कुछ समयोपरान्त सहसा फाटक खुलने की आवाज आई। तब आप छडी लेकर टार्च जलाते हुए देखने लगे और किसी अज्ञात सत्ता को डाँटते हुए कहे कि धत् तेरे की! यहाँ तक आने की धृष्टता कर लिया। इसी बीच कुछ दूर पर दीवाल की ओट में छिपा हुआ नेवला दिखाई देता है। उसे देखकर आप विचार करने लगे कि मेरी अनुपस्थिति में काल कहीं दूसरे वेश में पहुँचकर उस तोते को खा न ले। आप दौड़ते हुए उस अबोध पक्षी के पास पहुँचते हैं और देखते हैं कि वह अभी जीवित है। पुन. बैठने के पश्चात् निश्चयात्मक शकुन मिलता है कि वह बच जायेगा।

प्रात काल उठकर सबको जगाते हुए महाराजजी ने कहा, "उठो! तुमलोग अभी सो रहे हो। काल आया था और चला गया।" अब तोता स्वस्थ होकर 'पढो परवते सीताराम' की रट लगाने लगा। महाराजजी उसे डाँटते हुए कहे कि अब तुम्हें 'सीताराम' याद आया है। भजन ही करते तो काल काहे आता।

आश्रम के आसपास घूमनेवाले बन्दरो को आप प्राय· चना दिया करते थे। आपकी एक ही आवाज पर किलकारिया मारते हुए बन्दर इकट्ठा हो जाया करते थे। चना फेंककर आप उनको खिलाते और हँसते रहते थे। हिसक पशुओं का भी शिकार आपने बन्द करा दिया था। इस प्रकार आपके स्नेह से प्रतिपालित पशु-पक्षी स्वच्छन्दतापूर्वक वन में विचरण करते थे।

शिष्यों की नियुक्ति

श्री ब्रह्मचारीजी के पहुँचने के पश्चात् क्रमश शिष्यत्व प्राप्तिहेतु अनेकानेक श्रद्धालुओं का ताता लगने लगा। परीक्षा की कसौटी पर खरा उतरने के बाद आपने आठ-दस मुमुक्षुओं को ही शिष्यरूप में स्वीकार किया। महाराजजी कहा करते थे कि अगर मैं शिष्य बनाता तो सहस्रों विरक्त शिष्य हो जाते। आप उसे यों कहकर टाल दिया करते थे कि दुनिया बहुत लम्बी-चौड़ी है। चित्रकूट, अयोध्या, ऋषिकेश आदि स्थानो में सर्वत्र महात्माओं का जमघट है, वहाँ कहीं भी जाकर शिष्य बन जाओ।

ज्योंही कोई महाराजजी के पास आता, तुरन्त उन्हें विदित हो जाता कि इसमें साधु बनने के लक्षण कैसे हैं? इसलिए वे तुरन्त भगा देते थे। फिर भी यदि वह नहीं जाता तो डाँट-फटकार

श्री परमहस आश्रम अनुसुइया जी



पशु पक्षियो के प्रति समत्व भाव

करते। कोई किसी भी तरीके से न जाता तो उसे एक-दो दिन रोककर स्नेह से समझाते थे। यदि वह फिर भी नहीं जाता था तो चुपके से उसके घरवालों को तार दिला देते थे। बहुत लोगों को इसी प्रकार महाराजजी ने उनके घरवालो के साथ भेज दिया। ऐसा महाराजजी के स्वभाव मे नहीं था कि कोई लडका आ जाय और तुरन्त साधु बना ले।

अनुसुइया का जंगल

अनुसुइया आश्रम घोर जगल मे है। हाथी या गैंडा जैसे पशुओं के अतिरिक्त वहॉ हर प्रकार के छोटे-बडे जगली जानवर पाये जाते थे। महाराजजी के निवास के आरभिक दिनो में वह जगल जानवरों से भरा-पूरा था। पॉच प्रकार के शेर उस जगल मे पाये जाते थे। सबसे छोटे शेर को तेंदुआ कहते है। यह छोटे पशुओ, बछडो आदि को अपना शिकार बनाता है। बडे पशुओ पर यह सफल नहीं होता। इससे बडा चीता होता है। चीते की चाल बडी तेज होती है। यह नब्बे किलोमीटर प्रति घटे की रफ्तार से चल लेता है। यह अत्यन्त चचल होता है और मनुष्य पर भी आक्रमण कर देता है। मनुष्य पर हमला करना इसका स्वभाव नहीं है। कठिन परिस्थिति मे ही यह मनुष्यों पर आक्रमण करता है। तीसरे प्रकार के शेर को गुलबाघ कहते है। यह बाघ और चीते के मिश्रण से उत्पन्न होता है। यह भी बडे जानवरों का शिकार करने मे सफल है। चौथा धारीदार बाघ होता है, जो उस जगल में बहुतायत में है। पॉचवॉ बब्बर शेर होता है। यह बब्बर शेर भी उस जगल में एक जोडा था। शेर को अग्रेज अधिकारी (डी.एफ ओ) मार ले गया, किन्तु शेरनी वहीं घूमा करती थी।

एक वार महाराजजी मन्दाकिनी नदी के किनारे चट्टान पर आसीन थे। गर्मी का महीना था। सवेरे के लगभग सात बजे होगे। गर्मी में नदी की धारा बहुत पतली हो गयी थी। दूसरे किनारे से वह शेरनी हाथ भर की जीभ लटकाए धीरे-धीरे झूमती हुई चली आ रही थी। महाराजजी के पीछे केवल श्री ब्रह्मचारीजी खडे थे। उन्होने धीरे से कहा- "महाराजजी! बब्बर शेरनी" और आवाज निकल गई 'हूऽ'। महाराजजी बोले, " पागल हो गया है क्या? जगली जानवरो का क्या भरोसा?" किन्तु उस शेरनी पर कोई प्रभाव न पडा। उसने घूमकर देखा भी नहीं कि कौन हमें ललकार रहा है। वह उसी चाल से चलते-चलते महाराजजी के ठीक सामने तक आयी और एक पगडडी पकडकर धीरे-धीरे जगल की ओर निकल गई।

एक दिन आश्रम के भीतर ही शेर आ गया। महाराजजी अपने आसन पर लेटे हुए थे। रात्रि के दस-ग्यारह वजे का समय था। सामने कुएँ की जगत पर श्री ब्रह्मचारी जी चिन्तन में लेटे हुए थे। आश्रम मे और कोई नहीं था। जंगल मे हो-हल्ला मचा हुआ था। यह शोर-शरावा आये दिन हुआ ही करता था। महाराजजी के पीछे कोठरियों की लम्बी कतारें तो थीं किन्तु किवाड किसी में नहीं था।

अचानक छत के ऊपर से एक जानवर धम्म से कूदा। पीछे उससे भी भारी-भरकम दूसरा जानवर भी धडाम से कूदा। दोनों महाराजजी और ब्रह्मचारीजी के वीच से सन्न-सन्न निकल गये। महाराजजी उठकर वैठ गये। उन्होंने पूछा, "यह आगे कौन कूदा और पीछे कौन कूदा?" ब्रह्मचारीजी उठकर खडे हो गये। उजेली रात थी। उन्होने देखकर वताया, "महाराजजी आगे

बन्दर दौड रहा है, पीछे गुलवाघ लगा हुआ है और यह उसने बन्दर को पकड लिया।"

महाराजजी ने कहा, "तो देखता क्या है? उसे छुडाओ! सन्तों के आश्रम में हिसा नहीं होती। इसे खाना था तो पूरा जगल पडा है, हमारे आश्रम में ही इसे पकडना था।" श्री ब्रह्मचारीजी महाराजजी के समक्ष खडे रहे किन्तु महाराजजी ने उसी समय पत्थर उठाया और शेर के ऊपर फेक दिया। लदद् की आवाज आयी। पत्थर शेर के पेट में लगा, पकड थोडी ढीली हुई। बन्दर शेर के मुख से छूटते ही पेड पर चढ गया। शेर वहीं खडा-खडा महाराजजी की ओर घूरता रहा, फिर वह अपनी पूँछ ऐंठता इधर-उधर घूमकर जंगल में ओझल हो गया। महाराजजी का आश्रम उस शेर का घर ही था। वह वहीं दाहिने-बायें गुफाओं और झाडियों में रहता था किन्तु आश्रम के समीप उसने किसी जानवर का शिकार फिर कभी नहीं किया। वाल्मीकि आश्रम का प्रभाव यहाँ भी देखने में आया कि **"करि केहरि कपि कोल कुरंगा। विगत वैर विचरहि सब सगा।।"**

पुलिस अधीक्षक आश्रम में

बॉदा जिले के पुलिस अधीक्षक पहले से ही श्री परमहस आश्रम अनुसुइया के विषय में अनेक प्रकार की विलक्षण चर्चाए सुन चुके थे। जिज्ञासावश वे सपरिवार सशस्त्र सिपाहियों के साथ आश्रम आ पहुँचे एव यथोचित दण्ड-प्रणाम करके बैठ गये। वार्ता के दौरान ही श्री महाराजजी से पुलिस अधीक्षक महोदय ने विनय किया कि रात में व्याघ्र व चीते प्राय· आते रहते हैं। यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं उनका शिकार करूँ। महाराजजी ने कहा कि यह सन्त-स्वभाव के प्रतिकूल है। तुम्हे स्वय सोचना चाहिए कि हिसा करना उचित नहीं है। रात्रि में पुलिस अधिकारी सपरिवार ऊपर ठहर गये और साथ के सशस्त्र सिपाही कुएँ की जगत पर लेट गये। सबके सो जाने पर सहसा रात्रि के दूसरे प्रहर में भयानक व्याघ्र-गर्जना सुनाई पडी। सारा वातावरण भयावह हो गया। पुलिस के सैनिक भागकर ऊपरी कोठरी में चले गये और 'रक्षा करो, रक्षा करो!' की आवाज करने लगे। अब महाराजजी बाहर आकर हॅसने लगे और बोले, "छिपे हो शिकारियो! बाहर निकलो! शिकार आ गया है।" विनम्रतापूर्वक अधीक्षक महोदय ने कहा, "महाराजजी! भय लग रहा है। आपके सामने हम क्या शिकार खेलेंगे।" प्रात काल पुलिस अधीक्षक ने महाराजजी से क्षमायाचना की और रात्रि में घटित होनेवाली घटना की चर्चा करके यथोचित सम्मानपूर्ण भाव से प्रणाम इत्यादि कर वापस चले गये। इसके बाद तब से वे समय-समय पर आश्रम की सेवा करते रहते थे।

आसामी पण्डित तीर्थयात्रा पर

एक बार आसाम से एक पण्डित अनुसुइया तीर्थाटन के लिए आया। स्वाभाविक भीडभाड हो गयी थी। उस पण्डित ने आधुनिक ढग के अखाडे और मन्दिरों की कल्पना करते हुए महाराजजी के पास सन्देश भेजा कि चाहे दो सौ रुपया किराया ले लिया जाय परन्तु मुझे ठहरने के लिए एक कमरा स्वीकृत कर दिया जाय। आपने उस पण्डित के भाव को परखते हुए डॉटकर उससे कहा कि क्या यहॉ कोई व्यापार होता है? थोडी देर पश्चात् आपने एक शिष्य को बुलाकर ठहरने के लिए कमरा दिला दिया। एक दिन वहॉ रहने के पश्चात् वह पण्डित आप से विनय करता है कि भगवन्! मेरी पत्नी सिर की वेदना से व्यथित है। इसकी चिकित्सा विशेषज्ञों द्वारा की गई

परन्तु कोई राहत नहीं मिली। यहीं पर मुझे पता चला कि आपकी कृपा से असाध्य रोगी भी पूर्ण स्वस्थ हो जाते है। इसलिए मै भी कुछ धृष्टता कर रहा हूँ, अपराध क्षमा किया जाय। आपने छडी से उसके पत्नी के सिर का स्पर्श किया और उसे तत्काल राहत मिल गयी।

आश्रमीय वातावरण को देखकर पण्डित को आश्चर्य होने लगा कि यहॉ पैसा देनेवालों को दुतकारा एव गाली दिया जाता है, जबकि अन्य मन्दिरों और अखाडो में धनार्पण करनेवालो को बडे आवभगत से लिया जाता है। अब उसे अटल विश्वास हो गया कि इसी तरह महापुरुष ज्ञात-अज्ञात में अटपटी वाणी द्वारा भाविको का कल्याण कर दिया करते है। वह अपने आपको कृतकृत्य मानता हुआ वहॉ से दूसरे दिन वापस चल पडा।

ज्वर से निवृत्ति

आप प्राय सस्कारों के भोग करनेवाले पापी व्यक्तियों को भी स्पर्श करके कुकर्म-भोग से उन्हें निवृत्त कर देते थे किन्तु उसके परिणाम को किसी न किसी रूप मे आपको स्वय भोगना पडता था। ऐसी सस्कारजन्य प्रक्रिया के फलस्वरूप आप काफी समय से ज्वर से पीडित थे।

आपका मलेरिया बुखार लगभग डेढ़ वर्षो तक चला। एक दिन महाराजजी के मन में विचार आया कि आवागमन से हमारी निवृत्ति हो गयी है, यमराज का बन्धन कट गया, तब यह बुखार-जैसा भयकर रोग क्यों? उसी दिन भगवान ने बताया कि आप अपने स्पर्श से जिन लोगों को व्यथामुक्त कर देते हैं, बुखार उतार लेते है, उसे कौन भोगेगा? महाराजजी ने पूछा, "तो क्या वह सब मुझे भोगना पड़ेगा?" उत्तर मिला, "हॉ!" आपने सोचा कि ओह! हमने तो बहुतों को कष्ट से मुक्ति दिलाई है, यह कब तक भोगना पडेगा? इस पर आपको अनुभव में ही एक काला, फटेहाल डोम दिखाई पडा। वह बोला, "मालिक, तीन आना बाकी है।" महाराजजी ने पूछा, "करे, तीन आना का होत है?" उसने बताया अभी तीन महीने बुखार और शेष है। महाराजजी बिगडे- वाह रे पाप! एक आना के लिए एक महीने तक कष्ट देगा। (आना उस समय का एक सिक्का था, जो आजकल लगभग छ पैसे के बराबर है।)

महाराजजी को प्रसन्नता हुई कि भोग की अवधि तो निर्धारित हो गई। आप कहने लगे, "जोडो रे, कौन-सा महीना है यह?" सावन-भादों-क्वार, क्वार में मेरा बुखार उतर जायेगा।" न दवा न दारू, बुखार उतर गया। आप पूर्ण स्वस्थ हो गये। क्वार में फसली बुखार चढता है किन्तु महाराजजी का उतर गया। आपको ज्वरावस्था में देखकर कुछ लोगों ने प्रश्न किया, "महाराजजी! क्या निवृत्ति के पश्चात् भी बीमारी का आना सभव है?" उन्हें समझाते हुए आपने बताया कि निवृत्ति हो जाने के बाद बीमारी नहीं आती किन्तु यदि किसी के प्रायश्चित उतार लिये जायॅ तो उसका भोग स्वय भोगना पडता है, अन्यथा- **"काल न खाय कलप नहिं व्यापै, देह जरा नहि छीजै।"** में जो बीमार हूँ, वह मात्र तुम लोगों का उतारा हुआ भोग है।

दर्शन की छात्रा सत्य की खोज में

एक समय एक बुद्धिजीवी छात्रा गृहकलह से ऊबकर चित्रकूट पहुँची। जहॉ-तहॉ चित्रकूट में यह लडकी चर्चा का विषय बन गयी कि यह या तो कोई राजकीय गुप्तचर है अथवा इसमें कोई

रहस्य है। इसी प्रकार बहुत-सी भ्रान्तियों की निगाह से वह लड़की देखी जाने लगी। वह दर्शनशास्त्र की छात्रा थी इसलिए साधारण जीवन की अपेक्षा भजन करना ही सर्वोत्कृष्ट समझा। उसमें सभी सद्गुण थे, केवल विधाता ने उसका रंग श्यामवर्ण कर दिया था। किसी परिवार के एक महाशय ने इसी कमी का सहारा लेकर शादी करने से इनकार कर दिया था, जबकि सदाचार में वह सैकड़ों में एक थी। परिवार के किसी सदस्य द्वारा अपने रूप की भर्त्सना के परिणामस्वरूप वह ईर्ष्या से सुलग उठी, नारी सुलभ स्वभाव जग गया। उसने यह कहकर घर का त्याग कर दिया कि अब मैं ऐसा पति लाऊँगी जो समस्त सद्गुणों से सम्पन्न, सुन्दर और ज्ञानवान हो।

भजन-पथ में आने के लिए उपर्युक्त कारण पाकर वह सद्गुरु की खोज में चल पड़ी। दर्शनशास्त्र की जानकारी होने के कारण उसे आध्यात्मिक जिज्ञासा हुई और वह तत्काल सद्गुरु की खोज में विभिन्न तीर्थस्थानों से होती हुई चित्रकूट पहुँची। जहाँ भी वह जाती, शास्त्रार्थ खड़ा कर देती। शास्त्रार्थ में कोई महात्मा उस छात्रा के आगे टिक नहीं पाता था। ये चर्चायें महाराजजी तक भी पहुँचा करती थीं। आप कहते- "हो! एक महारानी तहलका मचाये पड़ी है।"

इसी प्रकार वह घूमती-फिरती चित्रकूट स्थित सिरसावन में पहुँची। वहाँ पर बाँदा क्षेत्र के एक सुप्रसिद्ध सन्त श्री परशुरामजी अपनी जमात सहित रुके हुए थे। अपनी जिज्ञासा-तृप्ति के लिए उस युवती ने उन महात्मा से आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर जटिल प्रश्न किया। विचार-विमर्श में प्रश्नोत्तरों का क्रम बढ़ता गया परन्तु उसे सन्तोष नहीं हुआ। अभी विवाद चल ही रहा था कि अनुसुइया आश्रम के ब्रह्मचारीजी चित्रकूट से वापस जाते समय उस स्थान पर पहुँच गये।

ब्रह्मचारीजी का परिचय देते हुए सन्त परशुरामजी ने कहा कि "आप एक पवित्र साधक हैं" और साथ ही आसन बढ़ाते हुए कहा कि "आइये स्वामी सच्चिदानन्द जी बैठिए।" उन्हें देखते ही वह बालिका विनम्रतापूर्वक बोली कि मेरे लिए तो सभी पूजनीय हैं, मैं स्वागत करती हूँ। आप ही उत्तर देकर मेरी शंकाओं का समाधान करें। वांछित प्रश्न इस प्रकार है- "पूज्यवर! मोक्ष के लिए लोग घर क्यों छोड़ते हैं? परमात्मा की प्राप्ति का उपाय क्या है?" भगवत्प्राप्ति के लिए इन तीर्थयात्राओं में अब तक मैंने जो पाया है उससे मुझे तृप्ति नहीं हुई क्योंकि वेदान्त निर्दिष्ट साधन-क्रम में वह परमात्मा अपना ही स्वरूप है लेकिन काम-क्रोधादि षड्विकारों के होते उस अविनाशी का ज्ञान नहीं होता। नित्य-अनित्य का विचार करने से उस ब्रह्म की प्राप्ति होती है। मैं शुद्ध-बुद्ध स्वरूप हूँ, तू भी वही है-ऐसा विचार करते-करते ज्ञान का उदय होता है। जीव और ब्रह्म की एकता का बोध होते ही अज्ञान का नाश और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। वहाँ वह कह उठता है, **'अहम् ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि"** किन्तु मुझे सन्देह है कि बुद्धि गुणा-भाग लगाये और जिह्वा उसे प्रस्तुत कर दे, इससे मोक्ष कैसे सम्भव है, क्योंकि **"तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता:"**- गीता के अनुसार बुद्धि के अचल स्थिर हो जाने पर ही योगी अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है।

स्वामीजी ने कहा, "देखो देवीजी! घर कोई छोड़ता नहीं, छोड़ना पड़ता है। कोई पागल नहीं होना चाहता फिर भी हो जाता है। कोई जान-बूझकर मरना नहीं चाहता फिर भी मरना होता है। इसी तरह घर छोड़कर साधु कोई होता नहीं, हो जाना पड़ता है। यह भी एक संस्कार है। कई जन्मों के पुण्य-समूह घर छुड़ाने के संस्कार बना देते हैं। वे संस्कार ही घर छुड़ा देते हैं जिससे

साधक शाश्वत शान्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर हो जाता है। उस लक्ष्य की प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों ने अपनी स्थिति पर प्रकाश डाला कि मै शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ। वहाँ सुख नहीं, दु ख नहीं, पाप नहीं, पुण्य नहीं। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों को जो धरातल मिला यह उसका चित्रण है, न कि यह कोई साधना है, न यह चिन्तन की कोई विधि है। उस स्थिति को पाने के लिए किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण, उनके द्वारा निर्दिष्ट साधन-पद्धति में प्रवृत्त हो जाने पर जिसका नाम भजन है, वह जागृत हो जाता है। यह जागृति सद्गुरु से मिलती है। भजन जागृत हो जाने पर सद्गुरु सेवक की सँभाल करते हैं। अपना स्वरूप दिखाने व साधन बताने लगते हैं। उनके सरक्षण में चलने का नाम भजन है। चलते-चलते प्रकृतिजन्य काम-क्रोध आदि षड्विकारों का प्रभाव हल्का होता जाता है, ध्यान और समाधि की पकड आने लगती है, माया का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, साधक को ईश्वरीय आलोक दिखाई पडने लगता है। निरोध चित्त का सस्कार जहाँ शान्त हुआ, जो भक्त भजन कर रहा था, उसमें भगवान प्रवाहित हो जाते हैं। उन्हे जानकर वह भक्त भी वही हो जाता है। यह प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषो की रहनी का चित्रण है। केवल कथनी से इस स्थिति को नहीं पाया जा सकता है।

वह बोल पडी, "ओह! देखा यह है उत्तर! कितनी सरलता से, कितना स्पष्ट और थोडे शब्दों में आपने उत्तर दिया है। एक निवेदन और है-- प्राय सभी महापुरुषों ने नारी की निन्दा की है। नारी के लिए भजन का अधिकार यत्र-तत्र मिलता है किन्तु निन्दा कहीं उससे अधिक है। इसलिए मेरे मन में सदिग्धता वनी रहती है कि क्या नारी को भजन करने का अधिकार है? यदि है तो इतनी चर्चाएँ क्यों?"

ब्रम्हचारीजी ने कहा--तुम लोगों की दृष्टि स्थूल अथवा पिण्डों मे अर्थ खोजती है। यह वाहरी दृष्टिकोण है। इस परिस्थिति में अर्थ असम्भव है। जव तक हमारी समझ अन्तर्मुखी न हो जाएगी, तव तक आध्यात्मिक स्तर के अग-प्रत्यग को समझना दुरूह है। जो महापुरुष उस परमतत्त्व से सम्वन्ध रखते थे या हैं, उनकी जानकारियाँ सूक्ष्म शरीर अथवा मानस पर आधारित होती हैं। स्त्री हो अथवा पुरुष, गुण-अवगुण सबमें समान ही है। इन विकारों का प्रसारण ही माया है। **"तिन्ह महँ अति दारुण दुखद मायारूपी नारि।"** यह माया ही नारी है। जिसके दो भेद हैं। इसी के दूसरे पक्ष का नाम अविद्या है। इन सव विकारो का प्रसार पहले चित्त के द्वारा होता है। चित्त के साथ ही साथ लगे-लिपटे ये विकार शरीर पर भी उभर आते हैं। अत सिद्ध हुआ कि लोभ, मोह, काम और अविद्या इत्यादि इस चित्त के द्वारा प्रसारित होते हैं इसलिए यह चित्तवृत्ति ही माया है, यही नारी है न कि आप लोग। परम कल्याण की उपलब्धि में वस यही वाधक है। अत इनसे पार पाने पर परमपद है। उनसे छूटने का उपाय है ध्यान व उसी से सम्वन्धित प्रक्रियायें। जव हम अपनी समझ के अनुसार एकान्त में स्थित हो आँखें वन्द कर ध्यान में लग जाते हैं तव वहाँ सभी शत्रुओं को खडा पाते हैं। चित्त के अन्दर परस्पर सभी विकार एक दूसरे को आगे ढकेलकर अर्थात् काम-क्रोध आदि ही मन के अन्दर दिखाई देते हैं। कभी स्त्री के नक्शे वनते हैं और कभी पुरुषों के, तो कभी मोहमयी लहरें उठती हैं जनसमूहों के स्नेह की। अव आप महापुरुषों की वाणी पर विचार करें, शायद समझ में आ गया होगा कि काम-क्रोध इत्यादि शत्रुओं

का रूप इतना भयकर है कि अच्छे से अच्छे चित्त को भी भ्रम में डाल देते हैं। जव इस विकार का प्रसार चित्त पर धारावाहिक होने लगता है तो बुद्धि को नष्ट कर देता है। वस्तुत यदि चित्त विकारों में प्रवृत्त है तो हम केवल विचार मात्र से सॅभल नहीं सकते। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं–हे अर्जुन! भोग भोगने से कभी न तृप्त होनेवाला यह काम एक दुर्जय शत्रु है। यह ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करनेवाला तथा ज्ञानियों का निरन्तर काल-सा वैरी है। वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा अपने हृदय मे स्थित इस सशय को काटकर सग-दोष से अलग रहते हुए हृदय को निर्मल वनाइए एव कामरूपी शत्रु को पराजित कीजिए।

मान लें, किसी ने भजन-ध्यान प्रारभ कर दिया है और नियमित रूप से करता अवश्य है परन्तु न चाहने पर भी विकारों का तॉता पिण्ड नहीं छोडता। अव विचार करें कि इन विकारों के अनुरूप ही यदि सग मिल जाता है तो उससे निन्यानवे प्रतिशत दोष लगने की सम्भावना है। साधक, साधक नहीं रह पाते वल्कि पतित हो जाते हैं। यही रूप साधिकाओं का भी है क्योंकि यह काम वुद्धि को विकराल वनाये रहता है, सन्तुलन समाप्त कर देता है। अत स्त्री के लिए पुरुष का सग एव पुरुष के लिए स्त्री का संग माया का रूप ले लेता है।

वाहर निर्जन में रहकर कल्याण प्राप्त करने की सफलतायें स्त्रियों को कम एवं पुरुषों को अधिक मिली है। कतिपय दुष्कृत्यों की वजह से स्त्रियों के भजन का विधान घर में ही रहा है। यही कारण है कि **"किं द्वारमेकं नरकस्य नारी"** कहकर साधकों को चैतन्य किया गया है। क्योंकि बाहर भजन करने का विधान पुरुषों का ही रहा है और सग-दोष का कारण स्त्रियों का होना ही सिद्ध है। इसलिए इस कल्याण-पथ में सग वर्जित है। विकारों के रहते हुए इष्ट का प्राप्त होना सर्वथा असभव है। केवल बाहर से विकारों का त्याग कर दें और मन से उनका चिन्तन करते रहें तो इससे वडा विकार और क्या हो सकता है? पहले तो स्थूल शरीर का विकार वन्द करें फिर मन के विकार काटने की प्रवृत्ति आयेगी। जब मन के विकार और स्थूल शरीर के विकार शान्त हो जायेंगे, तव कारण शरीर के बन्धन काटने की स्थिति पैदा होगी। इस स्थिति के वाद चेतन सत्ता सब समझा लेती है।

महापुरुषों ने किसी पक्ष की कोरी निन्दा नहीं की है। चित्तवृत्ति ही नारी है। संग-दोष से वचने पर विशेष वल दिया गया है। साधन-पथ पर रत स्त्री के लिए जिस प्रकार पुरुष का सग-दोष व्यवधान है, उसी प्रकार साधनोन्मुख पुरुष के लिए स्त्री का संग-दोष उसकी चित्तवृत्तियों को चचल कर अधोपतित कर देने में पर्याप्त है। अतएव सतर्कतापूर्वक संग से अछूता रहकर भगवत्पथ पर चलनेवाले पथिकों को गन्तव्य स्थान की ओर वढ़ना चाहिए। श्री ब्रह्मचारीजी द्वारा दिये गये निर्णय को हृदयगम करके वह छात्रा पूर्ण सन्तुष्ट हो गयी और वोली, "स्वामीजी, आप धन्य हैं।"

अव ब्रह्मचारीजी को काफी विलम्व हो चुका था। वे मर्यादानुकूल सद्‌गुरुदेव के भय से तत्काल आश्रम के लिए रवाना हो गये। वहॉ पहुॅचकर श्री महाराजजी से समस्त घटना आद्योपान्त वर्णन किये। ब्रह्मचारीजी के आश्रम पहुॅचने के दो घण्टे वाद वह भजन-पथ पर चलने के लिए लालायित तरुणी भी श्री परमहस आश्रम अनुसुइया पहुॅच जाती है। वह यथोचित दण्ड-प्रणाम करके शान्तिपूर्वक वैठ जाती है। कुशलता पूछने के पश्चात् वह ब्रह्मचारीजी के साथ हुए

विचार-विमर्श की चर्चा महाराजजी से करती हुई शरण में ही रहकर भजन करने का आग्रह करने लगी। श्री परमहस महाराजजी उसकी भावना का समर्थन करते हुए कहे, "बेटी! बडा अच्छा विचार है। सभी प्राणियो को भजन करने का अधिकार है। तुम घर मे ही जाकर भजन करो। वह दर्शनशास्त्र की छात्रा बार-बार अनुनय-विनय करके वहॉ रुकने की इच्छा को ही दुहराती रही। तव अन्तर्जगत् से संकेत लेते हुए महाराजजी ने कहा कि अभी तुम्हारे लिए घर ही में रहकर भजन करने का विधान है। क्योंकि आजकल स्थान-स्थान पर साधुओ की जमातो मे दोष आ गया है और तुम्हारी अवस्था भी कुछ ऐसी ही है कि तुम्हें सग-दोष से अवश्य बचना चाहिए। ऐसा कहने के पश्चात् आपने उसे भजन का कुछ विधान बताया और ध्यान, जप-क्रिया से अवगत कराया, उसे घर जाने की सलाह दी। किन्तु प्रबल अनुराग के कारण वह छात्रा रुकी रही।

धीरे-धीरे उसे अनुसुइया में आठ दिन बीत गये। सेमरिया ग्राम के गप्पा पाण्डेय दो-एक श्रद्धालु साथियों के साथ आश्रम आये। महाराजजी ने उन्हें आदेश दिया कि इस बालिका को आदरपूर्वक गॉव ले जायॅ।

शहर की तेज-तर्रार छात्रा के प्रति गॉव की महिलाओं मे आकर्षण था। उस छात्रा ने सभी औरतों को बैठाकर उपदेश दिया और कहा कि आपलोग भाग्यवान है जो यहॉ जन्मे है। आप सब महाराजजी की सेवा करे। कुछ भी आपसे न हो सके तो केवल ऑखो से उन्हें देख ले, दर्शन करे। मुझे तो महाराजजी का आदेश है, "वेटा जाओ, वहीं से भजन करना। जो यहॉ रहकर मिलना है मैं वह तुम्हें वहीं दे दूँगा।

निर्मलदास जी का दुराग्रह

कर्वी के एक पण्डितजी महाराजजी के वडे भक्त थे। उन्होंने निवेदन करना शुरू किया कि महाराजजी एक दिन कर्वी तक थोडा चले। उस समय तक महाराजजी के पास एक दो साधक ही आ पाये थे। महाराजजी की गाली और डण्डे की ख्याति चारों तरफ फैल चुकी थी। लोगों में महाराजजी को लेकर चर्चाऍ थीं कि वे सिद्धपुरुष हैं। कोई कहता कि उन्होंने योगिनी को साधा हे तो कोई कहता- यक्षिणी सिद्ध किये हैं। जिसके मन में जो आता वह वही कहता। उन पण्डित जी के वार-वार आग्रह करने पर महाराजजी ने कहा, "वैसे तो मै आश्रम छोडकर कहीं जाता नहीं किन्तु तेरा भाव प्रवल है और भगवान भी कहते हैं तो चल थोड़ा हो लें।" पण्डितजी एक चादर, कम्वल और कमण्डल लेकर महाराजजी के पीछे चलने लगे। रास्ता पैदल का था। धीरे-धीरे महाराजजी स्फटिक शिला तक आ गये।

स्फटिक शिला वह स्थान है जहॉ भगवान राम ने जानकीजी का श्रृगार किया था और जयन्त का मान भग हुआ था। महाराजजी के समय में वहॉ एक निर्मलदास नामक महात्मा रहते थे। वह जव चलते तो उनकी लम्वी जटाऍ जमीन पर घिसटती थीं। वे प्रतिदिन रात्रि के तीन वजे उठकर कामदगिरि की पैदल परिक्रमा 'राम रट, राम रट' ऐसा उद्घोष करते हुए किया करते थे। आवाज सुनकर ही लोग समझ जाते थे कि निर्मलदास परिक्रमा कर रहे हैं। कतिपय सम्प्रदायों में परिक्रमा करने, नहाने-धोने और स्वरूप वनाने को भी भजन का अग माना गया है। इसलिए महात्माओं मे निर्मलदासजी का वडा सम्मान था।

उसी दिन निर्मलदासजी आसन पर वेठकर कुछ लिख रहे थे। पण्डित जी ने अपना कम्चल बिछा दिया और महाराजजी बैठ गये। हाथ उठाकर 'नमो नारायण' कहा। पण्डितजी ने दण्डवतोपरान्त परिचय दिया कि आप अनुसुइया के परमहसजी हैं। निर्मलदास जी वोले, "ऐं!" चश्मा हाथ से उतारते हुए उन्होने कहा, "अनुसुइया के परमहसजी! गाली क्यों देते हैं? शास्त्र में कहॉ लिखा है गाली देना? सिद्ध बनते हैं? **"मनको मारि गगन चढ़ि जावै, अमृत घर की भिक्षा पावे, उजड़ा शहर बसावै"**--सिद्ध तो वह होता हे।

जव निर्मलदास कई वार आक्षेप कर चुके कि 'वडे सिद्ध वनते हो' तव महाराजजी वोले, "देखो, मै सचहूँ का सिद्ध हूँ और कुछ चाहे न हो किन्तु तुम्हारे लिये तो मैं सिद्ध ही हूँ। कौन सिद्धि देखना चाहते हो? एक महीने के भीतर ही तुम्हारी सभी दुर्दशा न हो जाय तो हम वावा नही। और **"मन का मारि गगन चढ़ि जावे"**-यह तुम्हारा ज्ञान नहीं, हमारा ज्ञान है। तू इसे क्या जाने? तू तो अपना पानी छिडक और परिक्रमा कर।"

महाराजजी जब विगड जाते तो किसी को भी कहने से नहीं चूकते थे। पण्डितजी ने प्रार्थना किया। महाराजजी शान्त होकर आगे बढ गये।

उन दिनो स्फटिक शिला के समीप ही मोहकम गढ में राम और लक्ष्मण नाम के दो भाई भी कुटी बनाकर निवास कर रहे थे। वे दोनों गाजीपुर के क्षत्रिय थे और जलसेना में नौकरी करते थे। उन्होंने वायसराय को एक पत्र लिखा कि आप तुरन्त शासन का चार्ज गॉधीजी को सौंप दें, आप लोगों को समुद्र पार जाना ही जाना है। ऐसे पत्र को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध मानकर उनके विरुद्ध मुकदमा चलाया गया और उन्हे नौकरी से निकाल दिया गया।

रामजी का रहन-सहन भगवान राम के आदर्शो के अनुकूल था। वे अपने को राम कहते भी थे। राम के भाई लक्ष्मण भी सच्चे आज्ञाकारी थे। उनके साथ उनकी पत्नी थी, जिनका नाम सयोग से सीता ही था। उनके दो पुत्र थे।

सीता को भागवत् की कथा सुनने की लालसा हुई। लक्ष्मण ने एक पण्डितजी का प्रबन्ध कर दिया। राम ने कथा-समाप्ति पर पण्डितजी को सवा सौ रुपयों के स्थान पर सात सौ रुपये दिलाये तथा वस्त्राभूषण, पात्र और विविध सामग्रियो सहित उन्हें विदा किया। इसके पश्चात् राम और लक्ष्मण जगल में टहलने के लिए चले गये।

जगल से लौटकर आने पर राम और लक्ष्मण ने देखा तो पण्डितजी वहीं बैठे थे। उन्होंने पूछा, "देवता! आप अभी तक यहॉ क्यों बैठे है? पण्डितजी बोले, "सीताजी से भी कुछ आशा है, वे भी कुछ दे।" राम वोले, "लक्ष्मण! असन्तुष्टा द्विजा नष्टा-- असन्तोषी ब्राह्मण नष्ट हो जाता है। यह पण्डित कुल का कलक है। इसे केवल सवा सौ रुपया मिलना चाहिए था, हमने इसे सात सौ दिलवाया, पर्याप्त सामान दिलवाया फिर भी यह कहता है कि अभी सीताजी से भी आशा है। राम का कर्तव्य है कि जहॉ भी दुर्व्यवस्था हो उसे ठीक करे। इसलिये हे लक्ष्मण! इस पण्डित की खूब पिटाई करो।" लक्ष्मण ने तुरन्त आज्ञा का पालन किया।

पण्डितजी रोते-विलखते निर्मलदासजी के पास पहुँचे और आप वीती कह सुनाया। निर्मलदासजी खडाऊँ पहने तमतमाते हुए राम-लक्ष्मण के पास पहुँचे। राम ने कहा, "लक्ष्मण! कोई

सन्त आ रहे हैं, कुर्सी लाओ।" लक्ष्मणजी ने कुर्सी लाकर सादर उन्हें बिठाया। बालभोग (जलपान) इत्यादि भी लाकर उनके समक्ष रख दिया किन्तु निर्मलदासजी क्रोध से तमतमा रहे थे, खाता कौन? निर्मलदासजी ने कहा, "तुमलोग खल हो, राम-लक्ष्मण नहीं हो! तुम कलियुगी हो! तुम ढोंग करते हो! पण्डितजी को तुमलोगो ने क्यों मारा, क्यों सामान छीना?" राम ने कुछ समझाना चाहा किन्तु निर्मलदास अपने आगे किसी की सुन ही नहीं रहे थे। अन्त में राम ने कहा, "लक्ष्मण! लगता है स्फटिक शिला से जयन्त आ गया है। इसके बाल काट लो।" लक्ष्मण हॅसिया लेकर दौड़े और उनकी जटा काटकर फेंक दी। शोर हो गया कि निर्मलदास की जटा कट गयी। पुलिस मे भी रिपोर्ट हो गयी।

समाचार सुनकर निर्मलदासजी का कोई एक शिष्य उनके पास आया। उसको अपनी कठोर साधना-स्थली दिखाने के लिए निर्मलदासजी उसे जंगल घुमाने ले गये। हनुमान धारा के नीचे जगल में एक गुफा थी। उस गुफा में हाथ डालकर निर्मलदासजी ने कहा, "मैं इसी गुफा मे भजन करता था।" सयोग से गुफा में जगली भालू बैठा था। उसने निर्मलदासजी का हाथ पकड लिया। सहायता के लिए निर्मलदास जी चिल्लाये। वह शिष्य हाथ में खन्ती (खुरपी-जैसा औजार) लिए हुए था। उसने खन्ती से भालू के मुख पर प्रहार किया। खन्ती भालू के ऑख में लगी। निर्मलदास का हाथ तो छूट गया किन्तु सन्तुलन बिगडने से पॉव गुफा में चला गया। भालू ने पॉव पकड लिया। उस शिष्य ने थोडा प्रयास तो किया फिर अपना प्राण बचाकर भागा। निर्मलदासजी को भालू खा गया। जब राम और लक्ष्मण को पता चला तो वे महाराजजी का दर्शन करने आये। सादर दण्ड-प्रणाम करके उनकी दुर्दशा का वर्णन कर उन्होंने कहा, "**मृषा न होई देव ऋषि वाणी**--हम किसी सन्त को कैसे सता सकते हैं, यह तो आपकी वाणी का प्रभाव था।" महाराजजी ने कहा, "नहीं रे! वाणी ही तो है, निकल गई। अव उसे करने या न करने का काम तो भगवान का है।"

चरखारी के पुरोहित

चरखारी स्टेट के राजपुरोहित के मन मे वैराग्य का अकुरण हुआ। वे विना किसी घोषणा के वहाँ से गायव हो गये और चित्रकूट आ गये। दिनभर वे सडक के किनारे पटरी पर एक जगह वेठकर लोगों से कुछ न कुछ मॉगा करते थे कि भाई! हमें भी कुछ दे दो। यह पेट बड़ा पापी है, इत्यादि। इससे ज्योंही कुछ पैसे मिल जाते तो वे लडकों को वुलाकर कहते, "आओ, मेरे साथ जुआ खेलोगे?" लडके भी उनकी प्रतीक्षा में रहते थे क्योंकि वे जुए में सदैव हारते थे। वे जान-वूझकर यह क्रीडा किया करते और शान्ति से भजन करते थे।

उन्हें खोजते-खोजते चरखारी नरेश चित्रकूट आये और उन्हें पा गये। पहले तो राजा ने उनसे लौट चलने का आग्रह किया किन्तु उनकी रुचि देखकर उन्होंने चित्रकूट के दूकानदारों को निर्देश दिया कि इन महात्मा की हर प्रकार से सेवा करें और इन पर जो खर्च आये वह राजकोष से यहॉ तक पहुॅच जायेगा। महाराजजी की सेवा में कोई त्रुटि न हो।

राजा ने तख्त पर आसन लगाकर निवेदन किया, "पुरोहितजी! आज तो कुछ उपदेश करें।" पुरोहितजी विद्वान तो थे ही, राजा को उन्होंने एक दिन विधिवत् कथा सुनायी। संस्कृत वे धारा-प्रवाह वोल रहे थे।

जब तक राजा साहब चित्रकूट में रहे, उन्होंने पुरोहितजी को राजसी सम्मान के साथ रखा किन्तु उनके जाते ही पुरोहितजी ने अपना सारा सामान दीन-हीनों में बॉट दिया ओर स्वय सामान्य भिक्षावृत्ति पर आ गये।

रामघाट पर पहुँचते ही महाराजजी को सगुन मिलने लगा। वे विचार करने लगे कि बात क्या है? यहॉ कोई अच्छा सन्त है क्या? उन्हें रेती में एक महात्मा दिखाई पडे। महाराजजी उधर ही बढ गये। उन पुरोहित ने दूर से ही महाराजजी को आते देखा, वे उठे और हाथ जोडकर खडे हो गये। उनकी ऑखों से प्रेमाश्रु बह रहे थे। स्नेह विगलित स्वर में उन्होंने कहा, "कितना अच्छा अवसर देखकर आप आये हैं।" वे बुखार से तप रहे थे। महाराजजी ने उन्हें अपनी चदरी उढा दी और सस्नेह बोले, "अब रोने की कौन जरूरत हे? शरीर तो नश्वर है। आप सहज स्वरूप में स्थित हैं। अब केवल श्वास देखें।" उन्होंने कहा, "यह तो खुशी के ऑसू हैं। आप बडे समय से पधारे हैं। आपकी कृपा पाकर मैं धन्य हो गया।" महाराजजी उन्हें सान्त्वना देकर आगे बढ गये। उसी दिन उनका शरीर छूट गया। महाराजजी उसी दिन कर्वी होकर जब लौट रहे थे तो उनकी शवयात्रा धूमधाम से निकल रही थी। महापुरुष, महापुरुष को पहचानते हैं।

आश्रम में डॉ० रामकुमार वर्मा

प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ रामकुमार वर्मा भ्रमणार्थ चित्रकूट आये। अनुसुइया आश्रम के समीपवर्ती गॉव के कुछ छात्र प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्ययन करते थे। उनमे एक छात्र कर्वी का था, जो डॉ वर्मा के स्वागतार्थ हस्तिवाहन का प्रवन्ध करके चित्रकूट पहुँचा। श्री परमहस आश्रम अनुसुइया के विषय मे छात्रों द्वारा चर्चा सुनकर डॉ. रामकुमार वर्मा उसी हाथी पर चढकर चित्रकूट से अनुसुइया आश्रम के लिए प्रस्थान कर दिये। मार्ग मे वही छात्र विनम्रतापूर्वक प्रश्न किया कि श्रीमानूजी! गोस्वामी तुलसीदासजी की चौपाई- **"उलटा नाम जपत जग जाना। बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।।"** का आशय स्पष्ट किया जाय। डॉ वर्मा विद्यार्थी के इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए करीब एक घण्टे तक विविध उदाहरण के साथ आशय समझाये, परन्तु विद्यार्थी को पता नहीं क्यों सन्तोष नहीं हुआ। उसने कहा कि आपकी व्याख्या से मैं अनुगृहीत हूँ। आपने अनेक तर्क एवं उदाहरणों के माध्यम से आशय को स्पष्ट किया है परन्तु मेरी आत्मा को यह स्पर्श नहीं कर सका। इसी तर्क-वितर्क में उलझे हुए डॉ. वर्मा सपरिवार, कवि एव छात्रों के साथ परमहस आश्रम पहुँच गये। उनके साथ कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो आश्रम से पूर्व परिचित थे। उन लोगों ने डॉ. वर्मा का परिचय शिष्टता के साथ महाराजजी को दिया। वे प्रणाम करके वैठ गये। उक्त प्रश्न डॉ वर्मा एव छात्र के मस्तिष्क में चक्कर काट रहा था। ज्यों का त्यों वह प्रश्न आपके सामने रख दिया गया। महाराजजी ने प्रश्न को सुनकर सहज वाणी में उन सबको सम्बोधित करते हुए कहा कि यह चौपाई मानस की है। उनके उल्टा नाम का अर्थ 'मरा-मरा' जपने से नहीं है। रामावतार के पूर्व ॐ, शिव आदि नामों से उसी लक्ष्य की प्राप्ति हुई। इसके वाद राम, कृष्ण आदि नामो से आज भी उसी स्थिति की प्राप्ति होती है। विचार करें, बाहर का उलटा क्या होता है? भीतर! सीधा का उल्टा क्या होता है? उल्टा। इसी प्रकार जप का उल्टा अजप होता है, इसलिये गूढतम वात को छिपाकर गोस्वामीजी ने उल्टा नाम लिख दिया है, जिसका

तात्पर्य- **"अजपा नाम जपत जग जाना। बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।।"** से है। यह नाम जपना नहीं पडता बल्कि निरन्तर अभ्यास करने से धारावाही श्वास के क्रम में ढल जाता है। इसी नाम की परिपक्वावस्था में ब्रह्म से अभिन्न स्थिति मिल जाती है। महर्षि बाल्मीकि इसी नाम को जपते थे और इसी क्रिया-विशेष से ब्रह्म की स्थिति को प्राप्त किये थे। श्री परमहस महाराजजी द्वारा की गई व्याख्या को सुनकर डॉ वर्मा अत्यन्त प्रभावित हुए। परन्तु उसके साथ ही उनके मानस में यह प्रश्न खडा हो गया कि वाल्मीकि जैसे डाकू को (जो आये दिन हत्यायें किया करते थे) अजपा जैसे साधनात्मक प्रक्रिया की उच्च श्रेणी कैसे प्राप्त हो गयी? उनकी शका का निराकरण करते हुए महाराजजी ने बताया कि जिस समय वाल्मीकि जी को पूर्वजन्म के पुण्य के फलस्वरूप सुप्रसिद्ध महर्षि के दर्शन होते हैं, तत्काल वे अन्तर्जगत् से प्राप्त विशेषाधिकार द्वारा बाल्मीकि को अजपा की स्थिति प्रदान कर दिये, इसमे शका का कोई स्थान नहीं है। कारण कि चिरकाल से होता आया है। महापुरुष चाहे तो अपनी कृपा से किसी भी व्यक्ति को उत्तम रहनी प्रदान कर सकते है। श्री परमहस महाराजजी की अनुभूतिप्रद सरल वाणी को सुनकर डॉ वर्मा एव छात्रो की समस्त शकाओं का निर्मूल निराकरण हो गया।

डॉ साहब का समाधान हो गया। उनके विद्यार्थी ने कहा, "महाराजजी! डॉ साहब की शोध कबीर पर है।" महाराजजी ने कहा, "बडी अच्छी बात है, मुझे भी कुछ सुनाइये। हमलोगो को जगल में ऐसा कुछ देखने-सुनने का सयोग कहॉ बन पाता है? कबीर का ही कोई पद बताइये।" डॉ साहब ने यह पद सुनाया- **"काहे रे नलिनी तू कुम्हलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।"** थोडा सुनाकर वे सहसा बोल उठे, "महाराजजी, हमलोग सुनने के लिए आए हैं। हमने जो शोध किया वह मात्र बुद्धि विलास है। इससे मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ, न मन में शान्ति है। इसलिए आप सन्तों के दर्शनार्थ चित्रकूट आया हूँ। आप ही कुछ कहें।" उनके निवेदन पर महाराजजी ने उनकी रुचि के अनुसार सन्त कबीर का एक भजन उन्हें सुनाया-

का कही केसे कही को पतिआई, फुलवा को छुअत भॅवर मरि जाई।
गगन मण्डल महॅ फूल एक फूला, तर भौ डार ऊपर भौ मूला।।
जोतिये न बोइये सींचिये न सोई, बिनु डार बिनु पात फूल एक होई।
फूल भल फूलल मालिनी भल गॉथल, फुलवा बिनसि गयो भॅवर निरासल।
कहत कबीर सुनो सन्तों लोई, पण्डितजन फूल रहत लुभाई।।

इस पद का अर्थ बताते हुए महाराजजी ने कहा- हो! **'का कही'**--वह कहने मे नहीं आता। वह वाणी का विषय नहीं है, वह केवल अनुभवगम्य है। **'केसे कही'**--कहा किससे जाय? वह केवल अधिकारी के लिए है, सबके लिए नहीं है। **'गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।।'** **'को पतिआई'**--कौन विश्वास करेगा? केवल वाणी से कह देने मात्र से विश्वास भी नहीं कराया जा सकता। विश्वास तभी होता है जव भीतर से वह अनुभव में प्रगट हो जाये। यह वार्ता है क्या? तो **'फुलवा के छुअत भॅवर मरि जाई'**--सन्त कबीर ने उस परमात्मा को, उस अव्यक्त ब्रह्म को एक फूल की सज्ञा दी है। वह एक खुशबू है, जिसका ऐसा नशा है कि आदमी सदैव उसी में निमग्न रहता है। भौंरा जव फूल की खुशबू लेता है तो निमग्न हो जाता है, विभोर हो जाता

है। यहाँ कबीर ने उस परमतत्त्व को एक फूल की सज्ञा दी है क्योंकि उसका कोई आकार नहीं है। **'बिनु पग चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करै विधि नाना।।'**--वह बिना कान के सुनता है, बिना पैर के सर्वत्र चलता है, बिना हाथों के सभी कार्य करता है- ऐसे परमात्मा को सन्त कबीर ने एक फूल की सज्ञा दी। जहाँ उस फूल का स्पर्श किया, **'भँवर मरि जाई'**--विरही मन ही भौंरा है, उसका वही खोजी होता है, उसी के लिए मँडराता रहता है। लाखों वस्तुयें और वनस्पतियाँ क्यों न हों किन्तु जहाँ पुष्प होगा, भ्रमर को वही तृप्ति मिलती है। उसके समीप पहुँचते-पहुँचते विरही मन ने जहाँ उसका स्पर्श किया तो **'जानत तुम्हहि तुम्हहि होई जाई।।'**--भौंरा मर जाता है, सेवक सदा के लिए खो जाता है और स्वामी ही शेष बच जाता है। **'देखते-देखते क्या से क्या हो गया, कतरा दरिया में गिरा तो फना हो गया।'** बूँद दरिया में गिरी तो बूँद की सज्ञा मिट गई, दरिया ही शेष बच रहा। **'ईश्वर अंश जीव अविनाशी'**-जैसा वह परमात्मा है, वैसा ही उसका अश यह जीवात्मा है। जहाँ उस मूल का स्पर्श किया, तहाँ अश जो कम था उसकी सज्ञा मिट गई। और जो अधिक है वह परमात्मा ही शेष बचता है। यह जीवात्मा जहाँ उस मूल का स्पर्श कर जाता है उसी मे विलीन हो जाता है। अपने अन्तराल में उस परमचेतन को पा जाता है। चेतन उसमे प्रवाहित हो जाता है। मनरूपी भौंरा उसे छूते ही विलीन हो जाता है।

वह फूल होता कहाँ है? **'गगन मण्डल बिच फुल एक फूला, तर भौ डार ऊपर भौ मूला'**-आकाश कहते है शून्य को, आकाश कहते है पोल को। मन जब सकल्प-विकल्प से रहित शून्य मे टिकने की क्षमता पा जाता है तो उसका नाम चिदाकाश है। उस समय न भीतर किसी सकल्प का स्फुरण होता है और न बाह्य वायुमण्डल के सकल्प भीतर प्रवेश कर पाते हैं। इस निरोधावस्था को आकाश की पकड कहते है। साधक जब शून्य में प्रवेश पा जाता है तब उस फूल, उस परमात्मा की झाँकी (महक) देखने को मिलती है, इससे पहले नहीं। यहाँ तक तो साधन करना पडेगा। **'को अवकाश कि नभ बिनु पावइ'**--जब तक शून्य में टिकने की क्षमता प्राप्त नहीं होती तब तक किसी को शान्ति की प्राप्ति नहीं होती, निवृत्ति नहीं होती। सकल्प-विकल्पहीनता की उस दशा मे, **'फूल एक फूला'**--जहाँ अनेकता नहीं है, जो एक है, सर्वत्र है--उस परमात्मा की आभा विदित हो गयी। वह स्पष्ट हो गया-यही उस फूल का खिलना है और उसी परमात्मा का, **'तर भौ डार ऊपर भौ मूला'**--नीचे का भौ, भव कहते हैं ससार को। नीचे का ससार कीट-पतगपर्यन्त शाखा-प्रशाखा है और ऊपर का परमात्मा ससार का मूल है, जिसका वह स्पर्श पा रहा है। गीता में श्रीकृष्ण कहते है कि ससार एक वृक्ष है, **'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्त वेद स वेदवित्।।'** (१५/१) अर्जुन! ऊपर परमात्मा ही जिसका मूल है और नीचे प्रकृति ही जिसकी शाखाएँ हैं, ऐसा यह ससार पीपल (अश्वत्थ) का एक वृक्ष है। वेद जिसके पत्ते कहे गये है। जो इस ससार-वृक्ष को ऊर्ध्वमूल सहित जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है, वेदवित् है। जिसने भी मूल का स्पर्श किया, वेद का ज्ञाता हो गया। अर्थात् वेद कोई पुस्तक नहीं है कि कोई भी खरीदकर पढ ले। यदि वेद कोई पुस्तक है तो वह पुरुषों की लिखी होगी, प्रेस मे छपी होगी, अपौरुषेय कैसे? साधन की सही दिशा में चलने पर वह प्रभु अपनी जानकारी देने लगता है, वही वेद है। वह वेद परमात्मा ही पढाता है, तभी पढने में आता है। उसकी वाणी से, इष्ट की वाणी से जो पढता है वह वेद का ज्ञाता है। यही कारण है कि हर

प्राप्तिवाले महापुरुष के जीवन-वृत्त में आप ऐसा पायेंगे कि भगवान ने ऐसा कहा, भगवान ने यह किया, परमात्मा ने आकाशवाणी दी, उठाया, बैठाया, चेताया, सावधान किया, मना किया इत्यादि। उन परमात्मा के श्रीमुख से अन्त में शाश्वत का जो बोध निकलता है वही वेद कहलाता है। आज भी कोई वेदवित् होगा तो उन्हीं के पढाने से होगा।

दुनिया में फूल के लिए खेत जोत-गोंडकर तैयारी की जाती है किन्तु इस अध्यात्म-पथ में ऐसा कुछ नहीं है। इस फुलवारी में फूलों की कतार लगी हो ऐसा भी कुछ नहीं है। **'जोतिये न बोइये सींचिये न सोई, बिनु डार बिनु पात फूल एक होई।'** केवल एक फूल खिलता है, वह भी तब, जब मोह-माया के सभी रिश्ते समाप्त हो जायें, प्रकृति का एक भी डार-पात न रह जाय।

"फूल भल फुलल मालिन भल गाँथल, फुलवा बिनसि गयो भँवर निरासल।" भल अर्थात् विलक्षण, विचित्र फूल खिला और **"मालिन भल गॉथल"** इष्टोन्मुखी मानसिक प्रवृत्ति ही मालिन है, इसने अपने में भली प्रकार गूँथ लिया, उस परमात्मा को अपने में भली प्रकार सँजो लिया और भली प्रकार अपने में सँजोते ही **"फुलवा बिनसि गयो भँवर निरासल"**- जिस परमात्मा के लिए आप लालायित थे, स्पर्श के साथ उसका अलग अस्तित्व समाप्त हो गया। वह आपके ही स्वरूप में प्रवाहित हो गया, एकाकार एकत्व प्राप्त हो गया। वह आपसे अलग नहीं रह गया। यदि वह अलग है तो अभी खोज शेष है, अभी खोज पूरी कहाँ हुई? मानसिक लव के द्वारा भली प्रकार अपने में गूँथ लेने के साथ ही बाहर उसका स्वरूप समाप्त हो गया। अभिन्न और अद्वैत की स्थिति प्राप्त हो गयी। **'भँवर निरासल'**--मन जो भौंरा था, निराश हो गया। एक तो उसकी दौड समाप्त हो गयी, उसे कुछ करने को शेष न रहा, दूसरे वह आशाओ से सदा-सदा के लिए निवृत्त होकर छुटकारा पा गया।

इस फूल के ग्राहक कौन हैं? कवीर कहते हैं, **'सुनो सन्तो लोई'**-साधारण सन्त नहीं, 'लोई'-जो लव को लगाने वाले हैं। लगनधारी सन्तो! सुनो, विरही सन्तो! सुनो। जिसमें विरह-वैराग्य हो, अनवरत तडपन हो, सतत् लव को लगाने वाले सन्तो! सुनो। **'पण्डित जन फूल रहत लुभाई'**-पण्डित कौन? पण्डित वह है जो साधन-पथ की जानकारी रखते हैं। चिन्तन-पथ के चार सोपान हैं, उनमें से अन्तिम सोपान है पण्डित। वे पण्डितजन इस पुष्परूपी परमात्मा की कामना करते हैं।

ज्योंही भजन का अर्थ समाप्त हुआ, डॉ. साहब ने कहा, "महाराजजी! कथनी और करनी में वडा अन्तर है। हमलोग सोचते थे कि हमीं तत्त्वज्ञाता हैं किन्तु आज समझ में आया कि तत्त्व कुछ और ही है। हमलोग तो केवल वौद्धिक उड़ान भरा करते हैं, **'जिमि निज बल अनुरूप ते माछी उड़े अकास'**-आज लगा कि यह साधनगम्य है, क्रियात्मक पथ है। कृपया हमे साधन-क्रम वताया जाय जिसे करने से हमारा कल्याण हो।"

महाराजजी ने कहा, "हो! साधन एकान्त की वस्तु है, सचमुच ही कुछ करने-धरनेवाली वस्तु पूछना हो तो कभी समय दें। इसके वाद कार्यक्रमानुसार अनुसुइया के दर्शनीय स्थानों को देखते हुए डॉ वर्मा अपने साथियों सहित वापस चले गये।

एक शिष्य (अखण्डानन्दजी) का प्रवेश

एक ब्राह्मण लगभग चालीस वर्ष से साधु-वेश में लक्ष्यप्राप्ति की उत्कण्ठा से यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए एक बार अनुसुइया पहुँचे। पूज्य महाराजजी के विषय में चित्रकूट में ही उन्हें जानकारी हो गयी थी। अतः उसी आधार पर सशंकित मन से आकर दर्शन किये। दर्शनोपरान्त महाराजजी मे आस्था बढ गयी। परन्तु कर्मकाण्डी ब्राह्मण होने के कारण बीस दिनों तक अलग एक मन्दिर में निवास करते रहे और साथ ही यह सोचते रहे कि महाराजजी महापुरुष हैं पर उनकी जाति क्या है? यदि ब्राह्मण आदि किसी ऊँची जाति के होते तो मैं अपने आपको उनके चरणों में अर्पित कर देता। विचरण करते हुए आज इतना समय बीत गया परन्तु लक्ष्य के विषय में कुछ भी आभास नहीं मिला।

यद्यपि उन्हे मालूम हो गया कि परमहसजी एक महापुरुष हैं लेकिन ब्राह्मण होने से लोक-प्रचलित रूढिगत सकीर्णता मस्तिष्क में छायी हुई थी। अत. प्रबल भाव होने पर भी बीस दिन उनको अलग रहना पडा। सद्विद्या के प्रबल जिज्ञासु उन सज्जन को बीसवें दिन स्वप्न में दिखाई पडा कि परमहसजी ब्रह्मस्वरूप शुद्ध संन्यास की स्थिति में हैं। दौडकर स्वप्न में ही प्रणाम किये। तब महाराजजी ने अपनाने का आश्वासन देते हुए कृपायुक्त वाणी द्वारा उनकी पूर्व शकाओं का निराकरण किया और साथ ही भावी पथ की दिशा का सकेत किये। निद्रा भग होते ही वे तत्काल महाराजजी के पास आत्म-समर्पण की भावना से पहुँचे। अन्तर्यामी महापुरुष उनके मनोगत विचारो को पकडते हुए बोले कि भाई हमारी जाति तो बहुत ही खराब है- **माई धोबिन बाप चमार। ताकर जनमल हम बनवार।।**

अब वे निष्कपट भाव से बोले, "महाराजजी आज बीस दिन से निरन्तर मैं आपकी जाति के विषय में सोचता रहा हूँ परन्तु आज कृपा-प्रसाद मिल गया। मैंने आपको परमार्थ के शुद्ध स्वरूप में देखा है। अब आप कुछ भी हो, मेरे लिए महान आत्मा हैं। भगवन्! दया करके आप मेरा पथ-प्रदर्शन करें। सर्वप्रथम तो उस कविता की पक्ति पर प्रकाश डाले जो कि अभी श्रीमुख से निकली है, जिससे मेरी भ्रान्ति का मूलोच्छेदन हो सके।"

जब महाराजजी ने देख लिया कि यह मन-वचन-कर्म से साधन में लगनेवाला है, महाराजजी को सकेत मिला कि यह ठीक है, तब आपने कहा, "भाई! बाह्य जन्म तो माता-पिता से होता है किन्तु यह सब स्थूल पिण्ड के जन्मदाता हैं, स्वरूप के नहीं। स्वरूप के आविर्भाव के लिए तो ध्यान ही धोबिन है, जिसके द्वारा जन्म-जन्मान्तरों का मल साफ हो जाता है और गति मिलती है। यह चित्त ही चमार है, चमडी में आसक्ति रखनेवाला है। जैसी आसक्ति है भविष्य में वैसा ही चमडा मिलने वाला है। जड-चेतन, जगम-स्थावर वही आकार दिलाता रहता है। जब यह चित्त सब ओर से सिमटकर ध्यान में तद्रूप हो जाता है, ध्यानस्थ हो जाता है, एक तीसरी वस्तु ब्रह्म का प्रादुर्भाव होता है, वही हमारा स्वरूप है। वही आत्मदर्शन की चरमोत्कृष्ट स्थिति है। 'ताकर जनमल हम बनवार'- अनन्त जीवधारियों की खानि इस जगत् का द्वन्द्व एक जगल है। हम इस ससाररूपी बीहड (जंगल) में फँसे हुए नहीं बल्कि इसके सचालक हैं। दूसरे शब्दो मे, वही सद्गुरु है क्योंकि ब्रह्म की स्थिति में लेशमात्र भी अन्तर नहीं पडता। यही कारण है कि मुमुक्षु सर्वस्व

त्यागकर अथक परिश्रम करता है। वह सबके हृदय में प्रसुप्त है परन्तु ध्यान विना उसका दिखाई देना असभव है। जब चित्त ध्यान के द्वारा पूर्णतया मिट जाता है तो वही सत्ता चेतन ब्रह्म प्रत्यक्ष हो जाता है। अत साधन-क्रम को समझकर कुछ काल बाद एक महापुरुष के रूप में परिवर्तित हो गये। तत्पश्चात् आप अवध के पास पूज्य गुरुदेवजी ने जहॉ चातुर्मास किया था, उस मधवापुर ग्राम्याचल में रमण करने लगे। पूर्व में तो वह जगल था परन्तु आज यह आश्रम श्री परमहस आश्रम मधवापुर (गोंडा) के रूप में आबाद है।

श्री भगवानानन्दजी का प्रवेश

कुछ दिनोपरान्त सायकाल एक दुबला-पतला युवक महाराजजी के पास आया। महाराजजी ने पूछा, "कहॉ घर है?" वह बोला, "भगवन्! कानपुर।" महाराजजी बोले, "हूँ, कानपुरिया तो पक्का ठग होता है। अच्छा कुछ खाये हो?" वह बोला, "नहीं महाराजजी!" महाराजजी ने चने के आटे का दो टिक्कड नमक-मिर्च सहित दिलाया और कहा-"जाओ गगा किनारे बैठकर खा लो।" वह युवक टिक्कड लेकर मन्दाकिनी गगा के किनारे चला गया। वे थे श्री भगवानानन्द जी!

दिनभर की भूख के अनन्तर वह चने का टिक्कड बडा अच्छा लगा। नीरव शान्ति के उस साम्राज्य में ऐसा मन रमा कि वह सोचन लगे, "यदि दो टिक्कड मिलते रहते तो आजीवन महाराजजी की सेवा करते। ससार के शोरगुल और छल-प्रपच से दूर इस तपोभूमि मे महाराजजी का सान्निध्य क्या प्राप्त हो सकेगा?"

इधर महाराजजी शिष्यों को बता रहे थे कि यह कानपुरी सोच रहा है कि दो टिक्कड मिलते रहते तो यहीं सेवा करते। है तो यह भड्डरी लेकिन इसकी खोपडी विचित्र है। यह सेवा मे रहने योग्य है। अखण्डानन्दजी ने कहा, "महाराजजी! यह सुकुमार जाति का बनिया बालक है, जगल में रह नहीं सकेगा।" महाराजजी ने कहा, "नहीं रे! अद्भुत है यह।" और इस प्रकार स्वामीजी को प्रवेश मिल गया।

स्वामीजी को खोजते-खोजते साठ-पैंसठ लोग कानपुर के सिकटियापुरवा से आश्रम में आ गये। स्वामीजी की पत्नी एव माताजी भी महाराजजी के समक्ष हाथ जोडकर बैठ गयीं। सभी लोग स्वामीजी को घर लौटने के लिए महाराजजी से आग्रह करने लगे।

महाराजजी ने स्वामीजी को समझाया कि तुम और तुम्हारी पत्नी के बीच एक आत्मा भटक रही है। इस जन्म में ही उसे लाने का माध्यम बन जाओ अन्यथा इसी के लिए एक जन्म और लेना पडेगा। वह लडका तुम्हारी पत्नी के लिए भी एक सहारा बन जायेगा। उनके निर्वाह के लिए कुछ खेत का प्रबन्ध करके पुन चले आना। इससे घर वालो को भी सतोष होगा। गुरुदेवजी का आदेश मानकर स्वामीजी लौटना तो चाहते थे किन्तु उन्हें अपशकुन निरन्तर हो रहा था। कर्वी में उनकी भेंट कुलानन्द जी (सच्चा बाबा) से हुई। वे भी प्राय अनुसुइया आते-जाते थे। कुलानन्दजी ने भी घर जाने और पुत्रप्राप्ति के अनन्तर लौट आने का परामर्श दिया। स्वामीजी अभी नये तो थे ही, उनकी बातों में आ गये और घर चले गये।

एक वर्ष के भीतर ही स्वामीजी को एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हो गयी। खेत इत्यादि की व्यवस्था

भी सहज ही हो गई किन्तु स्वामीजी घर पर भी ध्यान और चिन्तन में बैठते थे।

पुत्रप्राप्ति के पश्चात् पत्नी भी स्वामी जी से प्रगल्भ हो चली थी। उसने समझ लिया कि पुत्रप्राप्ति के पश्चात् अब यह कहीं जानेवाले नहीं हैं। पुत्र जितना मुझे प्रिय है उतना ही इन्हें भी तो होगा। उसने विनोद में उन्हें 'स्वामीजी, स्वामीजी' कहना आरंभ कर दिया। वह कहती- स्वामीजी हाथ धो ले! स्वामीजी भोजन कर लें! स्वामी जलपान कर लें। उसका व्यंग्य तीर की तरह चुभता और वे प्रतीक्षा करने लगे महाराजजी के आदेश की।

उसी रात स्वामीजी को अनुभव में दिखाई पड़ा कि महाराजजी ने उनके लिए एक विमान भेजा है, जिसपर बैठकर वे अनुसुइया पहुँचे हैं। चैतन्य होने पर भगवानानन्द जी ने उसी समय गृह-त्याग का निश्चय कर लिया। उनके साथी दूसरी मजिल की कोठरी में सो रहे थे। स्वामीजी ने बाहर से उनके दरवाजे की सॉकल चढा दी, जिससे वे पीछे लगकर बाधक न बन सकें। ऊबड-खाबड रास्ते से पाण्डव नदी को पार करते हुए स्वामी जी रातभर में बीस मील निकल आये और तीसरे दिन अनुसुइया पहुँच गये।

ज्योंही स्वामीजी ने घर से प्रस्थान किया, महाराजजी को इसके संकेत मिलने लगे। तीसरे दिन उन्होने अखण्डानन्द जी से कहा, "हो! वह कानपुरी चला आ रहा है।" अखण्डानन्द जी ने कहा, "महाराजजी! सालभर तो हो गया, अब वह क्या आयेगा।" महाराजजी बोले, "नहीं हो वह चला आ रहा है। अब वह काफी समीप आया लगता है।" लोग सोच रहे थे कि रात के नौ बजे अब इस बीहड जगल में कौन आयेगा? महाराजजी यों ही कह रहे हैं। तब तक घाट पर किसी व्यक्ति के हाथ-मुँह धोने की आहट सुनाई पडी। महाराजजी ने अन्धेरे में कहा, "लो वह आ गया कानपुरिया, घाट पर!" समीप आने पर सबने आश्चर्य से देखा और पाया कि वही सज्जन थे। सादर गुरु महाराजजी को साष्टाग दण्डवत् किया।

महाराजजी ने पूछा, "सबसे पूछकर आये हो?" स्वामीजी ने बताया, "जी महाराजजी! सबने मुझे स्वामीजी कहना आरम्भ कर दिया तो मैंने यह समझ लिया कि वे अब मुझे उसी वेश में देखना चाहते हैं। तभी आपका आदेश मिला और हम चल पडे।"

स्वामी भगवानानन्दजी की सेवा सराहनीय थी। उनसे पहले आश्रम में प्रवेश पानेवाले सभी साधकों तथा महाराजजी की साधन-भजन की अनुकूल व्यवस्था बनाये रखना वे अपना दायित्व समझते थे। यही स्वामीजी का भजन बन गया।

दुर्गम पथ होने के कारण अनुसुइया आश्रम तक पहले आने-जाने की कोई सुविधा नहीं थी। विशेष भाविक एवं श्रद्धालु व्यक्ति ही पैदल चलकर यहाँ आया-जाया करते थे परन्तु कुछ वर्षो के उपरान्त यात्रियों की सुविधा के लिए सडक का निर्माण हो गया। अब वहाँ चार-छ सवारी गाडियों के पहुँच जाने से सदैव भीड बनी रहती है। महाराजजी ने एक दिन हँसते हुए कहा कि एकान्त समझकर भजन के लिए यहाँ रमे थे लेकिन भीडभाड होने के कारण वातावरण कोलाहलपूर्ण हो गया है। यह सुनकर समीप में बैठे हुए शिष्य श्री भगवानानन्दजी बोल पडे कि महाराजजी, आप कहीं एकान्त में रहें, हमलोग आश्रमीय व्यवस्था देख लेंगे। आपने यह सुनकर मुस्कराते हुए कहा, "अरे! यह तो हमारी गद्दी लेना चाहता है।" श्री भगवानानन्दजी नतमस्तक होकर क्षमायाचना



परमहस-आश्रम-स्थानासीन श्रद्धेय श्री भगवानान्द जी महाराज

करने लगे। परन्तु महापुरुषो के श्रीमुख से नि सृत वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। वह कालान्तर में सत्य हुई और वे वर्तमान समय मे गद्दी पर विद्यमान हैं।

अनुसुइया आश्रम के पूर्व आप वनारस के पास भागीरथी के पावन कूल पर स्थित श्री परमहस आश्रम जगतानन्द में निवास करते थे। आपकी विद्वता और साधुता के प्रभाव से जनमानस में शान्ति और सन्तोष का सचार होने लगा था परन्तु आपकी इच्छा न होने पर भी बरबस आपको श्री सद्गुरुदेव भगवान की प्रेरणा एव श्री स्वामी धारकुण्डी महाराजजी की आज्ञा से परमहस आश्रम अनुसुइया का कार्यभार सँभालना पडा। श्री परमहस महाराजजी अपने उपदेशों में कहा करते थे कि आश्रमों का कोई महत्त्व नहीं है। जव हृदय में महापुरुषत्व की उपलब्धि हो जाती है तो बाहर चाहे जहॉ वैठे रहें कोई अन्तर नहीं पडता। श्री भगवानानन्दजी महाराजजी की छत्रछाया में अनुसुइया आश्रम का कार्य सुचारु रूप से चल रहा है एव क्षेत्रीय जनता में उनके प्रति प्रगाढ श्रद्धा है।

स्वयमानन्दजी का आगमन

कुछ ही महीनों के अन्तराल से स्वयमानन्द नाम के एक साधु महाराजजी की सेवा में आ गये। स्वयमानन्दजी उडीसा के ब्राह्मण थे। पौरोहित्य पारिवारिक परिवेश मे था। सस्कृत, हिन्दी, अग्रेजी, उडिया, वगला इत्यादि कई भाषाओं पर उनका अधिकार था। सस्कृत तो वे धाराप्रवाह बोलते थे। उन्होने वी ए तक की शिक्षा प्राप्त की थी। वेद, उपनिषद इत्यादि धार्मिक ग्रन्थों में उनकी गहरी आस्था थी। वर्ण-व्यवस्था के सर्वोच्च शिखरस्थ ब्राह्मण के लिए मुक्ति प्राप्त करना वे जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे।

महाराजजी महापुरुष थे। अत्यधिक पढे-लिखे इस व्यक्ति के लिए भी महाराजजी के मन में अपार दया थी। उन्होंने क्रमश· आध्यात्मिक उन्नयन के सोपानो पर उनका आरोहण कराया किन्तु महाराजजी द्वारा इस प्रकार उन्नत सोपानो पर चढाया जाना भी उन शास्त्राभिमानी महात्मा को सह्य नहीं था। महाराजजी कहा करें, "हो! एकाध ऐसा भी रहना चाहिए।" पूर्वाग्रहो से ग्रस्त होते हुए भी स्वयमानन्दजी महाराजजी के प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे। उनका अधिकाश समय अनुसुइया में वीता और १९९७ ई० के आरभिक महीनो मे अनुसुइया मे ही तिरोभाव हो गया। उन्होंने 'अवधूतोल्लास' नामक एक पुस्तिका की भी रचना की।

स्वामी शिवानन्दजी

स्वयमानन्द जी के अनन्तर शिवानन्दजी को महाराजजी का सान्निध्य मिला। वे जटाधारी महात्मा के रूप मे आश्रम मे आए। कमर तक उनकी घनी जटाएँ भली प्रतीत हो रही थीं। ठिगने कद के वे महात्मा खडाऊँ पहने, हाथ में लम्वा त्रिशूल लिए बडे ताव से चला करते थे। वे महाराजजी के समक्ष आये और दण्ड-प्रणाम करके बैठ गये। महाराजजी ने पूछा, "क्यो, कहॉ के रहने वाले हो?" वे वोले, "बद्रीनारायण से आ रहा हूँ।" "नानी के आगे ननिहाल का वखान--इस शरीर का जन्म कहॉ हुआ था?"--महाराजजी ने डपटकर पूछा। वे वोले, "जी यहीं हमीरपुर में।" महाराजजी ने पूछा, "यह इतना वडा त्रिशूल लिये क्यो घूम रहे हो? त्रिशूल का अर्थ भी जानते

हो? सत्-रज-तम ये तीनों गुण ही तीन शूल हे। जो इन शूलों से ऊपर उठ गया हो वही त्रिशूल धारण करने का अधिकारी है किन्तु हे हृदय की स्थिति का चित्रण। जटा फकिरऊ बाकी सब गिरस्तऊ! तेरे पास यह कैसे आ गया?" उन्होने कहा, "जी! परिवार मे लोहे के ओजार बनाने की कला थी, उसी से मैने भी यह त्रिशूल बना लिया। रही गुणों से ऊपर उठने की बात तो उससे ऊपर उठने के लिए ही तो तीर्थो का भ्रमण कर रहा हूँ।" महाराजजी को सगुन मिला तो बोले, "हूँ! ला त्रिशूल।" आपने त्रिशूल लिया और धूनी में गाड दिया। शुरू में तो महाराजजी ने विनोद मे ही वह त्रिशूल गाड दिया था, बाद में पण्डितों ने मत्रोच्चारण द्वारा विधिवत् त्रिशूल स्थापना कर दिया, जो आज श्री परमहस आश्रम के उद्देश्य का बोध कराता है।

रात्रि मे महाराजजी को उनके सम्बन्ध में एक अनुभव दिखाई पडा। प्रात. वे उन महात्मा से बोले, "देखो, तुम किसी पूर्वजन्म में मेरे सगी-साथी के रूप में रह चुके हो, मेरी सेवा करो, तेरा कल्याण इसी में है। भ्रमण का फल तुझे मिल गया है-

तीरथ गये एक फल, सन्त मिले फल चारि।
सद्गुरु मिले अनन्त फल, कहैं कबीर विचारि।।

अब अकारण की भाग-दौड़ मत करो।" वे महात्मा मुस्कराये और महाराजजी की सेवा में लग गये। अब उनका निवास भरुआ-सुमेरपुर में है। वे बड़े ही शान्त महात्मा हैं। महाराजजी विनोद मे कहा करें, "कल का जोगी घुटने तक जटा- कैसा वेश बनाकर घूम रहा था। अब ठीक है। अहर्निश एक करके तुम भजन किया करो सब प्राप्त कर लोगे।"

बग्गड़ बाबा

बग्गड का जन्म बिहार राज्य में हुआ था। वे कहार परिवार में पैदा हुए थे। कलकत्ता में वे पल्लेदारी का कार्य करते थे। आयु बीस-बाईस के करीब थी। उन्हीं दिनों उन्होंने कलकत्ता में एक चलचित्र देखा, जिसमे भक्त प्रह्लाद के जीवन को दृश्याकित किया गया था। प्रह्लाद को अग्नि में जलाया गया, विविध यातनाएँ दी गई फिर भी भक्ति के प्रभाव से प्रह्लाद का बाल भी बॉका नहीं हुआ और न उनकी भक्ति में कोई कमी आई। उन दृश्यों को देखकर बग्गड में इतना अनुराग पैदा हुआ कि वे इस कार्य को छोडकर हरि-दर्शन की लालसा से अनुसुइया जा पहुँचे।

बग्गड बहुत निर्भीक थे। न जाने कब किस रास्ते से निकलकर सिद्धबाबा के उसी तख्त पर जा बैठे जिस पर आरभ मे महाराज जी बैठे थे। रात्रि के नौ बजे उस तख्त से आवाज आयी, "तू यहॉ बैठने लायक नहीं है। नीचे जा और शकरजी की सेवा कर।" दूसरे दिन भी यही आवृत्ति हुई। तीसरे दिन एक स्वरूप प्रगट हुआ जिसने उन्हे सीढियो पर ढकेल दिया और कहा, "भाग यहॉ से। हमने कितनी बार कहा कि नीचे जाकर शकरजी की सेवा कर, जिसमें तेरा कल्याण है। यहॉ क्या पडा है?" सीढियों से गिरते-पडते बग्गड नीचे आ गये।

रात्रि के दस बज चुके थे। महाराजजी ने साधकों से कहा, "लगता है कोई आ रहा है, वह बहुत घबडाया लगता है।" उस जमाने में रात्रि नौ बजे आदमी का अनुसुइया पहुँचना किसी आश्चर्य से कम नहीं था। घने जगल मे शाम तीन बजे के बाद ही जाने की हिम्मत नहीं पडती

थी। उस समय तो नौ बज रहे थे। लोग सोचने लगे, महाराजजी यों ही कह रहे होगे। इस समय कोई क्यों आयेगा? जबकि महाराजजी को निरन्तर सकेत मिल रहा था कि कोई डरा हुआ चला आ रहा है। तब तक वह शकरजी के चबूतरे पर गिरा धडाम! वह चींखता जा रहा था-दैत्य! दैत्य!

शकरजी का चबूतरा आश्रम से सटा हुआ था। महाराजजी ने कहा, "देख यह आया। इसे सभालो। कहाँ का दैत्य है?" आदेश मिलते ही एक सन्त तुरन्त दौडकर गये। उसे झकझोर कर वह बोले, "यह आश्रम है, यहाँ कोई दैत्य नहीं है।" किन्तु उसको तो सनक सवार हो गयी थी, 'दैत्य-दैत्य' ही बकता रहा। स्वामीजी ने कहा, "महाराजजी, यह तो कुछ सुनता ही नहीं, दैत्य-दैत्य की रट लगाये हुए है।" महाराजजी बिगडे, "इस दैत्य को चार डण्डे लगाओ।" जहाँ मारने की बात आई तहाँ उसकी जडता दूर हो गयी, चेतना लौट आई। वह बोला, "महाराजजी! सिद्धबाबा ने हमें मारा। वे अभी खडे थे, न जाने कहाँ चले गये?"

महाराजजी ने पूछा, "सिद्धबाबा ने क्यो मारा? उन्होंने कुछ कहा भी?" उसने कहा, "हाँ महाराजजी! सिद्धबाबा ने कहा कि नीचे जाकर शकरजी की सेवा कर। तुम्हारा कल्याण उसी में है।" महाराजजी ने कहा, "तो मै ही हूँ शकरजी! ले यह कढाई माँजकर ला, कर सेवा।"

बग्गड बाबा अच्छे सेवक सिद्ध हुए। सफाई एव स्वच्छता उनके स्वभाव का अग था। वे भजन करते रहे। थोडे ही समय में बग्गड को अनुभव जागृत हो गया। दो-तीन वर्षों तक उन्होंने आश्रम की अच्छी सेवा की और विचरण में निकल गये। घूम-फिरकर उनका अन्तिम निवास बेधक के घोर जगलो में शेरों की कन्दराओं के समीप था।

सिकटिया पुरवा के भक्त

अपने लगभग एक वर्ष के गृह-निवास की अवधि में भगवानानन्दजी ने कई साथियों में भजन का बीजारोपण भली-भाँति कर दिया था। गाँव के हमउम्र लोगों मे वे बडे प्रिय थे। वृद्ध लोग तो उनकी कहानियों पर लट्टू थे। वे इतने अच्छे किस्सागो थे कि लोग मनोरजन के अन्य साधनों की उपेक्षा कर उनकी कहानियाँ सुनना पसन्द करते थे। उनकी कथोपकथन शैली पर गाँव का गाँव झूम जाता था। जब वे पुन अनुसुइया आये तो उनके भजन वाले वे साथी भी पता लगाते अनुसुइया आ गये और महाराजजी से उन्होंने भी निवदेन किया कि उन्हें लौटाया न जाय। उन लोगों ने भी भजन करने का अपना दृढ निश्चय सुनाया। श्री शरणार्थी स्वामी, महादेवानन्द, बशी स्वामी इत्यादि उन्हीं भक्तों में से थे। वे महाराजजी की शरण में आये, बडी लगन से साधना में अनुरक्त हो भगवत्पथ के पथिक हो गये। कुछ लोग और आये।

महाराजजी तीन महीने तक उनलोगो को भगाते ही रह गये किन्तु वे लौटने का नाम ही नहीं लेते थे। वे जगल से लकडी लाते और आँख मूँदकर भजन-ध्यान भी करते किन्तु महाराजजी ने कहा कि तुमलोगों में से किसी का भी सस्कार साधु होने का नहीं है। उनमें से एक को इगित कर महाराजजी ने कहा कि इस नाम का संस्कार तो है किन्तु यह व्यक्ति नहीं है। उसे भी सद्गृहस्थ आश्रम में रहकर भजन करने का आदेश दिया और कहा कि शरीर से कहीं भी रहो, मन से आते-जाते रहना। उसे भी घर भेज दिया।

मेरा प्रवेश

महाराजजी उपर्युक्त नामधारी व्यक्ति की प्रतीक्षा में थे कि लगभग दो वर्ष पश्चात् मेरे अनुसुइया पहुँचने पर महाराजजी को अनुभव में आया कि एक साँवला-सा लडका एक नदी के किनारे बैठा हुआ जोरो से रो रहा है। वह पार जाना चाहता है लेकिन कुछ जानता नहीं। नदी में भयकर वेग है। उसी समय महाराजजी पास जाते हैं। वे उस बालक को धैर्य बँधाते हुए कहते हैं, "रो क्यों रहो हो, पार जाना है? तू इस प्रकार तैर, मैं खडे होकर तुम्हें देख रहा हूँ।" उसने तैरना शुरू कर दिया। जब वह भली प्रकार चार-छः हाथ तैर चला तो महाराजजी ने उसे प्रोत्साहित करते हुए कहा, "हाँ इसी प्रकार तैरते रहो। घबड़ाना नहीं, मैं देख रहा हूँ। तैरकर उस पार हो जा।"

इस अनुभव के सन्दर्भ में महाराजजी ने विचार किया तो उन्हें लगा कि कोई अधिकारी है जो भवसागर से पार तो जाना चाहता है किन्तु साधन-क्रम के विषय में बिल्कुल नहीं जानता। बताने पर उसने साधन तुरन्त पकड लिया। अत महाराजजी प्रतीक्षा में थे कि आज कोई साधक आनेवाला है, जिसे हमें साधन बताना है।

उसी दिन चित्रकूट के एक पण्डे के नौकर के साथ हम अनुसुइया आये थे। वह हमें पहले अनुसुइया मन्दिर मे ले गया। उसने बताया, "यही है महासती अनुसुइया का मन्दिर।" हमने एक काली-सी मूर्ति का दर्शन किया। मूर्ति के ऊपर कोई वस्त्र भी नहीं था। उस मन्दिर के किवाड टूट चले थे। वहाँ कोई पुजारी भी नहीं था। हमने मूर्ति को प्रणाम किया और लौट पड़े। नौकर ने बताया कि यहाँ एक महात्मा परमहस बाबा रहते हैं। आपकी इच्छा हो तो जाकर उनके दर्शन कर लें।

महात्मा के प्रति मेरी श्रद्धा बचपन से ही रही है। अत. मैंने स्वय जाकर उन तपोधन का दर्शन किया। ऋषिकेश, हरिद्वार, पजाब और चित्रकूट में जितने महात्माओ के सान्निध्य में मैं आया था, महाराजजी उन सबसे अच्छे लगे। घोर जगल का उनका निवास, उनकी बोली, भाषा, प्रसन्न मुद्रा सब कुछ बहुत अच्छा लगा। उनके प्रति मेरा लगभग झुकाव-सा हो गया कि इनसे भजन की विधि सीखकर आगे बढ जायेंगे, क्योंकि भजन तो मुझे करना है। भजन मे गुरु के हाथ में यत्र बनकर रहा जाता है, इसका मुझे भान भी नहीं था।

हमने उनसे कहा, "महाराजजी कल मैं पुन आपका दर्शन करूँगा। आज नौकर साथ में है, कल मैं अकेला आऊँगा।" दूसरे दिन मैं पुन स्वय ही अनुसुइया जा पहुँचा। सादर दण्ड-प्रणाम कर एक ओर बैठते ही महाराजजी ने पूछा, "क्यों साधु तो नहीं होना है?" मैं सावधान हो गया। यदि मैं कहूँ कि 'हाँ होना है' तो कदाचित् मुझे किन्हीं रुढ़ियों में उलझा न दें। साधु तो मुझे होना था किन्तु श्रद्धा होते हुए भी मन में कुतर्क था कि जैसा महापुरुष को होना चाहिए, वैसा ये हैं भी कि नहीं। झूठ बोलने में पाप लगता था तो सच बोलने में फँसाव था। अतः कुछ गोलमाल ही बोल सका, "महाराजजी। कोई कह तो नहीं सकता कि मैं साधु बनूँगा।" इस प्रकार कहकर मैं चुप हो गया और धीरे से एक ओर चला गया कि पुन कुछ न पूछ बैठें।

महाराजजी ने अन्य साधकों से कहा, "देख रहे हो, यह अब भी कवई काटत है (अर्थात् पैंतरा बदल रहा है)। मैं देखे हूँ, एके यहीं रहे का है। हो, भगवान मोके बताये हैं।" उस समय मुझे क्षेत्रीय हिन्दी के शब्द 'कवई' का ज्ञान नहीं था। यह तो बाद में पता चला कि उस दिन महाराजजी ने हमें ही लक्ष्य कर यह सब कहा था। आरभ में महाराजजी की भाषा मेरी समझ में नहीं आती थी। मैं कुछ तो उनका आशय समझ लेता किन्तु वे मेरी भाषा नहीं समझ पाते थे। ब्रह्मचारीजी को महाराजजी ने बुला भेजा, जिन्हें गॉव के लोग खीर खिलाने ले गये थे। उनके आने पर महाराजजी ने निर्देश दिया, "इसे समझा, यह मेरी भाषा नहीं समझता।"

श्री ब्रह्मचारी जी के प्रति महाराजजी ने बताया था कि वे बडे अच्छे साधक हैं इसलिए उन्हें बुलाया है। उनकी प्रशसा सुन मैंने उनके प्रति अच्छे साधु की कल्पना कर डाली थी किन्तु जव वे अच्छे किस्म की रोयेदार तौलिया कन्धे पर रखकर आए तो मेरी कल्पना को किचित् ठेस लगी। फिर भी हमने हाथ जोडकर उन्हें प्रणाम कर लिया।

महाराजजी के निर्देशन और ब्रह्मचारीजी के स्नेह साहचर्य से मैं अनुसुइया आश्रम में निवास करने लगा। दो-ढाई महीने के अनन्तर मेरे सर्वांग में स्पन्दन-स्फुरण आरभ हो गया। मुझे लगा जैसे कोई रोग हो गया। हमने अग फड़कने की चर्चा चिन्तित हो महाराजजी से की तो वे हॅसने लगे। उन्होंने कहा, "बेटा! क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की लडाई अब शुरू हो गयी। राम-रावण का युद्ध शुरू हो गया है। अब रावण मर जाई, राम का राज्याभिषेक होई तभी यह बन्द होगा, बीच में इसे बन्द करने का कोई उपाय नहीं है।" आरभ में तो मुझे इन फडकनों तथा अनुभवों का कुछ भी अर्थ समझ में नहीं आता था किन्तु क्रमश महाराजजी ने विभिन्न फडकनो का अर्थ बताया जो निर्देशन के रूप में सत्य प्रमाणित होने लगे, तभी से श्रद्धा स्थिर हो गयी और यह विज्ञान समझ में आने लगा।

महाराजजी ने मुझे बताया कि शास्त्रों में ब्राह्मण तत्त्वदर्शी का रूप है। "कर पुस्तक दुइ विप्र प्रवीना"- पार्वती को स्वप्न में दो विप्र दिखाई पडे थे, उन्होने भजन का निर्देश दिया। स्वप्न-सकेतों के अनुसार तपस्या की, शकरजी प्राप्त हुए। इस प्रकार स्वप्न मे विप्र का उपदेश सत्य प्रमाणित हुआ। ऐसा कोई ब्राह्मण स्वप्न में आदेश दे तो वह भी भगवान की आज्ञा का ही सचार है।

कुछ दिवस पश्चात् स्वप्न मे मुझे पूर्व जीवन के सुपरिचित अत्यन्त कुलीन स्वाध्यायी पण्डित जी दिखाई पडे- एक लगोटी लगाये और चदरिया ओढे। मैंने भगवान की तलाश करते उनके समीप पहुँचकर पूछा, "बतायें, ये हमारे गुरु महाराजजी कैसे हैं?" उन्होंने कहा, "देखो, अनादिकाल से महापुरुष जैसा होते आये हैं, जो लक्षण एक महापुरुष में होने चाहिए, आप में वे सभी लक्षण विद्यमान है तथा आपके गुरु महाराजजी यही हैं।"

ऐसा निर्देशन प्राप्त कर मुझे वडी प्रसन्नता हुई। हम अत्यन्त उत्साह से भजन में वैठ गये, वैठे ही रह गये। ऑख खुली तो सूर्य की किरणें कोठरी में आ रही थीं। हमें आश्चर्य हुआ कि सवेरा हो गया क्या? मैं महाराजजी को प्रणाम करने धूनी की ओर वढ गया। महाराजजी धूनी पर वैठे थे, धूना धॉय-धॉय जल रहा था, लपटें उठ रही थीं। महाराजजी प्रशान्त मुद्रा में वैठे थे मानो कुछ देख ही न रहे हों। हमने धीरे से प्रणाम किया। महाराजजी ने जलती लकड़ी उठाई और

मेरी पीठ पर प्रहार किया। कुछ आग पीठ पर भी गिरी। हम दो-तीन कदम पीछे हटकर महाराजजी की ओर सिर झुकाकर खडे हो गये, तव तक महाराजजी ने धूना से चिमटा निकालकर मेरी ओर खींचकर मारा, जिसकी दोनों नोंक मेरे सीने पर लगी। हमने सविनय पूछा, "महाराजजी! मुझसे कौन-सी भूल हो गयी।" उन्होंने डॉटते हुए कहा, "शरीर पर घाम लगा है तव उठे हो, इसी पराक्रम के वल पर भजन करने निकले हो। साधक को व्राम्हवेला में उठ जाना और सचेतावस्था में चिन्तन करना चाहिए।" हमने कहा, "हम वेठे तो थे।" "अच्छा तो तू वैटे-वैटे सो गया।" पुन बहुत-सी साधनापरक वातें सुनने को मिली। वस, उस दिन से भजन की चाभी भर गयी, टाइमटेबुल फिक्स हो गया और महाराजजी के प्रति मन-वचन-क्रम से श्रद्धा स्थिर हो गयी। वस्तुत महापुरुषो की कठोरता में करुणा छिपी होती है, जो साधक-भक्तों का कल्याण-स्रोत वन जाती है।

आश्रमीय चर्या

महाराजजी का निवास क्रमश आश्रम का रूप लेने लगा था, फिर भी सग्रह नाममात्र का ही रहता था। आश्रम के पीछे कोठरी में एक टिन में आटा, एक हडिया में थोडा घी, किसी हडिया मे दाल-चावल रहता था। तीन चौथाई चना और एक चौथाई गेहूँ के मिश्रण के आटे की रोटी बनती थी। कभी-कभी उस आटे में ही नमक, मिर्च और हींग मिलाकर रोटी बनती। कोठरी से सामान निकालकर पीछे एक गोल झोपडी में भोजन वनता। भोजन वन जाने पर आप उसमें से दो रोटी अलग रख देते थे कदाचित् इस जगल में कोई भूला-भटका आ जाय। भोजन एक ही समय बनता था। आप साधक को भूख से एक-डेढ रोटी कम खाने पर वल देते थे। अधिक भोजन करने से आलस्य, निद्रा अधिक आती है, जो भजन में बाधक है। कभी कोई अधिक खाने का प्रयास करता तो आप एक-दो बार उसे समझाते, किन्तु सुधार न देख डॉटते थे, "क्यों रे, बाप की कमाई है क्या? बाबा का आटा बाबा का घी, शाबास-शाबास वाबाजी! अन्न का दुरुपयोग क्यो करता है, बचा रहेगा तो किसी साधु-महात्मा की सेवा होगी- यह कुटीचक का धर्म है। कुटी वनाकर रहनेवालों को कुछ न कुछ बचाकर रखना चाहिए।" जो रोटी बच जाती या रखी रह जाती उसका एक-एक टुकडा तोडकर सायकाल साधको मे वितरित कर दिया जाता। जिसे आवश्यकता होती वह लेता, जिसे आवश्यकता न होती वह नहीं लेता था। सायकाल थोड़ा सत्संग होता और पुन सभी चिन्तन में लग जाते थे।

रात्रि दस वजे शयन करने की अनुमति थी। उसके लिए भी एक नियम था कि सोने से पूर्व घण्टा-डेढ घण्टा आसन पर वैठकर गुरु महाराजजी का ध्यान अथवा श्वास से जप किया जाता और जव सुरत भली प्रकार लग जाती तो लोग धीरे-धीरे सुरत लगाये ही सो जाते। एक बार निद्रा आ जाने के पश्चात् जव भी ऑख खुलती, सोने का विधान नहीं था। कुछ भी हो जाय, लोग प्रयासपूर्वक नहीं सोते थे। धीरे-धीरे अभ्यास हो जाने पर एक निद्रा के पश्चात् पुन शयन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती थी। कभी साधक नहीं जाग पाते तो महाराजजी ही भजन गुनगुनाने लगते- मोरि सुरत सुहागन जाग री।

का सोवत है मोहनिशा में, उठकर भजनियां में लाग री।।

इस प्रकार के प्रेरणादायक दो-तीन भजन थे जिसमें से कोई न कोई वे गुनगुनाया करते थे। सूर्योदय से पूर्व ही आश्रम मे सफाई हो जाती थी। महाराजजी इस कार्य में सबको सम्मिलित करते, जिससे आलस्य दूर हो जाय। प्रत्येक साधक एक हाथ मे लालटेन, दूसरे हाथ से झाड़ू लगाता। सबका अशदान निर्धारित था। यदि कोई साधक दूसरे के हिस्से की सफाई करना चाहता तो महाराजजी उसे मना कर देते। इसके बाद हाथ-मुँह धोकर सभी चिन्तन मे बैठ जाते थे। प्रात काल स्नान का विधान नहीं था क्योकि उसमे भी समय नष्ट होता था। नित्यकर्म से निवृत्त होकर नौ-दस बजे प्रात तक अनवरत चिन्तन का क्रम चलता रहता था।

श्री स्वरूपदास जी

स्वरूपदासजी ने लगातार बारह वर्षो तक महाराजजी का विरोध किया। पूर्व में जितनी भी घटनायें घटीं, सब इन्हीं का कृत्य था। हर ओर से असफलता हाथ लगने पर वे अन्त मे महाराजजी की शरण मे आये। चरण स्पर्श कर प्रार्थना करने लगे कि उन्हें क्षमा कर शिष्य बना लिया जाय। महाराजजी ने कहा,''देख, तू पक्का उपद्रवी है। मैं क्षमा कर भी दूँ किन्तु भगवान क्षमा नहीं करेंगे।'' वे विनम्र प्रार्थना करते ही रह गये।

महाराजजी के पास कुछ अन्य महात्मा भी दर्शन हेतु आये थे। वे बोले, ''स्वरूपदासजी! आप यह क्या कह रहे हैं? परमहसजी तो दूसरे मत के है।'' उन्होने कहा, ''ये महापुरुष है। मेरा कल्याण अब इनकी सेवा करने मे है। मैंने अज्ञानवश विरोध करके देख लिया। ये वास्तव में सन्त हैं, मेरा पाप मुझे धो लेने दो।''

ब्रह्मचारी जी ने उनके पक्ष में कहा, ''महाराजजी! यह दिन-प्रतिदिन कुछ-न-कुछ उपद्रव लेकर आता ही रहता है। यह भेष बदल लेगा तो कम से कम लोग इसके साथ आना तो बन्द कर देंगे। आपकी कृपा होगी तो यह भजन भी करेगा।'' महाराजजी ने कहा, ''कृपा तो है। तुम कहते हो तो मैं हॉ कर लेता हूॅ किन्तु यह साधु होगा नहीं। मेरी शरण में आया है तो कल्याण होगा ही किन्तु पार लगेगा नहीं।'' महाराजजी के 'हॉ' कहते ही स्वरूपदास जी मुण्डन सस्कार कराकर, भगवा वस्त्र पहनकर महाराजजी के समक्ष प्रणत हुए और साधु बन गये। आठ-नौ महीने तक वे आश्रम मे मर्यादा और सयम के साथ रहे किन्तु उसके पश्चात् उनका पुराना सस्कार जगा, वे भजन में न लग सके और विचरण मे निकल गये। पूज्य महाराजजी भविष्यद्रष्टा थे।

सिद्धबाबा का उद्धार

अनेक घटनाओ को देखकर महाराजजी ने सिद्धबाबा की ओर ध्यान दिया। उन्होने कहा, ''हो! सिद्धवावा अच्छे महापुरुष थे। थोडी-सी चूक हुई और वे मुक्ति से वचित रह गये। आज वे प्रेत-जैसे स्वरूप में पडे हुए हैं। इस स्थान पर वर्तमान में मैं हूॅ अत उनकी मुक्ति का उपाय होना चाहिये। कुछ दिनों तक महाराजजी ने सिद्धवावा के लिए ही भजन किया। एक दिन उन्होंने उनके पौत्र महन्थ गुरु प्रसाद को बुलाकर कहा- ''देख रे, गया हो आ।'' वह वोला- ''महाराजजी गया में मेरी आस्था नहीं है।'' महाराजजी ने कहा- ''देखो, तुम्हारी आस्था हो या न हो, यह एक रीति-नीति है, मर्यादा है। तुम्हारे वहॉ जाने से कुछ होनेवाला नहीं है वल्कि मेरे कहने की वात

है, तू केवल मेरी आज्ञा का पालन कर। इससे सिद्धवावा के स्थान पर जो उपद्रव होता है, शान्त हो जायेगा। सिद्धवावा का प्रेतयोनि से उद्धार हो जायेगा। महन्थ गया हो आये, उसके पश्चात् सिद्धबाबा के स्थान पर कोई उपद्रव नहीं हुआ। तख्त अव भी वहीं है। अव उस पर कोई भी वैठे, सिद्धबाबा फिर किसी को दिखाई नहीं पडे। महाराजजी की कृपा से वे अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गये।

निवृत्ति का स्वरूप

हमने पूछा, "महाराजजी! क्या भगवान दर्शन देते हैं? वे कैसे हैं? निवृत्ति क्या है?" महाराजजी ने बताया, "भगवान वैसे ही हैं जैसे तुम्हारा स्वरूप।" हमने पूछा, "मेरे जैसा सॉवला मध्यम या गौर वर्ण का रूप?" उन्होंने कहा कि नहीं, शरीर तो परिवर्तनशील है। आज सॉवला है तो कभी कचन वर्ण का रहा होगा। आज हाथ-पैर वाला है तो कभी विना हाथ-पैर का रहा होगा। यह तुम्हारा स्वरूप नहीं है। तुम्हारे हृदय में आत्मा का जो अविनाशी स्वरूप है, उसका दर्शन ही भगवत् दर्शन है। भगवान अवश्य मिलते हैं। हमें मिलकर ही उन्होंने शान्ति प्रदान किया है। अधिकारी को भगवान नहीं मिलेगे तो वह प्राण दे देगा। भगवान मिलते हैं तुझे भी मिलेंगे, भजन तो कर।

पहले भगवान का दर्शन होता है फिर निवृत्ति। अत. पहले भगवान के लिए प्रयास करो। निवृत्ति तो दर्शन के साथ मिलनेवाला एक प्रमाण-पत्र है। **"सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना।।"** अनुसुइया की जनशून्य वनस्थली में सतत् साधना के कई महीने बीत गये थे। उन दिनों स्थितिपरक दृश्यों की अविरल सरणियॉ अहर्निश महाराजजी के अनुभव में अकित होती रहीं, जिनमें से कतिपय साधनोपयोगी संस्मरण पूज्यवर से सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

महाराजजी ने बताया कि अनुसुइया निवासोपरान्त चार-छ महीने बीत गये। स्वरूप में स्थिति मिलने से पूर्व कई अनुभव आये। दिखाई पडा, जैसे कोई बड़ा प्रकृति का चमडा तना हुआ है, उसका विस्तार न जाने कहॉ तक है। अनन्त प्रकार की अनन्त योनियों का आकार इसी चमडे में है। उन योनियों में तमाम जीव फॅसे हैं। वे विलख रहे हैं, चिल्ला रहे हैं। सभी अथाह दु:ख में डूबे हुए हैं। मैं भी उसी मे था। मैं बडी सरलता से उस परदे से निकलकर खुले आकाश में आ गया। सबने एक साथ कहा कि ये कितने भाग्यवान हैं, इनकी तो निवृत्ति हो गई। गर्भवास से छुटकारा मिल गया।

एक अन्य अनुभव में महाराजजी को दिखाई पडा कि एक अत्यन्त विशाल और भयकर भैंसा महाराजजी का पीछा कर रहा है। उससे वचने के लिए महाराजजी एक विस्तृत तालाब में कूद गये। भैंसा भी तालाव में कूदा। महाराजजी तालाब से निकलकर खडे हो गये। वह भैंसा जल के भीतर महाराजजी को खोजते-खोजते विलीन हो गया। उसका अस्तित्व समाप्त हो गया। आवाज आई कि आज से यमराज की पकड समाप्त हुई और काल पर विजय मिल गयी। तुरन्त उन महापुरुष का स्वरूप सामने खडा हो गया, जिन्होंने आरभ में आशीर्वाद दिया था, "जाओ, अब किसी से हारोगे।" महाराजजी ने उन महात्मा के आशीर्वाद का भाव आज समझा। महाराजजी कहते

थे कि यदि हम शरीर से किसी को जीत भी लेते तो क्या हो जाता? शरीर तो एक दिन जाना ही जाना है, इसकी आयु निश्चित है। परिणामत हार ही हार थी। वास्तविक विजय तब है जव महाबली काल से विजय मिल जाय।

महाराजजी कहने लगे कि एक अन्य अनुभव मे दिखाई पडा कि जैसे मेरा देहान्त हो गया है। अपने शव को मैं ही अपने कधे पर उठाकर ले जा रहा हूँ। मैंने ही उसे चिता पर रखा और मैं ही उसमें अग्नि प्रज्वलित कर रहा हूँ। उसे जलाकर, बॉस से कूँचकर मैंने वहॉ की काली जमीन भी धोकर गगा में बहा दिया। इन कर्मो से मैं पसीने से लथपथ हो गया था, थककर चूर हो गया था। ज्योंही खडे होकर मैंने देखा, मेरा ही रूप गगाजी के भीतर से निकला चला आ रहा है। सोने की तरह दग-दग अलौकिक रूप चमक रहा था। इतने में आवाज आयी--इन्हें प्रणाम करो, यही तुम्हारा स्वरूप है। तुम्हें इसी रूप मे रहना है। यही नारायण स्वरूप है। अपने ही रूप को मैंने प्रणाम किया। धीरे-धीरे वह रूप मुझमे समा गया। इस अनुभव के बाद मेरा चेहरा ही बदल गया। पहले मेरा चेहरा काला-काला, न जाने कैसा था किन्तु स्वरूप में स्थिति मिलते ही अब दमकने लगा है। वस्तुतः महाराजजी का शरीर शीशे की तरह साफ था। वे छ-छ महीने, साल-साल भर स्नान नहीं करते थे किन्तु उनके पसीने में दुर्गन्ध नहीं थी। महाराजजी कहते थे- इस स्वरूप दर्शन के साथ ही भगवान भजन के लिए मना करने लगे। हमें लगा, जैसे कुछ खो गया किन्तु जब उस स्वरूप ने स्पर्श किया, हमीं खो गये। वही स्वरूप रह गया। अव चिन्ता कौन करे? जैसे कोई नमक की पोटली समुद्र की थाह लेने जाय, वह तो उसी में घुल गयी। अब लौटकर बताये कौन? अत. वह वाणी का विषय नहीं है। इसलिए आप्तपुरुषों ने उसे अनिर्वचनीय कहा है। वह तभी समझ में आता है जब प्रत्यक्ष दर्शन हो जाय।

सेवा में प्रवृत्त लक्ष्मी-दर्शन

महाराजजी कहते थे, "हो! लक्ष्मीजी मेरी सेवा करते दिखाई पडीं।" यद्यपि व्यवस्था तो उसी दिन ठीक हो गयी थी जिस दिन भगवान ने उनसे कहा था, "खाना है तो कल से खाओ।" किन्तु जब से लक्ष्मी-सेवा का दर्शन मिला, व्यवस्था-सम्बन्धी भान ही समाप्त हो गया। लोगों में यह चर्चा का विषय वन गया कि परमहसजी का खर्च कैसे चलता है? कुछेक ने कहा कि वे सोना वनाना जानते हैं, उसी से खर्च चलता होगा। कुछेक ने कहा कि वह नोट छापते है। पहाड पर कहीं मशीन फिट होगी। कुछ लोग विनोद मे कहते थे कि भला चोर-डाकू किसके हितैषी होते हैं किन्तु परमहसजी का नाम लेने पर वड़ी श्रद्धा से रास्ता वता देते हैं। कदाचित् डाके न डालते हों। यह सुनकर आप कहा करें-

तवन घर चेतिहें रे भाई, तोरा आवागमन मिटि जाई।।
जहाँ लक्ष्मी झाडू देत है, शम्भु करे कोतवाली।
जहाँ ब्रम्हा भये टहलुआ, विष्णु करे रखवाली।
तवन घर चेतिहें रे भाई।।

हो! सव भगवान की व्यवस्था है। भजन करो, ऐसी सुविधा सवको मिलती है। भगवान का दरवाजा सवके लिए खुला है। भजन तो करो, सवको मिलेगा।

नेहरूजी का राजतिलक

जिस समय महाराजजी का पदार्पण अनुसुइया में हुआ, भारत आजाद ही होनेवाला था। भक्तो मे प्राय इसकी जिज्ञासा थी। वे महाराजजी से पूछते कि अब भारत का सर्वोच्च पद किसे मिलेगा? उस समय कई नाम चर्चा में थे। गॉधीजी, नेहरूजी, पटेलजी इत्यादि नामों पर लोग अटकले लगा रहे थे। महाराजजी ने कहा, "प्रत्याशी भले ही हजारों हों किन्तु मिलेगा नेहरू को ही।" लोगो ने पूछा, "महाराजजी! आप केसे जानते हैं?" महाराजजी ने वताया कि मैंने देखा है-मानो मै उडकर दिल्ली गया हूँ। वहाँ वडी भीड है, दरवार लगा है। मेरे स्वरूप ने अपने हाथ से उसे तिलक किया। यह होनी है, होकर रहेगी। नेहरू भ्रष्ट योगी है। दूसरे दिन घोपणा हुई कि नेहरूजी प्रधानमत्री चुन लिये गये हैं। नेहरूजी के प्रति महाराजजी का वडा स्नेह था।

एक बार महाराजजी के मन में आया कि ये नेहरू कैसे योगी हैं जो राज्य कर रहे हैं और मै कैसा योगी हूँ जो घोर जगल में नगे शरीर खण्डहर में निवास करता हूँ। मैं योगी बना अथवा नहीं? उसी दिन महाराजजी को अनुभव में दिखाई पडा कि नेहरू को एक क्षत्रिय परिवार में जन्म लेना पडेगा, जन्म लेकर फिर से कर्मपथ पर वढ़ना होगा, जवकि मुझे अव जन्म नहीं लेना है। ऐसा देखकर महाराजजी को परम सन्तोष हुआ। अनुभवी महापुरुष जिस भी विपय में इच्छा कर लें, भगवान उन्हें उसकी वास्तविकता से अवगत करा देते हैं। न भी इच्छा करें किन्तु आवश्यक तथ्य प्रगट होते रहते हैं। यह अन्तर्दृष्टि अनुभवगम्य है।

श्री ब्रह्मचारीजी एवं करपात्री जी के बीच वार्ता

भारत स्वतत्र हो चुका था। प्रजातत्र के विभिन्न दल अपना-अपना प्रचार बढ़ा रहे थे। उनमें से एक दल 'रामराज्य परिषद' भी था, जिसका सचालन जाने-माने विद्वान स्वामी करपात्रीजी कर रहे थे। वे धर्म का नारा लगाते हुए चित्रकूट आ पहुँचे। श्री करपात्रीजी के बारे में जब महाराजजी सुने तो कहने लगे कि उनका तो बडा नाम था, वे ऐसे दलीय अन्तर्द्वन्द्व के फदे में कैस फॅस गये? इसके वाद आपने रामराज्य की मीमासा करते हुए कहा कि रामराज्य तो योगी के हृदय-देश की एक विशेष स्थिति है। भूखण्डों और पिण्डों में खोजने से रामराज्य की स्थिति कभी नहीं प्राप्त हो सकती। मानस का चर्चित रामराज्य इस प्रकार है। मानस कहते है मन या अन्त करण को। जब चित्तवृत्तियॉ राग-द्वेष से उपराम होकर निश्चल हो जाती हैं। ऐसी चर्चा अपने शिष्यगणों के बीच करने के वाद आप अपने शिष्य ब्रह्मचारी जी से बोले कि तुम चित्रकूट जाकर करपात्रीजी से पूछना कि राजनीति मे भाग लेने के लिए कोई ऐसा अनुभव या आदेश अन्तर्जगत् से प्राप्त हुआ है : नहीं, महाप्रभु के आदेश के बिना किसी कार्य में सफलता मिलना असभव है।

महाराजजी की आज्ञानुसार ब्रह्मचारीजी करपात्रीजी से मिलने के लिए चित्रकूट पहुँचे। गुरुजी द्वारा आदेशित प्रश्नो के अनुसार वार्ता प्रारभ किये कि आपको क्या कोई ऐसा आदेश मिला है जैसा कि जगत्गुरु शकराचार्यजी को सनातन धर्म की स्थापना के लिए वाणी हुई थी। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा- **निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्-** युद्ध तो मुझे करना है, तुम निमित्त मात्र हो जाओ, विजयश्री अवश्य वरण करेगी। जव ऐसा प्रश्न करपात्रीजी के सामने आया तो

उन्होंने कहा कि आज समाज धार्मिकता की भावना से दूर हटता जा रहा है, उसमें नवचेतना एवं जागरुकता लाने के लिए रामराज्य दल की स्थापना कर सफल बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। गायों की हत्या हो रही है, समय नहीं है, हमें बहुत कुछ करना है। अनुभव एव आदेश की प्रतीक्षा में कब तक बैठे रहेंगे। श्री ब्रह्मचारी ने ऐसा सुनकर उन्हें सजग करते हुए कहा कि आध्यात्मिक पथिक होने के नाते ईश्वर के आदेशों पर चलकर ही गन्तव्य स्थान की उपलब्धि सभव है। उसे बाह्य मान्यताओं द्वारा अर्जित करने की कल्पना करना भ्रम मात्र है। आप भले ही दलीय मोर्चे में फँसे रहे परन्तु सफलता सभव नहीं है। ऐसी ही कुछ महत्वपूर्ण चर्चा करने के लिए महाराजजी आपके पास भेजे हैं। उन्हें क्रियान्वित करना या न करना आपकी इच्छा पर निर्भर करता है। श्री परमहसजी का नाम सुनकर करपात्रीजी कुछ क्षणों के लिए अवाक् रह गये परन्तु कालान्तर में बात अनसुनी कर दिये। महापुरुष की वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। आज स्पष्ट है कि राजनैतिक दल के रूप में रामराज्य परिषद की स्थिति नगण्य सी है।

सेवा से भजन की जागृति

महाराजजी की शरण में पहुँचने एव अनुभव जागृत होने के पश्चात् मेरे लिए उनका आदेश हुआ कि सेवा करो। आरभ में मेरी अपनी मान्यता थी कि भजन करनेवाले को एक स्थान पर गुमसुम होकर पडे रहना चाहिए। वह खडा है तो खडा है, पडा है तो पडा है। किसी ने कुछ दे दिया तो खा लिया, बहता पानी पी लिया। सुरत लक्ष्य पर रहनी चाहिए। यहाँ महाराजजी कहते हैं, सफाई करो, इस प्लेट और थाली को वहाँ रखो। धूने की लकडी लाओ, सेवा करो- यह कौन सा भजन है।

कुछ काल पश्चात् बाहर से जो कुछ सुनने को मिला,अन्दर से कुछ वैसी प्रेरणा होने लगी तो मैंने समझा, सेवा भजन-जागृति के लिए अति आवश्यक है। उस समय से सेवा में प्रवृत्ति तो हुई किन्तु भजन की हठधर्मिता इतनी प्रबल थी कि हम सेवा तो करे किन्तु मन से नहीं। सेवा दिनभर करते रहें, हाथ-पाँव चलते रहें किन्तु मन से उसे न देखे। मन को तो हम कभी भी इष्ट से अलग न हटने दें। यदि मन ही हट गया तो हम भजन कहाँ करते हैं? तब तो जो लोग कुली की तरह काम करते हैं, वैसे ही हम भी हो गये। इसलिए शरीर से सेवा-कार्य चलते रहने पर भी मन को हम चरणों के पास ही रखते थे। उठते-बैठते, चलते-फिरते यह कभी इष्ट-चिन्तन से विलग न हो। यह सोचकर सेवा आधे मन से ही करते थे।

सेवा में जरा-सी लापरवाही भी महाराजजी को सह्य न थी। महाराजजी के लिए जल गर्म करके रखा था, उसे ढँकना था। हमने एक थाली उठाकर ढँक दिया और कुएँ पर आ गये। महाराजजी की निगाह पड गयी। उन्होने आधा ईट उठाया और मेरे पैर में मारा। चोट असह्य थी। उसकी ओर ध्यान न देकर मैंने सविनय कहा- "महाराजजी! मुझसे क्या गलती हुई?" "देखता नहीं, जूठी थाली से पानी ढँक दिया। हमने बताया कि थाली जूठी नहीं है। उन्होंने डाँटकर कहा- "देखो तो वह क्या काला-काला दाग पडा है?" हमने वताया- "अभी उस थाली में किसी ने भोजन तो नहीं किया।" भोजन की हुई थाली को हम जूठी समझते थे, दाग को हम जूठा नहीं समझते थे। महाराजजी ने कहा-"अभी तुमने साधुओ के बर्तन नहीं देखे। तनिक भी

काला दाग जूठन की पहचान है। एक महीने तक पट्टी बॉधनी पडी। अभी तक घाव का निशान है। मेरे हट जाने पर महाराजजी ने अन्य लोगों से कहा कि "इसे एक महीने से खोजता रहा हूँ, दॉव में पा नहीं रहा था, आज अवसर मिला।" इस डॉट-फटकार से मनोयोगपूर्वक भजन होने लगा। महापुरुषों की डॉट-फटकार कल्याण के लिए हुआ करती है।

परगनाधीश चतुर्वेदीजी सेवा में

कर्वी परगनाधीश चतुर्वेदीजी आध्यात्मिक प्रेमी होने के कारण सत-महात्माओं में अधिक प्रेम रखते थे तथा उनकी अटपटी वाणी में वे अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। चित्रकूट के समस्त महात्माओं से प्रश्न किया करते थे परन्तु सन्तोष हाथ न लगा। जिज्ञासा-तृप्ति न होने के कारण अन्त में साधुओं से कहा करें कि लगता है मैं ही अभी अधिक साधु हूँ। एक बार भाविक लोग उन्हें अनुसुइया आश्रम लिवा लाये। वे परमहसजी के दर्शन एव सत्सग से लाभान्वित होकर अनुग्रहीत हो गये। परगनाधीश ने महाराजजी से विनय करते हुए कहा कि मैंने एक बार महात्मा को दण्ड दे दिया था, तब से अनवरत उदर-शूल से व्यथित हूँ। अब सोचता हूँ कि वे भले ही बुरे हों पर थे तो सन्त-वेष में। अपने जीवन के प्रारंभिक काल में वाल्मीकि जी भी बुरे थे। महाराजजी ने पेट छूकर कहा- "विभूति खा लो, अब दर्द न होगा।" जीवनपर्यन्त उन्हें पुन दर्द न हुआ।

उसी समय उत्तर प्रदेश मे ग्राम पचायतों के प्रधानों का चुनाव चल रहा था। उसी तारतम्य में चतुर्वेदी जी कुछ व्यक्तियों के साथ आश्रम आकर प्रश्न करते हैं कि महाराजजी! चुनाव में दो प्रतिद्वन्द्वियों के बीच कौन विजयी होगा? आपने हॅसते हुए कहा कि लगता है कि एक ब्राह्मण चुनाव जीत जायेगा। वे सब महाराजजी को प्रणाम करके वापस लौट जाते हैं। चुनाव परिणाम घोषित होने के उपरान्त यह निश्चय हो गया कि चुनाव वही व्यक्ति जीता है जिसका नाम महाराजजी पूर्व मे ही बता दिये थे। वे सभी अलौकिक भविष्यवाणी से आश्चर्यचकित हो जाते हैं। चतुर्वेदीजी तब से जीवनपर्यन्त आश्रम के प्रति श्रद्धालु रहे। इसी प्रकार सैकड़ों भाविकों व भक्तों के हृदय-पटल पर पूज्य महाराजजी की दैविक विलक्षणता की छाप पडने लगी।

आश्रम का प्रथम निर्माण

जैसा आपने देखा, आश्रम प्राचीन खण्डहर-जैसा कुछ कोठरियों का नाम था। धूने पर छाया के रूप में जीर्ण-शीर्ण मात्र तीन टिन की चादरे थीं। वर्षाकाल में तीन तरफ से बौछार आया करती थी। वहॉ नवनिर्माण कुछ नहीं था। परगनाधीश श्री चतुर्वेदीजी, सेठ ओछवलाल पारिख इत्यादि कुछ भक्तों ने मिलकर धूना घर बनाने की योजना तैयार की और निर्माण के लिए ईट आने लगी।

मिस्त्रियों ने कार्य आरम्भ किया। जब लोगों ने सुना, महाराजजी के यहॉ धूना बन रहा है, सेवार्थ लोग चारों ओर से आने लगे। तीन माह में निर्माण कार्य पूर्ण हो गया। आश्रम में यह प्रथम निर्माण-कार्य था। महाराजजी ने कहा, "हो! तीन टिना टीक कराने में मेरा तीन माह का भजन चला गया।"

महाराजजी कहा करें, "हो! शेर, साधु और सर्प कभी घर नहीं बनाते, बने बनाये में प्रवेश करते हैं और समय व्यतीत करके आगे बढ जाते हैं। किन्तु भजन-पूर्ति के पश्चात् जहॉ भी वे



परम श्रद्धेय श्री सद्गुरुदेव श्री अनन्त स्वरूप श्री परमहंस जी महाराज



भक्त श्री ओच्छवलाल एम पारिख



भक्त श्री एस डी चतुर्वेदी
परगनाधीश (डी एम)

रहते हैं, चार ईट लग ही जाती है। परन्तु साधक को इसमें नहीं फँसना चाहिए। चित्त को सब ओर से समेटकर हृदय में ही निवास करना चाहिए।

मेरा नामकरण

अभी हमें आये चार-छ· मास ही हुए थे और आश्रम में धूना घर बनने लगा। सडक की व्यवस्था न होने से नदी के उस पार से सिर पर ईट रखकर लोग कहीं चलकर तो कहीं तैरकर इस पार ले आते थे फिर भी कुछ ईट नदी में गिर जाती थी और वे धारा से बहकर कुछ दूरी चली जाती थी, जहाँ पानी गहरा था। सभी श्रद्धा से सेवा तन्मय होकर कर रहे थे। हम ऐसा कार्य चुनना चाहते थे जिसमें एकान्त हो, अकेले किया जा सके और बुद्धि भी न लगानी पडे। क्योंकि मन तो एक ही है। यदि वह बाहर कार्यो में लग गया तव भजन कौन करेगा? लोगों से अलग रहकर सेवा में अपनी अनुकूलता समझकर मैंने उन ईटो को पानी मे डूबकर निकालना आरभ किया। तैराकी के पूर्वाभ्यासवश सिर के बल ही नदी में कूदकर ईट निकाल रहे थे। ऊबड-खाबड शिलाखण्डों वाली नदी, एक बार सिर चट्टान से टकरा गया। बाहर आने पर लोगों ने कपडे से बॉधा, रक्त का बहना वन्द हुआ। महाराजजी ने देखा तो बोले, ''वेवकूफ कहीं का! इसका हुडदग देखो। सब पहाडी नदी के पानी में सीधे उतरते है और यह सिर के बल, एकदम अडगड है।

किसी ने कहा, ''हॉ महाराजजी! इसमें समझ नहीं है।'' महाराजजी ने कहा, ''नहीं रे, कैसा डूबकर निकाल रहा था। नासमझ नहीं, अडगड है।'' उस समय इस विशेषण से हम परिचित नहीं थे, न तो हमने कहीं यह शब्द पढा और न किसी क्षेत्रीय भाषा में ही यह सुनने को मिला। यह शव्द अनायास ही महाराजजी के श्रीमुख से निकला था। कुछ लोगों ने विनोदवश इसी नाम से मुझे सम्बोधित करना आरंभ कर दिया। हमने सोचा, कोई मुझे अडगड कहे या बग्गड कहे या कुछ भी कह ले इससे मुझे क्या? यह शरीर तो मिट्टी का है, इसे लोग कुछ न कुछ कहते ही हैं। महाराजजी ने कहा, ''यह हमारा सौभाग्य है।'' किन्तु गुरुदेवजी ने ऐसा कहा तो इस शब्द का कुछ न कुछ अर्थ भी होगा।

लगभग एक माह पश्चात् किसी की जिज्ञासा पर महाराजजी हँसे और बोले, ''हो! **लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार। गुरु वसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार।।**'' लक्ष्मण में ये विशेष गुण-धर्म थे इसलिए गुरु वशिष्ठ ने उनका वैसा नामकरण किया। इसी प्रकार से अडगड शव्द भी गलत नहीं, सही है। इसमें यही लक्षण हैं।

हमने सोचा कि कदाचित् अडगड के लक्षण मुझमें हों किन्तु इस शव्द का अभिप्राय क्या है? यह कौन-सा लक्षण है? इस पर गुरुदेव भगवान के श्रीमुख से सन्त कवीर का एक भजन सुनने को मिला, जिसमें इस शव्द की व्याख्या निहित थी। वह पद इस प्रकार है-

अड़गड़ मत है पूरों का, यहॉ नहीं काम अधूरों का।
सच्चा साफ अमीरी रस्ता, सच्चे साहिब शूरों का।।
कच्चा अरु मटमैला रस्ता, कच्चे कायर कूरों का।। यहॉ नहीं..
जप तप करके स्वर्ग कमाना, यह तो काम मजूरों का।
देना सब कुछ लेना कुछ नहीं, बाना झॉकर झूरों का।। यहॉ नहीं..

रहते हैं, चार ईंट लग ही जाती है। परन्तु साधक को इसमें नहीं फंसना चाहिए। चित्त को सब ओर से समेटकर हृदय में ही निवास करना चाहिए।

मेरा नामकरण

अभी हमें आये चार-छः मास ही हुए थे और आश्रम में धूना घर बनने लगा। सडक की व्यवस्था न होने से नदी के उस पार से सिर पर ईंट रखकर लोग कहीं चलकर तो कहीं तैरकर इस पार ले आते थे फिर भी कुछ ईंट नदी में गिर जाती थी और वे धारा से बहकर कुछ दूरी चली जाती थी, जहाँ पानी गहरा था। सभी श्रद्धा से सेवा तन्मय होकर कर रहे थे। हम ऐसा कार्य चुनना चाहते थे जिसमें एकान्त हो, अकेले किया जा सके और बुद्धि भी न लगानी पडे। क्योंकि मन तो एक ही है। यदि वह बाहर कार्यो में लग गया तब भजन कौन करेगा? लोगों से अलग रहकर सेवा में अपनी अनुकूलता समझकर मैंने उन ईंटो को पानी में डूबकर निकालना आरंभ किया। तैराकी के पूर्वाभ्यासवश सिर के बल ही नदी में कूदकर ईंट निकाल रहे थे। ऊबड-खाबड शिलाखण्डों वाली नदी, एक बार सिर चट्टान से टकरा गया। बाहर आने पर लोगों ने कपडे से बाँधा, रक्त का बहना बन्द हुआ। महाराजजी ने देखा तो बोले, ''बेवकूफ कहीं का! इसका हुड़दग देखो। सब पहाडी नदी के पानी में सीधे उतरते हैं और यह सिर के बल, एकदम अडगड है।

किसी ने कहा, ''हाँ महाराजजी! इसमें समझ नहीं है।'' महाराजजी ने कहा, ''नहीं रे, कैसा डूबकर निकाल रहा था। नासमझ नहीं, अड़गड़ है।'' उस समय इस विशेषण से हम परिचित नहीं थे, न तो हमने कहीं यह शब्द पढ़ा और न किसी क्षेत्रीय भाषा में ही यह सुनने को मिला। यह शब्द अनायास ही महाराजजी के श्रीमुख से निकला था। कुछ लोगों ने विनोदवश इसी नाम से मुझे सम्बोधित करना आरंभ कर दिया। हमने सोचा, कोई मुझे अडगड़ कहे या बग्गड़ कहे या कुछ भी कह ले इससे मुझे क्या? यह शरीर तो मिट्टी का है, इसे लोग कुछ न कुछ कहते ही हैं। महाराजजी ने कहा, ''यह हमारा सौभाग्य है।'' किन्तु गुरुदेवजी ने ऐसा कहा तो इस शब्द का कुछ न कुछ अर्थ भी होगा।

लगभग एक माह पश्चात् किसी की जिज्ञासा पर महाराजजी हँसे और बोले, ''हो! लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार। गुरु वसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार।।'' लक्ष्मण में ये विशेष गुण-धर्म थे इसलिए गुरु वशिष्ठ ने उनका वैसा नामकरण किया। इसी प्रकार से अडगड शब्द भी गलत नहीं, सही है। इसमें यही लक्षण हैं।

हमने सोचा कि कदाचित् अड़गड़ के लक्षण मुझमें हों किन्तु इस शब्द का अभिप्राय क्या है? यह कोन-सा लक्षण है? इस पर गुरुदेव भगवान के श्रीमुख से सन्त कबीर का एक भजन सुनने को मिला, जिसमें इस शब्द की व्याख्या निहित थी। वह पद इस प्रकार है-

अड़गड़ मत है पूरों का, यहाँ नहीं काम अधूरों का।
सच्चा साफ अमीरी रस्ता, सच्चे साहिब शूरों का।।
कच्चा अरु मटमैला रस्ता, कच्चे कायर कूरों का।। यहाँ नहीं..
जप तप करके स्वर्ग कमाना, यह तो काम मजूरों का।
देना सब कुछ लेना कुछ नहीं, बाना झाँकर झूरों का।। यहाँ

वड़ा देव गद्दी पर वैठा, तव क्या ढोना घूरों का।
मस्त हुआ जव अनहद सुनकर, तव क्या सुनना तूरों का।। यहाँ नहीं..
मुश्किल अगम पंथ का चलना, धारा खाँड़े छूरों का।
कहत कवीर सुनो भाई साधो, अगम पंथ कोई शूरों का।। यहाँ नहीं..

अर्थात् पूर्णत्व प्राप्त महापुरुषों का पथ अत्यन्त कठिन है। अडगड़ चिन्तन-पथ में आनेवाली एक प्रक्रिया विशेष है। अडगड का अर्थ है कठिन, जटिल। चिन्तन-पथ वस्तुत अत्यन्त कठिन है। आधे-अधूरे मन से चलनेवालों के लिए यह पथ नहीं है। अडगड पथ केवल शूरवीरों के लिए हे। जप किया, तप किया किन्तु भजन कि वीच स्वर्गीय सुखों की कामना हो गयी। यह तो उसके वदले मजदूरी प्राप्त करने के सदृश है। उनके चरणों में सव कुछ समर्पण कर दें, अपने अस्तित्व तक को उन चरणों में मिटा दे। इस कँटीले मार्ग पर चलनेवालों का यही व्रत है। वे जैसे रखे वैसे ही रहना चाहिये। परमदेव परमात्मा जव हृदयरूपी सिहासन पर विराजमान हो जाता है तो अन्य कुछ भी सग्रह करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। श्वास में सदा उठनेवाले शव्द अनहद की पकड़ काम कर गई, साधना इतनी सूक्ष्म हो गयी, तव उस पुरुष को वाह्य वातावरण के वाजों में कोई रुचि क्यो रह जायेगी? ईश्वरीय आवाज सुननेवाला सासारिक मनुष्यों की वातों में कौन-सा रस लेगा? यह ईश्वर का मार्ग अगम्य है। यह उतना ही कठिन है जैसे तलवार या छूरे की धार पर चलना। यह शूरवीरों का पथ है, कायरों का नहीं। अस्तु, लाड-प्यार में लोग वच्चों का नाम रखते ही रहते हैं किन्तु उस दिन इस व्याख्या के साथ ही नामकरण के पीछे गुरुदेव का मन्तव्य क्या था, यह मुखरित हो उठा।

चित्रकूट में पूर्ण स्थिति के महात्मा

यह उस समय की बात है जब महाराजजी को पूर्ण स्थिति प्राप्त हो गयी थी। अनुसुइया निवासोपरान्त क्रमश· अनुभूति हुई कि अब गर्भवास से छुटकारा मिल गया, यमराज का बन्धन कट गया, ईश्वर के दर्शन के साथ विलय मिल गया, स्वरूप में स्थिति मिल गई, ऐसा आया कि इसी रूप में स्थित रहना है। यह अनुभवो का क्रम चल ही रहा था कि एक दिन महाराजजी के मन में विचार आया- वैसे तो चित्रकूट में महात्माओं की हजारो कुटियाँ हैं, महात्मा भी हजारों हैं किन्तु जब भगवान ने हमे चित्रकूट में रखा तो क्या पूर्ण स्थिति के महात्मा हमारे अतिरिक्त और भी कोई है या हम ही भर है।

जिस दिन ऐसा सकल्प बना, उसी दिन महाराजजी को अनुभव में आया--भगवान का दरवार लगा है। सवसे पहले हमारी पुकार हुई, सजे-सजाये निर्मल हाथी के ऊपर हम ले जाये गये, एक उत्तम आसन पर वैठाये गये। इसके बाद पीलीकोठी के अखण्डानन्दजी की पुकार हुई, वे भी आये, कुछ नीचे आसन पर बैठ गये। तीसरी पुकार जानकीकुण्ड के रणछोड़दास की हुई, वे भी क्रम से आसन पर वैट गये। आदेश हुआ कि ये सन्त है। तव से महाराजजी को वड़ा सन्तोष हुआ कि चित्रकूट में उनके अतिरिक्त अच्छे स्तर के दो सन्त और भी है।

कुछ दिनों के पश्चात् अखण्डानन्दजी का शरीर छूट गया तो महाराजजी ने कहा, "कोई

गाडी ले आओ तो मैं भी उनके पार्थिव शरीर को दो फूल चढा आऊँ।" धारकुण्डी महाराजजी ने कहा, "सरकार! सन्त लोग तो स्वरूप से, अन्तर्मन से आते-जाते है। वे शरीर से कहाँ जाते हैं!" महाराजजी ने कहा, "हो! हमार जन्मावल हमें ही ज्ञान सिखावत है (मुझे ही ज्ञान सीखा रहा है)। अण्डा कहे बच्चे से चूँ-चूँ न कर। अरे! वे अच्छे सन्त थे। मेरे ही स्वरूप थे। मुझे जाना चाहिए।"

रामानन्दजी का समर्पण

रामानन्दजी, स्वरूपदासजी के शिष्य थे। जब उनके गुरु महाराजजी ही परमहसजी के शिष्य हो गये तो शिष्य कहॉ जाता? दो माह पश्चात् वे भी महाराजजी के शरण में आ गये। महाराजजी ने उनमें अधिकारी के लक्षण देखे, अत उन्हें आश्वासन दिया और कहा, "लगे भर रहो।" वे पार लग गये। इलाहाबाद जिले में तुलसीदासजी की जन्मभूमि राजापुर के समीप लौधना में वे रहने लगे। महाराजजी ने स्वय वहॉ जाकर उन्हें आशीर्वाद दिया। एक वरिष्ठ सन्त के रूप मे उनका निवास आजीवन वहीं रहा। अत्यन्त वृद्ध होने पर वे महाप्रयाण को प्राप्त हुए। आज भी उनके आश्रम पर श्रद्धालुओं का तॉता लगा रहता है, जहॉ उनका आशीर्वाद मिलता रहता है।

दूधभिक्षा

जब महाराजजी का अनुसुइया में भली प्रकार निवास हो गया, उस समय चित्रकूट से अनुसुइया आनेवाले दर्शनार्थी यदा-कदा महाराजजी के समक्ष पैसा-दो पैसा फेक देते थे। महाराजजी को आदेश होता, "इसे रख लो।" पहले पैसा छूने के लिए भगवान मना करते थे और अब कहते हैं रख लो। महाराजजी ने इष्ट से पूछा कि जब हजार-हजार रुपये मिल रहे थे तब तो आपने लेने नहीं दिया, आज दो पैसे के लिए आदेश हो रहा है, ऐसा क्यो? तब आदेश हुआ कि यह दूधभिक्षा है, इसमें कामना नहीं है। जो सौ-पचास रुपये चढाते हैं, बदले मे हाथी मॉगते हैं। उनका दान- "हाथी श्वान लेवा देई" अर्थात् कुत्ता देकर बदले में हाथी मॉगना जैसा है। यह पैसा-दो पैसा स्वभाववश फेंका गया है, इसे लेने में अब कोई दोष नहीं है। महाराजजी कहते थे, "हो! दान मेरे क्षेत्र की वस्तु है। असली दानी तो मैं हूँ जो मोक्ष देता हूँ।"

साधकों की देखरेख

साधकों की साज-सँभार महाराजजी उसी प्रकार करते थे, जैसे माता-पिता सयानी बिटिया का निर्वाह कर उसे ससम्मान विदा कर देते है। साधक कहीं भी चला जाता, महाराजजी उसके सकल्प पकडते रहते थे। उसकी श्वास ज्योंही विचलन का सकेत देती, महाराजजी उसे सँभालने लगते थे। ज्योंही वह साधक लौटता, वे तत्काल पूछते कि रास्ते में उस समय किससे बातें कर रहा था?

एक बार वे एक प्रतिभावान साधक से पूछने लगे, "क्यों रे! रास्ते मे किसी बाईजी से बातें कर रहा था क्या?" वे बोले, "जब हम जानकी कुण्ड में थे, एक बाईजी वहॉ आती थीं। वही रास्ते में मिल गयी थी। वह प्रणाम करके खडी हो गयी। महाराजजी ने डपटकर कहा, "तो लट्टू हो गये!" चार गालियॉ ऊपर से दिया। एक बार ऐसी डॉट पड जाने पर महीनो के लिए बुद्धि हो जाती थी। मन भजन में लगा रहता और महाराजजी का भय हर समय वना रहता।

अनुसुइया में मन्दाकिनी नदी के उस पार वडे सवेरे लगभग आठ-नौ वजे मसक वाजे की धुन सुनाई पडी, उसके साथ गायन करती स्त्रियों का स्वर भी सुनाई पड रहा था। जंगल में गाना-बजाना एक नई बात थी। एक साधक कुतूहलवश देखने लगे कि कौन है? खडे होकर देखने पर भी वृक्षों की ओट से उनका समूह दिखाई नहीं पड़ा तो वे सीढियों के पार्श्व में एक ऊँचे पत्थर पर खडे होकर देखने का प्रयास करने लगे। फिर भी स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ा तो वे पंजे के वल जरा-सा ऊपर उठकर देखने लगे। पीछे मुड़कर देखा तो पाया कि महाराजजी देख रहे हैं। वे शान्ति से भजन में वैठ गये। उसी समय सेमरिया गाँव के जमुना पाण्डेय महाराजजी का दर्शन करने आ गये। वे आश्रम के श्रद्धालु भक्तों में से थे। उन्होंने महाराज जी को पुष्प अर्पित कर धूनी पर प्रणाम किया। महाराजजी ने कहा, ''पाण्डेय वैठ।'' उसने निवेदन किया कि श्री ब्रह्मचारी जी का दर्शन कर लूँ। महाराजजी विद्रूप हँसी के अनन्तर वोले, ''कौन ब्रह्मचारी जी? यह ब्रह्मचारी हैं। यह तुम्हारे ब्रह्मचारी जी औरतों को देख रहे थे।'' पाण्डेय के पूछने पर ब्रह्मचारी जी ने कहा, ''हमें तो पता नहीं कि कब हमने औरतों की ओर दृष्टि डाली।'' महाराजजी विगडे, ''अभी कहता है कि हमे पता नहीं। क्या जब सीढियों से नहीं दिखाई पडा तो पजे के वल उचक कर देख रहा था? साधक का मन साधना के अतिरिक्त अन्य कुछ देखता ही नहीं। साधक को हर समय चिन्तनरत रहना चाहिए।'' इस प्रकार दस-बीस जद-वद सुनाया और सदा के लिए मन सावधान हो गया। जिसे वे बिगडते, केवल वही नहीं, अपितु जो सुनता उसकी भी बुद्धि निर्मल हो जाती थी।

गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है, गढ़ि गढ़ि काढ़े खोट।
अन्तर हाथ सहार दे, बाहर मारे चोट।।

कुम्हार की तरह गुरु महाराज की ताडना बाहर ही हुआ करती थी। भीतर हृदय से वे शिष्यों के प्रति अत्यन्त कोमल थे। अन्तर्जगत् से वे उन्हें भरपूर सहारा देते थे। किन्तु उनके कल्याण के लिए इसी प्रकार गढते-गढते, धक्का-धुक्की देते, कभी गाली-जैसी ताडना देते तो कभी पुचकारते साधना का पथ प्रशस्त कर देते थे।

अतीन्द्रिय ग्राह्यता

भक्त कहीं भी हों, महाराजजी उनके सकल्प पकड लेते थे। उनकी परिस्थितियों का ज्ञान महाराजजी को चलते-फिरते, उठते-बैठते होता रहता था। महाराजजी के निवास के अनन्तर कुछ यात्री चित्रकूट से घोड़े पर चढकर आने लगे। उन्हें पहुँचते-पहुँचते शाम हो जाती थी। अथवा कभी कोई यात्री सत्सग सुनते-सुनते रात वहीं विश्राम की योजना बना लेता था। सेवक घोड़े को चरने के लिए छोड देता था। महाराजजी कभी-कभी चौंककर कहते थे, ''देखो! मेरे पास न बैठो, जाकर देखो तुम्हारे घोडे के पीछे शेर घात लगाये है। वह आश्रम से एक फर्लाग दूर है।'' जहाँ घोडे को छोडा था, जाकर देखता तो शेर सचमुच घात में मिलता। डरते-काँपते वह किसी तरह घोड़ा लेकर भाग आता और आश्रम के सामने वाँध देता था।

एक वार इसी प्रकार आश्रम के सामने घोडा वँधा था। सभी विश्राम कर रहे थे। रात्रि के बारह वजे महाराजजी को अकस्मात् घवडाहट होने लगी। वे उठ बैठे, सोचने लगे- कौन सकट

में है। उन्होंने टार्च जलाया तो घोडा और शेर आमने-सामने खडे थे। महाराजजी ने सबको जगाया, घोडे वाला यात्री भी जगा। महाराजजी ने कहा, "सो मत! देख तेरे घोडे को शेर ले गया।" वह बोला, "महाराजजी! हम क्या कर सकते हैं?" महाराजजी ने कहा, "हो-हल्ला तो कर।" आवाज करने पर शेर झाडी की ओट में चला गया। फिर वह रातभर जागकर घोडे की रखवाली करता क्योंकि शेर झाडियों के पास ही इधर-उधर छिपा रहता। महाराजजी क्षण-प्रतिक्षण का हाल जान जाया करते थे कि कहाँ क्या होनेवाला है? उसी के अनुसार निर्देश दिया करते थे।

ब्रह्मचारी बन्दर

बन्दर स्वभाव से ही कामी होते हैं। मानस की पक्तियों में है- **"मैं पामर पशु कपि अति कामी।"** इसका अपवाद अनुसुइया का ब्रह्मचारी बन्दर था। ऋतु आने पर बन्दर और बँदरियों के जोडे यत्र-तत्र जगल में आमोद-प्रमोद रत रहते, किन्तु यह बन्दर उन सबसे अलग-थलग आश्रम के सामने एक वृक्ष पर बैठा रहता था। बडे सबेरे ही वह बन्दर पहाड से उतरकर महाराजजी के सामने खम्भे के पास बैठ जाता था। महाराजजी उस समय ध्यान में बैठे रहते थे। वह भी ऑखें बन्द करके हाथ समेटकर वैठ जाता था। बन्दर बडे चचल होते हैं, किन्तु वह एक आसन से बैठा रहता था। उसका रोयॉ तक न हिलता। थोडी-थोडी देर में आधी ऑख उठाकर वह देख लेता कि महाराजजी बैठे हैं या नहीं। जब महाराजजी चिमटे से धूनी खोदने लगते तब वह भी इधर-उधर देखने लगता। महाराजजी उसे प्रोत्साहन देते, "ठीक है बेटा! भजन में इसी तरह लगे रहो।"

महाराजजी उस बन्दर के भजन से बडे खुश होते थे। वे उसके लिए आटे में चोकर मिलाकर एक मोटा टिक्कड तैयार कराते और भजन से उठने के पश्चात् उसे वही टिक्कड देते थे। वह खडा होकर एक हाथ से टिक्कड लेता और तीन पैरो से चलकर पहाड़ पर चढ जाता था। वहॉ बैठकर वह रोटी खाता और प्रात काल पुन महाराजजी की सेवा में उपस्थित हो जाता था।

एक दिन महाराजजी उस बन्दर पर अप्रसन्न हो गये, "हम तुम्हारे नौकर हैं क्या, जो दस मील सिर पर लादकर आ़टा मॅगावें और तुझे खिलावें? जब ब्रह्मचारी बने हो, साधु हो तो अपना प्रवन्ध कर लो। अब तुम्हें यहॉ से खाने को नहीं मिलेगा।" महाराजजी ने विनोद में उसे वहुत डॉटा।

दूसरे दिन सूर्योदय होते-होते एक जमींदार देवी दयाल कुर्मी एक मन चना लेकर आश्रम आये। महाराजजी ने कुतूहलवश पूछा, "क्यों जमींदार! इतने सवेरे कैसे आना हुआ?" उसने पूछा, "महाराजजी! यहॉ कोई ब्रह्मचारी बन्दर रहता है?" महाराजजी ने कहा, "रहता तो है किन्तु तू कैसे जानता है?" वह कहने लगा, "महाराजजी! हम गहरी नींद में सोये थे। रात्रि के लगभग दो वजे ऐसा लगा, जैसे मुझे कोई झकझोर कर जगा रहा हो। मुझे आवाज भी सुनाई पड़ी--सोता क्या है? चलो उठो, मैं अनुसुइया का ब्रह्मचारी वानर हूॅ। मेरे लिए चना लेकर चल। मैं घबडाकर खडा हो गया। मैंने चारों ओर देखा कि किसने मुझे झकझोरा? मैंने आवाज भी लगायी, कौन है? किन्तु उत्तर न पाकर पुन सो गया। तव तक किसी ने एक झापड मारा। उसी के साथ शव्द भी सुनाई पडा--अभी सो रहा है, सुनाई नहीं पडता। मैने जागकर विचार किया कि कदाचित् अव सोया तो

यह बन्दर कहीं मेरी गर्दन ही दबा न दे। इसके पश्चात् उसी समय आदेश का पालन करनेहेतु चना लेकर आया हूँ। वह बन्दर है कहाँ?''

महाराजजी ने उस भक्त को आश्वस्त किया और कहा, ''वैठो! अव उसके आने का समय हो गया है।'' तब तक वह बन्दर पहाड से नीचे उतरकर महाराजजी के समक्ष आकर वैठ गया। महाराजजी ने कहा, ''यही है व्रह्मचारी बन्दर! कल मैंने इसे फटकारा था कि साधु हो तो अपने भोजन का भी प्रबन्ध कर लो। यह है तो वन्दर योनि में, किन्तु आचरण सन्तों के हैं। इसीलिए तुम्हारे हृदय मे प्रेरणा हुई। यह व्रह्मचारी है। अच्छा वेटा व्रह्मचारी! अव तुम्हें चेताने की आवश्यकता नहीं है, तू केवल भजन करता रह, खाना मिलेगा। तू असली साधु है।'' फिर भी वह भक्त नियमित मगलवार के दिन बन्दरों के लिए चना लाने लगा।

वह बन्दर व्रह्मचारी जी से वहुत घुल-मिल गया था। जव उन्हें धारकुण्डी निवास करने का आदेश हुआ तो वह बन्दर भी वहाँ से साठ किलोमीटर दूर धारकुण्डी में दिखाई पडा। स्वामीजी उसे देखकर बडे ही खुश हुए, ''अरे व्रह्मचारी! महाराजजी ने हमें यहाँ भेजा तो तू भी चला आया। ठीक है, तू भी यहीं रह।'' तीन दिन तक तो वह वहीं रहा किन्तु विरक्तों की तरह सभवत निराधार विचरण में बढ चला। इस प्रकार जिस किसी जीवधारी का स्पर्श या संसर्ग महापुरुष से हो जाता है या वह महापुरुष ही जिसमे रुचि ले लेते हैं, वह भी पुण्यात्मा वन जाता है।

गीता-आपूर्ति

महाराजजी की शरण मे आ जाने के पश्चात् धार्मिक पुस्तक के रूप में गीता और रामचरित मानस से मेरा प्रथम परिचय हुआ। रामचरित मानस आश्रम में उपलब्ध थी किन्तु गीता नामक पुस्तक का उस परिसर में अभाव था। महाराजजी गीता के अनुसार साधकों की रहनी पर बहुत बल दिया करते थे, जिससे इस पुस्तक के प्रति लगाव तीव्र उत्कण्ठा में परिणित हो गया। उन दिनों गीता प्रेस की अन्वयार्थ गीता ढाई रुपये की मिलती थी। मन में यह इच्छा स्फुरित हुई कि कम से कम तीन रुपये कहीं से मिल जाते तो मैं गीता खरीद लेता। आठ आना उन दिनों यात्रा-व्यय के लिये पर्याप्त था। इच्छा तीव्रतर होती गयी किन्तु यह तीन रुपये नहीं मिल सके। याचना स्वभाव में नहीं थी। स्वाभाविक श्रद्धावश दर्शनार्थी कुछ पैसे महाराजजी को समर्पित करते जिन्हें मैं ही रखता था, किन्तु उनका प्रयोग अपने लिये करना मैं सोच भी नहीं सकता था। गीता के लिये मेरी तडप बढती गयी। इस प्रकार ढाई साल बीत गये किन्तु ढाई रुपये नहीं मिले। एक दिन मैं विचार करने लगा कि मैं किस चक्कर मे पड गया। भजन के लिये पुस्तक अनिवार्य है क्या? आज से हमें गीता नहीं चाहिए- ऐसा निश्चय करते ही मन को बडी शान्ति मिली, चित्त हल्का हो गया। उस दिन भजन में एकाग्रता रही, ध्यान प्रगाढ हुआ, मन प्रसन्न रहा। दूसरे दिन नित्यक्रिया से निवृत्त होकर महाराजजी की सेवा में उपस्थित हुआ तो उनके पार्श्ववर्ती कोठरी की देहरी पर गीता रखी हुई थी, दृष्टिपात् होते ही हमने जल्दी से जाकर उसे उठा लिया। यह वही अन्वयार्थ गीता थी, वर्षो से हमें जिसकी चाह थी। मैंने पूछा, ''महाराजजी! यह गीता किसकी है?'' उन्होंने कहा,''क्या मूर्खो की तरह वातें करता है, तुम्हारी ही तो है। तू ही तो पढता है और कौन है यहाँ पढनेवाला? देखत हो एकर वुद्धि हो! मुझसे पूछता है कि गीता किसकी है।'' हमने गुरुदेवजी

को प्रणाम किया और इस आपूर्ति के लिये मन ही मन आभार निवेदित किया। गीता का सकल्प मन से निकालते ही पता नहीं कहॉ से आ गई, कौन उसे वहॉ रख दिया। नि सन्देह यह थी उन महापुरुष की सकल्प पकडने की क्षमता तथा तदनुकूल आपूर्ति-व्यवस्था, जो प्रत्येक परिस्थिति में साधक का सम्बल हुआ करती है।

साधकों का वैराग्य

महाराजजी की सेवा में अनुरक्त साधको मे ब्रह्मचारीजी सबसे आगे थे। भजन और सेवा दोनों में उनकी अच्छी गति थी। महाराजजी साधकों के आत्मिक उन्नयन हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। एक बार तीन-चार साधक महाराजजी के समक्ष बैठे थे। वैराग्य प्रकरण पर चर्चा चल रही थी। महाराजजी के शब्दकोश मे वैराग्य का अर्थ राग का त्याग नहीं था। साधन समझ में आने पर उत्कट लगनशील साधक साधना में अहर्निश रत रहना चाहते हैं किन्तु सामाजिक व्यवहार, शिष्टाचार बाधक बनने लगता है। एक से अधिक बर्तन होने पर उनका टकराव स्वाभाविक है अत शान्त, एकान्त निर्द्वन्द्व विचरण करते हुए चिन्तन मे रात-दिन एक कर देने की वृत्ति वैराग्य है। शिथिल प्रयत्न वाले साधक से महाराजजी प्रसन्न नहीं रहते थे। उन्हे साधन-पथ पर चलने के लिए सदैव सचेत करते रहते थे।

एक बार रात्रि मे यही उपदेश चल रहा था कि अचानक आकाश से एक प्रकाश पुज उतरा और मन्दाकिनी गगा मे समाहित हो गया। पुन· सबके देखते ही देखते वह प्रकाश ऊपर उठा और आकाश में विलीन हो गया। सभी अवाक् रह गये। महाराजजी ने कहा, " देखा यह प्रकाश।" ब्रह्मचारी जी बोले, "हॉ महाराज जी। इससे तो पूरा जगल ही प्रकाशित होता चला गया, यह क्या है?" महाराजजी ने कहा, "यह भगवान शकुन दे रहे हैं, तुम्हें ईश्वरीय प्रकाश कैवल्य धाम की प्राप्ति होनी है। इसके लिए लव लग जानी चाहिए किन्तु विरह-वैराग्य के बिना इसकी प्राप्ति सभव नहीं है। यही इस प्रकाश से भगवान ने सकेत दिया है।"

सत्सग चल ही रहा था कि अकस्मात् ब्रह्मचारीजी की छडी गिर पडी और उसके समीप रखा उनका कमण्डल अनायास लुढकता हुआ गगा के किनारे पहुँच गया। महाराजजी ने कहा, "देखा, कर्मरूपी कमण्डल और वैराग्यरूपी लठिया, तुम्हारे अन्दर वैराग्य का अभाव है, लव कच्ची है। कर्म में दृढता नहीं है, इसे उठाओ।" ब्रह्मचारी जी ने निवेदन किया, "महाराजजी। यह कैसे उठेगा?" महाराजजी ने सुझाव दिया, "निराधार विचरण करते हुए निरन्तर चिन्तन में लग जाओ।" सत्सग समाप्त हो गया। ब्रह्मचारी जी ने विचार किया- निराधार विचरण करेंगे किन्तु ब्रह्मचारी जी की सेवा में लगाव होने से एक-एक करके दिन बीतते जा रहे थे। बाहर निकल ही नहीं पाते थे।

इस उपदेश के कुछ दिनों पश्चात् एक ऐसी घटना घट गई, जो ब्रह्मचारी जी के विचरण का निमित्त बनी। दोपहर हो चला था, ब्रह्मचारी जी रसोई का कार्य लगभग सम्पादित कर चुके थे। तब तक एक महात्मा महाराजजी के पास दर्शनार्थ आ गये। महाराजजी ने शिष्टाचार के पश्चात् उनके लिए भी रसोई बना लेने का आदेश दिया। ब्रह्मचारी जी को ऐसे असमय में साधु अभ्यागत का आना अच्छा न लगा। उन्होने प्रार्थना की कि, "महाराज जी। यह तीर्थस्थल है।

साधु-महात्मा तो यहाँ आते ही रहते है। इन्हें आटा-दाल दे दिया जाय, ये वना लेंगे। जव मैं भोजन ही वनाता रहूँगा तो भजन कव करूँगा?" महाराजजी ने कहा, "ऐसा करो, मेरा हिस्सा इनको खिला दो मुझे भूख नहीं है। रहने दो, दुवारा भोजन मत वनाओ।"

अब स्वामीजी को भोजन वनाना पडा। महात्मा सहित महाराजजी को विधिवत् भोजन कराया। जब वे स्वय थाल लगाकर भोजन करने वेठे, महाराजजी चौके में पहुँच गये। उन्होंने हाथ से थाली खींच लिया और उनकी गर्दन पकडते हुए वोले, "पिता की कमाई है क्या? भागो यहाँ से! कहता है भजन कव करूँगा। जाओ करो भजन!"

स्वामीजी नीचे आकर सीढियों पर खडे हो गये। जव-जव वे ऊपर आने की कोशिश करते तो वे कहते, "ऊपर चढे तो हाथ-पैर तोड दूँगा। तू हमे अभी जानता नहीं। तू सोचता है मैं सेवा करता हूँ, हम तुम्हारे भरोसे वैठे हैं।" इसी तरह धमकी सुनते-सुनते स्वामीजी को घण्टों वीत गये। महाराजजी का गुस्सा कम होता ही न था। स्वामी जी ने सोचा, ये ऊपर जाने नहीं दे रहे हैं, किया क्या जाय? भजन ही तो करना है। नाम, रूप, ब्रह्मविद्या, अनुभव सभी तो उपलव्ध है, चलकर कहीं अन्यत्र कर लेंगे। और वे चल पडे।

उसी समय आश्रम के भाविक भक्त यमुना पाण्डेय उधर से आ रहे थे। उन्होंने ब्रह्मचारी जी को प्रणाम किया, किन्तु ब्रह्मचारी जी बोले नहीं। पाण्डेय ने आकर महाराजजी को प्रणाम कर कहा, "आज स्वामी जी बहुत उदास हैं, बात क्या है?" महाराजजी ने कहा, "वह मुझसे नाराज होकर जा रहा है।" उस भक्त ने आवाज दिया, "ब्रह्मचारी जी! लौट आवें।" स्वामीजी ज्योंही घूमे, महाराजजी की कडकदार आवाज सुनाई पडी, "घूमना नहीं, अब जाओ भजन करो।"

जगल मे चलते-चलते ब्रह्मचारी जी को रात हो गयी। एक पहाड़ी नाले पर उन्होंने देखा, गाँव के लोग एक शव का दाह-सस्कार करने में लगे हैं। शिशिर ऋतु थी। ब्रह्मचारी जी ने सोचा, जब ये चले जायेगे तो यहीं पर हम धूनी तापेंगे। उन लोगों के जाने के पश्चात् आप चिता की उसी धूनी के समक्ष आसीन हो गये। मध्यरात्रि में उन्हें याद आया कि इसी चिता पर शव जलाया गया है, कहीं वह भूत न बन जाय। क्रमश उन्हें लगने लगा कि वह भूत बनकर उपद्रव कर सकता है। अत उन्होने सम्पूर्ण तत्परता से महाराजजी का आह्वान किया।

इतने में जैसे एक दृश्य की तरह महाराजजी का रूप पहुँचा और बोला, "जब मैं तेरे साथ हूँ, आगे-पीछे चारों ओर से तुझे देख रहा हूँ, तब तू किस भूत से डर रहा है?" ब्रह्मचारीजी आश्वस्त हो भजन करने लगे। आराम भी किया और प्रात वहाँ से चल पड़े। भय सदा के लिए समाप्त हो गया। साधक के लिए गुरु सर्वत्र रहते हैं।

महाराजजी को वढिया शकुन उनके बारे में मिलता रहा। डेढ वर्ष पश्चात् अकस्मात् एक राजमाता उन्हें कार में वैठाकर प्रयाग का तीर्थाटन कराने लगी। वह बड़ी श्रद्धालु थी। इधर महाराजजी को अपशकुन होने लगा। वे कहते, अव तक तो उसका वैराग्य बहुत वढ़िया चल रहा था किन्तु अव गडवड है। अव चले आने में ही उसकी भलाई है।

उधर श्री ब्रह्मचारी जी को आश्रम चलने के लिए शकुन मिलने लगा किन्तु वे स्थिति मिलने के पश्चात् ही आश्रम लौटने का हठ करने लगे। तव उन्हें अनुभव में दिखाई पडा- तू सोचता है

मैं भक्ति करता हूँ किन्तु तेरी भक्ति नष्ट होने को है। तुरन्त आश्रम जाकर गुरु महाराज जी के चरणों में दण्डवत कर क्षमा मागो।" अब कहाँ का राजा और कहाँ की रानी! ब्रह्मचारी जी रात्रि में ही ट्रेन से आश्रम की ओर चल पडे।

आश्रम में महाराजजी भक्तों को बता रहे थे, "हो! आज मैंने अनुभव में देखा है कि सच्चिदानन्द की नाक में रस्सी डालकर पतंग की तरह डोर खींचता हुआ उसे लाकर यहाँ पटके हूँ। वह आवा नाहीं चाहत रहा किन्तु मैं उसे खींचकर लाया हूँ। अभी आता ही होगा।" प्रतीक्षा हो रही थी तब तक ब्रह्मचारी जी पहुँच गये। महाराजजी भीतर से चाहते थे कि वह कब आ जाय किन्तु उसे देखते ही बोले, "हो देखो! ये तो चले आये। इन्हें कहीं दो रोटी का ठिकाना नहीं है।" ब्रह्मचारी जी ने दण्डवत् किया और एक ओर बैठ गये। वे सोचते थे, गुरु महाराजजी से क्षमा-याचना करेंगे किन्तु प्रणाम करते ही महाराजजी प्रसन्न हो गये। हाल-चाल पूछा कि वैराग्य कैसा रहा।

माता शिशु को मारती है किन्तु उसे चोट नहीं लगती। ठीक ऐसा ही स्वभाव गुरु महाराजजी का था। उनकी सारी ताड़ना साधक के विकास के लिए ही होती थी।

साधकों का योगक्षेम

विचरण-अनुष्ठान पूर्ण होते-होते ब्रह्मचारी जी अहर्निश भजन मे परिनिष्ठित हो चले थे फिर भी उन्हें सन्तुष्टि नहीं थी। वे चाहते थे कि भजन में सदा लीन रहें। कई साधकों के अभिनव प्रवेश से उनके लिए सेवा-कार्य भी अवशेष न था। नितान्त एकान्त हेतु उन्होंने थोडी दूर पर भजन कुटीर का निर्माण कर लिया। यह स्थान घनघोर जंगल मे उस मार्ग पर था, जहाँ आसपास शेरों का आना-जाना था। कुटी तैयार हो जाने पर ब्रह्मचारी जी ने निवेदन किया, "आज्ञा होती तो एकान्त में रहता। जब आदेश होता तो मैं आपकी सेवा में आ जाता।"

महाराजजी ने कहा, "मुझे ज्ञात था कि दिन में तुमलोग कहाँ जाते हो? उस कुटिया निर्माण से भी मैं अवगत था, यह उचित भी है। इसी प्रकार दत्तचित्त होकर भजन में अनुरक्त होना चहिए। ठीक है, वहीं भजन करो। लेकिन अन्तर्देश से मिलनेवाले हर आदेश का पालन करना।" ब्रह्मचारी जी उस एकान्त में अनवरत चिन्तन में लीन हो गये। यद्यपि कुटिया में पर्याप्त भोजन-सामग्री की व्यवस्था रहती किन्तु वे मात्र सत्तू घोलकर पी लेते थे। दिन-रात भजन-चिन्तन में ही एकाकी तल्लीन रहते थे।

कुटिया के सामने जगली परम्परा के अनुसार उन्होंने आठ-दस फीट ऊँची लकडियों का एक मचान बना रखा था। गर्मियों में खुले आकाश के नीचे वह स्थान शीतल तथा रात्रि में भजन करने के लिए उपयुक्त था। आप नियमित रूप से रात्रि दस बजे से विश्राम करते और दो वजे से ही भजन में वैठ जाते थे, जैसा कि पूज्य गुरुदेव जी का निर्देश था।

एक रात्रि अपशकुन होने लगा। सकेत मिलने लगा, मत सोओ। अत वे जागते रह गये। अर्द्धरात्रि व्यतीत हो चली। तारों की स्थिति से प्रतीत हुआ कि दो का समय है। उन्होंने सोचा, सोयेंगे नहीं किन्तु कमर सीधी कर लें। ज्योंही पैर फैलाया, निद्रा के वशीभूत हो गये। अकस्मात्

उन्हे लगा, जैसे किसी ने उनका हाथ पकडकर बैठा दिया हो। साथ ही भयकर अपशकुन होने लगा। उठकर बैठते ही नीचे कुछ काला-सा दृष्टिगत हुआ। टार्च जलाने पर उन्होंने देखा कि एक गुलबाघ मचान पर छलांग लगाने का पैतरा भर रहा था। प्रकाश होते ही वह घूमकर झाडियों की ओर चला गया और बहुत देर तक वहीं से उन्हें देखता रहा फिर क्रमशः ओझल हो गया।

गुरुदेव भगवान इसी प्रकार अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। भक्त सो जाय किन्तु वे सर्वत्र सभी परिस्थितियों में साधक के रक्षार्थ साथ रहते हैं, उसे निर्देश देते हैं। उनकी अवहेलना से खतरे मॅडराने लगते हैं किन्तु भोले साधक को भी गुरुदेव अन्तत. बचा ही लेते हैं।

धारकुण्डी जाने का निर्देश

सत्यान्वेषी होने से आपका नाम पूज्य गुरुदेव ने सच्चिदानन्द रखा था। यथा नाम तथा गुण की परिभाषा चरितार्थ हुई। एक दिन महाराजजी को अनुभव में मिला कि नीवू दो टुकडों में बॅट गया। उन्होंने ब्रह्मचारी जी से कहा, "देखो, निर्गुण ब्रह्म दोनों जगह बराबर हो गया। तुम्हारे लिए यहॉ सब कुछ हो गया, पार लग गया। अब तुम्हारी छाती में बाल हो तो जाकर धारकुण्डी रहो।" ब्रह्मचारी जी ने कहा, "अपनी छाती के बालों पर तो नहीं किन्तु आपकी कृपा के बल पर मैं धारकुण्डी जा सकता हूॅ।" अनुमति मिलने पर ब्रह्मचारी जी धारकुण्डी पहुॅचे। वहॉ पहुॅचते ही, सम्पूर्ण ईश्वरीय विभूतियॉ स्वामीजी के हृदय-देश में उतर आई, आत्मसाक्षात् हो गया। जन-कल्याण की स्रोतस्विनी धारकुण्डी के पावन आश्रम से प्रवाहित हो चली।

पशु-पक्षियों को मानव-तन की प्राप्ति

जब हम भ्रमणकाल में गाजीपुर में थे, एक पहाडी कुतिया ने बच्चा दिया। स्वामी भगवानानन्दजी ने उसे झोली में रखकर महाराजजी के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। काले रग के चाइनीज कुत्ते की तरह उसके अगले पैर चार-पॉच इच के, पिछले पैर छ'-सात इच ऊॅचे, कुल ऊॅचाई एक फीट, किन्तु लम्बाई ढाई से पौने तीन फीट तक लगभग थी। देखने में वह कुत्ता बडा सुन्दर और स्वभाव का उतना ही कट्टर था। कैसा भी देशी कुत्ता हो वह उससे लिपट पडता था। छोटे पैर होने से नीचे तो उसे रहना ही था फिर भी वह हारा कभी नहीं। लडने में बड़ा तेज था। उसकी समझ पर्याप्त अच्छी थी। महाराजजी कभी उसे आसन पर भी बिठा लेते थे, तो कभी नीचे ही उसका आसन रहता था।

दूध पीने में वह बडा मनौती लेता था। जब किसी भी प्रकार बहलाने, फुसलाने से भी वह दूध न पीता तो मगल दादा उस दूध को उठाकर पी जाते और कहते- "हो सरकार! चीनी डाले रहो, यह तो नहीं पियेगा, यह मेरे अश का दूध है।" उसे जूठा सही-सब एक जैसा था। महाराजजी कहते- "देखो! कुत्ते का जूठा पी रहा है।" वह कहता- "अब तो प्रसाद हो गया महाराजजी।"

महाराजजी ने उस कुत्ते का नाम भैरव रखा था। वह प्रतिदिन शेर की गुफा से ताजी हड्डियॉ ले आता और आश्रम से दूर रखकर उसका स्वाद लेता रहता था। महाराजजी सोचते कि यह भैरव रात बारह बजे गायब हो जाता है! यह जाता कहॉ है? यह लगभग दो बजे कहॉ से



श्रद्धेय श्री सद्गुरुदेव पूज्य श्री परमहस जी महाराज
(शुनि चैव श्वपाके च पडिता समदर्शिन·)

लोटकर आता है? पता चला कि यह ताजी हड्डियाँ लाता है। शेर की गुफा यहां से काफी नजदीक थी। भैरव की हरकतें सुनकर महाराजजी चिन्तित हुए। वे कहने लगे- "लगता है इसे किसी दिन शेर जरूर खा जायेगा। जब यह सीधे गुफा में चला जाता है तो वह कब तक इसे छोड़ेगा? मान लो उस समय वह गुफा में नहीं रहता होगा, किन्तु वह दो-चार दिन लगातार गुफा में आराम भी तो किया करता है। क्या बतावें, किसी दिन इसको शेर खा जायेगा।"

महाराजजी छडी लेकर भैरव को डॉटते, धमकाते और समझाते भी थे । दो-तीन दिन तक तो वह मानता था, कहीं न जाता था किन्तु किसी दिन चकमा देकर चल देता था। एक दिन वह गया तो सवेरे तक नहीं आया। महाराजजी ने कहा- "कहीं शेर तो नहीं खा गया? अभी तो जिन्दा लगता है, उसकी श्वास बोलती है। उसे खूब ढूँढो।" लोगों ने उसे जंगल में ढूंढा किन्तु उसका कहीं पता नहीं चला।

जब हम आश्रम से बगिया की ओर जाने लगे, भैरव रास्ते की एक झोपड़ी में चुपचाप बैठा मिला। ज्योंही हम वहॉ से निकले, वह भूँकता हुआ तेजी से इधर-उधर दौडने लगा। उसका सकेत था कि हम लापता नहीं हैं बल्कि यहॉ बैठकर अपनी ड्यूटी दे रहे हैं। महाराजजी ने सुना तो बोले- "इसने तो बडी बुद्धि लगायी। आज इसे डॉट-फटकार नहीं पड़ेगी। कोई बात नहीं, अब भी समझ जाय।"

उन दिनों श्री ब्रह्मचारी जी धारकुण्डी में निवास करने लगे थे। उस दिन वह महाराजजी के दर्शनार्थ धारकुण्डी से आये थे। चर्चा चल रही थी कि भैरव शेर की गुफा में जाने लगा है। हमने प्रस्ताव रखा कि अच्छा होता यदि भैरव को धारकुण्डी भेज दिया जाय। महाराजजी इस प्रस्ताव पर मौन रहे। हमने 'मौन स्वीकार लक्षणम्' मानते हुए, धारकुण्डी महाराजजी के जाते समय वह कुत्ता उनकी जीप में रख दिया।

गाडी कुछ दूर निकल गयी तो महाराजजी ने कहा- "क्यों रे! तुम लोग हमारा मन बहलाव, श्रृंगार नहीं देख सकते हो। वह मेरी गद्दी पर बैठता था। मैं उसे अपने हाथ से दूध पिलाता था। उसे क्यों दे दिया?" हमने निवेदन किया कि वह शेर की गुफा में जाता था। उन्होंने कहा- मेरे रहते ही शेर उसे खा लेता? शेर से बचाने की सच्चिदानन्द की हैसियत है? जाओ अब बचाओ शेर से। हमने सोचा, धारकुण्डी मे वह शेर की गुफा में क्यों जायेगा? वहॉ गुफा का उसे ज्ञान तो है नहीं! बात आई गई, हो गई।

कुछ समय पश्चात् धारकुण्डी में त्रिशूल स्थापना के उपलक्ष्य में भण्डारा हो रहा था। दूर-दूर से भाविक भक्त एव क्षेत्रीय श्रद्धालुजनों का वहाँ समागम था। भीड़-भाड, चहल-पहल का वातावरण था। क्षेत्रीय लोगों के साथ बहुत से कुत्ते भी चले आए थे। भैरव को देखते ही वे ग्रामीण कुत्ते भागने लगे। उसका डील-डौल, रूप-रग अन्य कुत्तो से अलग ही था। उसे अपनी ओर आता देख कुत्ते जोर से भागने लगे। हजारों आदमियों के बीच भैरव इधर से उधर सनासन दौडने लगा और उन कुत्तों का पीछा करते-करते जंगल की ओर थोड़ी दूर चला गया।

शाम को महाराजजी को आना था। चलते समय आपसे बताया गया कि कुत्ता इस प्रकार गायब हो गया है। उन्होंने कहा-"खोजो रे, उसके लिए खतरा दिखाई पड रहा है। उसे खोजो।"

स्वामीजी उसे ढूँढने के लिए लोगों को निर्देश देने लगे। हमलोग महाराजजी के साथ जीप में बैठकर अनुसुइया की ओर चले।

घोर जगल में जीप धारकुण्डी से कुछ दूर आयी थी कि एक शेर सडक के किनारे से छलांग लगाकर सडक के दूसरी ओर कूद गया। वह जीप से दस फीट आगे से निकला और जगल में चला गया। महाराजजी बोले-"ओह! भैरव को तो शेर खा गया।" हजारों आदमियों के बीच से शेर उसे कैसे ले जायेगा? हमने सोचा किन्तु बात गुरु महाराजजी कह रहे थे, कोई इनकार कैसे करे? जीप अनुसुइया पहुँची। सभी दैनिक चर्या में व्यस्त हो गये।

तीसरे दिन धारकुण्डी से सदेश आया-"भैरव को तो शेर खा गया। शेर के गुफा में उसकी सीकड और पॉव के चिन्ह मिले हैं। हमें तत्काल महाराजजी की चेतावनी याद हो गयी, "बचाओ अब शेर से।" जहॉ कोई सम्भावना नहीं थी, वहॉ भी वह व्यवस्था हो गयी। महाराजजी ने सुना किन्तु हमलोगो को उन्होंने एक बार भी उलाहना नहीं दिये। सचमुच, वे बड़े दयालु थे।

महाराजजी के मन में आया, "भैरव मेरे हाथ से दूध पीता था, हमारे आसन पर भी वह बैठ जाता था। मैने उसे सहलाया। साधक-सेवक ही उसे चलाते-फिराते, उठाते-बैठाते थे। क्या साधु-दर्शन एव स्पर्श से उसको कोई लाभ हुआ होगा? हमारा भैरव किस योनि में गया होगा? पशु तो वह होगा नहीं, उसे तो मनुष्य योनि में ही आना चाहिए।" उस दिन महाराजजी को अनुभव में आया कि कुछ देवदूत दिखाई पड़े। एक ने कहा, "महाराजजी! चलें, आपका भैरव जिस रूप को प्राप्त हुआ है, दिखा दें। महाराजजी ने उससे कहा "ले चल दिखा। कहॉ है?" वह महाराजजी को साथ ले गया। महाराजजी ने देखा, एक कार्यालय में साहब लोग बैठे हुए थे। मुख्य अधिकारी की कुर्सी रिक्त पडी थी। देवदूत ने बताया- "महाराजजी! यह कुर्सी खाली है, इसी पर आकर आपका भैरव बैठेगा।" तभी एक मोटा-सा काले रग का एक व्यक्ति आकर उस कुर्सी पर बैठ गया। देवदूत ने कहा, "यही आपका भैरव है, इसी स्वरूप तक इसकी प्रगति हुई है।" इस सूचना से महाराजजी को बडी प्रसन्नता हुई। अपना अनुभव बताते हुए उन्होंने कहा, "हो! भैरव मनुष्य के शरीर में जन्म लेगा, साधु तो नहीं बनेगा किन्तु साहब बनेगा।"

कुछ काल पश्चात् महाराजजी ने एक शुकी पाल लिया। वह शुकी बहुत पढनेवाली निकली। स्वभाव की वह बहुत तेज तर्रार थी। वह आश्रमवासियों में सबका नाम जानती थी। सबको प्रणाम करती थी किन्तु ब्रह्मचारी जी से उसकी खटपट थी।

एक दिन वह बीमार हुई और मर गई। महाराजजी कहने लगे, "एँ, बीमार हुई और अकस्मात् मर भी गयी? हमारा तो पिजरा ही सूना हो गया। पता नहीं मृत्यु के पश्चात् वह किस योनि को प्राप्त हुई। पशु-पक्षी तो वह हो नहीं सकती। उसने मेरे हाथ से दाना खाया, राम-राम सीखा, साधु-साधकों का स्पर्श पाया है। अन्तत साधु-सगति और स्पर्श से लाभ ही क्या हुआ?

उसी दिन महाराजजी को अनुभव में आया कि समीप ही सेमरिया गाव में नवल पण्डित हैं। उसके यहॉ वह जन्म लेगी। दूसरे दिन महाराजजी ने उन पण्डित जी को बुलाकर कहा- देखो! मेरी शुकी कल मर गयी है। वह तुम्हारे यहॉ कन्या बनकर जन्म लेगी। वह पक्षी योनि से सीधा

पण्डित के यहाँ मानव शरीर ग्रहण करने जा रही है। देखना, उसे ठीक से रखना। उसे कोई कष्ट न होने पाये।

पण्डितजी एक कन्या के लिए लालायित थे। उन्हें मनमागी मुराद मिली। समय आने पर कन्या का जन्म हुआ। वह गोरे रग की बडी सुन्दर लडकी थी। दम्पत्ति ने बडे स्नेह से उसका पालन किया। विवाह का समय आने पर पण्डित जी निमन्त्रण लेकर आए और बोले, "महाराजजी! आपकी सुग्गी का व्याह है, चले।" महाराजजी ने बताया, "देखो हमें वहीं तक शौक था। अब सुग्गी तुम्हारी हो गयी। विभूति लो और जाओ अपनी व्यवस्था देखो।" अस्तु, महापुरुषों के सग से पशु-पक्षियों की भी योनियाँ बदल जाती हैं।

रामचरित मानस में है कि भगवान राम वन-पथ पर अग्रसर हो रहे थे। उस समय जिन पशु-पक्षियों ने प्रभु को देख लिया, अथवा उन्होने नहीं देखा और प्रभु ने ही उन्हे देख लिया **"ते सब भये परम पद जोगू।"** उन सबमें परम कल्याण के सस्कारों का सृजन हो गया। महापुरुष कल्याणस्वरूप हुआ करते हैं। महाराजजी के सान्निध्य में रहनेवाले पशु-पक्षी भी उन्नत शरीरों को प्राप्त हुए।

तहसीलदार स्वामी

विचरणशील महात्मा अनुसुइया पहुँचते ही रहते थे। इसी क्रम में एक सन्त अनुसुइया आये। उनका शरीर ईगुर-जैसा लाल था। महाराजजी को सादर प्रणाम कर वे एक ओर बैठ गये। महाराजजी ने पूछा, "कहाँ से आगमन हुआ? कब से इस वेश मे हैं? शान्ति तो है?" वे बोले, "महाराजजी! हम तहसीलदार थे। सन्त-महात्माओ की वाणी सुनने से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भजन ही सार है। अतएव सब कुछ त्यागकर हम ईश्वर-पथ पर निकल पडे। इस वेश मे आये दो वर्ष हो चुके हैं। रही शान्ति की बात, तो महाराजजी! सब जगह देखने से यही लगता है कि माया जीत रही है और ब्रह्म हार रहा है।"

महाराजजी ने कहा, "अच्छा! तो माया क्या कर लेगी? जब भगवान अपना लेते हैं तो माया कुछ भी नहीं बिगाड सकती।" उन्होंने कहा, "महाराजजी! आप घोर जगल मे त्यागवृत्ति से रहते हैं इसलिये माया को ललकार रहे हैं। वैसे हम आपको भी देखेंगे कि ऐसा आप कब तक कह पाते हैं।" महाराजजी ने कहा, "ठीक है।" स्वामीजी विचरण मे निकल गये।

दो वर्ष के पश्चात् स्वामीजी पुन अनुसुइया आश्रम पधारे। उन्होंने देखा कि महाराजजी की दशा पहले से भी अच्छी थी। उन्होंने महाराजजी को सादर प्रणाम कर पूछा, "आपने हमको पहचाना?" महाराजजी ने कहा, "तहसीलदार स्वामी हो क्या?" उन्होंने कहा, "हाँ महाराजजी, वही हूँ।" "और सुनाओ, ब्रह्म जीत रहा है कि माया? आपका क्या हाल है?"

महाराजजी ने कमण्डल उठाया और घूमने चले गये। इधर तहसीलदार स्वामी के नेत्रों से अश्रुपात् होने लगा। कुछ देर पश्चात् महाराजजी लौट आये तो भक्तों ने महाराजजी से बताया कि तहसीलदार स्वामी तो रो रहे हैं। महाराजजी ने कहा, "अब रोने से क्या होगा-

केरा तबहिं न चेतिया, जब ढिग लागी बेर।
अब के चेते क्या हुआ, काटन्ह लीन्हा घेर।।

यह हुआ कैसे?" उन स्वामीजी ने उत्तरकाशी के एक धर्मशाला में घटित घटना का वृत्तान्त कह सुनाया। इस घटना को वहाँ के लोगों ने यद्यपि नहीं जाना, किन्तु आत्मा ही मेरी शत्रु हो गयी।

भक्तगण रोक तो लेते हैं लेकिन अब उनका मेरे प्रति कोई विशेष आदर-भाव नहीं रहता। वे चाहते हैं कि कब चले जायँ। हम सोचते थे कि उक्त घटना को कोई नहीं जानता। केवल हम जानते है या वह जानती है किन्तु **"उर प्रेरक रघुवंश विभूषण"**। लगता है सबके हृदय में प्रेरणा हो जाती है। अब भजन में भी मेरा मन नहीं लगता। ऐसा कहकर वे पुनः रोने लगे।

महाराजजी ने कहा, "रोने से क्या होगा? अब तुम विश्वामित्र की तरह धैर्य के साथ पुन लगो। जो पीछे घूमकर लडता है वह कायर नहीं कहलाता। हिम्मत क्यों हारते हो ? माया से सदैव डरना चाहिये। माया ही नारी है। घर छोड़कर आप साधु बन गये, वेश भी धारण कर लिया। ज्ञान-ध्यान की बाते भी करने लगे किन्तु जब तक अनुभवी महापुरुप न मिलें तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट साधना का अभ्यास और सेवा किये विना साधना हृदय में जागृत होती नहीं। आपसे यही भूल हुई कि महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त नहीं किया। इसलिये सद्गुरु के दरबार में श्रद्धापूर्वक अपना अभिमान त्यागकर पडे रहना चाहिये। जब भजन-पथ पकड में आ गया, साधना जागृत हो गयी, उसके पश्चात् ही निराधार विचरण का विधान है। इस जागृति को प्राप्त साधक-

कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रणामा। कतहु विलोकत मन अभिरामा।।

रामनगर की रामलीला

भगवान राम की रामलीला, भगवान श्रीकृष्ण की रासलीला, भगवान महावीर, भगवान बुद्ध जैसे महापुरुष, हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, ध्रुव इत्यादि भक्तों के नाटक भारत में अनादि काल से होते आये हैं। आध्यात्मिक देश भारत में यह रामलीला, रासलीला खुली पुस्तक है। इन प्रचलित नाटकों से बच्चा-बच्चा श्रद्धा से भर जाता है। यह अध्यात्म क्रिया की पहली कक्षा है। प्रवेशिका से मध्य तक का सस्कार इन्हीं नाट्य रूपकों से मिलता है। निरक्षर भी इन दृश्यावलोकनों से शिक्षित हो जाता है।

भारत मूर्तिपूजक कदापि नहीं है। बाल्यकाल से ही इन आध्यात्मिक सस्कारों का सृजन इन मूर्तियों से मिलता है। वही आत्मदर्शन का पथिक जब आगे की विद्या पकड लेता है तो पुन जीवनपर्यन्त वह कभी मूर्ति के पास नहीं जाता। वह आरभ का मूर्तिपूजक एकान्त शान्त झाडियों, खण्डहरों, वनस्थलियों की कुटियों मे पाया जाता है ।

ससार की समस्त विद्याओं का ज्ञाता भी अध्यात्म-पथ में मात्र प्रवेशिका का छात्र है। उसने शरीर-निर्वाह पढा है, आत्मानुभूति की क्रिया नहीं। वह तो तब आती है जब चिन्तन से हृदय का आवरण धुल जाय और आत्मा रथी हो जाय। वैसे तो यह लीलायें भारत में बारहों मास चलती रहती हैं किन्तु वर्षा के मध्य भाग श्रावण-आश्विन मास का समय इन लीलाओं के लिए निर्धारित है। ग्राम, गली, हर जनपद में इन लीलाओं की बाढ आ जाती है। बाल्यकाल से ही महाराजजी ने इन लीलाओं का अवलोकन किया था। इनमें से काशी के रामनगर की लीला आपको बहुत ही प्यारी लगती थी। क्वार मास आते ही महाराजजी के मन में विचार आया कि काशी जाकर

रामनगर की रामलीला एक बार और देख लिया जाय। ज्योंही चलने की तैयारी की, भगवान ने मना किया कि मत जाओ, फिर भी महाराजजी सोचते कि भगवान आदेश देते तो जाकर देख आते।

इतना सकल्प आया ही था कि महाराजजी जब भी सायकालीन ध्यान मे बैठते, शरीर तो अनुसुइया में रहता किन्तु स्वरूप उड़कर रामनगर की रामलीला में आ जाता था। चेतना सिमटकर रामनगर चली आती थी। जब रामलीला समाप्त होती तो स्वरूप पुन. उडकर वापस अनुसुइया पहुँच जाता था। वे पुन सचेत हो जाते थे रामनगर की समस्त रामलीला ज्यो की त्यो महाराजजी को दिखाई पडने लगी। यह क्रम कई दिनों तक चलता रहा।

एक दिन महाराजजी कुछ चिन्तित थे। वे बोले, "हो! आज रामनगर की रामलीला मे राजा का हाथी बिगड गया। सम्पूर्ण मेला-क्षेत्र में भगदड मच गयी। मैं भी दबते-दबते किसी तरह बचा। व्यासजी रामजी का हाथ पकडकर भागने लगे। बडी हँसी हुई।

महाराजजी भक्तों के बीच यह बता रहे थे कि चित्रकूट के तीर्थ पुरोहित कार द्वारा काशी से आनेवाले कुछ यात्रियों को लेकर अनुसुइया दर्शन को पहुँचे। महाराजजी के मुख से यह कथानक सुन वे आश्चर्य में पडे। उन्होने साश्चर्य कहा, "महाराजजी! आप कब आये? हम लोग भी वहाँ थे और चले ही आ रहे हैं। आप हम लोगों से भी पहले आ गये- ऐसा कैसे सभव है?" महाराजजी ने हँसते हुए कहा, "हम कहीं गये नहीं थे। यहीं बैठे-बैठे देखा करता हूँ। भगवान चाहे तो अपने भक्त को कुछ भी दिखा सकते हैं। पत्थर पर भी दूब जम सकती है। वे असभव को सभव बना सकते हैं। जेल में सन्त नानक की चक्की चल गयी थी। करते भगवान हैं, श्रेय अपने भक्त को देते हैं। **करत करावत आप हैं पलटू-पलटू शोर।**

जंगल में रेडियो

उन्हीं दिनों भारत-चीन सीमा पर युद्ध चल रहा था। लोगों से सुनकर महाराजजी कहते, "हो! कोई मुझे भी ठीक से लडाई का समाचार तो सुनाता।" कर्वी ग्राम्याचल के वासुदेव नामक भक्त ने एक रेडियो अर्पित करते हुए कहा, "महाराजजी! यह आपको इस जगल मे भी सही समाचार देता रहेगा।" उन दिनों बाँदा जिले में रेडियो एक दुर्लभ वस्तु थी। अनुसुइया-चित्रकूट तक तो यह किसी के पास न थी। कर्वी के दो-एक सेठ-साहूकारों के पास तक ही यह सीमित थी। वडे शहरों में ही इसका प्रचलन था। रेडियो देखकर मुझे बहुत चिन्ता हुई क्योकि इसमें भले-बुरे सभी तरह के गाने आते ही रहते हैं, जिनका गलत प्रभाव साधकों पर पड सकता था। अत हमने महाराजजी से निवेदन किया, "महाराजजी! रेडियो आश्रम में न रखा जाय। शहरो में लोग दिन-रात सिनेमा देखते और रेडियो के गाने ही तो सुनते रहते हैं। मशीनों की चकाचौंध से घवडाकर चित्त को विश्राम देने के लिये ही तो लोग जगल में सन्तों का दर्शन करने आते हैं।"

महाराजजी ने कहा, "देख मेरे लिये अब कोई विधि-निषेध नहीं है। मैंने न इसे मँगाया है न मुझे इसकी कोई इच्छा ही थी। पता नहीं, कैसे ये वस्तुयें स्वाभाविक रूप से मेरे पास चली आ रही हैं। मुझे कोई वाधा भी नहीं दिखाई देती।"

मैंने कहा- "फिर भी महाराजजी! लोकदृष्टि में यह उचित नहीं है।" महाराजजी ने कहा, "अच्छा तू कहता है तो हम इसे हटा देते हैं।" महाराजजी ने वह रेडियो उसी भक्त के यहाँ भेज दिया।

उसी दिन सिंचाई विभाग के एक ओवरसियर महाराजजी के दर्शन हेतु आश्रम में आये। उन्होंने कहा, "महाराजजी! हमने सुना है कि आपके पास रेडियो आया है।" महाराजजी ने कहा, "हॉ हो! आया तो था लेकिन हमारे एक शिष्य हैं, वे कहते हैं कि इसे न रखा जाय। इससे साधकों पर बुरा सस्कार पड सकता है, इसलिये हमने उसे जिसका था उसी के पास लौटा दिया है।"

ओवरसियर ने कहा, "महाराजजी आप योगी हैं। आपके लिये विधि-निषेध कहॉ है?

अवधू सहज समाधि भली।
जहँ जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जो कुछ करूँ सो पूजा।
भीतर बाहर एक ही देखूँ, भाव मिटा सब दूजा।।

आपके लिए कर्तव्य और अकर्तव्य की सीमा कहॉ है।"

महाराजजी ने तुरन्त हमें बगिया से बुलवाया और बोले, "देखो, यह क्या कह रहे हैं?"

हमने सुना तो कहा, "महाराजजी! ये कहते तो ठीक हैं, आपके लिए तो वास्तव में इसका कोई प्रभाव नहीं है। रेडियो बाधक तो हमलोगों के लिए है। महाराजजी ने कहा, "तो तुम अपना बचाव देखो। जिस भजनानन्दी की सुरत लक्ष्य में लग जाती है तो बैण्ड-बाजे या रेडियो कुछ भी होता रहे, न कानो से सुनाई पडता है न दृश्य ही दिखाई पडता है।" रेडियो लौटकर आश्रम में आ गया। महाराजजी उससे केवल समाचार सुनते या यदा-कदा दिन में दो बजे गोरखपुर से प्रसारित होनेवाले लोकगीत! शेष समय मे रेडियो वैसे ही पडा रहता था।

दान में दान

अनुसुइया आश्रम के प्रति भक्तो का भाव बढ़ने लगा। मगल यादव ने आश्रम के समीप एक बाग लगाया। महाराजजी को दूध पीने के लिए तीन-चार गायों की व्यवस्था कर ली। यमुना तटवर्ती सिलौटा ग्राम के जमींदार ठाकुर नन्हकू सिह तीर्थस्थलों की यात्रा के समापन पर दर्शनार्थ अनुसुइया आये। उन्होंने अनेक सन्त-महात्माओं का सान्निध्य प्राप्त किया था किन्तु महाराजजी के दर्शन तथा सदुपदेश से आपको सन्तोष मिला। शिष्यत्व ग्रहण कर उन्होंने अपना हाथी महाराजजी की सेवा मे अर्पित कर दिया। महाराजजी ने कहा, "हो, हम क्या करेंगे हाथी? यह साधु को कहॉ शोभा है?" उन्होंने साष्टाग दण्डवत् कर कहा, "भगवन्, यह तो अब आपका हो चुका है। दान का सकल्प लौटाया नहीं जा सकता।" उस समय पॉच-छ. सौ महात्माओं का एक समूह निरजनी अखाडा चित्रकूट में चातुर्मास्य कर रहा था। महाराजजी ने उन सबको आमन्त्रित कर उनका भण्डारा किया तथा वस्त्र इत्यादि मागलिक पदार्थो से सुसज्जित कर वह हाथी उन महात्माओं को दान कर दिया। महाराजजी कहते थे, "**दान में से दान दे, तीनों लोक जीत ले।**"

गाछी-बाछी-दासी

क्षेत्रीय लोगों की गायें जंगल में चरने आती थीं। महाराजजी के कुछ भक्तों ने उन्हें समझाया कि सारा जंगल पड़ा हुआ है अन्यत्र अपनी गायें चरायें। केवल इस पहाड़ी के नीचे न लाया करें,

इससे बगीचे को क्षति पहुँचती है। यह सुझाव उन लोगों को भारस्वरूप प्रतीत हुआ। उनमे से कुछेक भक्त श्री ब्रह्मचारी जी (स्वामी सच्चिदानन्द जी) से हिले-मिले थे। उन लोगो ने धारकुण्डी जाकर स्वामी जी से निवेदन किया, "आपके आने के पश्चात् अब अनुसुइया मे गायें आ गयी है। एक बगीचा लग रहा है। पशुओ के लिए चारे पर रोक है और कुछ दिनों पश्चात् खेती का आयोजन भी लगता है। हमलोगों को असुविधा होती है।

स्वामीजी ने टेलीग्राम देकर जगतानन्द से स्वामी श्री भगवानानन्दजी को बुलवाया। कुछ भक्तों के साथ भगवानानन्दजी धारकुण्डी पहुँचे। उन सबको तथा दो-चार अन्य भक्तों को लेकर धारकुण्डी महाराजजी अनुसुइया के लिए चल पडे। इधर महाराजजी अनुसुइया के भक्तों के बीच बैठे कह उठते थे, "समझ मे नहीं आता क्या गडबड है? हूँ, अब समझ में आया, आ रहे हैं सब जुटकर हमें ज्ञान सिखाने! अण्डा कहे बच्चा से चूँ-चूँ मत कर। हमारे जन्माये हुए हमें ही ज्ञान सिखाने आ रहे हैं।" लोगो को आश्चर्य हो रहा था कि महाराजजी किसके लिए ऐसा कह रहे हैं।

सूर्यास्त हो गया। भली प्रकार अँधेरा होते-होते सब-के-सब ट्रक से अनुसुइया आ गये। सबने महाराजजी को प्रणाम किया। महाराजजी शान्त बैठे थे। उन्होने पूछा, "अचानक इतने लोग साथ आए हो, कोई बात है क्या?" वार्ता का सूत्र धारकुण्डी महाराजजी ने पकडा, "महाराजजी! आश्रम में गायें आ गयी हैं, बगीचे में पन्द्रह-बीस पेड लग गये हैं, यह साधु की शोभा नहीं है। इससे उत्साहित होकर कुछ दिन में लोग खेती भी करने लगेगे। आप कहा करते थे- **गाछी बाछी दासी, तीनों साधु की फाँसी।**"

महाराजजी हँसे और बोले, "यह तो मैं अब भी कहता हूँ और सही कहता हूँ, साधक के लिए सदैव फाँसी है क्योकि संग-दोष होता है। लेकिन अब हमारे लिए विधि-निषेध नहीं है। योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं-

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।। (गीता २/७०)

तुम लोग अपने लिए सतर्क रहो। रही बात गाय की तो मैंने न कोई गाय मँगाया है न रखा है। हमें पता ही नहीं कि कहाँ गाय है और कहाँ बगीचा लग रहा है। मैंने अभी तक उसे देखा भी नहीं। वही मगल कहीं से दो-तीन गायें मँगाकर बगल के जंगल में पडा है। वही झगडे की जड है। उसी को भगाओ। दूध की हमें कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, उसके रहने से इतनी सुविधा अवश्य है कि गोरखपुर, कानपुर, बनारस जैसे दूरस्थ शहरी भक्त यहाँ आते हैं, वे चाय के आदी होते हैं। घोर जगल मे चाय न मिलने पर छटपटाने लगते हैं। यह अहीर पाव-सेर दूध रखता है, जिससे वे जब भी आते हैं चाय मिल जाती है। गायें वह अपने तरीके से रखता है। आवश्यकता पडने पर दूध की व्यवस्था कर जाता है। हमसे या आश्रम से उन गायों की व्यवस्था का कोई दायित्व नहीं है।"

धारकुण्डी महाराजजी ने कहा, "महाराजजी! आपके इस पावन आश्रम में यह फिर भी शोभनीय नहीं है।" महाराजजी किंचित् रुष्ट होकर बोले, "अच्छा, तू भी कह रहा है। जाओ, तुम्हें भी यह सब करना पड़ेगा, समझे! अब जाओ!" वातावरण को सहज बनाने के लिए भगवानानन्दजी

ने कहा, "लेकिन महाराजजी! प्रसाद तो अभी मिला नहीं।" आप बिगड़े, "प्रसाद नहीं मिलेगा। भागो यहाँ से, निकल जाओ!"

जब सब शान्त हो गये। रात्रि के लगभग ग्यारह बजे महाराजजी ने सबको बुलाया, प्रसाद दिया और स्नेह से सबका कुशलक्षेम पूछा, जैसे कुछ हुआ ही न हो। परिणाम यह हुआ कि महाराजजी के यहाँ तो गाय की भूमिका मात्र थी। केवल तीन-चार गायें, बीस-तीस पौधे तथा थोडी-सी जगह मे फूल-पत्तियाँ इत्यादि बोने का उपक्रम था, जबकि धारकुण्डी आश्रम में इस समय लगभग डेढ सौ गायें, चालीस भैंसे, कई सौ एकड का बगीचा और खेत का उपक्रम लगा हुआ है- **मृषा न होई देव रिषि बानी।**

हमने धारकुण्डी महाराजजी से एक बार पूछ लिया कि आपके यहाँ यह सब क्या है? वे बोले, "महाराजजी ने जो आशीर्वाद दिया था, वही है।" पूज्य महाराजजी कहा करते थे, "लोग कहते हैं सिद्धि! सिद्धि! लेकिन सिद्धि जैसा कुछ भी नहीं है। महापुरुष मन से जो कह देते हैं उसे होना ही होना है। वे दबाव देकर कुछ भी कह दें, वह हो जाता है। महापुरुष के पास वाक् सिद्धि होती है। सब कुछ मिल जाने पर भी गुरु की महिमा अतुलनीय है। उनके समक्ष आत्म-प्रशसा करने की धृष्टता नहीं करनी चाहिए। कुछ भी शेष न रह जाने पर भी गुरु के प्रति आदरभाव सदैव रहना चहिए।

ईश्वर-पथ में नकल नहीं

महाराजजी के अनुसुइया में निवासोपरान्त तीन-चार वर्ष व्यतीत होते-होते यह वन प्रान्त निर्विघ्न हो गया था। सन्त-महात्मा तथा भाविक भक्त वहाँ आने-जाने लगे थे। एक महात्मा हाथ में दण्ड लिए वहाँ पधारे। उन्होंने देखा, उस घोर जगल में परमहसजी दिगम्बर, कोई वस्त्र नहीं किन्तु प्रसन्न मुद्रा मे बैठे हैं। दो-चार साधक आस-पास सेवारत थे। उन्होंने समझा कि इसी वेशभूषा के कारण साधुता प्रशसित होती है, अत अपना दण्ड-कमण्डल तथा वस्त्र एक अन्य सन्त को सौंपकर स्वय दिगम्बर हो एक ओर चल पडे। उसी क्षेत्र में वे विचरण करने लगे। अब वे अपने हाथ से भोजन भी ग्रहण नहीं करते थे। कोई उन्हे अपने हाथों खिलाता तभी खाते, बहता पानी पी लेते।

कुछ दिनों पश्चात् वे पुन अनुसुइया पहुँचे। उन्होंने देखा कि परमहसजी के पास दु खी लोगों तथा भक्तों का ताँता लगा हुआ है। वे उन्हे डॉट-फटकार रहे हैं। साधुता में और भी रौनक है। उस दिन से उन्होंने भी मौन तोड दिया और कुछ कहने लगे किन्तु जब वे गाली देते तो लोग पलटकर उन्हें भी कुछ कहने लगते थे। लोगों के प्रत्युत्तर से परेशान होकर महाराजजी की रहनी का सूक्ष्म निरीक्षण करने के लिए वे पुन अनुसुइया आये।

इस बार उन्होने देखा कि तख्त के ऊपर गद्दा बिछा है। महाराजजी उस पर बैठे हैं। कोई पखा लेकर खडा है तो कोई चॅवर डुला रहा है। वे उन्हीं खण्डहरों के बीच तख्त पर आसन लगाकर बैठे। दो सेवक पखा झलने के लिए भी रख लिया। प्रचार होने लगा कि सोमवार को उनसे कोई जो भी माँगेगा, उसे मिलेगा। दो-एक मास ऐसा चला फिर एक अप्रत्याशित विघ्न आया जिससे वे वहाँ से चले गये।

क्षेत्रीय भक्तों द्वारा महाराजजी को भी उनके जाने की सूचना मिली। महाराजजी ने कहा, "वेश बनाने या वस्त्र फेंक देने मात्र से क्या होता है? उन्हे चाहिए था कि कुछ दिन हमारे पास रह लेते तो योगसाधना भी जागृत हो जाती और सदा के लिए सब ठीक हो जाता। उनकी लगन अच्छी थी। **अवधू! भजन भेद कछु न्यारा। जाने कोई जाननहारा। पशु सम नगन फिरे का होई, चन्दन घिसे लिलारा।** अरे, अनुभवी महापुरुष के सान्निध्य के बिना भजन जागृत कैसे होगा? जब तक सद्गुरु तुम्हारी आत्मा से रथी नहीं हो जाते, भजन की कुजी मिलेगी ही नहीं। इसलिए साधक को कभी किसी की नकल नहीं करनी चाहिए। साधक को अपना स्तर देखना चाहिए कि मैं कहाॅ हूॅ, किस स्तर पर हूॅ, फिर वह जहाॅ है वहीं से आगे के लिए प्रयास करना चाहिए। यदि साधक महापुरुष की नकल कर कर्म से विरत हो जाता है तो वह भ्रष्ट हो जाता है। नकल इस चिन्तन-पथ का बहुत बडा व्यवधान है। साधक को इससे सावधान रहकर धैर्य के साथ चिन्तन में लगे रहना चाहिए।

महाराजजी द्वारा भण्डारा

महाराजजी की सेवा में एक दिन दस-पन्द्रह ब्राह्मण एकत्रित हो गये। सुपारी-तम्बाकू खाया, वाणी श्रवण किया। जब जाने लगे तो बोले, "महाराजजी! आप ब्राह्मण-भोजन क्यो नहीं कराते?" महाराजजी बोले, "हो, मेरे लिए न पाप है न पुण्य फिर भी तुमलोगो का मन है तो कर लो। मोके भगवान माने है। जैसे चाहो, जो चाहो बनाओ, खाओ-खिलाओ। मेरे पास कौनो कमी नहीं है। करो, लेकिन झगडा मत करना- **"तीन जाति लड़होड़ा, ब्राह्मण कुत्ता घोड़ा।"** उन लोगों ने प्रसन्न मन से कीर्तन-भण्डारा करना स्वीकार किया।

हो तो रहा था ब्राह्मण-भोजन किन्तु जिसने भी सुना कि महाराजजी के यहाॅ आश्रम पर कीर्तन हो रहा है, भण्डारा समझ श्रद्धा निवेदन हेतु आश्रम पहुॅचने लगे। एक चमार भक्त गले में हारमोनियम लटकाकर उसे बजाता हुआ उस मण्डप के चारों ओर परिक्रमा करने लगा, जिसमें कीर्तन हो रहा था। महाराजजी के आसन से लगभग पचीस मीटर दूरी पर वह मण्डप सजाया गया था। रात्रि के दस-ग्यारह बजे थे, महाराजजी आसन पर बैठे गाॅजा पी रहे थे। दरबार लगा था, तव तक कीर्तन व्यवस्थापक आकर बोला, "महाराजजी गजव हो गया, कीर्तन तो भरभण्ड हो गया।" महाराजजी वोले, "क्या हो गया रे! घी गिर गया तो और ले ले। कुछ कमी हो तो बोल। क्या गजव हो गया?" उसने कहा, "नहीं महाराज जी! एक चमार मण्डप के चारों ओर घूम गया, मण्डप छू दिया। अरे राम-राम, धर्म तो नष्ट हो गया।" महाराजजी हॅसे और वोले, "क्यों रे! कभी भगवान भी नष्ट होते हैं। जो शाश्वत है वह नष्ट कैसे होगा? धर्म कैसे नष्ट हो गया रे!" किन्तु पचायत वढती चली गयी। महाराजजी के हितैषी पण्डित लोग भी विपक्ष में वोलने लगे।

तव तक सेना से अवकाश प्राप्त एक पण्डित आ गये। सेना में सग-साथ के प्रभाव से वह शराव का भी सेवन करने लगे थे। आते ही उन्होंने कहा, "अनर्थ हो गया महाराजजी! वडा भारी अनर्थ! हम ब्राह्मणों को तो लै डारयो महाराजजी!" महाराजजी ने कहा, "ऐं, यह भी आ गया।" अपने एक श्रद्धालु को वुलाकर महाराजजी ने कहा, "दे तो इसे एक पौवा।" शराव पी लेने पर वह वोले, " विल्कुल ठीक तो हो रहा है। महाराजजी महापुरुष हैं, इनके दरवार में न कोई ऊॅच

है न नीच। जगन्नाथ जी के भात की तरह यहाँ का सब कुछ महाराजजी का प्रसाद है। जिसे खाना हो खाय, नहीं तो जाय।" वह बिगड़ा तो लोग बोले, "गर्गजी! चुप रहें। क्या कह रहे हैं?" गर्ग बोले, " भाइयो! मैं तो चुप हूँ। मैं मिलिट्री में रह चुका हूँ। सब जाति के लोगों के साथ मैंने खाया है। तुमलोग भी होटलों में खाते, मोटरों में सबसे सटकर बैठते रहे हो। भगवान कसत नष्ट होइगा। यदि छूने से भगवान नष्ट हो गया तो तीर्थो वाले सभी भगवान नष्ट हैं। ईसाई, मुसलमान, यहूदी सभी तो तीर्थो में आते-जाते हैं।" उन सबने कहा, "अच्छा, अच्छा! कोई बात नहीं। गुरु महाराजजी की शरण में सब ठीक है।" कीर्तन-भागवत यथावत् होने लगा।

कीर्तन के समापन पर भडारा हुआ। शुद्ध देशी घी से पूडी बन रही थी, देशी घी में ही बुनिया निकाली गई। बडे-बडे कडाहों में सब्जियॉ बन रही थीं। कोई कुछ सेवा कर रहा था तो कोई व्यवस्था की देख-रेख में व्यस्त था। दूर-दूर से चारों ओर के ब्राह्मण उस निमंत्रण में आये थे। गुर्दवान नाम के एक पण्डितजी आश्रम के भक्तों में से थे। वे एक कड़ाही पर बैठकर पूडी निकालने लगे। उनके विरोधी पडोसियों ने देखा तो महाराजजी के पास आये और कहा, "ओह महाराजजी! आपने तो गजब कर दिया, "**धरमहेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि व्याध की नाईं।**।" महाराजजी अब हमलोग भोजन नहीं करेंगे। हमलोगों को आपने क्यों बुला लिया?" महाराजजी ने कहा, "अब क्या हो गया? किसने तुम्हें मार डाला?" उन्होंने बताया कि गुर्दवान पण्डित पूडी निकाल रहे हैं जबकि आपस में उन लोगों से बोलना और खाना पिछले छ मास से बन्द है। महाराजजी ने उन्हें समझाया, "देखो बेटा, अपने घर तक ही यह विवाद सीमित रखो। खाना-पीना तुम्हारा-उनका बन्द है। आज बन्द है तो कल एक हो जाओगे। गॉव घर में तो यह होता ही रहता है। चार बर्तन जहॉ होते हैं, खन्-खट् होता ही है। मेरे लिए तो सब बराबर हैं। क्या तेरी ओर से हम लाठी चलायें? किन्तु उनलागों ने कहा, "महाराजजी! जियत माखी न खाई होई" महाराजजी बोले, "क्यों रे, तू जानता था कि महाराजजी के लिए सभी बराबर हैं।" वे लोग बोले, "जी महाराजजी! यह तो जानत रहेउ।" महाराजजी ने कहा, "जब जानते थे कि बाबा के लिए सभी बराबर हैं और सबके यहॉ निमत्रण गया है तो तू चला क्यों आया? तुम्हें वहीं से कह देना चाहिए था कि बाबा की ऐसी-तैसी! मैं नहीं जाऊँगा। तेरे ब्राह्मण की ऐसी की तैसी, भाग यहॉ से अपना जाति-पॉति, भेदभाव लेकर। हम तो इसलिए खिला रहे हैं कि लोग परम्परा को मानकर खाते-खिलाते रहें। क्या मेरी बिटिया का विवाह है जो मुझसे नाक-भौं सिकोड़ रहे हो? जब तुमसे खाते ही नहीं बनता तो मैं क्या करूँ?" महाराजजी की प्रताड़ना सुनकर अधिकांश लोग पक्तिबद्ध होकर बैठ गये। भोजन परोसा जाने लगा। विरोध व्यक्त करनेवाले दो-चार लोग मन्दाकिनी नदी के किनारे जाकर बैठ गये। वे परस्पर विचार-विमर्श करने लगे, "महाराजजी तो बिगड गये। घर-गॉव का पचडा महाराजजी के माथे नहीं मढना चाहिए था। महाराजजी को नाराज करके जाना उचित नहीं है।" ऐसा परामर्श कर वे एक घण्टे पश्चात् पुन महाराजजी के पास पहुँचे, उन्हें प्रणाम कर वे बोले, "महाराजजी! प्रसाद के रूप में हमलोगों को बुनियॉ दी जाय।" महाराजजी ने कहा, "तुम्हारे लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है।"

पगत चल रही थी। वे लोग उठे और सबके बीच जाकर प्रेम से भोजन किया। उस दिन



विशेष पर्वा पर ... श्री परम ... जी

से उनका घरेलू वैर-भाव भी समाप्त हो गया। उन लोगों की श्रद्धानुसार आश्रम में भण्डारों का क्रम चल निकला। विगत वैर सभी क्षेत्रीय भक्त सहयोग की भावना के साथ महाराजजी की सेवा में तत्पर रहने लगे। उन महापुरुष के साहचर्य से- **"बिगत बैर बिचरहिं सब संगा।"** सन्त के सान्निध्य से आपसी कटुता का शमन सदा के लिए हो गया।

महाप्रयाण की बेला

साधन के द्वारा साध्य की उपलब्धि हो जाने पर लक्ष्य से तद्रूप रहते हुए महापुरुषो का साधन से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। शाश्वत अमरत्व के गुण से विभूषित हो जाने पर वे कालजयी हो जाते है। एक बार श्री परमहंस महाराजजी भी स्थिति का दिग्दर्शन करते हुए बोले कि मैं मरूँगा नहीं। काल से मुझे छुटकारा मिल गया है। परन्तु किसी शिष्य द्वारा शब्द की गोली मारे जाने से शरीर अवश्य त्याग दूँगा। **"शब्दै मारा गिर पड़ा, शब्दै प्राण पयान।"**

किसी सभावित पुरुष के लिए शब्द की मार गोली से भी बढ़कर है। यह समझ लूँगा कि अब इनको मेरी आवश्यकता नहीं है। तब मैंने विनयपूर्वक आग्रह किया कि इन माध्यमो अथवा अन्य माध्यमों से शरीर-त्याग कर देने में क्या अन्तर है? आपने समझाते हुए कहा कि किसी न किसी बहाने से शरीर तो छोडना ही पड़ेगा। राम भी शरीर नहीं रख सके, लक्ष्मण का बहाना लेकर सरयू में समा गये। श्रीकृष्ण ने बहेलिये के माध्यम से शरीर का त्याग किया। मैं भी किसी माध्यम को अपनाऊँगा। तत्पश्चात् मैंने महाराजजी से यह प्रश्न किया कि महाराज! क्या शरीर रखा जा सकता है? उन्होंने मुझे सम्बोधित करते हुए कहा कि वाल्मीकि, नानक, कबीर आदि एक से एक ऋषि-महर्षि जैसे महाबीर, गौतम बुद्ध किसी का भी तो शरीर आज दिखाई नहीं देता। यह शरीर नश्वर है। जिस उद्देश्य से यह शरीर धारण किया गया है, उसकी पूर्ति के उपरान्त इस शरीर का उपयोग नहीं रह जाता है। चाहे जब त्याग दे। वह पूरा हो गया। कुछ भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है। यह महापुरुष की इच्छा पर निर्भर करता है। इसलिए मैं मरूँगा तो नहीं, सूक्ष्म शरीर से सदैव तुम लोगों के बीच रहूँगा तथा कल्याण भी करूँगा।

एक साधक से कुछ भूल हो गई। जब उनका आश्रम मे प्रथम आगमन हुआ था, तब महाराजजी ने कहा था, "न तो यह भ्रष्ट योगी है और न इसमें साधुता के कोई लक्षण ही हैं। हाँ, मैं देख रहा हूँ कि इसका आश्रम में मेरे पास रहने का सस्कार है।" उसका चरित्र सदिग्ध प्रतीत होने पर महाराजजी ने कहा,"इसने तो मेरी नाक कटा दी।"

महाराजजी में करुणा भी वहुत थी। वे कभी किसी का त्याग नहीं करते थे। कितना ही कोई पापी क्यों न हो, महाराजजी उसके उद्धार के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे। वे कहते थे-**शरणागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि। ते नर पामर पापमय तिन्हहि विलोकत हानि।।** महाराजजी उस साधक के लिए भी चिन्तित थे। वे भयवश महाराजजी के पास नहीं आ पा रहे थे। महाराजजी ने सुना तो वोले, "हो, एक वार कोई उसे पकड़कर मेरे पास ले आता तो मैं एक वार उससे भूल का प्रायश्चित कराकर फिर से उठा लेता।"

शरीर त्यागने के एक दिन पूर्व ही मैंने महाराजजी से निवेदन किया कि आपके कथनानुसार

पहले यहाँ अधिकारी लोग ही लिए जाते थे परन्तु अब अनाधिकारियों को क्यों ले लिया गया? तब आप विस्मित स्वर में बोले, "तू बात क्या करता है, गोली की तरह लगती है।" मुझे संकुचित देखकर बोले, "मै कैसे समझाऊँ, तुम लोग वाणीरूपी गोली का प्रहार कर रहे हो, जो शरीर को छेदती हुई चली जा रही है।"

उसी समय पथरा गाँव के एक पण्डित जी आ गये। महाराजजी उन्हें सम्बोधित कर बोले, "पण्डित! तुम्हारा भी बुढापा है और मेरा भी, अब समय अधिक नहीं रह गया है, तुम्हें जो कुछ करना हो इसी समय कर लो। मेरा यह शरीर देखते भर हो किन्तु शरीर है नहीं।" किसी भक्त ने कहा, "महाराजजी मैंने एक स्वप्न देखा है कि आपका शरीर छूट गया।" महाराजजी ने कहा, "हाँ हो! ठीक देखा है, मैं भी तो यही कह रहा हूँ कि यह शरीर है नहीं।" पाँच दिन से महाराजजी प्राय यही समझाया करते थे कि अब कोई कार्य शेष नहीं है। पाँचवें दिन सूर्य की पहली किरण के साथ महाराजजी ने साधकों को पास बुलाया और आदेशात्मक ढंग से साधना पर पूरा बल देते हुए कहा, "**राम राम राम जीहा जब लौं तू न जपिहै, तब लौ तू कहीं जाय तिहूँ ताप तपिहै।** स्वर्ग चले जाओगे तब भी तीनों ताप पिण्ड नहीं छोडेगा। **सुरसरि तीर बिन नीर दुख पाइहै-** गगा के किनारे होते हुए भी प्यासे मर जाओगे। **सुरतरु तरे तोहि दारिद सताइहै-** कल्पवृक्ष के नीचे बैठ जाओ तब भी दरिद्रता पिण्ड नहीं छोडेगी। **छूटिबै को जतन विशेष बांधो जायगो-** भजन के बिना तू ज्यो-ज्यो छूटने का यत्न करेगा, विशेष रूप से बँधता जायेगा। **होइहैं विष भोजन जो सुधा सानि खायगो-** अमृत मिलाकर भोजन करेगा वह भी विष का काम करेगा। **जागत बागत सपने न सुख सोइहै, जनम जनम जुग जुग जग रोइहै-** जागते हुए, बागते अर्थात् घूमते-टहलते हुए कहीं भी चले जाओ, सपने मे भी सुख से नहीं सो सकोगे। प्रत्येक जन्म में युग-युगान्तरों तक जगत् मे रोते ही रह जाओगे। **तुलसी तिलोक तिहुँ काल तोसे दीन को, रामनाम ही सो गति जैसे जल मीन को-** और कोई माने या न माने, तुलसी तुम-जैसे दीन को तो राम-नाम का ही सहारा है। तुम्हारा तो उसी से कल्याण है।

उस दिन आप लगातार उपदेश देते गये। साधन-भजन पर विशेष बल देते हुए उस पर स्थित रहने के लिए शिष्यो को आदेश दिया। सूर्यास्त के समय भी महाराजजी ने इन्हीं पक्तियों को दुहराया कि- **राम राम राम जीहा जब लौं तू न जपिहै-** और कहा देखो जप करना चाहिए, भजन के विना कहीं ठिकाना नहीं लगेगा इसलिए हर समय नाम में, रूप में, लीला में, धाम में, ब्रह्मविद्या में, चिन्तन मे, प्रार्थना में मन को लगाये रखो। इतना सत्संग साल भर में महाराजजी ने कभी नहीं सुनाया था।

सूर्यास्त के पश्चात् महाराजजी का दरबार लगा। कुछ लोग चिलम तैयार करने लगे। एक बनारसी पण्डित दीनानाथ त्रिपाठी सत्सगी स्वभाव के थे, उन्होंने प्रश्न रख दिया कि क्या अवध में शरीर त्यागने से पुनर्जन्म नहीं होता? अन्तिम समय में महापुरुष की रहनी क्या होती है? महाराजजी बैठे-बैठे देख सुन रहे थे। लगभग पौने दस बज रहे थे। दरबारी सत्संगियों में से रघुवीर दास की ओर गाँजे की चिलम बढाते हुए महाराजजी ने कहा-"लो अब तुम लोग पीओ। हमारी यह अन्तिम चिलम है। हमारा भोग पूरा हो गया। उन सबके गाँजे की व्यवस्था महाराजजी

ही करते थे। अत: महाराजजी के इस निश्चय से वे लोग दु:खी हो गये। महाराजजी ने उन्हें आश्वस्त कर कहा- "हम नहीं पियेगें तो क्या हुआ? तुमलोगो को मिलेगा।" महाराजजी पद्मासन से बैठे थे, रामायण से चल रहे अवध-प्रसग को सुनते जा रहे थे, प्रवचन का समापन हुआ।

महाराजजी को कोई पखा झल रहा था, हमने उसके हाथ से पखा लेकर एक-दो और तीसरी वार चलाया कि महाराजजी लेट गये। हमें विचार आया कि आज गुरुदेवजी झटके से क्यो लेटे? समीप ही खडे यादव भक्त रामकुमार ने मेरे हाथ से पखा लेकर महाराजजी को झलना आरभ किया। हम कुएँ कि ओर बढ रहे थे कि रामकुमार दौडकर मेरे पास आया और बोला, "महाराजजी के मुख से कोई शव्द उच्चरित हुआ है। हम तेजी से महाराजजी के समीप पहुँचे। आपको पुकारा, परन्तु वे कुछ बोले नहीं। घबडाकर मैंने देखा न तो उनकी नाडी चल रही थी न श्वास। घबडाहट के साथ ही सम्पूर्ण दाहिना अग एक साथ फडकने लगा। मैने सोचा कि महाराजजी समाधि में है, अभी उठ बैठेगें किन्तु रात्रि के दो बजे डॉ० ने बताया कि महाराजजी तो निर्वाण को प्राप्त हो गये। सगुन तब भी होता रहा। शुभ अग फडकते रहे। मुझे लगा इससे वडा अपसगुन क्या होगा? हमारा तो सर्वनाश हो गया। पथ-प्रदर्शक दैदीप्यमान आलोक तिरोहित हो गया। इस प्रकार उन महापुरुष ने पंचतत्त्व से निर्मित इस पार्थिव शरीर का परित्याग जेष्ठ शुक्ल सप्तमी सम्वत् २०२७ तद्नुसार २३ मई सन् १९६९ ई० में कर दिया।

मैं उस समय प्रारभिक अवस्था का साधक था इसलिए भूलवश अधिकारी एव अनाधिकारी के विषय में महाराजजी से प्रश्न कर बैठा। अन्तर्जगत् की कसौटी पर महापुरुष ही समझ पाते हैं कि कौन उपयुक्त अधिकारी है और कौन अनाधिकारी। बाह्य दृष्टिकोण में जिसको हम अधिकारी समझते हैं, हो सकता है कि अन्तर्देश से वही अधिकारी हो।

आश्रम के जो महात्मा दूर निवास करते थे उन्हे बुलाया गया। धारकुण्डी के स्वामीजी आये। भगवानानन्द जी मधवापुर से आये। भक्त लोग आ गये। श्रद्धालुओं का समूह उमड पडा। मेला लग गया। तव समझ में आया कि लोग महाराजजी को कितना चाहते थे। सबके सब उदास अश्रुपूरित नयनों से उन महान आत्मा को भावभीनी विदाई दे रहे थे। चौथे दिन महाराज जी को समाधि दी गयी। धूम-धाम से महाराजजी का भण्डारा हुआ। जिसमे सम्मिलित होकर हजारों भाविकों ने श्रद्धाजलि समर्पित किया।

भाविकों की श्रद्धानुसार महाराजजी के समाधि मन्दिर का निर्माण होने लगा। हमारे आग्रह तथा महाराजजी के वरिष्ठ शिष्यगण अपने-अपने आश्रमों को चले गये और जो लोग वहाँ निवास करनेवाले थे वे सव विना वताये चले गये। बियावान में स्थित उस विशाल आश्रम की व्यवस्था-सचालन एक समस्या बन गई। महाराजजी के अनुसुइया निवास के दौरान एक भी दुर्घटना उस सम्पूर्ण क्षेत्र में नहीं हुई थी। अव किसी वरिष्ठ महापुरुष को उनके स्थान पर न देख, उनका आसन सूना पाकर कोई अप्रिय घटना हो, यह आश्रम की मर्यादा के विरुद्ध होता। मैं मन ही मन चिन्तित हो गया। हमने अनुनय करके स्वयमानन्द जी को रोक तो लिया किन्तु आये दिन वह भी प्रस्थान के लिए प्रस्तुत रहते और चले भी गये। चिन्ता के उन दिनों में महाराजजी अपने आसन पर वैटे दिखाई पडे। उन्होंने कहा, "क्यों रे! मैं आसन पर वैटा तो हूँ, मैं सव देख रहा हूँ, तुम

क्यों चिन्ता करते हो?" उस दिन से हम आश्वस्त हो गये। मुझे स्मरण हो आया, "हो! मैं मरिहौं न! सूक्ष्म स्वरूप से सदा ही यहाँ रहिहौं। जो भी स्मरण करेगा। मैं उसका कल्याण करिहौं।"

यह था उन महापुरुष के जीवन का आदर्श एव परमकल्याण का उत्कर्ष, जो समष्टि में व्याप्त होकर यावत् सृष्टि जनमानस का कल्याण करता रहेगा।

।। ॐ।।

भगवान की प्राप्ति हेतु सन्तसंग अनिवार्य

पूज्य महाराजजी कहा करते थे, "हो! हम भगवान के दूत हैं। हमसे मिले बिना कोई भगवान को प्राप्त नहीं कर सकता।"

अस हरि भगति सुगम सुखदाई। सो बिनु सन्त न काहू पाई।। (रा० मानस)

श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! तुम किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण जाओ और उस ज्ञान को जानो, जिसे जान लेने के पश्चात् कुछ भी जानना और पाना शेष नहीं रह जाता। उनसे जान लेने के पश्चात् फिर कभी जीवन मे सन्देह नहीं होगा।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ४/३४)



द्वितीय उच्छ्वास

अमरवाणी बारहमासी

एवं

सदुपदेशों की झलकियाँ

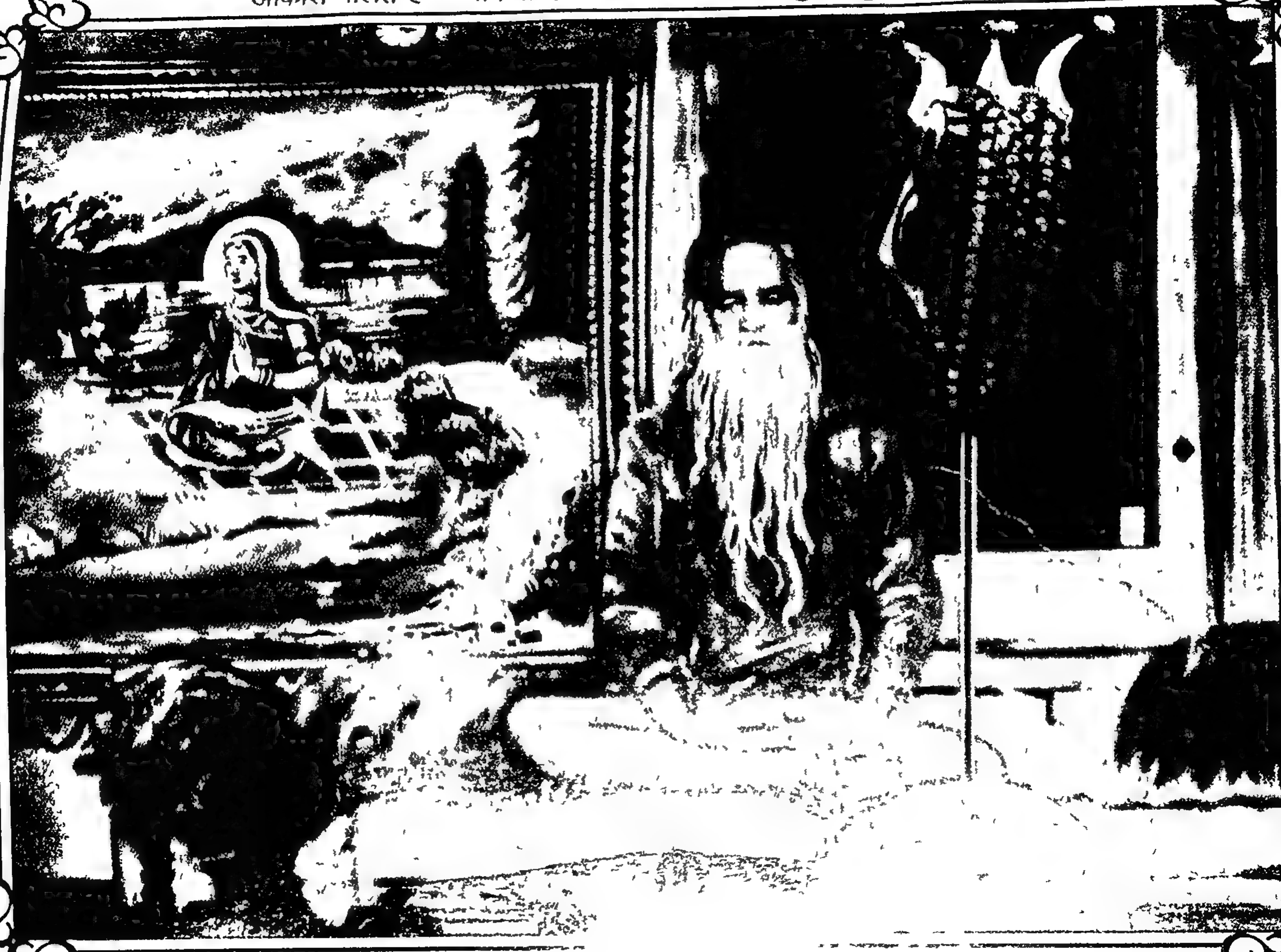
भूमिका

अव सन्तो एव साधको के वीच परमशान्ति-पथ निर्देशिका उनकी अमरवाणी, आत्मानुभूति के परिवेश मे बारहमासी के माध्यम से प्रस्तुत है, जिसमें प्रवेशिका से लेकर पराकाष्ठा तक लक्ष्य की ओर बढने का पथ-प्रदर्शन किया गया है।

जैसा कि लोग वाहर पढते हैं वैसा कहीं हुआ नहीं। न तो पिण्डों के रूप में राम हैं और न भूखण्डों के रूप में अयोध्या ही। **कहिय न क्रोधिहिं लोभिहिं कामिहिं-** कामी, क्रोधी, लोभी से नहीं कहना चाहिए। अव आप ही विचार करें कि जव घर-घर में रामायण है तो न कहने का क्या सवाल है? परन्तु गोस्वामीजी ने कहनेवाली वात छिपाकर लिखी है जिसे पाठकगण अपने-अपने स्वर मे पढते हैं। ऐसी धारणा आपकी गीता के प्रति भी थी। कवीर की वाणी आपकी जिह्वा पर अधिक मुखरित होती थी। आपके श्रीमुख से एक दिन वारहमासी की अमरवाणी प्रस्फुटित हुई। आपने अपने शिष्यों से कहना आरम्भ किया कि आकाश वोल रहा है, लिखना हो तो लिख लो। ऐसा कहकर आप गुनगुनाने लगे। शिष्यों ने उसे लिपिवद्ध कर दिया, जिसमें महापुरुष की प्रवेशिका से लेकर पराकाष्ठा तक का साधनक्रम समाहित है। इसमें चेतावनी से लेकर भजन की प्रवेशिका, मध्य और अन्त तक की रहनी की स्थिति का चित्रण है। वारहमासी का रूप प्रथम कुछ पदो में दिया गया है और पुन वारह भागों में वॉटकर वारह महीनों के माध्यम से योग की सूक्ष्म भूमिकाओं का विस्तार किया गया है।

अव आप सर्वप्रथम वारहमासी के सम्पूर्ण छन्दों को देखे एव तदनन्तर अर्थ सहित उसकी विस्तृत व्याख्या को पढकर लाभान्वित हो। इस अमरवाणी के पठन के पूर्व आपको इस बात का विशेष ध्यान रखना होगा कि महापुरुषों की दृष्टि सदैव उस परमलक्ष्य पर हुआ करती है न कि मानव निर्मित भाषा पर। भाषाएँ परिवर्तनशील हुआ करती हैं। बहुत-सी मान्यता प्राप्त भाषाओं का आज सर्वथा लोप हो चुका है। यदि अर्थ वास्तविक है तो तत्सामयिक भाषाओं के माध्यम से जन-मानस मे प्रवाहित होकर लक्ष्य विशेष का दिग्दर्शन करता रहेगा।

आकाश बोलते हैं – आप से ही लयात्मक वेग का प्रस्फुटन हुआ



ध्यानावस्थित सद्गुरुदेव

बारहमासी

दोहा- चैत चहत चितचोर को, चेला चतुर सुजान।
चित के मिले न चौधरी, भई चित में गलतान।।
चतुर क्या करी चतुर से चतुराई,
हमारा चित चेत चकोर किया।
अपने चित चाँदनि चमकाई।।
चकचान अचानक चन्द चढ़ा,
चन्दा की चमक चित पर छाई।
चन्दा चहुँ ओर चकोर चला,
चित चेतन में गिरदी खाई।।
धरनी पर आया, चमक में खो दई काया।
चला गया चित चोर, चतुर जब तक चलने नहिं पाया।।

लावनी

लावनी सुन बारहमासी।
कटै जासे जनम मरण फाँसी।। टेक।।
चैत में चिन्ता यह कीजै,
कि यह तन घड़ी घड़ी छीजै।
इससे करिये तनिक विचार,
सार वस्तु है क्या संसार?।।
दोहा- सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत प्रसार।
नित्यानित्य विवेकिया, लीजै बात विचार।
फिरै क्या मथुरा अरु कासी।
लावनी सुन बारहमासी।।१।।
वैसाख में वक्त तूने पाया,
यहाँ कोई रहन नहीं आया।
काल ने सबही को खाया,
(कि) यह सब झूठी है माया।।

दोहा- भोग लोक परलोक का, सबही त्यागे राग।
रहे न इनकी कामना, ताहि कहैं वैराग।।
तितिक्षा तो सों परकासी।
लावनी सुन बारहमासी।।२।।
जेठ में जतन यही करना,
मिटे जासे जनम और मरना।
मन इन्द्रिय विषयों से परिहरना,
लीजिए सन्तों का सरना।।
दोहा- श्रद्धा कर गुरु वेद में, कर मन का समाधान।।
कर्म अकर्म के साधन त्यागे, सहे मान अपमान।।
जगत से रहना नित्य उदासी।
लावनी सुन बारहमासी।।३।।
आषाढ़ में सत् संगति करना,
वहाँ तू पावे सब मरमा।
तुझे वहाँ होवे जिज्ञासा,
तब लगे मोक्ष की आसा।।
दोहा- परमानन्द की प्राप्ति, अरु अनरथ का नास।
यह इच्छा मन में रहे, कहे मुमुक्षा तास।।
हानि हो जिससे चौरासी।
लावनी सुन बारहमासी।।४।।
सावन में शरणागत होना,
पैर सद्‌गुरु के धो पीना।
साफ जब होय तोहरा सीना,
रंग तब रहनी का दीना।।
दोहा- तत्वमसी के अरथ को, तोय करूँ परकाश।
संशय शोक मिटे तेरा, होय अविद्या नाश।।
हानि हो जिससे चौरासी।
लावनी सुन बारहमासी।।५।।

महीना भादों का आया भरम सब छीजै।
गुरु की भक्ति चित्त धार प्रेम रस पीजै।।
ईश्वर से अधिक भक्ति गुरु की कीजै।
इस मानव तन को पाय सुफल करि लीजै।।

दोहा- ब्रह्मवेत्ता वक्ता सुरति, गुरु के लक्षण जान।
इच्छा राखे मोक्ष की, ताहि शिष्य पहचान।।

होय अमरापुर (को) वासी।
लावनी सुन बारहमासी।।६।।

क्वार में करना यही उपाय,
तत्वमसी श्रवणन मन लाय।
जुगुति से मनन करो प्यारे,
खुले जासे अन्दर के ताले।।

दोहा- निदिध्यासन के अन्त में, ऐसा होवे भान।
ब्रह्म आत्मा एक लख, तब होय ब्रह्म का ज्ञान।।

हानि हो जिससे चौरासी।
लावनी सुन बारहमासी।।७।।

कार्तिक में करम सभी नाशा,
ज्ञान जब उर में परकाशा।
तब अपना आप रूप भाषा,
उसी का लखो तमाशा।।

दोहा- आर-पार हमरो नहीं, नहिं देश काल से अन्त।
मैं ही अखण्डित एक हूँ, सब वस्तु का तन्त।।

मैं ही चेतन अविनाशी।
लावनी सुन बारहमासी।।८।।

अगहन में ज्ञान अगिनि जागी,
लोक सब दाहन कहँ लागी।
फूँक दिये ब्रह्मा अरु विष्नू,
फूँक दिये राम अरु कृष्नू।।

दोहा- जलत जलत ऐसी जली, जाको आर न पार।
ईश्वर जीव ब्रह्म अरु माया, फूँक दियो संसार।।
बिना ईधन के परकासी।
लावनी सुन बारहमासी।।९।।
पूष में पूरन आपै आप,
नहिं तहाँ पुन्य अरु पाप।
कहो अब जपूँ कौन का जाप,
मिटा सब जनम-मरण सन्ताप।।
दोहा- ज्ञाता ज्ञान न ज्ञेय कछु, ध्याता ध्यान न ध्येय।
मम निज शुद्ध स्वरूप में, उपाध्येय नहिं हेय।।
करूँ फिर किसकी तल्लासी।
लावनी सुन बारहमासी।।१०।।
माघ में मिटी मिलन की भूख,
तहाँ पर नहिं आसिक माशूक।
इश्क फिर किसका होवे,
वृथा वक्त तूँ क्यों खोवे।।
दोहा- व्यापक परमानंद में, नहिं आसिक माशूक।
लक्ष्य रूप में मार निशाना, वृथा विलोवे थूक।।
करावै क्यों जग में हाँसी।
लावनी सुन बारहमासी।।११।।
बसन्त ऋतु फाल्गुन में आवे,
खेल यह प्रारब्ध रचवावे।
इत्र गुलाल ज्ञान रोरी,
खेलते भर-भर के झोरी।।
दोहा- होली अविद्या फूंकि के, हो गये गुप्तानन्द।
समझे कोई सुघड़ विवेकी, क्या समझे मतिमंद।।
जगत की धूल उड़ी खासी।
लावनी सुन बारहमासी।।१२।।
कटै जासे जनम मरण फाँसी।।

स्पष्टीकरण

अब इस अमरवाणी बारहमासी का स्पष्टीकरण व्याख्यात्मक ढग से किया जाता है, जिसके अध्ययन एव मनन से योग के सूक्ष्म तत्त्वों की जानकारी सभव है। आपकी कविता का प्रारम्भ मास 'चेत' से है। प्राय -

मोह निशा सबु सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा।। (मानस)

सभी लोग मोहरूपी रात्रि में अचेतावस्था में सोये हुए है। जो कुछ भी रात-दिन दौड लगाकर अर्जित करते हैं, मात्र स्वप्न है। अधिकांशत लोगो ने अचेतावस्था मोह में ही चेत-अचेत की सीमा निर्धारित कर ली है। यथा--

कोई चुनाव प्रतिद्वन्द्वी कहता हे कि मेरे पड़ोसी पश्चाताप कर रहे हैं किन्तु मैं तो चुनाव के पूर्व ही चेत गया था। कुछ पूँजी चुनाव प्रतियोगिता में सफलता प्राप्त करने के लिए पहले ही एकत्रित कर लिया था। एक सेठ कहते है कि मैं तो बादल देखकर ही चेत गया था कि तिल के भाव में अवश्य परिवर्तन होगा। लेकिन वस्तुत. ये सभी अचेत (पराधीन) ही हैं। चेता हुआ चित्त तभी कहलाता है, जब यह आत्मा अपने स्वरूप को पाने के लिए व्यग्र होने लगे। भरत और कागभुशुण्डि इसी श्रेणी के चेते हुए पुरुष थे। भरत अवध का सम्पूर्ण राज्य तृणवत् त्याग राम-स्नेह के लिए आतुर हो उठे। कागभुशुण्डि जब चेत की अवस्था में पहुँचे तो उनके मन से समस्त वासनाएँ समाप्त हो गई। जैसा कि--

मन ते सकल वासना भागी। केवल राम चरन लव लागी।। (मानस)

वास्तव मे चेत तभी सम्भव है जब केवल चितचोर की ही चाह रह जाय। भगवान ही चितचोर हैं, जिनका स्पर्श करके चित्त उन्हीं में लीन हो जाता है। चुराई हुई वस्तु तो सदा के लिए खो जाती है। इसी आधार पर इस अमरवाणी की शुरुआत है। पहले बारह महीनों का साराश है और बाद में लावनी। सारांश शब्दों में देखें।

दोहा- चैत चहत चितचोर को, चेला चतुर सुजान।
चित के मिले न चौधरी, भई चित में गलतान।।

भावार्थ- चेता हुआ चित्त तब समझे जब केवल चितचोर की ही चाह रह जाय। वही चेला की स्थिति है, वही चतुर है और सुजान की स्थिति वाला है। प्राय लोग चतुर ही तो बने हैं, किन्तु महापुरुषों की दृष्टि में अन्यत्र कहीं भी चतुराई का स्थान है ही नहीं। जैसा कि--

चतुराई चूल्हे पड़ी, घूरे पड़े अचार।
तुलसी राम भजन बिनु, चारो वरन चमार।।

ऐसी चतुराई में आग लगे जो भगवत् चिन्तन विहीन हो और ऐसे आचार कूड़ा-करकट में जायँ जो हमें भगवत्-भजन से वचित रखते हैं। चितचोर की चाह तो पैदा हुई किन्तु चित्त के चौधरी अर्थात् चित्त को स्थिर करनेवाले सद्गुरु नहीं मिले तो ग्लानि वनी ही रह जाती है।

टिप्पणी- हम दो घण्टे भजन में वैठकर दस मिनट भी अपने पक्ष में नहीं पाते और अंतत

हताश होकर बैठ जाते हैं। साथ ही यह कहा करते हैं कि मन ही नहीं लगता। जब तक चित्त के चौधरी अर्थात् उसकी गतिविधि को पकड़ने वाले सद्गुरु नहीं मिलते, तब तक वह रुकता नहीं। वे महापुरुष हृदय-देश से उस चित्त की गतिविधि पर नियंत्रण करते रहते हैं। बाहर से सम्बन्ध कम रहता है।

सम्बन्ध- आखिर चतुराई है क्या?

चतुर क्या करी चतुर ने चतुराई,
हमारा चित्त चेत चकोर किया।
अपने चित्त चाँदनि चमकाई।।

भावार्थ- चतुर ने भला कौन-सी चतुराई किया? चूँकि महापुरुष ही बोलने वाले हैं, इसलिए इन्हीं महापुरुष की रहनी के प्रति अपने आप को चकोर बना लिया। ऐसा चकोर बनने पर महापुरुष के चित्त का प्रकाश अपने चित्त में पा जाता है। जैसा कि 'अपने चित्त चाँदनी चमकाई'।

चकचान अचानक चन्द चढ़ा,
चन्दा की चमक चित पर छाई।

भला वह प्रकाश आता कैसे है? आप चकोर बनकर लग भर जायँ, अनायास ही वह प्रकाश चित्त पर बढ़ने लगता है।

टिपण्णी- यहाँ चन्दा आकाश का कोई चन्द्रमा नहीं बल्कि परमात्मा की वह प्रभा है, जो चित्त पर चकोर बनने से स्वाभाविक बढ़ती रहती है। महापुरुष बाहरी दृष्टान्तों के माध्यम से अन्दर की स्थितियों को समझाते आये हैं। इस भगवत्पथ में बाहरी चन्द्रमा से कोई प्रयोजन नहीं है, जैसा कि 'मन शशि चित्त महान'। मन ही चन्द्रमा है और शून्य ही आकाश है। जब शून्य में मन रुकने की क्षमता पा लेता है तो वही चन्द्रमा कहलाता है। (चन्द्रमा की संज्ञास्थिति यही है) इसी कारण वह चन्दा अन्यत्र नहीं चढ़ता बल्कि जो चेतन की चमक है वह चित्त पर छा जाती है। यह तभी सम्भव है जब चकोर के गुणधर्म आप में हों।

चन्दा चहुँ ओर चकोर चला,
चित चेतन में गिरदी खाई।।

अब उस चेतना का प्रकाश, जो कि चित्त पर छाया हुआ है, चित्त तक ही सीमित न रहकर सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगता है। सर्वत्र वह स्वरूप ही दिखाई देता है। जैसा कि-

स्वर्ग नरक अपवरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना।। (मानस)

चित्त में वह प्रकाश आ जाने के बाद न स्वर्ग स्वर्ग ही रह जाता ह और न नरक नरक ही। जब तक एकता नहीं हो जाती, तब तक रास्ता शेष है। इसलिए **"चकोर चला, चित चेतन में गिरदी खाई"**। जैसे कुछ और आगे चला तो चित्त उसी रूप का स्पर्श कर वही हो जाता है। सर्वत्र दिखाई देता है पर है तो अलग इसीलिए चकोर है। जहाँ स्पर्श किया तो उसी में विलीन हो गया।

धरनी पर आया, चमक में खो दई काया।

जब उसी रूप में अपने को खो ही दिया तो ऐसी सत्ता नहीं कि जिसके लिए खोज करे। आखिर यह स्थिति हुई कहाँ? इसी शरीररूपी पृथ्वी में ही। जैसा कि--

धड़ धरती का एकै लेखा। जस बाहर तस भीतर देखा। (मानस)

धड कहते हैं शरीर को और धरती कहते हैं बाहरी पृथ्वी को। जो कुछ भी अन्दर दिखाई देता है वह एक ही जैसा है। शरीररूपी पृथ्वी में चित्त चेतन ही जैसा हो गया और जन्म-मरण की प्रक्रिया खो दिया। काया जन्म-मरण का वह विधान है जो जीवात्मा को पिण्डो का रूप देता है। यह शरीर ही चला गया तो ससार कैसा? तद्रूप हो जाने पर एक मे एक का भान नहीं होता, इसलिए चितचोर भी चला गया।

चला गया चितचोर, चतुर जब तक चलने नहीं पाया।।

इसके आगे चतुर की कोई चाह नहीं। उसके खो जाने की स्थिति तक चतुर नहीं चल पाता। जहाँ तक मन-बुद्धि की पकड है वहाँ तक साधक चलता है। उसके बाद की कुछ ऐसी अवस्था है जिसे चेतन (इष्टदेव) ही समझा-बुझाकर अपनी स्थिति प्रदान कर देते हैं।

टिप्पणी- अब आगे के महीनो में इसी का विस्तार है, जिसे समझकर साधक साधना में सक्रिय भाग ले सकता है। किसी न किसी अवस्था में आगे यह सबके लिए सुलभ हो सकता है। भले ही हम किसी परिस्थिति में क्यो न हो।

लावनी

'लावनी' ले आनेवाली को कहते हैं। भजनमयी प्रवृत्ति ही उस परम चेतना को लाने में सफल होती है। अत चिन्तन की प्रवृत्ति को लावनी कहते है। लगन, लावनी, लव इत्यादि एक दूसरे के पर्याय हैं। इनमें से कोई भी शब्द कहा जाय तो तात्पर्य वही निकलता है, केवल थोडा उतार-चढाव है। जब कभी किसी की लगन चेतना को पाने के लिए प्रवृत्त हुई है तो उसका यही रूप रहा है।

जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय।
सुरति डोर लागी रहे, तार टूटि न जाय।।

आठों पहर सोते एव जागते समय ऐसी लगन बनी रहे कि तार न टूटे। ऐसा नहीं कि गर्मी में न होगा तो जाडे में होगा। हर देशकाल में सुरति की डोर लगाना है, इसलिए इसे बारहमासी कहते हैं। यह केवल सुबह-शाम तक ही सीमित नहीं है। सुबह-शाम भजन और अन्य समय में मन को अनियत्रित रखना भजन नहीं है। यह तो केवल प्रयास मात्र है जिससे आगे पथ में वढा जा सकता है। अव आइये इस पद पर-

लावनी सुन बारहमासी।
कटै जासे जनम मरण फाँसी।। टेक।।

अव आप उस लगन के बारे में सुने, जिसमें आठों पहर बारहों महीने निरन्तर लगे रहने पर जन्म-मरण की फॉसी कटती है और परम चेतन स्वरूप को जीव प्राप्त हो जाता है। जैसे **'दिन दिन बढ़त सवायो।'** प्रतिदिन उसमें सवाई वढने पर ही भलाई है। ऐसी लगन का सदा महत्त्व रहा

है जो जन्म-मरण की फाँसी को काटने में समर्थ है।

सम्बन्ध- अब यदि भजन करनेवाले के लिए ही कहा जाय तो सासारिक व्यक्तियों के लिए कोई उपाय ही नहीं बचता। इसलिए जो जहॉ खडा है उसको वहीं से चेतने का विधान वताते हुए आगे क्रियात्मक विस्तार किया गया है।

साधना-क्रम में बारह महीने

चैत में चिन्ता यह कीजे,
कि यह तन घड़ी घड़ी छीजे।
इससे करिये तनिक विचार,
सार वस्तु है क्या संसार?

भावार्थ- जब हम परिस्थिति में हैं तो सिद्ध हुआ कि चैतन्यता नहीं है। अव चैतन्य होने के लिए शरीर की स्थिति पर विचार कीजिए कि यह हर घडी नष्टप्राय होता जा रहा है। हम सोचते हैं कि आयु बढ़ गई परन्तु ऐसा नहीं है। मान लिया जाय कि हमारी आयु ६० वर्ष की है और हम ५० वर्ष की अवस्था में पहुँच गये तब १० वर्ष ही तो शेष रहे। शरीर हर घडी काल के गाल में सिमटता जा रहा है और न चाहते हुए भी हम देखते हैं कि अपने माता-पिता एव परमप्रिय पुत्र को फेक आते हैं। जब यह शरीर ही नाशवान है तो भोग्य पदार्थ रहते हुए भी आप बरबस खींचकर पता नहीं कहॉ फेंक दिये जाते हैं। एक ग्रास भी अधिक नहीं खा सकते। भोग्य पदार्थ ही तो ससार है। जैसा कि **'मैं अरु मोर तोर तैं माया।'** (मानस)

जब शरीर ही मरणधर्मा है तो विचार करें कि क्या ससार सत्य है? सिद्ध है कि ससार असत्य है।

टिप्पणी- याद रखें-

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेउ भाई।। (मानस)

इन्द्रियों और उनके विषयों में मन जहॉ तक उडान भर पाता है, वहॉ तक अपने भोग की ही सामग्री खोजता है। यही सब माया है, जिसका नाम ससार है। अन्त में सब पदार्थ छूट जाते हैं। यही देखकर महात्मा बुद्ध को वैराग्य हुआ था। भगवान कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! यह शरीर क्षणभगुर है, पर है देवताओं को भी दुर्लभ। यही मेरे प्राप्ति का साधन एव भव-बन्धन से छूटने का माध्यम है।

सम्बन्ध- जिस शरीर के लिए हमें भोग्य सामग्री अथवा ससार प्रिय है, वही नाशवान है, तो आखिर सत्य है क्या?

दोहा- सत्य वस्तु है आतमा, मिथ्या जगत पसार।
नित्यानित्य विवेकिया, लीजै बात विचार।।

भावार्थ- सत्य वस्तु अथवा जो परमसत्य है, वह है आत्मा। यह महापुरुष का निर्णय है। जगत् का प्रसार देखने में वडा सुन्दर है, परन्तु है सर्वथा झूठा। **'नित्यानित्य विवेकिया'**-सत्य क्या

है और असत्य क्या है? इस पर विवेक करे। विचारों के द्वारा इस वार्ता को लिया जाय, विचारहीनों के लिए यहाँ ठिकाना नहीं है।

टिप्पणी- विचारहीनता से धोखे ही धोखे में समय बीत जायेगा। विचारहीन के लिए बहुमूल्य मानव शरीर नगण्य है।

फिरै क्या मथुरा अरु कासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

काशी, मथुरा आदि तीर्थो में भ्रमण करने से अब इस लगन का कोई महत्त्व नहीं है। यह तो मानसिक प्रवृत्ति है जो प्रभु की ओर निरन्तर प्रवाहित होती रहती है और इससे जन्म-मरण का वन्धन टूट जाता है। लगन की इसी परिस्थिति में आगे बढने का वक्त मिलता है।

वैसाख में वक्त तूने पाया,
यहाँ कोई रहन नहीं आया।
काल ने सबही को खाया,
(कि) यह सब झूठी है माया।।

भावार्थ- वैशाख (विशेष सबूत) विशेष प्रमाण शरीर का काल के गाल में होने का ससार की नश्वरता से मिला है। इसकी नश्वरता पर विचार कर संसार की नश्वरता दिखाई देने से हम चिन्तित अवश्य होंगे, इसीलिए वक्त मिला है। वह भला किस प्रकार-

बड़े भाग्य मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सबग्रंथन गावा।
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहीं परलोक सँवारा।।
सो परत्र दुःख पावइ, सिर धुनि धुनि पछताइ।
कालहि कर्महिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाइ।। (मानस)

वडे भाग्य से यह मानव-तन मिला है। यह साधन का धाम एव मोक्ष का दरवाजा है। इसे पाकर जो अपनी आवागमन की स्थिति से छुटकारा नहीं पा लेता, वह सिर पटक-पटककर पश्चाताप करता है। काल, कर्म और ईश्वर को व्यर्थ ही दोष देता है जबकि दोष उसी का है। मानव-तन ही संसार से पार होने का साधन है, शेष योनियाँ तो केवल भोग भोगने के लिए ही हैं। इसलिए महापुरुष कहते हैं, तुझे वक्त मिला है। नि सदेह यह क्षणभगुर है पर आज दिन तो सामने उपस्थित है। इस समय तो पास है। शायद अब भी दृष्टि ससार की तरफ झुके तो कहते हैं कि काल ने सवको वरवस ही खा लिया। राम, कृष्ण आदि कोई भी तो दिखाई नहीं पडता। इससे सिद्ध है कि माया सर्वथा झूठी है।

टिप्पणी- उन महापुरुषों ने शरीर के रहते ही परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया। वे शरीर से भिन्न व्यापक स्थिति को उपलब्ध कर चुके थे। यही तो करना है-

'सन्तो! जीवित ही करु आशा।'
जीवित में मरना भला, जो मर जाने कोय।
मरने से पहले मरे, अजर अमर सोइ होय।।

सम्बन्ध- माया के विषय में पुन चेतावनी देते हैं, कारण कि एक वार समझने से यह पिण्ड नहीं छोडती है। प्राय सभी तो पन्ने उलटते हैं पर हाथ कुछ भी नहीं लगता। इसीलिए महापुरुष वैराग्य की आवश्यकता पर वल देते हुए कहते हैं-

दोहा- भोग लोक परलोक का, (कि) सबही त्यागे राग।
रहे न इनकी कामना, ताहि कहैं वैराग।।

इस लोक के भोग जो छोटी-सी झोपडी से लेकर राष्ट्रों तक का सिलसिला है और जो परलोक, वैकुण्ठ आदि की मान्यताएँ हैं, जब इनकी लेशमात्र भी कामना न रह जाय, तब वैराग्य की स्थिति समझना चाहिए (इसी का नाम वैराग्य है)। वैराग्य का तात्पर्य लगाव के न होने से है।

तितिक्षा तो सों परकासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

तितिक्षा (त्याग की इच्छा) इस त्याग की इच्छा की कसौटी तो साधक पर निर्भर करती है। यदि जन्म-मरण की फॉसी को काटना है तो त्याग की प्रवल इच्छा करनी होगी। तितिक्षा का प्रकाश तुम्हीं से होना है। इससे स्पष्ट है कि यह महापुरुष के क्षेत्र की वात नहीं है। वे तव देखेंगे जब हमारे अन्दर त्याग व पाने की प्रवल इच्छा होगी।

जेठ में जतन यही करना,
मिटे जासे जनम और मरना।
मन इन्द्रिय विषयों से परिहरना,
(कि) लीजिए सन्तों का सरना।।

भावार्थ- जेठ (पहले पैदा होनेवाला)। साधन के प्रथम चरण में केवल यही यतन करना है, ताकि जन्म-मरण का वन्धन छूट जाय। ऋद्धियों और सिद्धियों में उलझने की आवश्यकता नहीं है। भला वह कौन-सा यत्न है? मनसहित इन्द्रियों को विषयों से उपराम रखते हुए सन्तों की शरण लेना।

सम्बन्ध- अब अन्य सन्तों के साथ-साथ सद्गुरु का विशेष स्थान दर्शाते हुए कहते हैं कि-

दोहा- श्रद्धा कर गुरु वेद में, कर मन का समाधान।
कर्म अकर्म के साधन त्यागे, सहे मान अपमान।।

सन्तों में जो सद्गुरु हैं, उनमें और उनकी विदित वाणी में मन का समाधान पूर्ण श्रद्धा से कर दें। इसके वाहर कहीं खोजने की आवश्यकता नहीं है। यदि खोजते हैं तो साधक नहीं। कर्म-अकर्म का तात्पर्य निष्काम भाव से करना है। वौद्धिक स्तर पर अकर्मता की स्थिति को वनाये रखना पडता है जिससे कि कहीं राग न आये। फल की इच्छा न जागृत हो जाय, ऐसी जिम्मेदारी त्याग दें। केवल उनके द्वारा मिलनेवाला मान-अपमान सहते जाओ।

टिप्पणी- जव मन को सद्गुरु के चरणों में समाधान करने की स्थिति आ गई तो कौन साधन वाकी है? जव मन को वाहर निकलने का स्थान ही नहीं मिलता तो कामना कैसे करेगा?

क्रिया यही होती है परन्तु वह महापुरुष के ऊपर निर्भर रहता है।

जगत से रहना नित्य उदासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

जगत् से निरन्तर उदास रहना है। यदि जगत् से लगाव हुआ तो गुण-धर्म और उनकी वाणी का अनुसरण सब कुछ छूट जायेगा। ऐसी स्थिति मे मन का समाधान करना असम्भव है। यदि मन में उधर का लगाव हुआ तो श्रद्धा और समर्पण की कसौटी टूट जायेगी। उस चेतन तत्त्व को लाने वाली प्रवृत्ति के विषय में सुनो, जो निरन्तर प्रवाहित रहनेवाली है और जिसमे काल का भेद नहीं है।

सम्बन्ध- सन्तों मे जो सद्गुरु हैं उनमें और उनकी वाणी में मन का समाधान बताया गया है किन्तु एकदम मन लगता नहीं। ऐसी परिस्थिति में कुछ करना है।

आषाढ़ में सत् संगति करना,
वहाँ तू पावे सब मरमा।
तुझे वहाँ होवे जिज्ञासा,
तब लगे मोक्ष की आसा।।

भावार्थ- आषाढ (आष + आढ़-पुरानी आशा)। वह आशा जो पुरातन है, जो परमपुरुष परमात्मा है, उसके प्रति जागृत हुए। बस जागृत होते ही आगे गति मिलने लगी। अब साधक को केवल सत्सग करना है। जिससे आगे का सम्पूर्ण भेद पा जायेगा। सत्संग का तात्पर्य केवल वार्ता नहीं, अपितु ध्यान व चिन्तन से है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि **'सत्य वस्तु है आत्मा'** उस आत्मा में मन को खडा करना है। आत्मा सत्य तो है, पर दिखाई नहीं देती। ऐसे महापुरुष जो आत्मा को पाकर परमात्मस्वरूप में स्थित हैं, उनके ही स्वरूप में मन को समेटकर चितन के द्वारा लगाना या सग करना है। ज्यो-ज्यों गुप्त भेद मिलता जायेगा, त्यों-त्यों उसे जानने की इच्छा प्रवल होती जायेगी तब फिर मोक्ष की आशा लग जायेगी। वास्तव में इसी पथ मे छुटकारा मिलता है तव तक सभी लोग कहते भर हैं; किन्तु-

जाने बिनु न होय परतीती। बिनु परतीति होय नहिं प्रीती।। (मानस)

टिप्पणी- सुग्रीव ने जब राम के अतुल बल का प्रमाण प्रत्यक्ष देखा, तभी उसकी आशा विश्वास सहित बलवती हो गई।

सम्बन्ध- मोक्ष की आशा लगी परन्तु वह मोक्ष अथवा मुमुक्षा है कैसी?

दोहा- परमानन्द की प्राप्ति, अरु अनरथ का नाश।
यह इच्छा मन में रहे, कहे मुमुक्षा ताश।।

अनर्थ अथवा शुभाशुभ क्षेत्र का नाश हो जाय और परमानन्द स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति हो जाय। मन के अन्दर इतनी कामना के शेष रह जाने का नाम मुमुक्षा है।

हानि हो जिससे चौरासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

चौरासी लाख योनियों में आवद्ध ससार की हानि इसके द्वारा हो जायेगी। कुछ युक्तियों से यह (चौरासी लाख) भाव, मापदण्ड पूर्व से ही चला आ रहा है। आवागमन से छुटकारा दिलानेवाली लगन का विधान है कि यह अहर्निश चलती रहे, जब तक कि वह तत्त्व दिखाई न पडे जैसा कि-

आठ पहर लागा रहे, भजन तेल की धार।
जगत बलाबलि खाक है, हरि रस है आधार।।

अब केवल मोक्ष की ही इच्छा शेष है। ऐसी स्थिति में साधक के क्या लक्षण हैं?

सावन में शरणागत होना,
पैर सद्गुरु के धो पीना।
साफ जब होय तोहरा सीना,
रंग तब रहनी का दीना।।

भावार्थ- श्रावण (श्रवण करना) जो इष्टदेव से मिलनेवाले धारावाही आदेश हैं उसी के अनुसार अपने को ढालना है। जब धारावाही आदेशों का तॉता लग जाता है, तब सद्गुरु हृदय से पथ-प्रदर्शन करते है। उन्हीं के पालन में इष्ट की शरण लेते हुए उनकी चरणों को मन के द्वारा धोकर पीते जाओ। बाहर चरण धोने का विधान नहीं है। ज्यों-ज्यों हम सद्गुरु के चरणों में ध्यान करते जायेंगे, त्यों-त्यों वह रहनी हृदय मे प्रगट होती जायेगी।

टिप्पणी- जन्म-जन्मान्तर से लगे हुए मल-आवरण या विक्षेप धुल जाने पर सन्तों की रहनी का रग ढलता है अथवा स्थिरता आने लगती है। जैसे-

(हे हरि) कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
विगत मान, सम शीलत मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो।।

अब सन्तो की रहनी आने लगती है।

दोहा- तत्त्वमसी के अरथ को, तोय करूँ परकाश।
संशय शोक मिटे तेरा, होय अविद्या नाश।।

जब हृदय के मलावरण व विक्षेप समाप्त होने लगे और रहनी आने लगे तब हृदय से पथ-प्रदर्शन करनेवाले महापुरुष 'तत्त्वमसि' के अर्थ का प्रकाश करते हैं अर्थात् वह परमतत्त्व परमात्मा तुझसे अभिन्न है, अनुभवी स्तर पर महापुरुष अनुभवो के माध्यम से उसका प्रकाश करते हैं। जिसके परिणामस्वरूप सशय-शोक सदा के लिए मिट जाते हैं और अविद्या नष्ट हो जाती है। यह तभी सभव है जब लगन न टूटे।

हानि हो जिससे चौरासी।

लावनी सुन बारहमासी।।

यह चौरासी अर्थात् आवागमन को नष्ट करनेवाला साधन है, जिसमें लगन के टूटने का विधान नहीं है।

सम्बन्ध- जब भक्त पर रहनी का रग चढ़ जाता है, दूसरे शब्दों में साधक का हृदय इष्ट की रहनी में ढलने लगता है। जैसे भादों में फसल-सम्बन्धी भरपूरता रहती है, वैसे ही साधक के हृदय में इस स्थिति मे भजन की भरपूरता रहती है।

महीना भादों का आया भरम सब छीजै।

गुरु की भक्ति चित्त धार प्रेम रस पीजै।।

ईश्वर से अधिक भक्ति गुरु की कीजै।

इस मानव तन को पाय सुफल करि लीजै।।

भावार्थ- भादों (भजन की भरपूरता)। अब इस भजन की भरपूरता में भ्रम का क्षीण होना, गुरु के प्रति अनुराग का होना और प्रेमरस में भींगे रहना स्वाभाविक ही है। कारण इन्हीं महापुरुषों की देन है कि आज ऐसी रहनी मिलने लगी, किन्तु इन महापुरुषों का आदेश है कि ईश्वर से अधिक भक्ति सद्गुरु की करनी है। महापुरुषों का कहना है कि भक्ति तो स्वाभाविक ही है परन्तु सदिग्ध भक्ति, भक्ति नहीं है। ईश्वर से अधिक गुरु की भक्ति होने पर ही यह मानव शरीर सफल हो सकता है। सफलता तो तभी है जब उस कार्य की पूर्ति हो जाय, जिसके लिए यह तन मिला है। प्राय' लोग ईश्वर कुछ है और वह बडा है, इन विचारों की सदिग्धता में सद्गुरु को हृदय से नहीं पकड पाते। साक्षात्कार करने के लिए ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है। गुरु का गुरुत्व पाने पर ही ईश्वर दिखाई देता है, पहले नहीं। जनश्रुति है कि-

'गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जो बिरंचि संकर सम होई।।'

'यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।

सीस दिये सद्गुरु मिलें, तो भी सस्ता जान।।'

भला वे गुरु कैसे हैं, जिनकी हमें भक्ति करनी है?

दोहा- ब्रह्मवेत्ता वक्ता सुरति, गुरु के लक्षण जान।

इच्छा राखे मोक्ष की, ताहि शिष्य पहचान।।

ब्रह्म के विषय में जाननेवाले हों एव ब्रह्म के विषय में व्यक्त कर सकें, सुरति की गतिविधि में प्रवेश देनेवाले हों, वही गुरु हैं। यह योग का विषय है। केवल मोक्ष की इच्छा रखनेवाला, जिसे सिद्धियों और सम्मान की चाह न हो, वही शिष्य है।

होय अमरापुर (को) वासी।

लावनी सुन बारहमासी।।

ऐसा सयोग बैठने पर ही जो अजर है, अमर है और शाश्वत है, ऐसे पुर में स्थान मिलता

है। इष्ट की स्थिति को लानेवाली उस प्रवृत्ति के नियम को सुनो, जिसमें सतत् लगे विधान है।

सम्बन्ध- सद्गुरु में जब मन का समाधान होने लगता है तब उस परमतत्त्व अनुभवों में आने लगता है, जिसे लोग 'मैं हूँ' ऐसा कहा करते हैं।

क्वार में करना यही उपाय,
तत्त्वमसी श्रवणन मन लाय।
जुगुति से मनन करो प्यारे,
खुले जासे अन्दर के ताले।।

भावार्थ- क्वार (विकारों का कट जाना)। 'कु' कहते हैं दूषित को और 'अर' कहत को। साधक के द्वारा ज्यों-ज्यों विकारों का शमन होता जायेगा, त्यों-त्यों उसे तत्त्वमसी मिलने लगेगा, जैसा कि सद्गुरु पूर्व में ही कहते हैं कि जब हृदय शुद्ध हो जायेगा तो उस का सचार मैं करूँगा। अदर से मिलने वाले आदेशों को श्रवण करना एव उसी में मन बस साधक के लिए इतने ही उपाय का विधान है। साधक मन को उस तत्त्व में युक्तिसहित उसका मनन करता जाय, ताकि अन्दर के ताले खुल जायें, जो आत्मा औ में अन्तर डाले हुए हैं।

टिप्पणी- वह आदेश क्रमश मिलता है। जब तक अन्तिम स्थितिवाला आदेश जाता, तब तक किसी न किसी रूप में ताला लगा ही रहता है। अब रही युक्ति से म की बात, उसके लिए हम जैसा कि राम नाम कहते हैं वैसा है नहीं। जब यही नाम मनन में आ जाता है, तब उसका वाणी से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता।

दोहा- निदिध्यासन के अन्त में, ऐसा होवे भान।
ब्रह्म आत्मा एक लख, तब होय ब्रह्म का ज्ञान।।

निदिध्यासन के अन्त में ऐसा भान होने लगता है कि ब्रह्म और आत्मा परस्पर और इसी एकत्व दर्शन का परिणाम ही ब्रह्मज्ञान है।

टिप्पणी- हर पहलू की दो सीमायें हुआ करती हैं- एक अधिकतम और दूसरी (प्रवेशिका एव पराकाष्ठा)। उदाहरण के लिए भक्ति को लीजिए। जहाँ से भक्ति की शु वह उसकी न्यूनतम सीमा है और जहाँ वह लक्ष्य को प्रत्यक्ष करने की स्थिति में आ जा अधिकतम सीमा कहलाती है। इसी प्रकार निदिध्यासन, जहाँ से चिन्तन के द्वा जड-अध्यास मिटने लगता है, वह प्रवेशिका है और चिन्तन की पूर्णता में जहाँ अध्या हो जाता है वही पराकाष्ठा अर्थात् अन्त कहलाता है।

हानि हो जिससे चौरासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

सम्बन्ध- जब ब्रह्म, आत्मा एक हो जाय तो भी क्या कर्म (चिन्तन-क्रम) बना रहता है? नहीं, छूट जाता है। इसी पर आधारित है अगला महीना कार्तिक-

कार्तिक में करम सभी नाशा,
ज्ञान जब उर में परकाशा।
तब अपना आप रूप भाषा,
उसी का लखो तमाशा।

भावार्थ- कार्तिक अर्थात् कर्मो का त्याग। जब ब्रह्म और आत्मा अभिन्न स्थिति में दिखाई देने लगते हैं, तब भजन का कार्य समाप्त हो जाता है। कारण कि उसके आगे कोई भगवान है ही नहीं, जिसको खोजें। इस प्रत्यक्ष दर्शन से सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। शुभाशुभ कर्म- शुभ वह कर्म है जो इष्ट की उपलब्धि के लिए किया जाता है और अशुभ जो जन्म-जन्मान्तर के सस्कार हैं। यह विषयोन्मुख प्रक्रिया है। ऐसा तभी सभव है, जबकि ज्ञान का प्रकाश हृदय में हो जाय। प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है न कि बकवास। वाक्यज्ञान तो अल्पावधि में ही आ जाता है। परन्तु उस ज्ञान की तो यही पहचान है कि अपना स्वरूप प्रतिभासित होने लगे। उसी का तमाशा देखो। उसकी विशेषता को स्वय देखो। दूसरा कोई देख ले ऐसी बात नहीं है।

सो सुख जानई मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना।। (मानस)

सन्त कबीर से किसी ने पूछा कि वह सुख कैसा है? तो वे बोले-

'कहैं कबीर गूँगे की शक्कर, खाय सोय पै जानै।'

टिप्पणी- जिसमें वह संचारित हो जाय, उसके तमाशे को वही देख सकता है। किसी को पकडाया नहीं जा सकता। क्रमश चलकर तो महापुरुष देते ही हैं, जैसा कि उनका विधान है।

दोहा- आर-पार हमरो नहीं, नहिं देश काल से अन्त।
मैं ही अखण्डित एक हूँ, सब वस्तु का तन्त।।

अव उस खेल का रूप दर्शाते हैं कि ब्रह्म का कहीं न आर है न पार अर्थात् न आदि है न अन्त। अपने को उससे अभिन्न देखा, जो कि हर देश-काल से अबाधित है इसलिए मेरा अन्त नहीं है। वह ब्रह्म अखण्डित एव सव वस्तुओं का निचोड है। उससे अभिन्न होने से मैं भी अभिन्न और सव वस्तुओं का निचोड हूँ। इस प्रकार अखण्डित और सब वस्तुओं का तत्त्व मेरी ही सज्ञा है।

मैं ही चेतन अविनाशी।
लावनी सुन बारहमासी।।

ब्रह्म परम चेतन एव विनाशरहित सत्ता है, उसी में मिट गया, स्वरूप है। अव वह लगन कार्य कर चुकी।

सम्बन्ध- जव कोई सत्ता है ही नहीं, तब लोक-परलोक, राम-कृष्ण, ब्रह्मा और विष्णु आदि इनका क्या स्वरूप है? क्या ये भी नहीं बचे? तब कहते हैं कि परमस्वरूप सवकी पराकाष्ठा है। पूर्व की स्थिति कव मिलती है और उसकी क्या विशेषताएँ हैं? इसी का चित्रण इस माह में है।

अगहन में ज्ञान अगिनि जागी,
लोक सब दहन कहँ लागी।
फूँक दिये ब्रह्मा अरू विष्नू,
फूँक दिये राम अरू कृष्नू।।

भावार्थ- जैसा कि बताया गया है कि ईश्वर की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। उसकी जानकारी होने के कुछ क्षण पूर्व ही पाप समूल नष्ट हो जाते हैं।

अगहन (पाप के हनन की स्थिति)। पाप के निर्मूल होने की स्थिति में उस ज्ञान-अग्नि का संचार होता है, जिसमें लोक-परलोक सभी जल जाते हैं। उस अभिन्न जानकारी के अन्दर की बात है राम-कृष्ण, ब्रह्मा और विष्णु। उस अभिन्न स्थिति में ब्रह्मा और विष्णु, राम और कृष्ण की स्थिति सर्वथा विलीन हो जाती है। कारण कि यह वहाँ तक की अवस्थाओं का ऊँचा-नीचा नामकरण है। ब्रह्मा (जैसे वह चेतन) जिस प्रकार ब्रह्म की जानकारी का प्रसार करता था, विष्णु योगक्षेम की रक्षा करता था, राम जिस प्रकार सर्वत्र रमण करते हुए व्यापकता दर्शाता था और कृष्ण जिस प्रकार आत्मा से कर्तव्य का पूरक था, आदि उसी स्थिति में विलीन हो गये। अभिन्न स्थिति के बाद कौन किसका पोषण करे, कौन किसका प्रसार करे, कौन रमण करे और किससे कर्त्तव्य की पूर्ति हो?

टिप्पणी- यह तो ब्रह्म जिन-जिन युक्तियों से योगी के सामने प्रसारित होता है, उसी का रूप है। अब वह इन शक्तियों के मूल सहज स्वरूप में ही स्थित हो गया तो किसका पथ-प्रदर्शन करे? विलगता में यही शाखाए प्रसारित होकर समझाती थीं। याद रखें, जो अवतार बाहर पाये जाते हैं वे इसी के अपभ्रश मात्र हैं। यह अपभ्रश कालान्तर में हो जाया करता है किन्तु इन्हीं के द्वारा प्रेरित हो प्रत्यक्ष स्थिति पानेवाले के लिए इनका कोई स्थान नहीं रह जाता। अन्त.करण में जब तक वह इष्ट विशेष कृपा करके पथ-प्रदर्शन नहीं करता, तब तक ईसा, मूसा, मुहम्मद, राम, रहीम आदि की मान्यता है। उन्हीं के द्वारा माध्यमिक स्तर तक बढ़ा जाता है। इसके आगे वही इष्ट बाहर से सम्बन्ध तोडकर भीतर अन्तर्देश से अपने स्वरूप में जोड देते हैं। इस स्तर वाला साधक सामान्य व्यक्तियों की दृष्टि मे नास्तिक-सा प्रतीत होता है परन्तु सही कृपापात्र वही है।

दोहा- जलत जलत ऐसी जली, जाको आर न पार।
ईश्वर जीव ब्रह्म अरु माया, फूँक दियो संसार।।

ईश्वर की अभिन्न स्थिति का नाम ज्ञान है। यह रहनी ऐसी विचित्र है कि उसका आदि एव अन्त नहीं है अर्थात् वह सर्वत्र है। इस स्थिति में माया एव ससार तो मिथ्या हैं ही, साथ ही साथ ईश्वर और ब्रह्म की भी सज्ञा नहीं बनती अर्थात् विलीन हो जाती है; क्योंकि उससे भिन्न कोई सत्ता नहीं रह जाती, जिसे कि वह समझे। जब वही है तब किससे कहना और समझना? महात्मा बुद्ध जब इसी स्थिति में थे तो लोगों ने उनसे प्रश्न किया कि महाराज ब्रह्म की स्थिति क्या है? वे शान्त होकर बैठ गये और कोई उत्तर नहीं दिये। मतलब यह था कि ब्रह्म शान्त है, इसलिए ...न्ति की तरफ सकेत किये, अनिर्वचनीय है इसलिए मौन हो गये। यही महाराजजी का भी

अभिप्राय प्रगट है।

बिना ईंधन के परकासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

यह कोई सासारिक अग्नि नहीं है, जो वस्तुओं के संयोग से जलती है। यह दृष्टान्त मात्र है परन्तु वास्तविक अग्नि इसी को कहा जा सकता है। आग में डालने से जिस प्रकार वस्तुएँ जल जाती हैं, ठीक उसी प्रकार इष्ट के मेल की अग्नि (योगाग्नि) में सम्पूर्ण जगत् सदा के लिए शान्त हो जाता है। वह बिना किसी सम्बन्ध के स्वय प्रकाशस्वरूप है। निरन्तर अभ्यास से ही उस अग्नि का प्राप्त होना सम्भव है। कहीं शिथिलता की गुजाइश नहीं है, इसलिए इसे लावनी कहते हैं। जिसका अर्थ है- निरन्तर लगनेवाली लगन।

टिप्पणी- इसी लगन को समझने के लिए **'राम काज कीन्हें बिना, मोहिं कहाँ विश्राम'** के तात्पर्य को समझना है। कुछ ही समय के बाद मन के मनोरथ प्रगट होने लगते हैं। इसी अवस्था में वहुत से साधक विश्राम करने लगते हैं। हनुमानजी समुद्र पार करने लगे तो मैनाक पर्वत ने उनके सम्मुख आकर कहा कि विश्राम करो। इस पर हनुमानजी ने उत्तर दिया-**'राम काज कीन्हें बिना, मोहि कहाँ विश्राम।'**

ससार ही समुद्र है। मन के मनोरथों का प्रकट होना ही मैनाक है और मान को हनन करने वाला वैराग्य ही हनुमान है।

सम्बन्ध- अब केवल सन्तों की रहनी का चित्रण अवशेष है। जो स्वय प्रकाशित है, ऐसे प्रकाश में स्थिति आ गई तो क्या महापुरुष भजन नहीं करते? इसी पर पूज्य महाराजजी कहते हैं कि-

पूष में पूरन आपे आप,
नहिं तहाँ पुन्य अरु पाप।
कहो अब जपूँ कौन का जाप,
मिटा सब जनम-मरण सन्ताप।।

भावार्थ- पूष (पूर्णता) में पूर्ण अपने आप है। वहाँ न तो पाप है और न पुण्य ही। वहाँ कोई भिन्न सत्ता भी नहीं तो भला वताइये कि मैं किसका जाप करूँ? अन्तत जन्म-मरण का सन्ताप मिट चुका, जो जाप के लिए प्रेरित करनेवाला था।

दोहा- **ज्ञाता ज्ञान न ज्ञेय कछु, ध्याता ध्यान न ध्येय।**
मम निज शुद्ध स्वरूप में, उपाध्येय नहिं हेय।।

यहाँ न ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है, न जानकारी की कोई युक्ति है और न जानने योग्य ही कोई शेष है। यहाँ न कोई ध्याता अर्थात् ध्यानेवाला है, न कोई ध्यान का क्रम है और न कोई ध्येय ही है। मेरे निज, शुद्ध स्वरूप में जो पूर्ण है, उसकी न तो कोई उपाधि ही है और न उसके नाश का ही विधान है।

करूँ फिर किसकी तल्लासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

जब कोई परमसत्ता अर्थात् परमलक्ष्य शेष नहीं, तो फिर किसकी खोज की जाय? ऐसी लगन के बारे में सुनें, जिससे यह स्थिति मिलती है और जिसमें निरन्तर लगे रहने का विधान है।

सम्बन्ध- पूष में पूर्ण तो है किन्तु पूर्णता का नशा पीछा किये हुए हे। आगे चलकर महापुरुषों का यह तनाव भी उतर जाता है। कारण कि जव कोई भिन्न सत्ता ही नहीं है तो नशा किससे और किसको हो?

लोग जहॉ-तहॉ भूले रहते हैं, इसलिए यहॉ स्थिति प्रत्यक्ष करके अगले पद में सावधानी और आदेश प्रदान करते हैं। महापुरुष इस रहनी में आदेशात्मक शव्द कहते हैं। यदि इसके पूर्व स्थिति में कहते तो वह सदिग्ध है। जैसा कि-

भीतर तो हइये नहीं, वाहर में परकास।
कह कबीर कब लौं हरी, छपरा पर की घास।। (कवीर)

माघ में मिटी मिलन की भूख,
तहाँ पर नहिं आसिक माशूक।
इश्क फिर किसका होवे,
वृथा वक्त तूँ क्यों खोवे।।

भावार्थ- इस सदर्भ में गीता का यह दृष्टान्त विचारणीय है। भगवान कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! जगत् में मेरे लिए लेशमात्र भी स्वार्थ-साधन शेष नहीं है। कुछ भी प्राप्त होनेवाली वस्तु अप्राप्य नहीं है। उसी का चित्रण इस माह में है। श्री परमहस महाराजजी के शब्दो में वही चरितार्थ होता है कि मुझे किसी वस्तु की लेशमात्र भी भूख नहीं है।

माघ (महा अघ, अघालयम् अशाश्वतम्)। इस ससार में मुझे लेशमात्र भी मिलने की भूख नहीं है क्योंकि जिसको मिलना था, वह भिन्न नहीं है। वहॉ न कोई आशिक ही है और न कोई माशूक। अब भला बताइये किससे प्रेम हो? अब आदेशात्मक वाणी है कि वृथा समय क्यो बरबाद करते हो, जबकि ऐसा स्वरूप उपलव्ध् है। (ऐसे महान् स्वरूप की उपलब्धि सभव है।)

टिप्पणी- ऐसे महापुरुष में उपदेश की प्रवृत्ति रहती है। उसी में कल्याण है। कारण यह कि वह ऑखों देखा हाल है। वास्तव में इस स्थितिवाले ही कहने का अधिकार रखते हैं अन्य लोग नहीं। जैसे-

बिन देखे उस देश की, बात कहै सो कूर।
आपै खारी खात है, बेचत फिरै कपूर।। (कबीर)

वौद्धिक स्तर पर कहनेवाले ही तो इन मत-मतान्तरों के रचयिता हैं किन्तु इस स्थितिवाले नहीं। कारण कि जिसने एक ही सत्ता को सर्वत्र देखा है, वह समाज में दरार नहीं डाल सकता।

दोहा- **व्यापक परमानन्द में, नहिं आशिक माशूक।**
लक्ष्य रूप में मार निशाना, (क्यों) वृथा विलोवे थूक।।

वह व्यापक है, परम आनन्द है। वहाँ न कोई भजनेवाला है और न भजने के लिए ही कोई शेष रहता है। यही लक्ष्य स्वरूप की स्थिति है। इसी मे निशाना मारो। क्यों व्यर्थ में विवाद करते हो, जवकि परिणाम कुछ भी नहीं मिलना है।

करावे क्यों जग में हाँसी।
लावनी सुन बारहमासी।।

क्यों जीव-जगत् अर्थात् जीव योनियों में फँसकर हँसी करवाते हो? थूक विलोने से तो परिणाम में निराशा ही हाथ लगती है। उस लगन के विषय में सुनो, जो छुटकारा दिलानेवाली है अर्थात् परमात्मा जिससे प्रत्यक्ष होता है, किन्तु सम्भव तभी है जब तार न टूटे।

सम्बन्ध- अन्त मे किस प्रकार के साधकों की पूर्ति तत्काल होती है, उनका महत्त्व तथा ज्ञान व पद की निर्लिप्त एव विशेष स्थिति का चित्रण करते हुए अन्तिम पद की समाप्ति कर देते हैं। इस लगन में साधन की नितान्त आवश्यकता की पुष्टि करने के लिए केवल अविद्या को काटा है, जो साधक के क्षेत्र की वात है।

बसन्त ऋतु फाल्गुन में आवे,
खेल यह प्रारब्ध रचवावे।
इत्र गुलाल ज्ञान रोरी,
खेलते भर-भर के झोरी।।

भावार्थ- फाल्गुन (विशेष फलदायक गुण), वसन्त ऋतु (स्थायी मस्ती)। सासारिक ऋतुएँ तो आती-जाती रहती हैं परन्तु जब हृदय-देश में मस्ती छा जाती है, तो परिवर्तन नहीं होता अर्थात् सदेव कायम रहता है। यह स्थिति फलप्रद गुणों से ही आती है, परन्तु उस क्रिया में प्रवृत्त होने में प्रारब्ध भी सहायक है। इस साधन में प्रारब्ध का विशेष स्थान है।

इत्र जगत् का एक सुगन्धित द्रव्य है। वह इस रहनी में एक प्रतीक मात्र है। जब ईश्वरोपलब्धि में यह सम्पूर्ण खेल सुलभ हो जाता है तब योगी की इन्हीं इन्द्रियों में परमात्मा की सुगधि का सचार हो जाता है। गुलाल-रोरी इत्यादि जो सर्वत्र लगाये जानेवाले पदार्थ हैं, योग की इस रहनी में ये सब ज्ञानसंचार के प्रतीक हैं, जो इस स्थिति के पुरुषों से प्राय सदेव सबको मिला है। यह स्थिति हृदय में आती है, इसलिए हृदयरूपी झोली में वह रहनी एवं ज्ञान भरपूर रहता है। जैसा कि-

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्चते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

अर्थात् पूर्ण में से पूर्ण निकाल देने पर शेष पूर्ण ही वचा रहता है, वह घटता नहीं।

टिप्पणी- यदा-कदा श्री महाराजजी के पावन मुख से यह वात निकला करती थी कि नाम के प्रभाव से असाध्य को भी साध्य वनाया जा सकता है। इस लावनी में प्रवेश और अन्तिम पराकाष्ठावाली योग्यता तो लगनेवालों के लिए है। यह स्वयं विचार की वात है कि यदि सर्वथा नहीं लग पाते हैं तो नाम का आश्रय ले लेना चाहिए।

'मेटत कठिन कुअंक भाल के।।' नाम के प्रभाव से कठिन कुअक भी मिट जाते हैं। यदि लगन है तो वही प्रारव्ध वन जाता है। कोई महापुरुष कृपा कर दे और उटा दे तो दुर्गम पथ भी सुगम हो जाता है। सेवा से, समर्पण से अथवा सर्वस्व अर्पण करके भी हम उनके हृदय में स्थान पा लें। महापुरुष किसी के प्रायश्चित को स्वय सहन कर उसको निवृत्ति दिला देते हैं।

दोहा- होली अविद्या फूंकि के, हो गये गुप्तानन्द।
समझे कोई सुघड़ विवेकी, क्या समझे मतिमंद।।

अविद्यारूपी होली को फूँककर स्वय आनन्द का स्वरूप वन जाते हैं। जो गुप्त है, आनन्द है, अलख है उसी के स्वरूप में लीन हो जाते हैं। इसको कोई सुलझा हुआ विवेकी ही समझ पाता है, बुद्धिहीन नहीं।

टिप्पणी- भाषा की जानकारी से विवेक-बुद्धि की जागृति नहीं होती। अनेक महापुरुष तो भाषा के नाम पर निरक्षर थे, पर थे परम विवेकी। महान् विवेक का स्रोत उनसे ही निकला है। जैसे कि कागभुशुण्डि को ही लिया जाय, **'हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई'** लेकिन नहीं पढे। स्वामी रामकृष्ण परमहस आदि भी इसी प्रकार के थे।

जगत की धूल उड़ी खासी।
लावनी सुन बारहमासी।।

जगत् अर्थात् जीव गति की धूलि पूर्णतया उड गई। जीव गति की नश्वरता विलीन हो गई और परमचेतन की गति बन गई। परमचेतन से अभिन्न स्थिति दिलानेवाली जो लगन है उसकी प्रक्रिया को सुनो, जिसमें पूर्तिपर्यन्त लगे रहने का विधान है। उसके बाद नहीं लगना पडता। उसके बाद तो **'हरिजन भजन भेद से न्यारा।'**

आँख न मूंदे कान न रुँधे, काया कष्ट न धारे।
उघरे नैना साहब देखे, सुन्दर बदन निहारे।। (कबीर)

अर्थात् भजन की आवश्यकता नहीं रहती किन्तु भजन बना ही रहता है।

निर्णय

इस अन्तिम पद में सबका निर्णय देते हुए केवल अविद्या को ही क्यों फूँकते हैं, जबकि इस पूर्णता में विद्या भी मिट जाती है। अधिकांशत· देखा जाता है कि मनुष्य साधन-श्रम नहीं करना चाहता परन्तु योग्यता की ख्याति प्राप्त करना चाहता है। जबकि वह प्रत्यक्ष स्थिति है, ख्याति नहीं। अत उस लगन के द्वारा अविद्या को फूँक दें। इष्ट के स्पर्श-काल में विद्या तो स्वयं मिट जाती है। उसमें आपके मिटाने की कोई प्रक्रिया नहीं है। विद्या तो वह रास्ता है जिसके द्वारा क्रमश इष्ट की मजिल तय करते हैं। दर्शन के साथ ही रास्ता समाप्त हो जाता है। यदि अविद्या के साथ विद्या को भी छोडने के लिए लिख दिया जाय तो कोरे वेदान्तियों को रास्ता मिल जायेगा। वे कहने लगेंगे कि विद्या झूठी है, इसे छोडो। करने की आवश्यकता नहीं है। हम तो पूर्ण हैं, शुद्ध हैं, अजर-अमर परमात्मा हैं- आदि विशेषणों से अपने को अलकृत कर लेंगे। ऐसा मानने से कुछ होता नहीं, स्वय तो क्रिया व वस्तु से वचित रह जाते हैं और दूसरों को भी वाधा पहुँचाते हैं। योगपूर्ति के उपरान्त

वास्तव में ऐसा ही है। इसलिए महापुरुष ने केवल इतना ही निर्णय दिया है, जिससे साधक को क्रिया में भ्रम न हो। इस प्रकार साधक को क्रिया द्वारा केवल अविद्या को मिटाना है। विद्या तो स्पर्श, दर्शन आदि के साथ ही मिट जाती है। कालान्तर मे फैलनेवाली रूढियो के निवारणार्थ यदा-कदा महापुरुषों को अन्तश्चेतना मुमुक्षुओं के भावी कल्याण के लिए जीवनानुभूति का अमरस्रोत बनकर श्रीमुख से लयात्मक वेग से अनायास ही प्रस्फुटित होने लगती है। परमपूज्य श्री महाराजजी की अमरवाणी से बारहमासी की अतुलनीय परमार्थवादी काव्य-लहरी ऐसी ही कल्याण-कल्पना से तरगित है। आपकी चिन्तनरत 'भाव लहरी' मे यह प्रेरणा प्रादुर्भूत होती है कि परमार्थ पथिक महापुरुषो का आश्रय लेकर साधन-पथ को क्रमश प्रशस्त करने के लिए प्रयत्नशील होंगे। ऐसी स्थिति में उन्हे सम्बल प्रदान करनेवाले निर्देशात्मक उपकरण यदि किसी तत्वदर्शी द्वारा अन्त करण में प्रगट हो जायें तो प्रगति सुलभ हो जायेगी। इसी उद्देश्य की पूर्तिहेतु बारहमासी का सगीतमय वेग उन्मुक्त भाव-प्रवणता के साथ प्रवाहित हुआ है।

इस कृति में लयात्मक छन्द लावनी का प्रयोग सरल किन्तु हृदयस्पर्शी भाषा के परिवेश में सरस एव बोधगम्य शैली में किया गया है। इसके प्रथम दर्शन एव पठन से ही हृदय मे प्रबल जिज्ञासा का प्रस्फुटन होने लगता है, परन्तु कल्याणात्मक उपलब्धि तभी संभव है जब उसका प्रयोगात्मक पद्धति से अनुशीलन किया जाय। बारहमासी मे चैत से लेकर फाल्गुन मास तक का क्रमागत वर्ष-विकास का सामजस्य साधनात्मक ढग से किया गया है। किस प्रकार अनुरागी के अन्त.करण में लगन की ज्योति जागृत होती है, वह किस अन्तर्प्रेरणा से प्रभावित होकर महापुरुष की कृपा से लाभान्वित होता है तथा तदनन्तर उसमे किस तरह विलक्षण अनुभवो का प्रादुर्भाव होता है, आदि क्रियात्मक पद्धतियों का सूक्ष्मतम विश्लेषण किया गया है। वस्तुत यह कृति (बारहमासी) उन्हीं के लिए अधिक उपयोगी है जो साधन-पथ पर चलनेवाले पथिक हैं। पूर्वकथित जागृति से पथ की बाधा, व्यवधान एवं उपलब्धियों का पूर्वाभास मिलता जाता है, जिससे कि साधक उस अदृश्य पथ पर निर्विघ्न रूप से बढ़ता रहता है। अब आप यह न भूलें कि यह जागृति केवल स्थितिप्राप्त महापुरुषो द्वारा ही मिलती है। हॉ, यह कठिनाई अवश्य है कि वे करोड़ों में एक होते हैं, परन्तु हैं सदैव।

।। ॐ ।।

सदुपदेशों की झलकियाँ

सत्संग-शैली

परमश्रद्धेय महाराजजी की सत्सग-मुद्रा साधारण वार्ता के दौरान ही वन जाया करती थी। जैसा कि आप समझ गये होंगे कि यह आश्रम हिसक पशुओं से परिपूर्ण घने जगल के मध्य में स्थित है। पहले तो वर्षा ऋतु में चार-चार महीनों तक मानव-दर्शन दुर्लभ था परन्तु महाराजजी के निवासोपरान्त शनै -शनै. भीड वढ़ती गयी। टैक्सियों एव पदयात्रियों आदि की भीड वनी रहने लगी। पूज्य महाराजजी की कृपा के फलस्वरूप सभी दर्शनार्थियों को सुविधा प्रतीत होने लगी एव वे निर्विघ्न आने-जाने लगे। प्रायः लोग विभिन्न समस्याओं को लेकर महाराजजी के सामने उपस्थित होते किन्तु प्रणाम करने के उपरान्त किंकर्तव्यविमूढ होकर वैठ जाया करते थे। तव आप साधारण एव मधुर स्वर में गालिया देना प्रारभ करते थे, जिससे जीवनोपयोगी सत्सग की भूमिका तैयार हो जाया करती थी। सत्सग को आत्मसात् करने के पश्चात् श्रोतागण तदनुकूल भावों में मुग्ध होकर मौन वैठे रहते थे और उनके अन्त.करण में वार-वार यह लालसा तरगित होने लगती थी कि हमलोग भी क्यों न परमशान्ति के पथ पर अग्रसर हों? ऐसा ही मौन प्रश्न करके महाराजजी की स्वीकारोक्ति सुनने के लिए उत्कण्ठित रहते थे। तव महाराजजी उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा करें कि बडे भाग्य से यह मानव-शरीर मिला है। अधीर होने की आवश्यकता नहीं है। घर तो हर हालत में जाना ही पडेगा। वहाँ गये विना किसी भी तरह से भलाई नहीं है। जाओ, दुनिया मे कहीं भी रहो, मन से आया-जाया करना। जिस प्रकार तुम हमें यहाँ देखते हो, जहाँ भी रहो ठीक इसी प्रकार मन के अन्दर देखने का प्रयास किया करना। भगवान एवं सद्गुरु सर्वत्र रहते और सभालते है। मान लो कि आज तुम यहाँ रुक ही गये और मन घर-द्वार इत्यादि में भटकता ही रहा तो यहाँ रुकने से कोई लाभ नहीं। वस्तुत. मानव वहीं रहता है जहाँ कि उसका मन। अगर तुम किसी समय अपने हृदय में हमारा स्वरूप देख लोगे तो तुमको भजन करने की क्षमता प्राप्त हो जायेगी।

एक बार आश्रम के सामने मदाकिनी तट पर कुछ महात्मागण पूजनार्चन में सलग्न थे। घडी-घण्टा और शखनाद के साथ प्रार्थना कर रहे थे। उनको देखकर कुछ सत्संगप्रेमी हँसना प्रारभ कर दिये। महाराजजी ने कहा कि यह हँसने की बात नहीं है। वे अभी अपनी साधना में तत्पर हैं। प्राय सभी को यह स्तर पार करना पडता है। यह क्रमागत साधना का ऊँचा-नीचा स्तर है। वह क्षमता इस क्रिया के करने के बाद ही आती है, जिसको कि तुम लोगों ने अभी सत्सग में सुना। इस तरह महाराजजी के द्वारा साधना के क्रमागत विकास के स्तर का निराकरण होने के पश्चात् सत्सगियों ने प्रश्न किया कि-

प्रश्नः- महाराजजी! भगवत्-पथ में इतने सम्प्रदाय क्यों हैं? कुछ लोग साम्प्रदायिक भेद से विरोध क्यों करने लगते हैं?

उत्तर- महाराजजी ने उन्हें समझाते हुए कहा कि भगवत्-पथ में कोई सम्प्रदाय नहीं होता, वल्कि कहीं साधन वुद्धि के क्षेत्र में चल रहा है तो कहीं इष्ट के क्षेत्र में, कही मनन की प्रवेशिका

का प्रयत्न है तो कहीं योग की रहनी का। अवस्था-भेद से आकृतियाँ भिन्न-भिन्न दिखाई देती है। हाँ, साधक को अपनी श्रेणी स्वीकार करते हुए आगे के लिए यथाशक्ति प्रयास करना चाहिए। महापुरुषों के यहाँ जाति-विशेष, रग-विशेष और सम्प्रदाय-विशेष नहीं होते बल्कि अधिकारी के गुण-दोषों का मूल्याकन होता है।

प्रकृति में विभाजन होता है, परमपुरुष में नहीं। मानवीय दर्शन में जिसे ब्रह्म कहा जाता है वह अजन्मा, अलख और कण-कण में है। उसके स्फुरण के बिना कोई साँस नहीं ले सकता। यहाँ तक कि पत्ता भी नहीं हिल सकता परन्तु वह रूप-रग विहीन है। खुदा और सुप्रीम गॉड की भी यही विशेषताएँ हैं। केवल भाषाओ के भेद से नाम पृथक्-पृथक् हैं। भाषा-भेद से रूढिग्रस्तता का फँसाव अविवेकी एव सदिग्ध पुरुषों की ही देन है। जैसे किसी को प्यास लगी है तो अग्रेजीवाला 'वाटर', फारसीवाला 'आब', हिन्दीवाला 'पानी' और सस्कृतवाला 'जल' कहकर माँगेगा, परन्तु पीने को वही तरल पदार्थ जल ही मिलेगा। अब हम उस इष्ट का नाम किसी भी भाषा में ले, लेकिन वह उसी स्वरूप में मिलेगा। नाम तो केवल उसकी प्रवेशिका है। उन प्रभु के पथ मे आनेवाले स्तर तो महापुरुष की शरण में रहकर साधना करने से ही उपलब्ध हो सकते हैं कि भजन का क्या रूप हे एव भजन कैसे होता है?

प्रश्नः- कुछ विद्वानों ने आकर प्रश्न किया कि महाराजजी! परहित क्या है? लोकहितार्थ आपकी वाणी जनसमूह तक पहुँचनी चाहिए।

उत्तर- श्री परमहस महाराजजी उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह अधिकारी के लिए है, न कि सबके लिए। हम क्या कहें, कोई सुनेगा भी नहीं। हम आँखो की देखी बात कह रहे हैं और तुम लोग कागज की लिखी बता रहे हो। भला बताओ, हमारा-तुम्हारा मन एक कैसे होगा? किसी को खाना-पीना, कपडा व इन्द्रिय तृप्ति की सामग्री देने का नाम परहित नहीं है। यह तो उसका एक अग मात्र है। यह आत्मा प्रकृति से परे होने के कारण 'पर' कहलाता है। इसका हित हो जाय, बस यही परहित है। जैसा कि-

परहित सरिस धरम नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई।। (मानस)

इस आत्मा का हित हो जाय, इससे बढकर कोई धर्म नहीं है। यही परमधर्म है। इसको अधोगति में रखना अर्थात् इसे योनियो के सिलसिले में छोडे रहना--इससे बढकर कोई पाप नहीं है। आत्मा तो अजर-अमर, शाश्वत एव सर्वत्र है। हमें उसी को प्राप्त कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना है।

प्रश्नः- महाराजजी! अजर, अमर और शाश्वत आत्मा का हित कैसा?

उत्तर- विद्वत् समूह को सम्बोधित करते हुए महाराजजी कहते हैं कि जिस गीता में आत्मा को अजर, अमर और शाश्वत कहा गया है उसी शास्त्र में यह भी मान्यता है कि आत्मा को अधोगति एव नीच योनियों में न पहुँचावें बल्कि अपनी आत्मा का उद्धार करें। इसका पतन न होने दें।

आत्मा वस्तुत अजर, अमर एवं शाश्वत है किन्तु यह तो किसी महापुरुष के द्वारा देखकर निर्णय किया गया है। गीता आत्मा की कोरी प्रशंसा नहीं करती बल्कि उसके स्वरूप को प्रत्यक्ष

कराती है। इसलिए निर्णय दिया है कि तत्त्वदर्शियों ने ही इस आत्मा को देखा है। जब परमतत्त्व परमात्मा देखने में आ जाता है, तभी इन्हीं विभूतियों से युक्त यह आत्मा भी प्रत्यक्ष होता है। हम कहते भर हैं पर देखते तो नहीं। दिखाई तो यही शोक, सताप एव ससार देता हे।

इस प्रकार भजन के मनन की युक्ति समझो और करो। जब कभी भी आत्मा दिखाई देता है तो इसी रूप में। भजन के सिवाय उसे देखने का कोई अन्य उपाय नहीं है।

प्रश्नः- भाविकों द्वारा प्रार्थना सहित यह प्रश्न किया गया कि महाराजजी! हमारे कल्याण का कोई सरल उपाय बताने की दया की जाय?

उत्तर- इस पर पूज्य महाराजजी उनके प्रति अति मधुर वाणी में कहते हैं कि क्या कहूँ, अब कहने की आवश्यकता नहीं है। सभी बातें सब कोई जानते हैं। दो-दो पैसे में वेदान्त विकता है। सब पढते हैं और लिखते भी रहते हैं। बस साधन ही एक ऐसी वस्तु है जो लिखने में नहीं आती बल्कि किसी अनुभवी महापुरुष के द्वारा हृदय में जागृत हो जाती है। बनावटी इधर-उधर भटकने से तो अच्छा है कि किसी महापुरुष की शरण अपनाओ। उन्हीं के सान्निध्य, सेवा और सत्सग से तुम्हारे कल्याण का पथ प्रशस्त होगा। जैसा कि-

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी में पुनि आध।
तुलसी संगति साधु की, कटै कोटि अपराध।।

प्रश्नः- महाराजजी! क्या घर में भजन नहीं हो सकता?

उत्तर- घर मे पुण्य और पुरुषार्थ को बढाया जा सकता है लेकिन उस भजन के द्वारा निवृत्ति नहीं हो सकती। सेवा, भजन उतनी ही तल्लीनता से जारी रखना चाहिए, जब तक कि उसकी कोई निर्धारित सीमा न मिल जाय। उस सीमा के उपरान्त ही स्वयं भगवान घर छुडा देते हैं। आज हम सोचते हैं कि घर छोड़ना असम्भव है परन्तु इष्टदेव के अनुकूल होने पर सब सुलभ हो जाता है।

प्रश्नः- जब घर में निवृत्ति नहीं होना है तो हम आपकी शरण में रहकर ही भजन करेंगे।

उत्तर- देखो, किसी के छोडने से घर नहीं छूटता है। एक चोर था। जब चारों तरफ से दण्ड के घिराव में आया तो साधू हो गया। जब सब महात्मा लोग विश्राम करने लगते तो वह अपनी खोज जारी रखता था। खोज करने से कुछ भी न मिलने पर वह **'करे कमण्डलाचार'** रातभर महात्माओं का कमण्डल ही इधर-उधर किया करे। किसी का बाहर रख दे और किसी का अन्दर- यही उसके रातभर का क्रम था। उसके इन क्रिया-कलापो से महात्माओं के भजन में व्यवधान पडने लगा। बारीकी से जॉच करने पर एक दिन वह पकड में आ गया। जब पूछा गया कि इस वेश में आने के पूर्व तुम कौन थे? तब उसने चौर्य कार्य का पूर्ण विवरण कह सुनाया। चूँकि वह पहले चोर था, इसलिए स्वभावगत संस्कार उसका पीछा नहीं छोडा। घर छोडने से स्वभाव नहीं छूटता। असली गृहस्थी तो मन है जो ग्रसा हुआ है। केवल बाहर के त्याग से मन की गृहस्थी का त्याग नहीं होता। जब तक इष्टदेव आज्ञा न दें, तब तक घर छोडना पाप है और जब आज्ञा दे दें, तब

घर में रहना महान पाप है। इसलिए घर में ही रहकर आज्ञा की स्थिति प्राप्त करो। सहसा छोडने से मन का ग्रसन (गृहस्थी) नहीं छूटता, पुराने गुणधर्म पीछे लगे रहते है।

'गुण स्वभाव त्यागे बिना दुर्लभ परमानन्द।'
'बिना विचारे जो करे, सो पीछे पछताय।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हँसाय।।'

यदि जल्दीबाजी करनी ही है तो प्रार्थना इत्यादि मे करो, बाहर की जल्दीबाजी मे काम बिगड जाता है।

प्रश्नः- महाराजजी! कृपा बनी रहे, जिससे मैं भजन कर लूँ।

उत्तर- तुम भजन कहॉ से कर लोगे? कैसे पता पाओगे कि भजन क्या है? जो कुछ भी शुरू करते हो, यह केवल भजन की प्रवेशिका मात्र है, जिसे प्राथमिक स्तर की सज्ञा दी जाती है। हमारे स्वरूप को हृदय से पकड़ो। धीरे-धीरे जब पकड कार्य करने लगेगी तब आत्मा रथी बनकर हृदय से पथ-सचालन करने लगेगा। ऐसी स्थिति मे तुम समझ सकोगे कि भजन कब होता है और कव नहीं होता? ऑख बन्द कर प्रयास करना तो प्रवेशिका का प्रयत्न मात्र है। जब तक इष्टदेव हृदय से रथी होकर शुभाशुभ और ऊँच-नीच की स्थिति नहीं समझाने लगते, तब तक भजन नहीं होता। हॉ, प्रयास निरर्थक नहीं जायेगा क्योंकि यही प्रवेश करने का माध्यम है। भजन कोई करता नहीं वल्कि सद्गुरु ही कराते हैं।

प्रश्नः- महाराजजी! भजन की पराकाष्ठा क्या है?

उत्तर- 'यथा नाम तथा गुण'। भजन का अर्थ होता है- भज न। तात्पर्य यह हुआ कि भागो मत। चिन्तन में वृत्ति का अचल होना ही भजन की पराकाष्ठा है। चित्त की गति का सर्वथा रुक जाना ही भजन की परिपक्वावस्था है। चित्त की यह स्थिति जहॉ पैदा हुई कि भगवान स्वय ही उठा लेते हैं। वनने की आवश्यकता नहीं है। वे स्वय प्रत्यक्ष होकर अपने में समाहित कर स्थिति प्रदान कर देते हैं। ऐसी स्थिति में तुम्हे स्पष्ट हो जायेगा कि मैं क्या हूँ और मेरा स्वरूप क्या है?

प्रश्नः - महाराजजी! क्या भगवान मिलते हैं?

उत्तर- हॉ, मिलते क्यों नहीं? यदि वास्तव मे कोई सच्चा अधिकारी है तो न मिलने पर वह जीवित ही न रह सकेगा। हमें मिलकर ही यह स्थिति दिये है। उसका निर्णय हम इस भौतिक वुध्दि से नहीं कर सकते। **'रिनिक धिनिक धुनि अपने से उठे'**- जव सॉस में उठनेवाली ध्वनि पकड में आने लगती है अर्थात् जव साधक उस पर विचरने लगता है, तव भगवान ऐसे वोलते हैं, जिस तरह हम लोग परस्पर वातें करते हैं। जव शब्द और सुरति एक हो जाती है तव वह ऐसे ही देखने में आता है जैसे कि शीशे में स्वरूप, किन्तु वह अन्तर्दृष्टि अनुभव से देखने में आता है। तुम्हारा तो यह वाक्य-ज्ञान का झगडा है कि नहीं मिलते। जव वे हृदयदेश से पथ-प्रदर्शन करने लगते हैं तभी समझ में आता है।

प्रश्नः- महाराजजी! ब्रह्म तो शून्य है, जिसका अभिप्राय कुछ भी नहीं होता। इससे भ्रान्ति हो जाया करती है कि क्या करें?

उत्तर- यह किसी आडम्बरी या निशाप्रधान ने बता दिया कि ब्रह्म शून्य है। ब्रह्म ही एक ऐसी सत्ता है जो शून्य नहीं बल्कि परम चेतन है। उस ब्रह्म की चेतनता के अंश मात्र से यह सम्पूर्ण जगत् चेतन प्रतीत होता है। जैसा कि उसके बगैर कोई सास नहीं ले सकता और यहाँ तक कि उसके स्फुरण के विना पत्ता भी नहीं हिल पाता। यह तो किसी महापुरुष ने प्राप्ति की स्थिति का चित्रण किया है कि हमारा मन एव चित्त सतत् चिन्तन में प्रवृत्त होकर सूक्ष्म होते-होते सअस्तित्व मिट जाने की स्थिति में पहुँच जाय, जिससे कि वह लक्ष्य प्रत्यक्ष होता है। जब तक चित्त का स्वरूप सस्कार मात्र शेष है तब तक वह ब्रह्म प्रत्यक्ष नहीं होता। चित्त के सस्कार एव तरग के सअस्तित्व मिट जाने पर ही वह ब्रह्म प्रत्यक्ष होता है, जो हमारी मानसिक शून्यावस्था है। बस योगी या लक्ष्य में प्रवृत्त पुरुष चित्त की तरगरहित ऐसी शून्य अवस्था के प्रवेशकाल में उस ब्रह्म को प्रत्यक्ष पा लेता है जो कि परम चेतन है। उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए हमारे मन और चित्त को शून्य होना है, न कि ब्रह्म शून्य है। किसी स्थिति प्राप्त महापुरुष से चिन्तन-क्रम समझो और करो। वस्तुत. हम चलना ही नहीं जानते। वह परम दयालु है। हम हृदय से समर्पण करके चलना प्रारम्भ करें तो वही स्रोत मिल जायेगा, जो दु ख से ऊपर उठा लेता है।

प्रश्नः- महाराजजी! निशाचर का क्या स्वरूप है?

उत्तर- जो निशा-प्रिय हो, जिसे प्रकाश में न दिखाई पड़े, वही निशाचर है। यहाँ उदय-अस्त होनेवाले रात्रि-दिन से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अदृश्य सत्ता के द्वारा प्रसारित जीवधारियों का पालन-क्रम है। जैसा कि-

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। (गीता, अ० २/६९)

यह सम्पूर्ण जगत् ही रात्रि है, जिसमें संयमी पुरुष जग जाते हैं। यही रूप मानस इत्यादि हर परमात्म तत्त्व अवगत पुस्तिका में है।

एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी।। (मानस)

जगत्रूपी निशा में योगी लोग जग जाते हैं। परमतत्त्व के लिए आर्त एवं विधाता के प्रपच को त्याग देते हैं। यहाँ विधाता का प्रपच ही निशा है। इस निशा में जागते किस प्रकार हैं?

नाम जीह जपि जागहिं जोगी। विरति विरंचि प्रपंच वियोगी।। (मानस)

नाम के प्रभाव से योगी लोग जग जाते हैं। वास्तव में राम नाम इतना ही नहीं, जितना कि हम जिह्वा से रटते हैं। जैसा कि-

राम नाम में अन्तर है। कहीं हीरा है, कहीं पत्थर है।।

उस रात्रि का प्रसार, जहाँ तक विधाता का प्रपंच है, उसके लगाव का सर्वथा त्याग कर देते हैं। नाम-चिन्तन की युक्ति के द्वारा परमात्म तत्त्व को पाना ही प्रकाश है। अब जो इन मायिक प्रवृत्तियों को सत्य समझकर उसी में व्यस्त है, वही निशाचर है। दूसरों को मारकर खुद जीनेवाले, सृष्टि के छिटपुट ऐश्वर्यो में मदान्ध, दुर्व्यसनों में रत एव भगवत्विस्मृत स्वभाववाले ही निशाचर हैं। कारण कि जगत्रूपी रात्रि में ही उनकी सूझ-बूझ है और परम प्रकाशमय उस परमात्म तत्त्व से वचित हैं।

प्रश्नः- प्रायः लोग आपसे प्रश्न किया करें कि "महाराजजी! क्या गाँजा पीने से ध्यान में मदद मिलती है?"

उत्तर- आप हँसते हुए उत्तर दें कि गॉजा तो मै भी पीता हूँ परन्तु औषधि के रूप मे। भजन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। एक बार मुझे अस्वस्थ देखकर उत्तराखण्ड के एक स्वामी जी ने कहा कि पहाडी पानी बहुत लगता है। महाराजजी, आप दो-चार चीलम गॉजा पीया करें जिससे पहाडी पानी का असर न पडे। तव से मैं भी पीने लगा परन्तु इसका भजन से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसा कि-

गांजा पीके धरे ध्यान, गृहस्थ होके छॉटे ज्ञान।
साधू होके कूँटे भंग, कहै कबीर तीनों ठग।।

अमल-गॉजा, भॉग, चरस आदि का सेवन करने और भजन, ध्यान करने से कोई सम्वन्ध नहीं है। यदि इनके माध्यम से ध्यान लग जाय तो सभी औषधि खाकर अचेतावस्था मे ध्यान करने लगे। साधना के प्रशस्त पथ में पहुँचकर हमारा अभ्यास एवं लगन ही ध्यान के रूप मे परिणित हो जाते हैं।

प्रश्नः- महाराजजी! प्रबल पिपासु होने पर भी बहुत-सी भ्रान्तियो में बहता रहता हूँ। वस्तुतः सनातन-धर्म है क्या? कोई ऐसा रूप बताइये जिसका सभी पालन कर सकें?

उत्तर- जिसे तुम भ्रान्ति कहते हो, वही अन्तिम योग्यता को क्रमश· दिलानेवाला होता है। जितने भी तीर्थ या देवी-देवता हैं, उन्हीं का अनुसंधान ही आज तुम्हे इधर प्रेरित कर रहा है। इन्हीं के द्वारा सनातन-धर्म के लिए हम जागरूक होते है। अत ये सभी सनातन-धर्म की श्रृखला की कडी के रूप में हैं। हृदय में श्रद्धा व भावों को जागृत कर, पुरुषार्थ व पुण्य का कोष वनकर यही क्षमता वास्तविक लक्ष्य की दिशा प्रदान करती है। अब आइये सनातन के यथार्थ दिशा पर।

सनातन-धर्म मायिक अनिष्टों को समाप्त कर इष्ट की उपलब्धि करा देता है। क्रियात्मक दृष्टि- जो इस जीवात्मा को परमात्मा में प्रवृत्त कर दे, वही सनातन है। यह योग अथवा क्रिया की पूर्तिकाल में प्रत्यक्ष स्थिति दिलानेवाला है। सनातन कहते हैं अनादि को, जो सर्वव्यापी हो, सर्वशक्तिमान हो, जिसका नाम परब्रह्म परमात्मा है, जो अस्तित्व सहित इन्द्रियो का निरोध करके साधना की परिपक्वावस्था में स्थिति प्रत्यक्ष करानेवाला है। लोग चाहे जो भी समझें परन्तु प्रत्येक महापुरुष की रमणस्थली यही रही है। महावीर स्वामी, जिन्हें जैनधर्म का प्रवर्तक माना जाता है, इसी धर्म की सच्ची रहनी वाले थे कि "वह आत्मतत्त्व मैं ही हूँ।" वुद्ध भी इसी धर्म के पुजारी थे कि "तथागत मैं उस तत्त्व से अवगत हूँ, वह मुझसे भिन्न नहीं है।" श्री शकराचार्य भी इसी स्तर में खडे हुए कि "मैं वही स्वरूप हूँ।" अव आप ही विचार करें कि यह भेद कैसा? यह तो उन व्यक्तियों की देन है जिन्होंने महापुरुषों का आश्रय ले उनको अपने प्रचार का माध्यम वना लिया। यह कहना तो सर्वथा भूल ही होगी कि सनातन-धर्म की नींव शंकराचार्य के द्वारा डाली गयी, तव तो वह हजार वर्ष का ही हुआ, जितनी की शकरपर्यन्त अवधि है। जिस गीता का भाष्य शंकराचार्य ने किया, वह बौद्ध इत्यादि से भी हजारों वर्ष पुरानी है और अपनी विशेष देन सनातन-धर्म को ही वतलाती है।

यदि कोई उसका जन्मदाता है तो सनातन या अनादि कैसे हो सकता है? सनातन-धर्म के नाम पर जो अच्छाइयों के स्थान पर कुछ रूढियाँ आज प्रचलित हैं, वे कृष्णकाल में भी थीं। हो सकता है कि उनका कोई अन्य रूप रहा हो। सनातन-धर्म की एक प्रचलित मान्यता का स्मरण होते ही अर्जुन युद्ध की इच्छा को त्यागकर, धनुष रखते हुए योगेश्वर कृष्ण से कहने लगा कि भगवन्! मैं अपने ही कुल को युद्धस्थल में पाता हूँ। पिण्डोदक क्रिया, वर्णसंकर आदि का उदाहरण देते हुए उसने कहा कि कुल-धर्म सनातन है। हमें सनातन-धर्म की रक्षा करनी चाहिए। इस युद्ध से तो सनातन-धर्म नष्ट हो जायेगा। तव योगेश्वर कृष्ण ने कहा कि तुझे इस विषम स्थल में अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? जैसा कि तुम कहते हो, न कभी श्रेष्ठ पुरुषों ने इसका आचरण किया और न परम कल्याण ही करने वाला है। तव अर्जुन विनीत भाव से योगेश्वर कृष्ण से प्रार्थना करने लगा कि 'शिष्यस्तेऽहम्' मैं आपका शिष्य हूँ। मुझ शरण में आए हुए की रक्षा कीजिए। मुझ पर अनुग्रह करते हुए बताइए कि वह सत्य एवं सनातन है क्या?-जिससे कि मैं श्रेय को प्राप्त हो सकूँ। तब समझाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि सत्य वस्तु का कभी तीनों कालों में अभाव नहीं है और असत्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है। अव प्रश्न पैदा होता है- जिसका किसी भी काल में अभाव नहीं है वह स्थिर रहनेवाला सत्य क्या है? तव श्रीकृष्ण स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यह आत्मा ही परम सत्य है, यह मिटता नहीं। यह आत्मा ही सनातन है, यही शाश्वत है, यही पुरातन है और यही अजर-अमर है। वहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं है। जब वह आत्मा सब में है तो फिर खोजा किसको जाय? इसके उत्तर में योगेश्वर कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! इस आत्मा को इन विभूतियों से युक्त तत्त्वदर्शियों ने देखा। भला वह तत्त्वदर्शिता है क्या? बाह्य दृष्टि में जैसा कि उन मान्यताओं का प्रचलन है- पाँच तत्त्व, पचीस प्रकृतियों, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और भूमिका आदि का सत्रह, पाँच, पचीस में तारतम्य बाँधकर कह देते हैं कि यही तत्त्वदर्शन है किन्तु योगेश्वर कृष्ण के अनुसार तत्त्व की चाहवाले पुरुषों को चाहिए कि वे इन्द्रियों को विषयों से पूर्णतया समेटकर मन को ध्यान में लगावे। ध्यान का लक्ष्य वास्तविक होना चाहिए क्योंकि योग की निर्धारित क्रिया एक ही है। दीर्घकालीन अभ्यास के फलस्वरूप काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मायिक प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है और शान्ति, क्षमता, एकाग्रता इत्यादि सद्-प्रवृत्तियों का अभ्युदय हो जाता है। इष्ट की एकाग्रता, लक्ष्य इत्यादि जो इष्ट को दिलानेवाले परमस्रोत हैं उनका हृदय में धारावाही प्रवाह हो जाने पर ही पराभक्ति की स्थिति आती है। इसी स्थिति में वह ब्रह्म को पूर्णत जानता है। तत्त्व को जानता तो है किन्तु वह तत्त्व है कैसा?

तत्त्व का स्पष्टीकरण करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं जो हूँ, जिस स्थिति वाला हूँ, जिन लक्षणो से युक्त हूँ- उसको जानता है और जानने के तत्क्षणोपरान्त उसी में लीन हो जाता है। सिद्ध हुआ कि ईश्वर की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम तत्त्वदर्शन है। प्राप्तिकाल में जिसको भगवान मिले हैं, उसके दूसरे क्षण ही वह अपनी आत्मा को उन्हीं भगवत् गुणधर्मो से परिपूर्ण पाता है। जिसके लिए वे सकेत करते हैं कि वह मुझमें स्थिल है और वही सनातन है। अब जिस क्रिया से वह आत्मतत्त्व प्राप्त हो जाय, उसका पालन ही सनातन धर्म का पालन है। उस क्रिया की पूर्तिकाल में ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही इस आत्मा में परमात्मा के गुण-धर्म प्रवाहित होने लगते हैं। आत्मा ब्रह्म के साथ तद्रूप हो जाती है, इसलिए यह आत्मा प्राप्तिकाल में सनातन है न कि पहले। अव

वहुत से पूजा के ऐसे भी विधान पाये जाते है कि लोग महापुरुषो के शब्दो का सहारा लेकर यह आत्मा सनातन है, शाश्वत है, यही मेरे अन्दर है, यही मेरा स्वरूप है- ऐसा कहकर वोध लगाने लगते हें परन्तु यह सनातन-धर्म की कोई पूजा नहीं है। जब क्रिया की पूर्तिकाल मे ही वह प्रत्यक्ष होता है तो कहने से क्या लाभ?

अव यदि हमे वास्तव मे सनातन-धर्म को पाना है तो सर्वप्रथम उस क्रिया को समझना होगा, जिसके द्वारा वह प्रत्यक्ष होता है। वह क्रिया किसी भी स्थितिप्राप्त महापुरुष के द्वारा हृदय मे जागृत हो जाती है। केवल लिखना तो प्रेरणा मात्र है। श्रीकृष्ण ने उसको इस प्रकार वताया है कि- हे अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में आत्मा को प्रत्यक्ष करानेवाली क्रिया एक ही है। अव प्रश्न उठता हे कि क्या अनेक क्रियाओं को करनेवाले भजन नहीं करते? तब कहते है कि वे भजन नहीं करते। अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली हुआ करती है, इसलिए वहुत-सी क्रियाओ का विस्तार कर कल्पित बुद्धि से अत्यन्त मनोरम रूप देते हुए उसको व्यक्त करते हैं। उनकी वाणी का प्रभाव जिनके चित्त पर पडता है उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अर्जुन ने जव श्रीकृष्ण से पूछा कि भगवान् हम इस ज्ञान को कैसे प्राप्त करें? तब वे कहते हैं कि हे अर्जुन! तत्त्वदर्शी, जो उस परमतत्त्व आत्मा को प्रत्यक्ष कर चुके हैं या उस तत्त्व की स्थिति वाले है उनके समक्ष शुद्ध अन्त करण से कल्याण की कामना करते हुए, निष्कपट भाव से सेवा व प्रश्न के द्वारा उस विधि को प्राप्त कर, जिसके अन्दर ईश्वर की प्राप्ति एव साधना की पराकाष्ठा निहित है।

अव एक नवीन समस्या सामने खडी हो जाती है कि जीवात्मा परमात्मा में कैसे स्थित हो? जीवात्मा और परमात्मा कोई अलग सत्ता नहीं हैं। केवल कुछ रुकावटों की वजह से जीव-ईश्वर इत्यादि के विशेषण लगते हैं। यह उन पदो के नाम है, जो उस अजर-अमर सत्ता के वीच में पडे हुए हें। जव इस मानव के विचरने का क्षेत्र अविद्या एव अज्ञान ही जानकारी है अर्थात् अविद्या से पेरित हो अज्ञान को ही ज्ञान समझता है तव यही पुरुप जीवात्मा कहलाता है। जिस पुरुप के अन्त करण में विद्या का ही क्षेत्र है एव ज्ञान अथवा वास्तविकता ही जिसकी जानकारी है अर्थात् विद्या से प्रेरित हो ईश्वर या परम सत्य का ही जिसे ज्ञान है वह ईश्वरात्मा कहलाता है। विद्या-अविद्या से परे जिसका क्षेत्र एव रहनी है और ज्ञान-अज्ञान से परे जिसकी जानकारी हे, वही परमात्मा की सज्ञा से विभूषित होता है।

देखिये, आत्मा वही है। जीव एक विशेपण लग गया है इसलिए जीवात्मा की संज्ञा दी जाती है। फिर चिन्तन के द्वारा इप्ट की जानकारी की अवस्थाकाल मे उसी आत्मा मे एक ईश्वर विशेपण लग जाने से वह ईश्वरात्मा कहलाता है। जव साधक उसमे प्रवेश पा जाता हे तो ऐसी अवस्था में वही आत्मा परमात्मा के नाम से जाना जाता है। यह सव तभी सभव हे जव शनै-शनै चलकर अभ्यास करते हुए मन सहस्तित्व इन्द्रियों सहित सर्वथा निरोध की अवस्था में आ जाता है तभी साक्षात्कार होता हे। ऐसी स्थिति मे ब्रह्म को जानने की क्षमता आ जाती है एव लक्षण भी उसके जैसा ही हो जाता है। इसी स्थिति का नाम तत्त्वदर्शन है। हम चाहे देश में जन्मे हों चाहे विदेश में, इससे कोई अन्तर नहीं पडता, क्योंकि इस निर्दिष्ट क्रिया का सम्वन्ध सीधा उस परमात्मा से है, जो सबका नियन्ता हे। यह देश-विदेश तो जीवन-झगडों से मिलने वाले नाम है जो अस्थिर

हैं किन्तु उस लक्ष्य की प्राप्ति के पूर्व इस दुनिया में कोई सुखी नहीं होता। लक्ष्य-प्राप्ति के लिए किसी महापुरुष का सान्निध्य परमावश्यक है, अन्यत्र तो माया का ही प्रसार है।

प्रश्न - एक बार एक वृद्ध सज्जन विनीत शब्दावली में अपनी व्यथा व्यक्त करते हुए प्रार्थना करते हैं कि- "महाराजजी! जीवन पर विचार करने से सर्वाधिक पाप ही दिखाई पड़ता है। इसलिए अब कल्याण हेतु मृत्युपर्यन्त मैंने अवध में ही निवास करने का निश्चय किया है। कारण कि अवध में शरीर-त्याग करने से आवागमन के बन्धन टूट जाते हैं। जैसा कि-

चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तन नहि संसारा।। (मानस)

उत्तर- मेरी भी यही धारणा है कि अवध में शरीर-त्याग करने से पुनर्जन्म नहीं होता परन्तु वह अवध ही दूसरा है। जैसा कि हमने अनेक बार बताया है कि यह मानस है। मानस का तात्पर्य मन से है। रामचरित मानस में वही अंकित है जो प्राय सबमें प्रसुप्त एवं किसी-किसी में ही जागृत रहता है। मानस के रचयिता गोस्वामी जी ने गम्भीरतम विषय को छिपाकर लिखा है, ताकि उपयुक्त अधिकारी प्राप्त कर ले और अनाधिकारी प्रयास करें। मानस में चर्चित अवध का तात्पर्य इस प्रकार है--वध कहते हैं नाशवान को, मरणधर्मा को और अवध कहते हैं जिसका वध न किया जा सके अर्थात् अनश्वर हो।

यह भगवान के साथ मिलनेवाली भगवत् रहनी है, जो काल से अबाधित है। साधक के हृदय मे जब भगवत् तत्त्व का सचार होता है तो उस समय यह विघ्न सहित है। उसी की प्रेरणा से सम्पूर्ण विकारों के शमनोपरान्त जब रामराज्य की स्थिति का अभ्युदय हो जाता है, तत्क्षण सेवक का कार्य समाप्त हो जाता है और स्वामी की ही रहनी मात्र शेष रह जाती है। भूखण्डों में कहीं भी अजर-अमर होने का प्रमाण नहीं मिलता और न तो ऐसा सम्भव ही है। अब आइए प्रश्न की प्रवेशिका पर कि जिस महापुरुष की यह वाणी है उन्होने राम के साथ अवध का चलता-फिरता धाम कहा है।

अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवस जहँ भानु प्रकासू।। (मानस)

जहाँ सूर्य प्रकाशित है वहीं दिन है और जहाँ राम हैं वहीं अवध है। यथार्थत राम तो सर्वत्र हैं परन्तु प्रेममयी साधना द्वारा ही किसी-किसी के हृदय-देश में प्रगट हुआ करते हैं और उस राम के प्रगट होते ही अवध की स्थिति आ जाती है। उस अबाध्य स्थिति में, शरीर का चाहे जब जहाँ भी परित्याग कर दिया जावे किन्तु मृत्यु से सम्बन्ध नहीं रहता। केवल शारीरिक निधन ही मृत्यु नहीं कहलाती।

अवध प्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहि राम धनु पानी।। (मानस)

अवध का प्रभाव, जैसा कि अजर-अमर कर देने की विशेष योग्यता है, वह मानव के लिए तभी प्रत्यक्ष होता है अर्थात् पुरुष तभी जान पाता है जब इष्ट (राम) की स्थिति ध्यान के माध्यम से हृदय मे आ जाय। क्योंकि जहाँ राम रहते हैं वहीं अवध है। अतएव जब तक राम की स्थिति नहीं मिल जाती, तब तक अवध में प्रवेश नहीं कर सकते। याद रखें- ईश्वर का निवास स्थान हृदय है। उन्होंने जब कभी भी विश्राम करने के लिए स्थान पाया है तो हृदय में ही, अन्यत्र कहीं नहीं। समस्त विकारों के शमनोपरान्त आकाशवत् निर्विकार स्थिति द्वारा हृदय-देश में राम के आने

का समय हो गया अर्थात् स्थिति वहाँ तक पहुँच गयी, जहाँ कि राम के साम्राज्य का स्थान है। अव आप यह स्मरण रखे कि भगवान का निवास स्थान हृदय है। हम चिन्तन के द्वारा ज्यो-ज्यो इष्ट के करीब होगे, त्यो-त्यो भयरहित अवाध्य स्थिति का सचार हृदय-देश मे प्रसारित होने लगता हे किन्तु राम की पूर्ण स्थिति जिस क्षण इस शरीर के अन्दर आ जायेगी, उसी समय यह सम्पूर्ण शोभा की खानि हो जाती है। यही जीवात्मा अवध्य हो जाती है। इसलिए-

अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा कै खानी।। (मानस)

जहाँ राम निवास करते है वहाँ अवाध्य स्थिति का प्रसार हो जाता है। जब भगवत्-प्राप्ति की स्थिति में आ जाते हैं तो यह शरीर स्वत सम्पूर्ण शोभा की खानि बन जाता है और इससे अवाध्य स्थिति का चित्रण होने लगता है। इष्टदेव के शब्दों से ही इस स्थिति की जानकारी प्राप्त होती हे। अन्यत्र इससे अवगत होने का कोई उपाय नहीं है। इसीलिए राम समझाते हुए कहते हैं कि- **सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा।।** (मानस)

यह प्राप्ति-स्थिति अत्यन्त पुनीत, रमणीय एव अलौकिक है। यद्यपि सर्वत्र बैकुण्ठ की भूरि-भूरि प्रशसा की गई है परन्तु अवध सदृश्य मुझे वह भी प्रिय नहीं है। इस मार्मिक प्रसग को कोई विरला ही समझ सकता है। बैकुण्ठ, कामधेनु, अमृत इत्यादि यौगिक शब्द हैं। इन शब्दों के माध्यम से महापुरुषों ने इष्ट के सामीप्य की ऊँची-नीची अवस्थाओं को व्यक्त किया है। इसलिए अगद कहता है कि- अरे बुद्धिहीन रावण! क्या बैकुण्ठ कोई नगरी बसी हुई है, जहाँ पहुँचकर डेरा डाल दोगे? कुण्ठ कहते हैं किनारे को अर्थात् जो माप-तौल मे आ सके एव बैकुण्ठ कहते है वेहद को, जिसका किनारा न मिल सके। जब तक साधक का चिन्तन माप-तौल के अन्दर है (२ घण्टे, ४ घण्टे या ८ घण्टे चलता है) अत सख्या निर्धारित हो जाने से कुण्ठित है अर्थात् किनारा मिल गया। यदि वही भजन धारावाही होने लगे (जिसमे माप-तौल, किनारा आदि नहीं होते) तो यही स्थिति वेहद या वैकुण्ठ कहलाती है।

यह प्रसग जानइ कोउ कोऊ। (मानस) किन्तु इस प्रसग को कोई-कोई ही जान पाता है। जिसके अन्दर यह स्थिति प्रत्यक्ष आ जाती है उसी के लिए जानने का विधान है। आगे-

अति प्रिय मोहि इहाँ के वासी। मम धामदा पुरी सुख रासी।। (मानस)

जो क्रमश साधना-पथ में चलकर अवाध्य स्थिति प्राप्त कर लेता है वह मुझे अत्यन्त प्रिय होता हे ओर एक अत्यन्त प्रिय, जैसे कि प्राण। जब तक भगवान का स्वरूप हृदय-देश में प्रगट नहीं होता तव तक अवध का प्रभाव एव स्वरूप ही पकड में नहीं आता। अवाध्य स्थिति एव इसका प्रकटीकरण एक दूसरे के पूरक हैं अर्थात् स्वरूप के साथ ही साथ अवाध्य स्थिति भी तत्क्षण प्राप्त हो जाती हे। पुनश्च-

उत्तर दिशि वह सरयू पावनि। (मानस)

यननपूर्ण स्वर ही सरयू है। उत्तर दिशा का तात्पर्य है उर्ध्वरेता या उपराम। इस प्राप्तिकाल में यननपूर्ण स्वर उर्ध्वरेता अथवा उपराम हो जाता है। ऐसी स्थिति वालों का मज्जन व सग करनेवाले मेरा सामीप्य पाते हें।

हरषे सब कपि सुनि प्रभु वानी। धन्य अवध जो राम वखानी।। (मानस)

ऐसा सुनकर सब हर्षित हुए एव विशेष अवध से अवगत होकर बोले कि वह अवध धन्य है जिसकी प्रशसा राम ने स्वय की है। इसीलिए सिद्ध है कि अवध बहुत हैं। महात्मा तुलसीदास इन त्रुटियों से अवगत थे, इसीलिए कल्याणकारी अवध पर बारम्बार क्रियात्मक युक्तियों द्वारा विशेष बल दिये है, जिससे कि मानव अपने जीवन में अवध के परिणाम का सही उपयोग कर सके। जब रामराज्य अवध में स्थापित हो गया तो उस विशेष रामराज्य की स्थिति का चित्रण करते हुए व्यक्त किया गया है।

गरुड का सन्देह इतना बढा कि कहीं उसका निवारण न हो सका। वे नारद, शकर आदि के पास से होते हुए कागभुशुण्डि के पास जा पहुँचे। उनका सम्पूर्ण सदेह आश्रम एव महापुरुष के दर्शन से ही प्राय दूर हो गया। कारण कि वे महापुरुष राम के अनन्य भक्त एव प्रत्यक्षदर्शी थे। वे ही प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष जिस अवध में राम का राज्य है उसका चित्रण करते हुए कहते हैं-

जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा।।
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका।। (मानस)

हे गरुडजी! वह रामराज्य क्या था, वह एक प्रकार का प्रचण्ड सूर्य प्रगट हुआ था जिससे तीनों लोकों मे पूर्ण प्रकाश छा गया। उस प्रकाश में बहुतों को सुख हुआ एव बहुतों को दुख।

जिन्हहि सोक ते कहउँ बखानी। प्रथम अविद्या निसा नसानी।।
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने।। (मानस)

जिन्हें शोक हुआ, उनका वर्णन सुनें-

प्रथम तो अविद्यारूपी निशा का सदा के लिए अन्त हो गया एव अविद्या में पलनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि उल्लू जहाँ-तहाँ छिप गये अर्थात् मायिक प्रवृत्ति का नाश हो गया। जो विकसित हुए, उनका वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना। ये पंकज बिकसे बिधि नाना।। (मानस)

धर्मरूपी तालाब में विवेक, वैराग्य, शम, दम इत्यादि ईश्वरोन्मुखी प्रवृत्ति पूर्णरूपेण विकसित हो गयी अर्थात् इष्टोन्मुख समस्त सद्‌गुणो का विकास हो गया किन्तु इस रामराज्य की स्थापना जिस अवध मे हुई, वह है कहाँ?

यह प्रताप रबि जाके, उर जब करइ प्रकास।
पछिले बाढ़हि प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास।। (मानस)

रामराज्य का यह प्रकाश जिसके हृदय में जिस समय व्याप्त हो जाता है तब पीछे दर्शाए गये सभी इष्टोन्मुखी सद्‌गुणों का पूर्णतया विकास हो जाता है और अधोगति में ले जानेवाले मायिक दुर्गुण समूल नष्ट हो जाते हैं।

अब स्पष्ट हुआ कि राम के साक्षात्कार के साथ मिलनेवाली अबाध्य स्थिति ही अवध है, जो हृदय में प्रत्येक प्रयत्नशील (साधक) के लिए सम्भव है। यह इष्ट के स्थितिवाले किसी महापुरुष के अन्तर्देश की स्थिति है। वे जिस किसी को हृदय से पथ-प्रदर्शन करने लगे उसी के लिए सुलभ हो जाता है। इस अवध की स्थिति की जानकारी वे इष्ट स्वयं कराते हैं। कारण कि वह परमात्मा मन-बुद्धि के क्षेत्र से सर्वथा परे है। यह क्रमश चलने वाला क्रियात्मक पथ है, जहाँ परामर्श का

स्थान नहीं। यदि जीते-जी किसी को यह स्थिति मिल गयी तो वहाँ मृत्यु का प्रश्न ही नहीं खडा होता।

चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तन नहिं संसारा।। (मानस)

चारो खानियो में जो अपार जीव-श्रृखला है उसमे से यदि कोई इस अवध को पाकर त्याग दे, तो उसका आवागमन नहीं होता। आपको इस प्रकार की सकीर्ण भावना नहीं रखनी चाहिए। वृद्धा और युवावस्था का भगवत्-पथ मे कोई विशेष बन्धन नहीं है। भाग्य से ही ऐसी भावना आपके अन्त करण मे जागृत हुई है। यदि आपको फलदायी अवध मे पहुँचना है तो श्रम करिये। क्रियात्मक ढग से ही लाभान्वित होना सभव है, किसी अन्य माध्यम से नहीं।

प्रश्नः- महाराजजी! अवध प्रसग मे पावन मुख से यह सुनने में आया कि यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है। अब इसको पकड़ने की कोई युक्ति बताने की कृपा की जाय और साथ ही यह भी बताया जाय कि श्वास पर श्वास की क्रिया की स्थिति क्या है?

उत्तर- प्रारम्भिक अवस्था में श्वास पर श्वास का उपयोग तुम्हारे लिए न हो सकेगा। निरन्तर अभ्यास के कुछ काल बाद यही सरल हो जाती है। जिस प्रकार वह हमारे समझ में आती है और जीवन में ढलती है, उस प्रकार से लोग करना नहीं चाहते। लोग सीधे उसी योग्यता को चाहते हें, जो श्वास-जप की चरमोत्कृष्ट स्थिति है।

जहाँ-तहाँ उल्टी सीधी मान्यताओं का आधार लेकर समझाना भी प्रारम्भ कर देते हैं। बहुत से लोग तो काफी मात्रा मे श्वास को खींचकर पेट को घडे की तरह भर लेते हैं और कहते हैं कि श्वास पर श्वास की क्रिया हो रही है। शारीरिक व्यायाम और मन के निरोध से कोई सम्वन्ध नहीं हे। ऐसी उलझन में पड़ने से तो जल्दी के बजाय दूरी ही पैदा हो जाती है। यह एक ही नाम की ऊँची-नीची श्रेणी है, जो क्रमश चलकर ही सुलभ हो सकती है। जैसे किसी बच्चे का सरक्षक उसको उच्चश्रेणी की शिक्षा दिलाना चाहता है, यदि वह प्रारभ मे ही उसे किसी उच्चश्रेणी की शिक्षा के स्थान् पर वैठा दे तो बताओ क्या परिणाम निकलेगा? यदि वास्तव मे सरक्षक की चाह उच्चश्रेणी की शिक्षा दिलाने की है तो वह प्राथमिक शिक्षाहेतु सभी सम्भव प्रयत्न करेगा। ठीक इसी प्रकार श्वास-प्रश्वास की क्रिया को यदि पाना है तो क्रमिक रूप से ही समझना होगा।

एक ही नाम-यजन की चार श्रेणियाँ हैं। अतएव वे चारो श्रेणियाँ एक ही नाम की ऊँची-नीची अवस्थाएँ है- जो वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा के नाम से जानी जाती हैं। इसी विशेष पथ की आधी दूरी तय करने पर श्वास पर श्वास की योग्यता आ जाती है। जपनेवाले नाम अथवा मत्र का तात्पर्य "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" नहीं है। वह तो एक प्रार्थना हे जेसा कि ॐ शब्द से उच्चरित परात्पर ब्रह्म, सवकी श्वास मे वास करनेवाले भगवन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। "ॐ नमः शिवाय" इत्यादि भी इसी प्रकार की प्रार्थनाओं के रूपक है।

अब आप किसी एक छोटे से नाम को ले लें। जैसे कि तुलसीदासजी ने अपने चिन्तन-क्रम में दो अक्षर का नाम राम रखा। कवीर और नानक ने भी वही नाम चुना। पूर्व के महर्षियों में ॐ, सोहम् इत्यादि चलता था। इस प्रकार किसी दो या ढाई अक्षर के शब्द का नियमित रूप से ऐसे गति से उच्चारण करें कि आसपास वालों को भी सुनाई पडे। व्यक्त होने के कारण यह वैखरी

वाणी का जप कहलाता है। जितना नियम से निभा सकें उतना नियम से जपें और इसके अतिरिक्त हर वक्त जपने का विधान है।

मध्यमा- उसी नाम को ऐसे ढग से जपें कि आपके अतिरिक्त कोई और न सुन सके। यह केवल कण्ठ से ही जपी जानेवाली वाणी है। नाम जपने से आवाज तो निकलती है, परन्तु मध्यम होने के कारण मध्यमा कहलाती है। इसको तब तक निरन्तर जपना पडता है जब तक कि ध्वनि न बँधे और मन ध्वनि में न फँस जाय।

पश्यन्ति- पश्य का अर्थ होता है देखना। इस वाणी से नाम जपा नहीं जाता बल्कि देखा जाता है। इसकी प्रवेशिका में नाम श्वास के साथ ही जपा जाता हे जिससे कि वह नाम श्वास में ढल जाय। नाम की इसी अवस्था को पश्यन्ति कहते हैं। मन को द्रष्टा के रूप में खडा कर दें और श्वास में उठनेवाले शब्द को सुनें। सगदोष से मन कभी इतना विकृत हो जाता है कि सुनने की क्षमता ही नहीं रहती। ऐसी स्थिति में जब साधक बरबस अपने मन को लगाता है तो सिर में दर्द होने लगता है। सगदोष से बचने के लिए इस मन को सावधानी से लगाना पडता है। यहीं से श्वास-प्रश्वास की क्रिया का प्रवेश है। इसमें श्वास को घटाना या बढ़ाना नहीं पड़ता बल्कि शारीरिक शक्ति के अनुसार श्वास की स्वाभाविक गति में नाम को ढालने का प्रयत्न करना चाहिए। उसी श्वास की गति के साथ नाम को जपें। महापुरुषों का तो कहना है कि श्वास नाम के अतिरिक्त और किसी भी चीज का उच्चारण नहीं करती, परन्तु जब आप लोग सुनने का प्रयत्न करते हैं तो सन्न-सों सुनाई देता है। कारण कि शुद्ध अवस्था से प्रकृति के द्वन्द्व में लगे इतना दूर हट गये हैं कि स्पष्ट सुनाई नहीं पडता किन्तु सानुराग अभ्यास से क्रमश सुनाई देगा।

पश्यन्ति के चिन्तन में तो मन को सुनने के लिए बाध्य किया जाता है, किन्तु परावाणी में मन स्वाभाविक रूप से ही लग जाता है। न साधक जपे और न मन को जपने के लिए विवश करे। यदि इतने पर भी जप धारावाही होता रहे तो बस यही अजपा की प्रवेशिका है। इसी की पूर्तिकाल में श्वास में उठनेवाला शब्द नाम मात्र ही शेष रह जाय और जपनेवाले के इस मन की स्थिति उसमे विलीन हो जाय तब वह क्रम परमात्मा अथवा परम चैतन्य चिन्मय भगवान की स्थिति में परिवर्तित हो जाता है। ऐसी अवस्था मे वह प्रभु स्वय ही समझा देते हैं कि बेटा हम ऐसे हैं और तुम्हारा यह रूप है। इस स्थिति के बाद अपने मे प्रवेश दे देते हैं।

यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है- अजपा की स्थिति में स्वर यजन से परिपूर्ण रहता है। यह इष्ट के समीपवाली वाणी का जाप है। इसके बाद जाप का कोई विधान नहीं है। इस स्थिति में यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है। इस सरयू के महत्त्व को दर्शाते हुए कहते हैं कि-

जा मज्जन ते बिनहि प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा।। (मानस)

इसमें मज्जन करने से नर मुक्ति पा जाता है या मेरे समीप निवास करता है, परन्तु कार्यरूप में देखने से वह गुण नहीं मिलता। उदाहरण के लिए पाकिटमार चोर सबसे प्रथम ही स्नान कर लेते हैं। यदि भक्त चार बजे सुबह डुबकी लगाता है तो वे दो बजे रात्रि में ही स्नान करके राम-सीताराम की ध्वनि लगाना प्रारभ कर देते हैं। वे लोग भक्त के डुबकी लगाते ही उनका सामान चम्पत हो जाया करते हैं। परम मुक्ति तो दूर रही, कम से कम उनका यह दुष्कर्म तो छूट

जाता। देखें-

वस्तु कहीं खोजे कहीं, कैसे पावे ताहि।। (मानस)

तीर्थ और उसका फल अपनी जगह पर है। वह सामीप्य मुक्ति और साक्षात्कार यजनपूर्ण स्वरूपी सरयू मे मज्जन करने से ही सुलभ हो सकता है।

उत्तर दिसि बह सरयू पावनि।

इस स्थिति में श्वास प्रकृति से उपराम हो जाती है। अध्यात्म में यही उत्तर दिशा है, जिसे ऊर्ध्वरेता कहते हैं। चिन्तन की इस योग्यता में मन पर दबाव नहीं देना पड़ता बल्कि वह स्वाभाविक ही होने लगता है। ऐसे यजनपूर्ण स्वर में मज्जन करनेवाला निश्चय ही सामीप्य मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। वैखरी, मध्यमा के चिन्तन मे स्वर से सम्बन्ध नहीं रहता। पश्यन्ति काल मे स्वर मे खींचातानी मची रहती है और परावाणी के चिन्तनकाल मे यजन से परिपूर्ण रहती है। इसी मे मज्जन करनेवाला व्यक्ति सामीप्य मुक्ति प्राप्त करता है।

बहइ सुहावन त्रिविध समीरा। भई सरयू अति निर्मल नीरा।। (मानस)

प्राय सबकी श्वास सात्त्विक, राजस, तामस तीनों गुणों के उतार-चढाव से प्रवाहित रहती है। जब श्वास-यजन की क्रिया तीनों गुणों से उपराम हो जाती है तो शुभ से ओत-प्रोत रहती है। शुभ का अर्थ है सत्य, कहने का तात्पर्य यह है कि वह विकारों से रहित हो जाती है। इस स्थितिवाले स्वर का मज्जन करने वाला ही सामीप्य मुक्ति का अधिकारी है। जन्म-जन्मान्तरो के मनोमल के मज्जनार्थ यही सरयू है। मन में विकारो के रहते भगवत्-स्थिति प्राप्त करना असम्भव है। शारीरिक मल तो बाह्य मज्जन से ही छूट जाता है परन्तु आन्तरिक मल की धुलाई चिन्तन-भजन के द्वारा ही होती है। देखो, यह रामचरित मानस क्रियात्मक होने से क्लिष्ट है। इस योग्यता की उपलब्धि क्रियात्मक ढग से ही हो सकती है।

प्रश्नः- कबहुँक करि करुना नर-देही।
देत ईस बिनु हेत सनेही।। (मानस)

जैसा कि चौरासी लाख योनियों का दण्ड देखकर भगवान करुणा करके नर का शरीर प्रदान करते हैं, जिसे आवागमन से मुक्त होने का साधन बताया गया है, तो क्या उस नर का यही स्वरूप है जो रात्रि-दिन जन्म लेते रहते हैं या और कोई?

उत्तर- देखो, माया ही नारी है। माया का उतार-चढाव चित्त के ऊपर है इसलिए चित्तवृत्ति ही नारी है। जब कभी प्रयत्नशील पुरुष के हृदय से चित्तवृत्ति द्वारा कार्य करनेवाली माया का प्रभाव निकल जाता है तो वह नर की स्थिति में आ जाता है। जिसका सचालन माया द्वारा होता है, वह नारी है न कि नर। देखो, यह मानस मन की सूक्ष्म स्थितियों का चित्रण है। इन स्थितियों का निर्णय इष्टदेव के शब्दों से ही होता है। साधक इन स्थितियों को इष्ट की वाणी द्वारा पाता है। इस मानस की रचना के साथ-साथ मानस-रोग भी बताये गये हैं। इन मानस-रोगों के माध्यम से उस नर-स्वरूप का निर्णय दिया गया है। उन रोगों के प्रसुप्त हो जाने पर नर-स्वरूप की योग्यता आ जाती है। सम्पूर्ण व्याधियों का मूल मोह है जो अनन्त रोगों के विस्तार का कारण है। काम वात, क्रोध पित्त और लोभ कफ है। अहंकार डमरूआ है, तृष्णा उदर रोग है। इसी प्रकार

पन्द्रह-पचीस रोगो को बताया गया है और साथ ही निर्णय दिया गया है कि नर पर इनका कोई प्रभाव नहीं पडता। अत जो इन विकारों से प्रभावित नहीं होता, वही नर है। जैसा कि-

एक व्याधि बस नर मरहिं, यह असाधि बहु व्याधि।
पीडहि सन्तत जीव कहुँ, सो किमि लहै समाधि।। (मानस)

इन व्याधियो में से यदि एक भी व्याधि नर का स्पर्श कर देती है तो नर मर जाता है और जिसके पास ये सभी रोग हैं तो निरन्तर पीडित रहनेवाला जीव है। भला वह समत्व की स्थिति कैसे प्राप्त कर सकता है? अब आप विचार करें कि इनमें से कोई रोग है या नहीं। यदि है तो वह नर नहीं। नर तो एक ऐसा स्वरूप है कि प्रकृति के सभी पहलू काम-क्रोधादि जिनका नाम मानस-रोग है, जीवित अवश्य रहते हें, पर वह उनसे प्रभावित नहीं होता। सयोगवश यदि कोई एक भी दोष कार्य करने लगता है तो नर मर जाता है और जहॉ सभी दोप हैं, वहॉ तो नर का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। गोस्वामीजी के कथनानुसार वह जड जीव है। जब भगवान राम ने अन्दर ही अन्दर यह निश्चय किया कि मैं पृथ्वी निशाचरहीन कर दूँगा तो सीता को सम्बोधित करते हुए कहते है-

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला।।
तुम्ह पावक महुं करहु निवासा। जौं लगि करौं निशाचर नासा।। (मानस)

निशा कहते हैं रात्रि को एव निशाचर कहते है रात्रि में विचरण करनेवाले को। महापुरुषों की दृष्टि में बाहर कहीं रात्रि है ही नहीं। बाह्य निशा तो जीव-जगत् की जीवनी है।

एहि जग जामिनि जागहि जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी।। (मानस)

यह जगत् ही रात्रि है, "**मोह निशा सब सोवनिहारा**"--मोह ही निशा है। इसमें चलानेवाले काम, क्रोध, मद, मत्सर इत्यादि का विस्तार ही निशाचर है। आत्मा का रथी होकर सचालन करना ही राम है। उस आराध्य देव के आदेशानुसार जब मनुष्य इन्हें काटने में प्रवृत्त होता है तो वही नर-लीला है। जब पुरुष इन विकारों के प्रभाव से ऊपर उठ जाता है तब वह नर कहलाता है। यहॉ मोहरूपी रावण एव उसका प्रसार आसुरी सम्पत्ति होने से निशाचर है। भजन कोई लाख करे परन्तु जब तक इष्टदेव रथी नहीं हो जाते, तब तक इन विकारो का शमन नहीं होता। किसी के हृदय में यदि इन विकारों पर विजय मिली है तो अनुभव के द्वारा। विजय का परिणाम प्रेरक पर आधारित रहता है। श्रम साधक करता है परन्तु उसका अस्तित्व निमित्त मात्र है। अत इष्टदेव से प्रेरित विकारो से त्राण पाने के लिए साधक प्रयत्नशील रहता है। यह नरत्व की स्थिति का प्रयास मात्र है।

यौगिक दृष्टि से नर मन की एक श्रेणी है, न कि स्थूल शरीरधारी कोई जीव । यह नरत्व की श्रेणी क्रमागत साधना के फलस्वरूप उसी परम प्रभु (इष्ट) की अनुकम्पा से मिलती है जो मोक्षदायिनी एव साधन का धाम है। ऐसी स्थितिवाले साधको को चेतावनी देते हुए भगवान स्वय कहते है-

नर तन पाइ विषय मन देही। पलटि सुधा ते सठ विष लेही।। (मानस)

बहुमूल्य नर-तन पाकर यदि विपयों में मन लगाता है तो वह अमृत के बदले विप ग्रहण

करता है। उपरोक्त नर की स्थिति हम किसी महापुरुष की सेवा एव सान्निध्य से ही प्राप्त कर सकते हैं।

प्रश्नः- महाराजजी! कामधेनु एवं कल्पवृक्ष की क्या मान्यता है? अब तक तो हमलोग इन्हें पशु एव वृक्ष ही मानते आए हैं।

उत्तर- प्राचीन शास्त्रो में 'गो' शब्द की महिमा विलक्षण ढग से वर्णित है। गो ही लोक-परलोक एव सव कुछ प्रदान करनेवाली है। कालान्तर में 'गो' शब्द ने धीरे-धीरे एक भ्रान्ति का रूप ले लिया। कतिपय लोगो में यह धारणा बनने लगी कि महर्षियों के यहाँ कोई ऐसी क्षमता वाली गाय रहती थी जो कि तत्काल इच्छित वस्तुओं को प्रदान कर देती थी। उदाहरण के लिए वशिष्ठ आदि महर्षियो के यहाँ नन्दिनी एव कामधेनु आदि के रहने की मान्यता है। इसी प्रकार कल्पवृक्ष, शेषनाग, बैकुण्ठ इत्यादि बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके विषय मे लगभग आठ या दस शताब्दी से लोगों में विभिन्न मान्यताओं की कल्पना हो गयी है किन्तु ये सभी यौगिक शब्द है। गोस्वामीजी इन्हीं भ्रान्तियो के शमन हेतु यथार्थ स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए स्पष्ट शब्दों में कहते हें कि-

राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी काम नदी पुनि गगा।। (मानस)

अगद के माध्यम से रावण के प्रति इस प्रकार कहते है- रे बुद्धिहीन रावण! राम क्या कोई मनुष्य है, कामदेव क्या कोई धनुर्धारी है? वह तो एक विकार मात्र है।

काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें।। (मानस)

कुसुम कहते हैं फूल को। लतिका से जैसे-विकसित पुष्प विलग होकर तत्काल मुरझा जाता है, उसी प्रकार काम भी फूल की तरह एक नाजुक विकार है, जो कि आया और तुरन्त मुरझा गया, परन्तु इतना सशक्त एव प्रबल है कि सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में कर सकता है। इसीलिए महापुरुषों ने काम के भयकर प्रवाह को सशक्त शूल समझकर एक धनुर्धारी की सज्ञा दी है। आगे कहते हें- रे अभागे! गगा क्या किसी नदी का नाम है?

पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा। अन्न दान अरु रस पीयूषा।। (मानस)

कामधेनु क्या किसी पशु का नाम है? कल्पवृक्ष क्या कोई पेड है? अन्न क्या कोई दान है? (अपने को सद्गुरु के प्रति समर्पण करना ही दान है) अमृत क्या कोई तरल पदार्थ है?

रे मतिमद लोक बैकुण्ठा। लाभ कि रघुपति भगति अकुण्ठा।। (मानस)

रे मतिमद! वैकुण्ठ क्या कोई नगरी है? भगवान की अगाध भक्ति क्या कोई लाभ है? वह तो एक सर्वोपरि स्थिति है, जिसमें लाभ-हानि का उतार-चढाव नहीं है। वुरी स्थिति को देखकर भलाई का ज्ञान होता है अर्थात् वुरे चिन्हों को देखकर ही अच्छाई का भान किया जा सकता है किन्तु भक्ति में लाभ-हानि का कोई प्रश्न ही नहीं। भग-इति से भक्ति (भगति), भग कहते हैं गुण-दोषमयी प्रवृत्ति और इसका अन्त ही भक्ति कहलाती है। अत स्पष्ट हो गया कि यह लाभ नहीं बल्कि स्थिति है।

बैनतेय खग अहि सहसानन। चिन्तामनि पुनि उपल दसानन।। (मानस)

जैसा कि क्रमिक प्रसंग में कहते आ रहे हैं ठीक उसी प्रकार यहाँ भी कहते हैं कि- रे

मतिमद! गरुड क्या कोई पक्षी है? और शेषनाग क्या कोई सर्प है, जो पृथ्वी का भार वहन करता है? आज के युग में आये दिन राकेट पृथ्वी का चक्कर लगाया करते हैं परन्तु कहीं भी शेषनाग दिखाई नहीं पड़ते। अरे विशति चक्षुओं से भी अधे दशानन! चिन्तामणि क्या कोई पत्थर है? जब दावे के साथ बुद्धिहीन, नीच, अन्धे आदि शब्दों से सम्बोधित करके अंगद के द्वारा स्पष्ट किया गया है तो वस्तुत ये हैं क्या? यह सबके सब आजकल निरन्तर खटकनेवाले शब्द हैं। अरे! यह तो आध्यात्मिक शब्दकोश हैं, जिनके द्वारा महापुरुषों ने योग में आनेवाली विशेष स्थितियों को समझा था। अब प्रश्न के प्रारभ पर विचार करें कि कामधेनु और कल्पवृक्ष क्या हैं। जब साधन के सही सचालन में पडकर यह हमारा अयुक्त मन प्रवृत्तियों सहित सर्वथा निरोध की स्थिति में प्रवेश पा जाता है तत्क्षण अधोन्मुखी प्रकृतिजन्य सम्पूर्ण विकारों का क्रियात्मक क्रम परिवर्तित होकर भगवत् स्थिति को प्रदान करनेवाले सद्गुणों में प्रवाहित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप चेतन को प्राप्त कर उसी रूप में साधक परिवर्तित हो जाता है, जिसे कि कायाकल्प कहते हैं। इस प्रकार कायाकल्प की स्थितिवालों के लिए इच्छा ही सब कुछ है। हृदय से किसी के कल्याण की इच्छा प्रगट कर दें अथवा स्वय के लिए किसी इच्छा का अभ्युदय हो जाय तो तत्काल स्वय ही पूरी होने लगती है। मनोवाछित फल प्रदान करना ही कल्पवृक्ष का गुणधर्म माना जाता है।

कामधेनु- 'गो' नाम इन्द्रियों का है। यही मनसहित इन्द्रियाँ साधना से निरोधावस्था प्राप्त कर ब्रह्म-पियूष रस को फैलाने लगती हैं। उस समय योगी को मिलनेवाला आनन्द ही नन्दिनी है। यही स्थिति महर्षि वशिष्ठ की थी। यही गो योगी के स्वरूपस्थ होने पर कामधेनु बन जाती है। शरीर के रहते हुए उस स्वरूप की स्थिति मिल गयी, इसलिए उसकी समस्त कामनायें पूर्ण हो चुकीं। कारण कि आगे ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके लिए कामना करे। उस परम कामना की पूर्ति स्थिति प्राप्त महापुरुषों से ही सम्भव है। देखने मे इन्द्रियों का खोखा वही है जो अन्दर ही अन्दर उस परमतत्त्व की पूर्ति हो जाने से कामधेनु के विशेषण से अलकृत हो जाती है। यदि हमारी इन्द्रियाँ विषयोन्मुख हो गई तो पशुता में बदल जाती हैं और यदि साधन में प्रवृत्त हो गयीं तो ब्रह्मरस का सचार करने के कारण नन्दिनी कहलाती हैं। नन्दिनी अर्थात् आनन्द देनेवाली स्थितियाँ। यही पराकाष्ठा दिलाने पर कामधेनु कहलाती हैं। यही इन्द्रियाँ ब्रह्म की स्थितिवाली हैं जहाँ समस्त कामनाओं की पूर्ति है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या गाय को न माना जाय? मानने को कुछ भी मानो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। चाहे गाय मानो या पीपल, कोई मदीना की मिट्टी माने तो कोई ईसा-फाँसी का दृश्य। इसी प्रकार यहूदी इत्यादि प्रत्येक समाज की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ होंगी। यह द्वन्द्व में रहनेवाले प्राणियों को ईश्वरोन्मुख करने का उपाय है। इससे हृदय में श्रद्धा का वेग बढता है व धर्म में अभिरुचि जागृत होती है। शनै-शनै. प्रकृति से ऊबकर सत्य-प्राप्ति की जिज्ञासा प्रबल हो जाती है किन्तु वास्तविक क्रिया जो परम चेतन से मिलानेवाली है, उसमें प्रवेश मिल जाने पर उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। जब तक हमारी योग्यता उस क्रिया को पकडने में सक्षम नहीं हो जाती, तब तक इसका पालन नितान्त आवश्यक है। भगवत्-पथ की प्रवेशिकापर्यन्त कुछ ऐसे ही माध्यम अपनाये गये हैं।

योगेश्वर कृष्ण कहते हैं कि देवताओं के स्थान पर देवता नाम की कोई वस्तु नहीं है किन्तु मनुष्य की श्रद्धा जब किसी स्थान पर झुक जाती है, तब मै स्वय ही उस स्थान पर खडा होकर फल देता हूँ परन्तु वह फल सीमित है। उनको मेरे अव्यक्त स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। अत मेरी प्राप्ति के लिए उन्हें उस क्रिया को करना पडेगा, जो मेरे द्वारा निर्दिष्ट की गयी है। जब तक भगवत् स्वरूप को दिलानेवाली क्रिया न मिले तब तक यह प्रयास करना परमावश्यक है।

प्रश्नः- महाराजजी! क्या अध्यात्म में युद्ध अनिवार्य है?

उत्तर- अध्यात्म ही एक ऐसा स्थल है जहाँ युद्ध अनिवार्य है, अन्यत्र कहीं नहीं। संसार में वडे-वडे सघर्ष होते है परन्तु इनका उद्‌देश्य इन्द्रिय तृप्ति है न कि परमार्थ। मोह से पराधीन होकर सासारिक शक्तियों के मद में इन्द्रिय तृप्ति के लिए लोग विशाल जनसमूहों में लडते हैं, जिसे युद्ध की सज्ञा दी जाती है। ऐसे युद्ध में असख्य लोग मर मिटते हैं किन्तु जीत जीवित रहनेवालों की भी नहीं होती। अरे, यह प्रवृत्ति मार्ग है। जो जिसको जितना दबाता है, परिणाम मे उसे भी उतना ही दवना पडता है। आज जो शरीर के अभिमान मे पडकर अपने को शेर समझता है, कल उसे गीदड भी वनना पडेगा। कारण कि बदले की भावना को हर हालत मे भोगना ही पडता है। यह मानव शरीर क्षणभगुर है एव कल के लिए कुछ भी निश्चित नहीं है। तो फिर इसके लिए एकत्रित भोग्य सामग्री कब सत्य हो सकती है? अत ऐसी प्राप्ति पूर्णतया अप्राप्ति ही है। थोड़ा गीता पर विचार करें, कृष्ण कहते हैं कि इन्द्रिय सुख को चाहनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है, अत तू इनके वश में न हो। आगे जन्मान्तर में मिलनेवाली योनियो का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! मृत्युकाल में जो जिसका चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग करता है, प्राय वह उसी स्तर की योनि को प्राप्त करता है और जो मेरा चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त करता है। यदि ऐसा सरल उपाय है तो सभी मरणकाल में भगवान का चिन्तन कर लेंगे, परन्तु कहते हैं कि हे अर्जुन! उस प्रयाणकाल में बरवस आकर वही चिन्तन होने लगता है जिसका कि जीवन में अधिक अभ्यास हुआ रहता है। मरण-काल में बुद्धि भ्रमित रहने के कारण जीवन के भले-बुरे कार्यो का बरबस स्मरण होने लगता है। इसलिए तू निरन्तर मेरा ही चिन्तन कर, जिससे प्रयाणकाल मे मेरा ही चिन्तन तुझमें प्रसारित हो सके। आजीवन जिसमें मार-काट, झगडे-फँसाद एव जीवों के सताने की भावना रही है प्रयाणकाल के बाद भी वह मरने और जीने की परिधि में जन्म लेता है। झगडने की प्रवृत्ति जीव श्रेणी का स्वभाव है। अत. काम-क्रोध, मोह-लोभवश झगडे अवश्य होते हैं, जिसका परिणाम अधोगति है। जहाँ इसकी उपलब्धि है वहाँ विजय का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अव एक दृष्टि मानस पर भी डालें। जव रावण युद्धस्थल में आया तो विभीषण को वडी चिन्ता हुई और उसके पराक्रम का स्मरण कर वह विचार करने लगा कि, **'रावनु रथी बिरथ रघुवीरा'**-(मानस) -रावण रथारूढ है, भगवान राम विरथ हैं, उनके पाँव में जूते भी नहीं हैं तो इस भयकर शत्रु को कैसे जीतेंगे?

याद रखें, यहाँ गोस्वामीजी के शव्दो में राम एवं रथादि का चित्रण प्रतीकों के रूप में प्रत्यक्ष है। यहाँ पर मोह ही रावण एव उसका रथ ही मोह का प्रसार है। हम मोहमयी दृष्टि से जिधर से देखें वह वहीं से गति पकडने लगता है। वस यही वह रथ है जो मोह को अपने में आसीन

कर घुमाता रहता है। ऐसा विचार कर विभीषण बोला-

नाथ न रथ नहि तन पद त्राना। केहि विधि जितब बीर बलवाना।। (मानस)

भगवन्! न आपके पास रथ है और न पाँव में जूते ही हैं। इस महाभयकर शत्रु को आप कैसे जीतेंगे? उसके बल से वह भली-भाँति परिचित था। इस पर भगवान राम उसके प्रेम को देखकर कहते हैं कि-

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहि जय होई सो स्यंदन आना।। (मानस)

भगवान राम बोले, "जिससे विजय होती है वह रथ ही दूसरा है।" आखिर उसका स्वरूप क्या है?

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।। (मानस)

शौर्य एव धैर्य ही उस रथ को चलानेवाले चक्के हैं। सत्य (जो तीनों कालों में अबाधित है) एव शील (सत्य का अनुसरण)- यही दोनों ध्वजा और पताका हैं। याद रखें, ध्वज सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतीक होता है। उसके खिलाफ कोई कार्य हो ही नहीं सकता। यदि उसके खिलाफ कोई कार्य होता है तो राष्ट्र समाप्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार सत्य से विपरीत कोई कार्य नहीं हो सकता।

बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे।। (मानस)

शक्ति, विवेक, इन्द्रियों का दमन एव परम वस्तु से हित ही घोडे हैं जिनके द्वारा सही दिशा अर्थात् वास्तविक गति मिलती है। क्षमा, कृपा एव समत्वरूपी रस्सियों में बँधकर ये घोडे कार्य करते हैं।

ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना।। (मानस)

ईश का भजन सुजान सारथी है। वैराग्य ही वह ढाल है, जिस पर विकारों का असर नहीं पडता। संतोष ही कृपाण है।

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा।। (मानस)

दान ही परशु एव बुद्धि ही प्रचण्ड शक्ति है। विशेष अनुभूतियों का सचार ही वह धनुष है जिसमे प्रकृति का पहलू एक बार जितना समाप्त हुआ, पुन जीवित नहीं होता।

कवच अभेद बिप्र गुरु पुजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा।। (मानस)

ब्रह्म मे स्थित महापुरुष व उनमें जो सद्गुरु है, उनका मन-कर्म-वचन से पूजन ही अभेद्य कवच है। इसके समान विजय का कोई दूसरा उपाय ही नहीं है।

महा अजय ससार रिपु, जीति सकइ सो बीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मतिधीर।। (मानस)

अत्यन्त दुर्जय ससाररूपी शत्रु को वही वीर जीत सकता है, जिसके पास उपरोक्त रथ की स्थिति दृढता के साथ प्राप्त हो। राम ने रथ द्वारा विजय प्राप्त की थी और स्वयं कहते हैं कि दूसरे रथों से विजय कदापि नहीं हो सकती। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या उन्होने किसी सोने या चाँदी के रथ में बैठकर विजय प्राप्त किया था?

यह मानस है। इसका वाह्य दृष्टिकोण से यथार्थ अर्थ नहीं मिल सकता। हाँ, भगवत्-पथ की एक निर्धारित सीमा पार की जा सकती है। एकाग्रता के बाद जो मन का स्वामित्व है, वही

इन्द्र है। ऐसी एकाग्रता में ही उपरोक्त रथ का होना सभव है। जैसा कि शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, ईश-भजन, निरन्तर चिन्तन, सद्गुरु का पूजन इत्यादि का सचार एव उनमें स्थायित्व आने पर ही इन्द्र ने रथ को प्रदान किया था। वस्तुत इन्द्रियों के निरोधकाल मे वह दैविक सम्पत्ति, जिसके द्वारा परमदेव परमात्मा का साक्षात्कार होता है, ढल जाती है। इसी के द्वारा आवागमन से मुक्ति एव इष्टोपलब्धि होती है। यहाँ मोह ही रावण है। जैसा कि-

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहि बहु सूला।। (मानस)

सम्पूर्ण व्याधियो का मूल मोह (रावण) ही जब मिट जाता है तो "**रहा न कुल कोउ रोवनि हारा।**" (मानस)

अब कोई नहीं बचा अर्थात् ससाररूपी शत्रु पर विजय मिल गई। याद रखें, भगवान ससाररूपी शत्रु को जीतनेवाले रथ का वर्णन करते हैं। जब तक उपरोक्त रथ की योग्यता नहीं आती। तव तक विजय नहीं मिलती। भगवान राम की वास्तविक विजय से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि राम-रावण युद्ध किसी महापुरुष के अन्त करण की लडाई है। जो प्राय सभी के अन्त करण में प्रसुप्तावस्था मे विद्यमान है। वह किसी-किसी प्रयत्नशील पुरुष के अन्त करण में अनुभवी महापुरुष द्वारा जागृत कर दी जाती है।

प्रिय पाठकगण! मैं अपना सौभाग्य समझूँगा, जवकि आपलोग इसको हृदयगम कर कार्यरूप में परिणित कर सकेंगे। अन्त करण की दो प्रवृत्तियाँ हैं, पहली सजातीय एव दूसरी विजातीय, दैवी सम्पद् एव आसुरी सम्पद्। रावण अर्थात् आसुरी सम्पद् को निर्जीव बनाकर आध्यात्मिक युद्ध हेतु कल्याण-क्षेत्र में उतर आओ। यदि थोडा भी करते वन गया तो सस्कार प्रवल हो जायेंगे।

प्रश्न- महाराजजी! अमृत का प्रभाव है कि जिसके ऊपर पड़ जाय, जिला दे किन्तु युद्ध की समाप्ति में अमृत-वर्षा से बानर-भालू तो जी उठे लेकिन निशाचरों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, क्या कारण है? जैसा कि-

सुधा वृष्टि भइ दोउ दल ऊपर। जिये भालु कपि नहिं रजनीचर।। (मानस)

उत्तर- जैसा कि पहले ही वताया जा चुका है कि मानस अन्त करण की लडाई है। अन्त करण की दो प्रवृत्तियाँ दैवी सम्पद् एव आसुरी सम्पद् सव में हैं परन्तु उनकी जानकारी सवको नहीं है। किसी विरले प्रयत्नशील, पुण्यात्मा के हृदय में यह आत्मा प्रत्यक्ष होकर कार्य करने लगती है, तव दोनों प्रवृत्तियों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इनको केवल वाचिक निर्णय से ही हम नहीं पकड सकते। शब्द-सकेतों से तो केवल भगवत्-पथ की दिशा ही मिलती है। दैवी सम्पद्-आसुरी सम्पद्, विद्या-अविद्या, सजातीय-विजातीय आदि के रूप में महापुरुषों ने इन दोनों प्रवृत्तियों का नामकरण किया है। जैसा कि-

"विद्या हि का ब्रह्म गतिप्रदाया।" अर्थात् विद्या उसे कहते हैं जो ब्रह्मगति को प्रदान कर दे। इन्हीं दो प्रवृत्तियों का पारस्परिक सघर्ष ही राम-रावण युद्ध है, जिसमे मोहरूपी रावण, क्रोधरूपी कुम्भकरण, कामरूपी मेघनाद, लोभरूपी नारान्तक, प्रकृतिरूपी सूर्पनखा आदि आसुरी प्रवृत्तियाँ जब अनुरूप ले लेती हे तो इनकी सख्या अनन्त हो जाती है। उदाहरण के लिए सवके मर जाने पर जब रावण युद्ध के लिए चला तो उसने अनन्त सेना का निर्माण कर लिया। तात्पर्य यह है कि

यदि अविद्या का एक भी सदस्य जीवित है तो उसी का प्रसार हो जाता है।

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। (मानस) यह मोहरूपी रावण सकल व्याधियों का मूल होने से राजा है। दसो इन्द्रियों के मुख अपने-अपने विषयों की ओर खुले हैं इसलिए दशानन कहलाता है। जब विषयो से इन्द्रियों का निरोध हो जाय तो मोह का स्वरूप मिट जायेगा जो सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति को चलाता है।

दसो इन्द्रियों का दमन ही दशरथ है, जो दैवी सम्पत्ति को जन्म देता है। जिस समय भक्तिरूपी कौशल्या, कर्मरूपी कैकेयी, सुमतिरूपी सुमित्रा और साथ ही कुमतिरूपी मन्थरा (भगवत्-पथ की आधी दूरी तक चलनेवाला कुतर्क) आदि दैवी प्रवृत्तियों का जागरण हमारे हृदय में हो जाय, उसी समय विज्ञानरूपी राम, विवेकरूपी लक्ष्मण, भावरूपी भरत और सत्संगरूपी शत्रुघ्न आदि प्रगट हो जाते हैं। विश्वासरूपी विश्वामित्र एव श्वास-प्रश्वास का जप ही श्रृंगी ऋषि हैं। मोह के पूर्णतया मिट जाने पर ही यह दैवी सम्पत्ति स्वस्थ होती है।

अमृत कोई तरल पदार्थ नहीं है कि उठाकर पी लिया जाय। **'रस पीवूषा'**-अंगद कहते हैं कि रे बुद्धिहीन रावण! अमृत क्या कोई रस है? मृत कहते हैं नाशवान या मरणधर्मा को और अमृत कहते है अविनाशी को। महापुरुषों के शब्दों में अमृत की स्थिति आत्मा व परमात्मा का एकता-काल है। इस एकता-काल में परमात्मा के अजर, अमर, शाश्वत, एकरस इत्यादि गुणधर्म आत्मा में प्रसारित होने लगते हैं। अत. मनीषियों ने आत्मा की इस अवस्था काल को अमृत अर्थात् मृत्यु से परे बताया है किन्तु मोहजनित विकारों के रहते हुए आत्मा परमात्मा में स्थित नहीं होता। इस गुणवाला यह अमृत निशाचरो की जड रावण के मिट जाने पर ही मिला। मोह के सअस्तित्व विलय होने पर चिदाकाश से मायिक स्फुरण व तरंग शान्त हो जाती है। ऐसे निर्दोष चित्त में ही अमृत-सचार सम्भव है। यही कारण है कि विकारों के निर्लिप्त होते ही अमृत तत्त्व का सचार हुआ जिसके परिणामस्वरूप अविद्या, आसुरी सम्पद् सदा के लिए विलीन हो गई एवं आत्मा की स्थिति दिलानेवाली विद्या (दैवी सम्पद्) अशों सहित विकसित हो गई। अधोगति में ले जानेवाली प्रवृत्ति का एक भी सदस्य जीवित है तो अमृत कैसा? वस्तुत. तत्त्व का संचार होने पर मृत्यु के कारण सदा के लिए मिट जाते हैं। पुन अमृत का महत्त्व बताते हुए गोस्वामी जी कहते हैं-

जियत वारि बिनु जे तनु त्यागा। मुए करइ का सुधा तड़ागा।। (मानस)

यदि वारि के बिना शरीर चला गया तो मरने के बाद अमृत का कोई उपयोग नहीं है।

राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रवीना।। (मानस)

राम की अभेद्य भक्ति ही जल है, जिसमें कि हे मुनीश्वर! मेरा मन मछली हो गया है। भला वह विलग कैसा हो सकता है? भक्तिरूपी जल के द्वारा ही वह अमृत तत्त्व प्रत्यक्ष होता है। यदि जीते जी भक्तिरूपी रस प्राप्त कर सके तो मरने के बाद उस अमृत का कोई उपयोग नहीं है। कोई अनुभवी सद्गुरु रथी वन जाय तो भवरोग के लिए वैद्य और पार कर देने के लिए कर्णधार होगा। उनकी असीम कृपा के द्वारा ही अमृत तत्त्व की उपलब्धि सम्भव है।

प्रश्नः- आश्रम घोर जंगल में है, कोई रास्ता भी नहीं है। अतः दस बजे के पूर्व किसी भी यात्री का पहुँचना असम्भव है। एक बार कुछ सशस्त्र दर्शनार्थियों ने बहुत सुबह ही

पहुँचकर प्रणाम इत्यादि किया तब महाराजजी ने कहा कि इतनी जल्दी कैसे आ गये? वे उत्तर देते हुए कहे कि महाराज जी, हम लोग शिकार के लिए आये थे। कुछ मिला नहीं तो सोचे कि महाराजजी का दर्शन ही कर लें। इस पर आप बोल पड़े- तुम अहीर, तुम ठाकुर, पर तुम ब्राह्मण होकर यह क्या कर रहे हो? तब वह अति विनम्र शब्दों में बोला कि भगवन्! इसमें मेरा क्या दोष है? "उर प्रेरक रघुवंस विभूषण" उनकी प्रेरणा के वगैर पत्ता भी नहीं हिलता, मैं तो उन्हीं के हाथों का यत्र हूँ।

उत्तर- देखो, इस मानस में तो बहुत कुछ लिखा गया है, उन सभी स्थलो पर विचार करना चाहिए।

किस स्थिति में भगवान प्रेरणा करते है और किस विडम्बना में माया। सबके लिए कहीं मोह प्रेरणा करता है तो कहीं काम, कहीं काल प्रेरक है तो कहीं स्वभाव और गुण। ऐसी दुविधा में भगवत्-प्रेरणा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जहॉ वासनाओं का ही बाहुल्य है, वहॉ तो-

फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम स्वभाव गुन घेरा।। (मानस)

जब तक भगवत्-पथ की एक निर्धारित सीमा को नहीं पार कर लेते तब तक माया ही प्रेरक है और उस सीमा को पार कर लेने के बाद भगवान प्रेरक बन जाते हैं। अत साधन, चिन्तन में सलग्न रहना चाहिए जिससे कि वे प्रेरक बन जायॅ। भगवान के प्रेरक बन जाने पर साधक को माया का भय नहीं रह जाता। जैसा कि-

'करि न सकहि तहँ निज प्रभुताई।' 'माया खलु नर्तकी विचारी।।' (मानस)

कागभुशुण्डि अनेक जन्मों से चलनेवाले पथिक थे। अवकी बार वे भक्त की श्रेणी में आये। उनका प्रत्येक कदम भगवत्-प्रेरणा पर उठता था। उनमें जो कमी थी, उसे महामुनि लोमश में प्रेरणा कर भगवान ने पूरी कर दी। भरत ने खडाऊॅ व चरणों के ध्यान के माध्यम से भगवत्-प्रेरणा प्राप्त कर राज्य का कार्य सॅभाला। लक्ष्मण का भी कार्य प्रेरणा पर ही आधारित था। अत कागभुशुण्डि, भरत, लक्ष्मण और हनुमान आदि कुछ ही सदस्य ऐसे थे, जिनके उर में भगवान प्रेरणा करते थे। आकाश में फेंका हुआ पत्थर पृथ्वी के ऊपर आकर गिरता है। यदि ग्रेवटी के ऊपर फेंक दिया जाय तो नीचे न आकर अन्य ऊपरी ग्रहों पर चला जायेगा। इसी प्रकार भगवान और माया के बीच एक ग्रेवटी की सीमा है, जिसके पूर्व माया प्रेरणा करती है और वाद में भगवान। इसके वाद हम गिरना भी चाहें तो नहीं गिर सकते। जिस प्रकार नारद गिरना चाहते हुए भी भगवत्-प्रेरणा से वच गये।

प्रश्न- महाराज जी, आपकी वाणी सुनने से ऐसा प्रतीत होता है कि रामचरित मानस सबके अन्दर की वस्तु है। इसको समझने की कोई दिशा बतायें।

उत्तर- प्रत्येक मानव वाहर खडा है एव वहीं से सिमटकर शनै -शनै अन्दर की जानकारी प्राप्त करता है। अत ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वाहर वाला व्यक्ति गलत है। भगवत्-पथ की एक सीमा को पार कर लेने पर भजन के वास्तविक स्वरूप की जानकारी उसे होने लगती है। ऐसी स्थिति के बाद मानस की एक भी चौपाई का उपयोग वाहर नहीं रह जाता। जैसा कि-

बाल्मीकि नारद घट योनी। निज-निज मुखन कही निज होनी।। (मानस)

मानस के प्रथम रचयिता एव मानस के विशेषज्ञ इन महापुरुषों ने अपने-अपने मुखों से अपनी-अपनी होनी को व्यक्त किया हे, न कि अन्य किसी राम एव उनकी कथा को। शीर्षक का विस्तार अन्दर की पक्तियों में हुआ करता हे। उदाहरण के लिए यदि पुस्तक का नाम 'घर का डाक्टर' है तो उसके अन्दर दवाइयों का ही विवरण रहेगा। उसमें यदि हम कर्मकाण्ड ओर देश-नीति खोजें तो नहीं मिलेगी। गोस्वामी जी की इस रचना का नाम है 'रामचरित मानस', जिसका अर्थ होता है-राम के वे चरित्र, जो अन्त करण में समाहित हैं। अब आप ही बतायें कि राम का घर हृदय है या पुस्तक? भगवान का घर हृदय ही बताया गया है। जैसा कि-

जाके कपट दम्भ नहीं माया। ताके हृदय बसहु रघुराया।।
भरहिं निरन्तर होहि न पूरे। तिन्हके हिय तुम कहँ गृह रूरे।।

इसी प्रकार सम्पूर्ण मानस मे भगवान के रहने के जितने भी स्थल बताये गये हैं, वे सभी हृदय अथवा विशेष अवस्थावाले अन्तर्मन हैं। सम्पूर्ण मानस में यही रूप है। अत यह हृदय की वस्तु है। कृतिकार के शब्दों में इसका शीर्षक है 'रामचरित मानस' अर्थात् राम के वे चरित्र जो अन्त करण में समाहित हैं। मानस का अर्थ मानसरोवर नहीं हुआ करता।

जे यहि वारि न मानस धोये। ते कायर कलि काल विगोये।। (मानस)

अर्थात् मानस एक ऐसी वस्तु है जो धोयी भी जा सकती है। कलियुग के भयकर वेग को देखकर भगवान शकर ने विचार किया कि मानव की बुद्धि विकल है। यदि उन्हें साक्षात् भगवान भी मिल जायेंगे तो वे उनसे उदरपूर्ति ही करायेंगे। बुद्धि कुण्ठित है अत पूर्व साधनक्रमों से कल्याण नहीं हो सकता, इसीलिए द्रवित होकर कल्याणकारी साबर मंत्र की रचना किये।

कलि बिलोकि जगहित हर गिरिजा। साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा।। (मानस)

कलि के भयकर प्रवाह को देखकर शकर जी ने साबर मंत्र की रचना की जो जगत् के लिए कल्याणकारी है। वह साबर मत्र है कैसा?

अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाव महेस प्रतापू।। (मानस)

न तो अक्षरो की ही सगति बैठती है और न अर्थ-जाप का ही कोई सिलसिला है। तब तो सिद्ध हुआ कि यह निरर्थक है किन्तु शकर जी के प्रभाव से प्रत्यक्ष फल देने की यदि क्षमता है तो साबर मत्र मे। कलियुग मे दूसरा कल्याण का कोई उपाय नहीं है। इसलिए उन्होंने स्पष्ट व्यक्त किया है कि-

सो उमेस मोपर अनुकूला। करहु कथा मुद मंगल मूला।। (मानस)

वही शकर जी मुझपर अनुकूल हैं अत यह कथा मैं कल्याणहेतु कहने जा रहा हूँ। इस कथा को सर्वत्र एव सभी से नहीं कहना चाहिए। जैसा कि-

यह न कहिअ सठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि।।
कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि।।
द्विज द्रोहिहि न सुनाइय कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ।।

यह हठधर्मी, कामी एव क्रोधी के प्रति नहीं कहना चाहिए। भला आप ही बताइए कि इन दोषों से रहित हृदय कितने मिल सकते हैं? यहाँ तक कि इन दोषों से युक्त इन्द्र के समान

प्रतिभाशाली पुरुष के प्रति भी नहीं कहना चाहिए। जब इन्द्र के समान प्रतिभाशाली होगा तो हजार-पाँच सौ विद्वानों को बुलाकर सुन लेगा। जब घर-घर में रामचरित मानस (रामायण) है तो न कहने का क्या सवाल है। यदि एक-एक चौपाई में हम बहुत से अर्थ करें तो भी कहने-सुननेवाली बात से वचित रह जाते हैं क्योंकि यह साबर मत्र है। जैसा कि-

राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सत्संगति अति प्यारी।।
गुरु पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई।। (मानस)

रामकथा के अधिकारी वे ही हैं जिन्हें सत्सग अति प्रिय है और गुरु के चरणों में अत्यन्त प्रेम है। लक्ष्य की रीति अर्थात् नीति (विधान) आसक्त हैं, वही इसके अधिकारी हैं। यह शीघ्र समझ में आनेवाली वस्तु नहीं है बल्कि अधिकारी पाकर शनै-शनै हृदय-देश में ढलने लगती है।

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत।। (मानस)

प्रत्येक शास्त्र के तीन अर्थ हुआ करते हैं- रोचक, भयानक और यथार्थ। रोचक का अर्थ--जो रुचि पैदा करनेवाला हो, जैसे-रामलीला इत्यादि। भयानक उसे कहते हैं, जो प्रकृति से भय पैदा करने वाला हो। जिस अर्थ से भय प्रकट और निवारण हेतु हम भगवान की आवश्यकता समझें एव प्राप्ति का उपाय करने लगे। यथा-

नर तनु भव वारिधि कहुँ बेरो। सनमुख मरुत अनग्रह मेरो।।
करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा।। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।
जो न तरइ भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मंद मति, आत्माहन गति जाइ।। (मानस)

जो ऐसे तन को पाकर खो देता है, वह अपनी आत्मा का हत्यारा है।

तिन्ह कर काल रूप मैं भ्राता। (मानस)

उनके लिए मैं ही कालरूप बन जाता हूँ। जिनसे मोक्ष की आशा है जव वही कालरूप वन जाते हैं तो भय का संचार होता है और किसी न किसी रूप में उसे प्राप्त करने के उपाय होने लगते हैं। यथार्थ का ऐसा स्वरूप है जैसा कि हमने सुना है, वैसा प्रत्यक्ष अपने में देखता भी जाय। उत्पत्ति से पूर्तिपर्यन्त की लीला हमें दिखाई पडे, रटना दूसरी चीज है। यह तभी सुलभ हो सकता है, जब किसी महापुरुष का साक्षात्कार हो। इन्हीं का रूप पकड़ने से परमचेतन की जागृति सम्भव है। सभी अधिकारी की योग्यता पा जाएँ, ऐसा कदापि सम्भव नहीं। निरन्तर पढनेवाले भी डिग्री का अधिकार खो वेठते हैं। इसलिए महापुरुषों ने शास्त्र को तीन भागों में रचा है। यदि आप प्रवेशिका में हैं तो मानस के अध्ययन से दिशा मिलेगी। यदि आपकी स्थिति सूक्ष्म है तो यही प्रत्यक्ष दर्शाते हुए राम की स्थिति से अवगत करा देगा। अव रही वात यह कि मानस की अन्तिम क्रिया हम कैसे समझें?

श्रीगुर पदनख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्यदृष्टि हिय होती।। (मानस)

गुरु महाराजजी के चरणों की ज्योति मणि-माणिक्य के तुल्य है। उनके स्मरण से हृदय में दिव्य-दृष्टि का संचार होता है।

मानस के प्रथम रचयिता एव मानस के विशेषज्ञ इन महापुरुषों ने अपने-अपने मुखों से अपनी-अपनी होनी को व्यक्त किया है, न कि अन्य किसी राम एवं उनकी कथा को। शीर्षक का विस्तार अन्दर की पक्तियों में हुआ करता है। उदाहरण के लिए यदि पुस्तक का नाम 'घर का डाक्टर' है तो उसके अन्दर दवाइयों का ही विवरण रहेगा। उसमें यदि हम कर्मकाण्ड और देश-नीति खोजें तो नहीं मिलेगी। गोस्वामी जी की इस रचना का नाम है 'रामचरित मानस', जिसका अर्थ होता है-राम के वे चरित्र, जो अन्त करण मे समाहित हैं। अव आप ही वतायें कि राम का घर हृदय है या पुस्तक? भगवान का घर हृदय ही वताया गया है। जैसा कि-

जाके कपट दम्भ नहीं माया। ताके हृदय वसहु रघुराया।।
भरहि निरन्तर होहि न पूरे। तिन्हके हिय तुम कहँ गृह रूरे।।

इसी प्रकार सम्पूर्ण मानस मे भगवान के रहने के जितने भी स्थल वताये गये हैं, वे सभी हृदय अथवा विशेष अवस्थावाले अन्तर्मन हैं। सम्पूर्ण मानस में यही रूप है। अत यह हृदय की वस्तु है। कृतिकार के शब्दों में इसका शीर्षक है 'रामचरित मानस' अर्थात् राम के वे चरित्र जो अन्त करण में समाहित हैं। मानस का अर्थ मानसरोवर नहीं हुआ करता।

जे यहि वारि न मानस धोये। ते कायर कलि काल विगोये।। (मानस)

अर्थात् मानस एक ऐसी वस्तु है जो धोयी भी जा सकती है। कलियुग के भयकर वेग को देखकर भगवान शकर ने विचार किया कि मानव की वुद्धि विकल है। यदि उन्हें साक्षात् भगवान भी मिल जायेंगे तो वे उनसे उदरपूर्ति ही करायेंगे। वुद्धि कुण्ठित है अत पूर्व साधनक्रमों से कल्याण नहीं हो सकता, इसीलिए द्रवित होकर कल्याणकारी सावर मंत्र की रचना किये।

कलि विलोकि जगहित हर गिरिजा। सावर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा।। (मानस)

कलि के भयकर प्रवाह को देखकर शकर जी ने सावर मत्र की रचना की जो जगत् के लिए कल्याणकारी है। वह सावर मत्र है कैसा?

अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाव महेस प्रतापू।। (मानस)

न तो अक्षरो की ही सगति बैठती है और न अर्थ-जाप का ही कोई सिलसिला है। तव तो सिद्ध हुआ कि यह निरर्थक है किन्तु शकर जी के प्रभाव से प्रत्यक्ष फल देने की यदि क्षमता है तो सावर मत्र मे। कलियुग मे दूसरा कल्याण का कोई उपाय नहीं है। इसलिए उन्होंने स्पष्ट व्यक्त किया है कि-

सो उमेस मोपर अनुकूला। करहुं कथा मुद मगल मूला।। (मानस)

वही शकर जी मुझपर अनुकूल हैं अत यह कथा मैं कल्याणहेतु कहने जा रहा हूँ। इस कथा को सर्वत्र एव सभी से नहीं कहना चाहिए। जैसा कि-

यह न कहिअ सठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि।।
कहिअ न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि।।
द्विज द्रोहिहि न सुनाइय कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ।।

यह हठधर्मी, कामी एव क्रोधी के प्रति नहीं कहना चाहिए। भला आप ही बताइए कि इन दोषों से रहित हृदय कितने मिल सकते हैं? यहाँ तक कि इन दोषो से युक्त इन्द्र के समान

प्रतिभाशाली पुरुष के प्रति भी नहीं कहना चाहिए। जब इन्द्र के समान प्रतिभाशाली होगा तो हजार-पॉच सौ विद्वानों को बुलाकर सुन लेगा। जब घर-घर में रामचरित मानस (रामायण) है तो न कहने का क्या सवाल है। यदि एक-एक चौपाई में हम बहुत से अर्थ करें तो भी कहने-सुननेवाली बात से वचित रह जाते हैं क्योंकि यह सावर मत्र है। जैसा कि-

राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सत्संगति अति प्यारी।।
गुरु पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई।। (मानस)

रामकथा के अधिकारी वे ही हैं जिन्हें सत्सग अति प्रिय है और गुरु के चरणों में अत्यन्त प्रेम है। लक्ष्य की रीति अर्थात् नीति (विधान) आसक्त हैं, वही इसके अधिकारी हैं। यह शीघ्र समझ में आनेवाली वस्तु नहीं है बल्कि अधिकारी पाकर शनै -शनैः हृदय-देश में ढलने लगती है।

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत।। (मानस)

प्रत्येक शास्त्र के तीन अर्थ हुआ करते हैं- रोचक, भयानक और यथार्थ। रोचक का अर्थ--जो रुचि पैदा करनेवाला हो, जैसे-रामलीला इत्यादि। भयानक उसे कहते हैं, जो प्रकृति से भय पैदा करने वाला हो। जिस अर्थ से भय प्रकट और निवारण हेतु हम भगवान की आवश्यकता समझें एव प्राप्ति का उपाय करने लगे। यथा-

नर तनु भव वारिधि कहुँ बेरो। सनमुख मरुत अनग्रह मेरो।।
करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा।। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।
जो न तरइ भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मंद मति, आत्माहन गति जाइ।। (मानस)

जो ऐसे तन को पाकर खो देता है, वह अपनी आत्मा का हत्यारा है।

तिन्ह कर काल रूप मैं भ्राता। (मानस)

उनके लिए मैं ही कालरूप बन जाता हूँ। जिनसे मोक्ष की आशा है जब वही कालरूप बन जाते हैं तो भय का सचार होता है और किसी न किसी रूप मे उसे प्राप्त करने के उपाय होने लगते हैं। यथार्थ का ऐसा स्वरूप है जैसा कि हमने सुना है, वैसा प्रत्यक्ष अपने में देखता भी जाय। उत्पत्ति से पूर्तिपर्यन्त की लीला हमें दिखाई पड़े, रटना दूसरी चीज है। यह तभी सुलभ हो सकता है, जब किसी महापुरुष का साक्षात्कार हो। इन्हीं का रूप पकडने से परमचेतन की जागृति सम्भव है। सभी अधिकारी की योग्यता पा जाऍ, ऐसा कदापि सम्भव नहीं। निरन्तर पढनेवाले भी डिग्री का अधिकार खो बैठते हैं। इसलिए महापुरुषों ने शास्त्र को तीन भागों में रचा है। यदि आप प्रवेशिका में हैं तो मानस के अध्ययन से दिशा मिलेगी। यदि आपकी स्थिति सूक्ष्म है तो यही प्रत्यक्ष दर्शाते हुए राम की स्थिति से अवगत करा देगा। अब रही बात यह कि मानस की अन्तिम क्रिया हम कैसे समझें?

श्रीगुर पदनख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्यदृष्टि हिय होती।। (मानस)

गुरु महाराजजी के चरणों की ज्योति मणि-माणिक्य के तुल्य है। उनके स्मरण से हृदय में दिव्य-दृष्टि का सचार होता है।

बड़े भाग्य उर आवहिं जासू।। (मानस)

वे बडे भाग्यशाली हैं, जिनके हृदय में ध्यान के द्वारा गुरु के चरण आ जायॅ।

उघरहि विमल विलोचन ही के। मिटहि दोष दुख भव रजनी के।। (मानस)

इस प्रक्रिया विशेष के द्वारा ही ऑखें खुलती हैं जिससे कि रामचरितमानस प्रत्यक्ष दिखाई पडता है। ध्यान में सदगुरु के चरण आ गये तो-

जथा सुअंजनि अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।

याद रखे कि गोस्वामी जी ने श्री गुरुदेव के चरण-रज को अजन विशेष की सज्ञा दी है, जो हृदय के नेत्रों को खोलनेवाला है किन्तु यह तभी सभव है जब चरण ध्यान मे आ जायॅ। यह भगवत्-चिन्तन में लगे हुए साधक के लिए ही सभव है, जिनकी सख्या औसतन वहुत कम है। अत चिन्तन में प्रवृत्त साधक ही उसको प्राप्त करता है और उसके वाद सिद्ध और सुजान हो जाता है। उस अजन का स्पर्श कर, जो लिखने में आ गया है एव जो लिखने में नहीं आया है, वे सब प्रत्यक्ष हो जाते हैं। कारण कि मनोगत सम्पूर्ण भाव लिखने में नहीं आते। गोस्वामीजी अन्त में इसी निर्णय पर पहुॅचते हैं कि मैं इतना ही लिख पाया हूॅ-जैसे कि आकाश में मक्खी उडती है और थाह नहीं पाती।

प्रश्न- एक बार एक भक्त ने आकर प्रणाम किया एवं अति विनीत स्वर में बोला कि महाराजजी! मै गंगोत्री का जल लेकर दस बार रामेश्वर जा चुका हूँ और अब पुनः ग्यारहवीं बार दर्शन हेतु जा रहा हूँ। वैसे तो रामेश्वर-दर्शन का प्रभाव गोस्वामीजी ने इतना बताया है कि-

मम कृत सेतु जो दरसन करिही। सो बिनु श्रम भवसागर तरिही।। (मानस)

अर्थात् एक बार रामेश्वर का दर्शन कर लेने पर मानव भव-सागर से पार हो जाता है। उसे साधन-श्रम नहीं करना पड़ता। यथा-

जो गंगाजलु आनि चढ़ाइहि। सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहि।। (मानस)

भगवन्! गंगाजल चढ़ाने से सायुज्य मुक्ति प्राप्त हो जाती है परन्तु मेरे चित्त में तो अभी तक शान्ति नहीं मिली।

उत्तर- महाराजजी हॅसते हुए अत्यन्त गम्भीर स्वर मे उत्तर देना प्रारम्भ कर दिये कि तीर्थ-माहात्म्य के द्वारा कल्याण-कामना तो अपने भावों की देन है। हर व्यक्ति परम कल्याण एव शान्ति पाने के लिए प्रयत्नशील है किन्तु उनके साधनीय स्तर अलग-अलग हुआ करते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में हमें बाह्य तीर्थो को मान्यता देनी पडती है परन्तु क्रमागत साधना के विकास के साथ ही साथ इन तीर्थो का रूप भी बदल जाता है। जैसा कि आप रामेश्वर का अर्थ समझ रहे हैं, साधन-पथ में वढने के लिए यही उदीयमान लक्षणों के अकुरण हैं, लेकिन कल्याण प्राप्त करने के लिए यह प्रयास पर्याप्त नहीं है। इसीलिए यथार्थ की पृष्ठभूमि में प्रयोगात्मक साधना प्रारम्भ करनी पडती है। द्रष्टव्य है-

नाथ राम तव सेतु, नर चढ़ि भवसागर तरहिं।

भगवन्! आपका नाम ही वह सेतु है जिसपर चढकर मनुष्य भवसागर पार हो जाता है। इस

नाम का उतार-चढाव श्वास के ऊपर है। यहॉ इसी आशय को स्पष्ट किया गया है।

जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहि।। (मानस)

रामेश्वर का अर्थ होता है राम और ईश्वर। राम सबके मानस में रमण करनेवाली सर्वव्यापी सत्ता है और इस स्वर के सर्वथा निरोध में ही वह दिखाई पडती है। ईश्वर का आशय इस स्वर से है। श्वास के उतार-चढाव में नाम का अनवरत भजन करने से स्वर के सर्वथा निरोधकाल में उस व्यापक सत्ता का साक्षात्कार हो जाता है। वस्तुत जिस महापुरुष ने स्वर का साक्षात्कार कर लिया है, उसी को यह स्थिति सुलभ हुई है।

जो गंगाजलु आनि चढ़ाइहि। सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहि।। (मानस)

प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है और यह ज्ञान ही गगा है। स्वर के माध्यम से ज्ञान का स्पर्श जब उस चेतन सत्ता से हो जाता है, तदुपरान्त तादात्म्य स्थापित करने की स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिसे सायुज्य मुक्ति कहते हैं। सायुज्य मुक्ति का अर्थ है--प्रभु के समस्त ऐश्वर्यो को प्राप्त कर लेना। लक्ष्य की प्रत्यक्ष जानकारी के बाद ही प्रभु के समस्त ऐश्वर्य अपने में आ जाते हैं। जैसा कि- **जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।**

उपरोक्त परम पावनी गगा ही मुक्तिदात्री है। लौकिक चक्षुओ से दृश्यमान होनेवाली गगा तो छिटपुट मलों को ही धोती है, जो अलगाव होते ही पुन बढने लगता है परन्तु इस गगा का अवगाहन शाश्वत शान्ति से मेल कराता है। अत. रामेश्वर के दर्शनार्थ किसी महापुरुष की शरण एव सान्निध्य परम आवश्यक है, जिसकी कृपा से शनै-शनै उस प्रयोगात्मक पथ पर हमे वह स्थिति सुलभ हो सकती है।

प्रश्नः-महाराजजी! समुद्र के जलचर समुद्र से भी बड़े एवं असंख्य थे तो वे रुके कहॉ? सतयोजन समुद्र के बराबर एक-एक जलचर का शरीर था और कुछ तो इतने बड़े थे कि उन्हें खाने की क्षमता रखते थे।

उत्तर- विषयरूपी जल से परिपूर्ण यह ससार ही समुद्र है। यदि हम कुछ नहीं करते तो यह अथाह समुद्र है किन्तु ज्यो-ज्यो चिन्तन में लगते जायेंगे, इसका आयतन भी घटता जायेगा।

सतयोजन तन- सत्य में आयोजित प्रक्रिया की पूर्ति कर लेने पर ससार या भव का पार मिल जायेगा। वैराग्य एव अनुभव काल मे यही इस समुद्र का आयतन है। जब 'लव' में अकुर आना बन्द हो जाता है तब-

गोपद सिन्धु अनल सितलाई।।

जितना हमारी इन्द्रियो का विस्तार है, उतना ही समुद्र है। लगनकाल मे इन इन्द्रियो के एक-एक हरकत पर नियन्त्रण रहता है, पूर्व में नहीं। वही नाम-यजन जब परावाणी के पूर्तिकाल में पहुँच जाता है, तब यही समुद्र सूख जाता है। जैसा कि- **नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं।।**

नाम इतना ही नहीं है जितना कि हम लोग जुबान से कहते हैं। यह तो उसकी प्रारम्भिक अवस्था है। आगे चलकर यही नाम सूक्ष्म हो जाता है, परन्तु उसकी जानकारी का पैमाना इष्ट-प्रेरणा पर आधारित रहता है। जब तक अनुभवी सद्गुरु नहीं मिलते तब तक नाम की सूक्ष्म जानकारी असम्भव है। अब सिद्ध हुआ कि ससार ही समुद्र एव योगी की आत्मिक प्रवृत्ति ही

जलचर हे। जव हम भजन नहीं करते, तव आत्मा से मिलनेवाली प्रवृत्ति सवके हृदय-देश में छिपी रहती है ओर विपयरूपी जल का प्रवाह ऊपर छाया रहता है। दृष्टिगोचर न होने के कारण यही जलचर है। श्वास के निरोधकाल में यही यौगिक प्रवृत्ति ऊपर उठकर परिपक्व हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप विपय का वेग कम हो जाता हे। एक-एक साधन डतना परिपक्व हो जाता हे कि उसकी आड मे विपयरूपी तरग आती ही नहीं। उनके योगिक नाम इस प्रकार दिये गये हैं-

मकर- करना मेरा कर्तव्य है और मुझे करना है।.

नकर- करते हुए भी मैं कुछ नहीं करता हूँ। मैं मात्र यंत्र हूँ, करनेवाला कोई ओर है।

नाना झक ब्याला- इसी प्रकार की मानसिक भजनमयी प्रवृत्तियाँ हैं।

तिन्हकी ओट न देखिय वारी। मगन भये हरि रूप निहारी।। (मानस)

ध्यान की मस्ती एव स्वरूप का आभास तभी होता है, जवकि विषयरूपी वारि भजनमयी प्रवृत्तियों के प्रबल प्रवाह में पूर्णतया आवृत्त हो जाय। जव तक एक भी तरग वाधक है, तव तक ध्यान की मस्ती नहीं मिल सकती। यह मानस है। सवके हृदय में छिपी हुई स्थितियाँ किसी महापुरुष के द्वारा ही जागृत होती हैं।

प्रश्नः- महाराजजी! तीर्थ-यात्रा में जानेवाला हूँ परन्तु आपकी वाणी से विदित हुआ कि तीर्थ की योग्यता अन्दर में अधिक पायी जाती है। कृपा करके बतावें कि बाह्य तीर्थों का क्या महत्त्व है?

उत्तर- देखो, भगवत्-पथ की प्रत्येक क्रिया वाहर से चलकर अन्दर की ओर मोड लेती है। हर व्यक्ति बाहर खड़ा है इसलिए इन तीर्थो को छोड़ने का विधान नहीं है। जब भगवान ही कृपा करके अन्तरग तीर्थो की ओर मोड़ते हैं, तव इनकी आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसा कि-

जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।। (मानस)

जिस समय अन्त करण में भगवान का अवतार व अवतारी कार्य सचारित हो जाता है, उस समय समस्त तीर्थ अन्तराल में प्रकट हो जाते है। बाहर की अपेक्षा अधिक विशेषता या महत्त्व अन्दर मे हो जाने के कारण प्राय उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसा कि-

तीरथ गये एक फल, सन्त मिले फल चारि।
सतगुरु मिले अनन्त फल, कहैं कबीर विचारि।।

तीर्थ जाने से एक फल है कि पुण्य और पुरुपार्थ वढता है (दर्शन, स्पर्श, इच्छा न होने पर भी देखा-देखी दान इत्यादि का करना आदि पुरुषार्थ स्वाभाविक रूप से होने लगता है)। महापुरुषों की तपोभूमि होने के कारण वहाँ का वायुमण्डल शुद्ध रहता है। चूँकि महापुरुषों ने मन का निरोध कर साक्षात्कार कर लिया है, इसलिए वहाँ निरोध के परमाणु अधिक रहते हैं और विषय के कम। वहाँ वैठकर हम जव चिन्तन करेंगे तो घर की अपेक्षा मन अधिक लगेगा। यदि तीर्थो में सन्त-मिलन हो जाय तो चारों फल अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष-- और कहीं सद्गुरु मिल जायें तो अनन्त फल मिल जाता है। प्रकृति का अन्त महापुरुपो द्वारा हो चुका है, अनन्त तो परम ब्रह्म परमात्मा का नाम है, वह सुलभ हो जाता है।

प्रश्नः- महर्षि विश्वामित्र राम को अधिकारी पाकर वह कौन-सा मत्र प्रदान किये, जिससे भूख-प्यास नहीं लगती थी। क्या कलियुग में इस प्रकार का मंत्र नहीं प्राप्त किया जा सकता?

उत्तर- मान लिया कि तुम्हारी दृष्टि में आज कलियुग है और तव नहीं था। अब जरा विचार करो कि मत्र में क्या गुण थे? मत्र में इतनी क्षमता बतायी गयी है कि वह भूख-प्यास दोनों से रक्षा करती थी, परन्तु उनकी पालन-क्रिया न तो महर्षि विश्वामित्र में ही पायी गयी और न राम में ही। जैसा कि मत्र के आदान-प्रदान के कुछ समय उपरान्त जव जनक की यज्ञस्थली में पहुँचे तो-

भोजन करि मुनिवर विग्यानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी।। (मानस)

पहले महर्षि विश्वामित्र ने भोजन-प्रसाद ग्रहण किया तत्पश्चात् पुराण पुरुष अर्थात् प्राचीन कथाओं को विस्तृत ढग से कहना प्रारम्भ किया। राम के लिए जनकपुर की बात छोड ही दी जाय क्योंकि वे वहाँ के प्रमुख अतिथि थे। वनवास काल में ही देखिये, कहीं कोल-भीलों के कन्द-मूल फल खाये और कहीं महर्षियों का आतिथ्य स्वीकार किये। उस त्रेता-जैसे शुद्ध-युग में जब उन मत्रज्ञ महापुरुषों के ऊपर उस मत्र का कोई प्रभाव न रहा तो कलियुग-सतयुग आदि युगधर्मो के माध्यम से प्रश्न का हल असम्भव-सा है। अब मत्र में शायद पौष्टिकता की कमी रही हो तो ऐसी भी वात नहीं थी।

अतुलित बल तन तेज प्रकाशा।

वह मत्र इसी तन में अतुलनीय शक्ति प्रदान करनेवाला था। अब वस्तुओं की कल्पना व शरीरों की निर्वल-सबल आकृतियो पर दृष्टि डालने से इसका अर्थ नहीं मिलेगा। यह मानस है, यह किसी योगी के अन्त करण मे घटित होनेवाले उस व्यापक राम की पकड का तारतम्य है। मानस कहते हैं मन को, जो साधना की सही स्थिति में मिलनेवाली अवस्था विशेष है। विज्ञानरूपी राम अर्थात् जिस परमात्मा की हमें चाह है जब वही हृदय से रथी बनकर पथ-प्रदर्शन करने लगता है और जिस स्तर पर हम खडे हैं, वहीं से प्रेरक बनकर उठाने लगता है तब साधक का विश्वास दृढ हो जाता है इसी का नाम विज्ञान है। विश्वासरूपी विश्वामित्र अर्थात् जब विश्वासपूर्ण यज्ञ का आरम्भ हुआ तो तर्कनारूपी ताडका, स्वभावरूपी सुबाहु और मन का मैलरूपी मारीच आदि मारे जाते हैं। इष्ट के आदेशों में विश्वास दृढ़ होने पर ही तर्कनारूपी ताडका समाप्त होती है और वहीं से श्वास-प्रश्वास का यज्ञ सुचारु रूप से चलता है। जब तक इष्टदेव हृदय से रथी होकर विश्वास नहीं दिला देते कि वेटा तुम तो निमित्त मात्र हो, कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ, तव तक यजन (यज्ञ) नहीं हो पाता। जब यज्ञ की प्रक्रिया तर्कनाओं से उपराम हो जाती है तो अनन्त बल देकर ही शान्त होती हे अन्यथा नहीं। प्रकृति का बल भी तो महापुरुषों द्वारा तौल लिया गया है। अनन्त या अतुलित बल उस परमात्मा मे है जिसमें शुभाशुभ जगत् हवन-सामग्री के रूप में है। वह भजन-क्रम, जप, यज्ञ अथवा भजन की विधि तर्कनाओं से ऊपर उठकर विश्वास या प्रेरक के वल का आश्रय पा जाती है। फिर वही मत्र एव यजन (यज्ञ) उस परमात्मा को पैदा करनेवाला होता है जिसकी उपलब्धि के वाद किसी प्रकार की क्षुधा या तृष्णा नहीं रह जाती। बाहर जैसा कि हम

ढूँढते हैं, उसका इस स्थल पर कोई उपयोग नहीं है। कलियुग की विकलता को देखकर शकरजी द्रवित हो गये और उद्धार की पूर्ति हेतु इस कथा का निर्माण किया। जब कलियुग में उद्धार की विशेष सम्मति है, तब प्रभाव क्यों नहीं होगा?

देखो, भोजन दो प्रकार का होता है। जितनी खाद्य सामग्रियाँ है, वे केवल स्थूल शरीर का पोषण करती हैं, परन्तु उसका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा को पूर्ण पुष्टि एव तृप्ति प्रदान करनेवाला भजन ही भोजन है। भजन के द्वारा ही वास्तविक अन्न मिलता है जिसको पाकर यह आत्मा परमात्म स्वरूप अमृत से पूर्ण तृप्त हो जाती है। यह केवल इसी मत्र (भजन) द्वारा सम्भव है। साधारण भजन अतुलनीय सत्ता परातपर ब्रह्म की उपलब्धि नहीं करा सकता। इसलिए ब्रह्म से प्रेरित पूर्ण विश्वास से युक्त एव तर्कनाओं से उपराम हो जाने पर वह मंत्र अतुलनीय सत्ता परमात्मा को दिलाने की क्षमता रखता है।

प्रश्नः- महाराजजी! अनेक धार्मिक ग्रन्थों में अवतार का वर्णन पाया जाता है। क्या अवतार का यही रूप है अथवा कोई और? उदाहरण के लिए गीता को लें-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

उत्तर- हाँ, अवतार सत्य है परन्तु उसका रूप कुछ और ही है। भला उसका समर्थन कौन नहीं करेगा? वही कल्याण का यथार्थ मार्ग है किन्तु वह अवतार किसी योगी के हृदय में होता है बाहर नहीं। सभी शास्त्रों मे अवतार का वास्तविक रूप यही है। किसी अनुभवी महापुरुष के द्वारा वह विशेष प्रक्रिया जागृत होती है जो अवतार का कारण है। जैसा कि अभी आपने गीता की चर्चा की कि-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

जब-जब धर्म के विषय मे ग्लानि उत्पन्न हो जाती है (परमात्मा ही परमधर्म है, उस परमात्म-धर्म के पालन के विषय मे ग्लानि बढ जाती है।) तब-तब अधर्म को नष्ट करने के लिए मैं अपने स्वरूप को रचता हूँ। यह ग्लानि मन में होती है और उसके प्रकट होने का स्थान हृदय है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

साधूनाम्--साध्य वस्तु में एकता दिलानेवाले विवेक, वैराग्य, निरन्तर चिन्तन-प्रवृत्ति व भाव-श्रद्धा इत्यादि को निर्विघ्न सचालित करने के लिए व दुष्कृत [illegible] कृत्यों के [illegible] जिनसे दूषित क्रियाएँ होती है, जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अन[illegible] समाप्त करने के लिए और धर्म की स्थिति को दिलाने के लिए [illegible]

यह युग-धर्म मन की स्थिति पर अवलम्बित है। अब [illegible] हुए कहते हैं कि-

मै योग की पूर्ति से प्रगट होता हूँ। मैं [illegible] के श्वास

प्रक्रिया से सम्पूर्ण माया को वश में करके प्रगट हो जाता हूँ। 'आत्ममायया' आत्मा को दिलानेवाली माया अर्थात् यौगिक प्रक्रिया (जिसकी पूर्ति में ईश्वर का वह स्वरूप है) के द्वारा प्रगट होता हूँ। अव प्रश्न उठता है कि जब ऐसे प्रगट होते है तो देखने में कैसे आयेंगे? अन्त में श्रीकृष्ण का भी यही निर्णय है।

जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नेति मामेति सोऽर्जुन।।

मेरा वह जन्म व कर्म दिव्य (अलौकिक) है, जिसको तत्त्वदर्शी ही जानता है। इस जानकारी का नाम तत्त्वदर्शन है। इसे जानकर जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आता बल्कि मुझमे स्थित हो जाता है।

प्रत्येक योगी का यही उद्देश्य रहा है कि 'आत्ममायया' (भजन की क्रिया) के द्वारा माया को स्वाधीन कर उस परमतत्त्व परमात्मा की स्थिति पा ले। वही तत्त्वदर्शी एव स्थितिवाला है। श्रीकृष्ण के शब्दों में वह अवतार तत्त्वदर्शी के सामने प्रत्यक्ष रूप में है जिसको पाकर वह भी वही हो जाता है। इस स्थितिवाले महापुरुष ही कल्याण स्वरूप हैं। उनका सान्निध्य प्राप्त करो।

प्रश्नः- महाराजजी! सगुण एवं निर्गुण उपासना में क्या अन्तर है? ऐसी धारणा है कि तुलसी व मीरा इत्यादि सगुण उपासक थे और कबीर व जायसी इत्यादि निर्गुण, जब कि अभी आपके श्रीमुख से यह सुनने में आया कि कबीर अपने चिन्तनकाल में राम-नाम का आधार लिए थे।

उत्तर- देखो, यह प्रश्न आज मानव-समाज के अन्दर एक विवादग्रस्त विषय के रूप में है, किन्तु इस जगत् में निर्गुण उपासना नाम की कोई वस्तु नहीं है। निर्गुण कोई उपासना नहीं है वल्कि सन्तों की एक रहनी है। लक्ष्य प्रत्यक्ष होते ही वह गुणातीत हो जाता है अर्थात् गुणों के वन्धन से छूट जाता है और उसके बाद की रहनी निर्गुण है। सन्त कबीर ने वैदिक तत्त्व को इतने सूक्ष्म तरीके से और इतने गोपनीय रूप में दर्शाया है कि वह लोगों की समझ के बाहर की वस्तु हो गई है। यही एकमात्र कारण है कि प्राय कवीर को लोग निर्गुण उपासक की सज्ञा दिया करते हैं। यदि हम कवीर की प्रारम्भिक अवस्था पर दृष्टिपात् करे तो-

साहब का घर दूर है, जैसे पेड़ खजूर।
चढै तो चाखै रामरस, गिरै तो चकनाचूर।।

साहव कहीं दूर हैं और स्वय कहीं अलग। उस दूरी को तय करने के लिए चढना और गिरना लगा ही हुआ है और सगुण क्या होता है? निर्गुण स्थिति में अपने से अलग कोई सत्ता नहीं होती। पुन आगे कहते हैं कि-

राम न रमसि कवन दण्ड लागा।
मरि जइबे का करिबे अभागा।। (कबीर)

राम का भजन क्यो नहीं करता, इसमें क्या तेरा कुछ खर्च हो रहा है? रे अभागे! मर जायेगा तव क्या होगा?

रा और म के बीच में कबिरा रहा लुकाय।

'रा' और 'म' दो अक्षरों के अन्तराल में कवीर ने अपने मन को खडा कर लिया था। कवीर नाम के प्रभाव से भली-भाँति परिचित थे। बैखरी से मध्यमा, पश्यन्ति और परावाणी के उतार-चढाव के मर्म को वे अच्छी तरह जानते थे। जैसा कि-

जाप मरे अजपा मरे, अनहदहूँ मरि जाय।
सुरति समानी शब्द में, ताहि काल ना खाय।।

जाप मरे कव? जव अजपा पकड में आ जाय। अजपा मरे कव? जव अनहद पकड में आ जाय। अनहद मरे कव? जव सुरति शव्द के साथ तद्रूप हो जाय अर्थात् शव्द में समा जाय। जव सुरति शव्द मे प्रवेश पा जाती है तव वहाँ काल नहीं पहुँच पाता। इसलिए नाम को आधार बनाते हुए अग्रिम सोपान दर्शाते हैं। वही कवीर क्रमश आगे चलकर जव उस इष्ट को पा गये तो कहते हैं कि-

अवधू बेगम देश है मेरा।
जहाँ न उपजे मरे न बिनशे, नाहिन काल का फेरा।।
तहाँ न ईश्वर जीव न माया, पूजक पूज्य न चेरा।।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, नहिं तहँ द्वैत बखेड़ा।।

अर्थात् मुझसे भिन्न कोई सत्ता नहीं, यही निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप है। गोस्वामी जी भी इसी प्रकार अपने उपासनाकाल में रोते-गाते, चलते-फिरते प्रार्थना के परिणामस्वरूप जब आराध्य देव को पाते है तो-

श्री हरि कृपा संत समागम पाइये।
सपनेउ नहिं दुख द्वैत दर्शन बात कोटिक को कहै।

भगवत्-कृपा से सन्त की रहनी आई, स्वप्न में भी दु ख का आभास नहीं, कौन करोडों बातों को कहे। अब आखिर कबीर ही कौन लाठी मारते है, बस यही तो कहते हैं कि द्वैत का बखेड़ा नहीं है। गोस्वामीजी भक्ति के पूर्तिकाल में यही निर्णय देते है कि-

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार सो जानै सो जेहि बनि आई।।

भगवान की भक्ति कहने मे सरल और करने में अत्यन्त कठिन है। जानता वही है जिसका लहान बैठ जाता है। पुन कहते हैं कि छोटी मछली गगा की धारा के विपरीत चल लेती है और बडा हाथी बह जाता है। इसी प्रकार भक्ति भी एक कला है। भक्ति की पूर्तिकाल मे इसके पराकाष्ठा का चित्रण करते हुए कहते है कि-

सकल दृश्य निज उदर मेलि निद्रा तजि सोवे योगी।
सो हरि पद अनुभवइ परम सुख अतिसय द्वैत वियोगी।।

सम्पूर्ण दृश्य को समेटकर हृदय में केन्द्रित कर लेते हैं और निद्रा का त्याग कर सुप्त हो जाते हैं। यह स्थिति जिसकी भी आ गयी, वही भगवान का दर्शन करता है। भला वे हैं कैसे? 'अतिसय द्वैत वियोगी' जहाँ द्वैत की कल्पना नहीं है। जब गोस्वामी जी पाये तो किस रूप में, कि मुझसे भिन्न कोई सत्ता नहीं। सत कवीर भी इसी रहनीवाले थे। मीरा रोती एवं विनय करती रही,

परन्तु उपलब्धि के वाद किस प्रकार राणा को ललकार कर कहती है-

राणा जी मैं तो गिरिधर रंगवा राती।
सबके पिया परदेश बसत हैं, लिखि लिखि भेजत पाती।
मेरे पिया मेरे हिये बसत हैं, नहि कहु आवत जाती।।

राणा जी, मैं गिरिधर के रग में रग गयी हूँ। दूसरों के प्रियतम परदेश मे निवास करते है और पत्र लिख-लिखकर भेजते हैं। मेरे प्रियतम मेरे हृदय में निवास करते है।

उपासना के तीन अग होते हैं--ध्याता (साधक), ध्येय (लक्ष्य) और ध्यान (लक्ष्य को पकडने की युक्ति)। इन तीनों मे से यदि एक भी खण्डित है तो उपासना नहीं वनती। ध्याता नहीं है तो भजेगा कौन? ध्याता है और भजनेवाली वस्तु ध्येय (ईश्वर) नहीं है तो भजेगा किसको? यदि ये दो वस्तुएँ हैं और उपासना की युक्ति नहीं है तो भी उपासना नहीं बनती। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि निर्गुण कोई उपासना नहीं है। कवीर सगुण से चलकर निर्गुण में आये, जो सन्तों की एक रहनी है। तुलसी भी ठीक इसी प्रकार सगुण से चलकर निर्गुण में आ गये। निर्गुण ब्रह्म का चित्रण करते हुए आगे सत कवीर कहते है-

सबहि संत हैं राम के, सबहि राम के आस।
सरगुण राम प्रसाद भै, निर्गुण पलटत दास।।

सभी सत राम के हैं और सभी को राम की ही आशा है। सरगुण (सगुण) जब परावाणी साध्य की अवस्था में आ जाती है तो भगवान जो है, जिस प्रभाववाले हैं, जिन विभूतियों व गुणधर्मो से युक्त हैं आदि समक्ष दिखाई पडने लगता है। यदि इन वाणियों की प्रक्रिया सद्गुरु से उपलब्ध नहीं तो सगुण नाम की कोई वस्तु नहीं है और जब प्रत्यक्ष हो गया तो- **जानत तुम्हहि तुम्हहि होई जाई।**

जो उसको जानता है वह उसी में फना हो जाता है। गोस्वामी जी के शब्दो मे सेवक सदा के लिए खो जाता है और स्वामी ही शेष बचा रहता है। अन्त मे कहते है- 'निर्गुण पलटत दास'-सगुण रहा उसी में गया। वह दास अथवा उस दास की रहनी निर्गुण है न कि निर्गुण कोई उपासना।

।। ॐ ।।

संध्याकालीन वन्दना के पश्चात् साधकों एवं भाविकों के बीच प्रणाम का महत्त्व बताते हुए श्री परमहंस जी

पूज्य महाराजजी साधकों के मनोगत भावों को पकडकर तदानुकूल उपदेश दिया करते थे और समूहिक कार्यो मे किसी न किसी त्रुटि का वहाना लेकर चिन्तन-पथ प्रशस्त कर दिया करते थे। आरती हो रही थी, सव लोग पूर्ण तन्मयता के साथ प्रार्थना में सलग्न थे। आरती समाप्त होने के उपरान्त सभी लोगों ने प्रणाम किया। जिन साधकों ने मन से सम्वन्ध जोड, हृदय में स्वरूप पकडकर प्रणाम किया उन्हें कुछ समय लगा, किन्तु कुछ नवीन साधक शीघ्र ही प्रणाम कर इधर-उधर ऐसे देखने लगे जैसे कि उनकी पूजा पूरी हो चुकी हो। उन भोले पथिकों की ऐसी विकृति देख आप स्नेहपूर्वक वोले--वैठ जाओ! देखो जैसा कि अभी आरती होने पर सभी ने प्रणाम किया है। दो-एक साधको को इगित करते हुए कहे कि ये लोग तो इस प्रकार खुश हुए जैसे कि सिर का बोझ उतर गया हो। तुम लोगों को शर्म नहीं लगती? यह तो तुम्हारे अन्त करण की हाजिरी है। यदि यही क्रम तुम लोगों का अधिक दिनों तक चलता रहेगा तो अपनी साधना मे असफल हो जाओगे।

प्रार्थना या आरती जो कुछ भी हम करते हैं, अपने भावों से सद्‌गुरु को समर्पण करते हैं। उसके बाद प्रणाम का यह मतलव नहीं हुआ कि हम ड्यूटी पूरी करके निकल जायॅ, जैसे फर्ज अदायगी। जब प्रार्थना से चित्त शान्त हो जाता है, मन में सकल्पों की लहर हल्की हो जाती है, तव ऐसे समय में थोडा चिन्तन भी कर लें। इससे भजन में मदद मिलेगी। प्रणाम ही सव कुछ है किन्तु जो वास्तविक प्रणाम है, वह सिर झुकाना ही नहीं वल्कि सामने खडे होकर उन्हीं सद्गुरु के स्वरूप को हृदय में पकडना चाहिए, जिस प्रकार कि ध्यान में पकड़ते हो। पॉच मिनट समय भले ही लग जाय, परन्तु पूर्णरूप मे सुरति के द्वारा स्वरूप को हृदय मे पकडकर प्रणाम करना चाहिए। पहले अन्दर तत्पश्चात् बाहर से प्रणाम कर लो। यदि तुम्हारा यह क्रम जारी रहेगा तो धीरे-धीरे तुम्हे ध्यान में मदद मिलेगी क्योंकि दिन में चार-पॉच बार प्रणाम करने का अवसर मिलता है। स्नान करने के बाद, सुबह, शाम एवं आरती आदि सब मिलाकर दिन में बीस या पचीस मिनट हो जाते हैं। यही उस ध्यान में सहायता प्रदान कर हमें परम कल्याण की ओर प्रेरित करता रहेगा। जो केवल ऊपर से प्रणाम करते है, शनै -शनै उनका ऊपरी भाव समाप्त होने लगता है और प्रणाम केवल फर्ज अदायगी के रूप में ही शेष रह जाता है। वस्तुत वह उस कल्याण को नहीं दे पाता जिसके लिए कि हम प्रणाम करते हैं। यदि हमने लक्ष्य-प्राप्ति के लिए गृह-त्याग किया हो तो हृदय मे स्वरूप पकडकर प्रणाम करे। वैसे तो हजारों आकर प्रणाम करते हैं किन्तु भगवान के यहॉ भावों का ही महत्त्व है और दुनिया मे फर्ज अदायगी एव एक्टिग का। हमारा प्रवल भाव ही उधर से कृपा वनकर लौटता है। यदि भावो में कुछ भी सदिग्धता है तो वही हमारे लिए घातक वन जायेगा, जैसे कि हनुमानजी सजीवनी लेकर आते समय गर्व किये कि अगर आज मैं न होता तो राम के भाई लक्ष्मण को कौन जिलाता? अत यह लडाई मेरे ही वल पर हो रही है। इष्ट के प्रति अभाव उत्पन्न हो गया, जिसके परिणामस्वरूप भरत की तरफ से एक ऐसा सींक का वाण

लगा कि हनुमानजी गिर पडे। जिसके उपर वडे-वडे अस्त्र एव वज्र का भी असर नहीं होता था, वह एक साधारण सींक के लगने से धराशायी हो गया।

वस्तुत वैराग्य ही हनुमान है एवं भाव ही भरत है। हमारे भावो का दूषित हो जाना ही भरत का बाण है। जब हमारे भाव दूषित हो जाते है तो वही हमारे लिए घातक सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में वैराग्यवान पथिक गिर जाता है। यदि एकाध वार गिरने के वाद समझ काम कर गई तो वह प्रभु (सद्गुरु) जो दया के सागर हैं, सॅभाल लेते हैं किन्तु हमे उनकी परम दयालुता पर अटल विश्वास होना चाहिए। हम चाहे जिस परिस्थिति में हों, पर अपना नियम न छोडे। चाहे बुखार आ जाय, चाहे वज्र पड जाय, लेकिन नियम नहीं टाला जा सकता।

'दिन दिन बढ़त सवायो' हमारे चिन्तन-क्रम में उत्तरोत्तर वृद्धि होनी चाहिए। प्रतिदिन सायकाल निरावलम्ब एकान्त मे बैठकर हमें यह हिसाव करना चाहिए कि आज मेरा भजन कितना है और कल कितना था। यदि किसी प्रकार की कमी रह गयी तो प्रयत्नपूर्वक चौवीस घटे के अन्दर ही पूर्ण करें। इस प्रकार पूर्तिपर्यन्त हमें प्रयास करना है। हम जो सेवा करते है, उसका बहुत बडा महत्त्व है। आज हम एकान्त में जाकर बैठ गये। दस दिन भजन करेंगे, किन्तु ग्यारहवे दिन अवश्य भागना पडेगा। भजन करने की क्षमता हमलोगों में नहीं है, वह तो किसी स्थिति प्राप्त महापुरुष के द्वारा ही हृदय मे प्रवाहित होती है अतएव उनकी सेवा एव सान्निध्य परम आवश्यक है। इस प्रकार सेवा करते-करते मन के निरोध की धारा जो सद्गुरु के अन्दर सतत् प्रवाहित रहती है, वही साधक में उतरने लगती है, जिसके परिणामस्वरूप कुछ समय बाद हमारे अन्दर वह क्षमता आ जाती है जिससे कि पूर्ण सतोष का आभास होने लगता है।

।। ॐ ।।

भगवान बातें करते हैं-

- *क्या महाराजजी! भगवान बाते करते हैं?*
- *हॉ हो, भगवान ऐसे बतियावत हैं जैसे हम-तुम घण्टों बतियाई और क्रम न टूटे लेकिन साधक मे भगवान के प्रति विरह होना चाहिए।*

अवतरण-विधि

प्रश्नः- महाराजजी! आपने बताया कि अवतार किसी योगी के हृदय में ही होता है किन्तु मानस में पृथ्वी ब्रह्मा के पास गयी तब भगवान का अवतार हुआ। कृपया मानस के आधार पर बतायें कि अवतार किस प्रकार होता है?

उत्तर- देखिये, मानस में भी वही है जो गीता मे है। एक समय पृथ्वी पर निशाचरों की वृद्धि होने लगी। खल, चोर, लपट, लोभी, जुआरी इतने बढ गये कि पृथ्वी अकुलाने लगी। "परम सभीत धरा अकुलानी" परम भयभीत होकर धरती उससे मुक्ति पाने के लिए छटपटाने लगी। पहले वह गाय का रूप धारणकर देवताओं के पास गयी। देवताओं और मुनियों ने कहा कि हम सहायता अवश्य करेंगे, किन्तु पूर्ण कल्याण करने की सामर्थ्य हममें नहीं है। ब्रह्मा के पास सभी गये। ब्रह्मा ने सब कुछ जान लिया कि ये क्यों आये हैं? इन्हें कितना कष्ट है? उन्होंने कहा, "देखो! हम कोई सीधा उपाय नहीं कर सकेंगे। तुम्हें युक्ति बताते हैं, तुम इस प्रकार भगवान की प्रार्थना करो, हम भी तुम्हारे साथ रहेंगे।" प्रार्थना की गयी तो भगवान की गगन-वाणी से निर्देश मिला कि सभी देवता पृथ्वी पर उतर जायँ। पृथ्वी! तुम उसी तरह धैर्य के साथ मेरी प्रतीक्षा करो। हम तुम्हारा भार दूर कर देंगे। पूर्णतया मुक्ति दिला देंगे। बस इतनी ही तो बात है अवतरण की।

यह अवतरण-विधि विचारणीय है। क्या अमेरिका, इग्लैण्ड, भारत, जापान, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, समुद्र एव पहाडों से घिरी यह पृथ्वी गाय का स्वरूप धारण करके गयी? नहीं, यह शरीर ही एक पृथ्वी है। कबीरदास जी कहते है-

धड़ धरती का एकै लेखा। जो बाहर सो भीतर देखा।।

जो कुछ बाहर पृथ्वी पर दिखाई देता है, सब हृदय मे देखने को मिला। विनयपत्रिका में गोस्वामी जी कहते है-

असन बसन पशु वस्तु विविध विधि सब मनि महँ रह जैसे।
सरग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे।। (१२४)

बहुमूल्य मणि की कीमत में जिस प्रकार भोजन, वस्त्र, पशु और अनेक प्रकार की वस्तुएँ निहित है, ठीक इसी प्रकार स्वर्ग-नरक, चर-अचर अनेकानेक लोक मन के अन्तराल में छिपे हैं। बाहर तो मात्र मृत्युलोक है, भले ही उसका नाम हम भारत या अमेरिका रख लें, किन्तु मन के भीतर बहुत से लोक है, यहाँ तक कि परमतत्त्व परमात्मा का परमधाम भी इसी में निहित है। जिन महर्षियो ने इस मन का निरोध कर लिया, तत्क्षण उन्हें मन के अन्तराल में वह परमधाम भी मिला। इस प्रकार यह शरीर ही पृथ्वी है। छान्दोग्य उपनिषद, अष्टम अध्याय के प्रथम खण्ड मे वर्णन आता है कि जितना यह भौतिक आकाश है, उतना ही आकाश हृदय के अन्तर्गत है। द्युलोक और पृथ्वी दोनो लोक सम्यक् प्रकार से हृदय के भीतर ही स्थित है। इसी प्रकार अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्रमा, विद्युत और नक्षत्र तथा इस आत्मा का जो कुछ भी इस लोक में है और जो नहीं है, वह सभी सम्यक् प्रकार से हृदय में स्थित है।

इस शरीर के अन्तराल मे दो प्रवृत्तियाँ हैं-एक दैवी सम्पद् और दूसरी आसुरी सम्पद्। एक

सजातीय तथा दूसरी विजातीय। आसुरी सम्पद् अधोगति एव नीच योनियो का सृजन करती है तो दैवी सम्पद् परम कल्याण करनेवाली है एव शाश्वत स्वरूपपर्यन्त दूरी तय कराती है। विनयपत्रिका में गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं- 'वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लका' (५८)। यह शरीर ही सुव्यवस्थित ब्रह्माण्ड है जिसमें मायिक प्रवृत्ति ही लका है। इसमे मोहरूपी रावण है, जो दशानन है। क्रोधरूपी कुम्भकर्ण, लोभरूपी नारान्तक, अहकाररूपी अहिरावण, प्रकृतिरूपी सूर्पनखा इत्यादि आसुरी सम्पद् इस लका में हैं। ये मोहरूपी प्रवृत्तियॉ अनन्त हैं। क्रोधरूपी कुम्भकर्ण, कामरूपी मेघनाद, लोभरूपी नारान्तक इत्यादि दुर्धर्ष योद्धाओं की समाप्ति के पश्चात् जव रावण दुर्ग से निकला तो वह भी अपार सेना लेकर निकला। सब तो मर गये थे फिर अपार कहॉ से आ गये? वस्तुत मोह ही रावण है और **'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहि बहुशूला।।** (७/१२०/२९) सम्पूर्ण भवरोग का मूल कारण मोह है। यदि मूल जीवित है तो उसमे शाखाये, डाल, तना, टहनिया, पत्ते सव कुछ विद्यमान रहते हैं। यदि मोह जीवित है तो सभी विकार उससे प्रस्फुटित हो जाते हैं। अत मोह के रहते साधक यदि असावधान हुआ तो यह पनपकर साधक को अनन्त दिशाओं से आवृत्त कर लेता है। साधक अपने श्रेय साधन से परावर्त हो जाता है- **श्रृंगी को भृंगी करि डारी, पराशर के उदर विदार।** भगवान से एक इच की भी दूरी है, तब तक माया सफल हो जाती है।

रावण जव मर गया तो **'रहा न कोउ कुल रोवनिहारा'** (७/१०३/१०) आसुरी सम्पत्ति सअस्तित्व मिट गयी। **'मूलो नास्ति कुतो शाखा'**- जब मूल ही कट गया तो बचेगा क्या? अब पत्ते, टहनियॉ, शाखायें झाड़ने की आवश्यकता नहीं है। वे तो स्वत सूख जायेगे। इस मोह के निर्जीव होते ही अमृत-तत्त्व का प्रस्फुटन होता है जहॉ मृत्यु का समावेश नहीं है। उस अमृततत्त्व के सचार में आसुरी प्रवृत्ति सदा-सदा के लिए शान्त हो जाती है तथा दैवी सम्पत्ति पूर्णतया विकसित हो उठती है-

सुधा वृष्टि भइ दुहुँ दल ऊपर। जिये भालु कपि नहि रजनीचर।।

दूसरी ओर यह शरीर ही अवध है क्योंकि इसमे अवध्य स्थिति का सूत्रपात् होता है। इसके अतराल में दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति ही दशरथ है-

राम नाम सब कोइ कहै, दशरथ कहै न कोय।
एक बार दशरथ कहे, कोटि यज्ञ फल होय।।

राम-नाम सभी कहते हैं, दशरथ कोई नहीं कहता। यदि एक बार कोई दशरथ कह दे तो करोडों यज्ञ का फल होता है। फल तो इतना वडा, फिर भी दशरथ-दशरथ कोई नहीं जपता। सव राम-राम ही जपते हैं। जपना भी चाहिए। वस्तुत दसो इन्द्रियो की निरोधमयी प्रवृत्ति ही दशरथ है। दसों इन्द्रियों को सयत करके 'राम' का उच्चारण ही तो शुद्ध जप है। निरोध के साथ जप में करोडों यज्ञों का फल निहित है, किन्तु इन्द्रियॉ विषयोन्मुख हैं और जिह्वा राम-राम रटती है तो उसका यथार्थ प्रभाव नहीं होता। परम कल्याण तो नहीं ही होता, हॉ, पुण्य-पुरुषार्थ अवश्य वढता है जो कल्याण करनेवाला होता है। अत दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति ही दशरथ हे। पहले तो यह मन उधर ही दौडता है **"जहॅ-जहॅ इन्द्रिह ताने"** किन्तु जव दसों इन्द्रियों की लगाम रथी के हाथ आ जाती है, तभी पुरुष दशरथ वन जाता है।

इस प्रकार इसी शरीर के अंतराल में दसों इन्द्रियों की निरोधमयी प्रवृत्ति दशरथ है। इसी में भक्तिरूपी कौशल्या है। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। इसके कोश में लव अर्थात् लगन दिलानेवाली कौशल्या है। कर्मरूपी कैकेयी, सुमतिरूपी सुमित्रा, कुमतिरूपी मन्थरा, विज्ञानरूपी राम, विवेकरूपी लक्ष्मण, इस प्रकार यह दैवी सम्पत्ति भी अनन्त है। ब्रह्म आचरणमयी प्रवृत्ति ही वानरी सेना है जिसमें अनुरागरूपी अंगद, वैराग्यरूपी हनुमान, सुरतिरूपी सुग्रीव, साधनरूपी जामवन्त इत्यादि असंख्य वानर हैं।

बानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरख जो करन चह लेखा।। (मानस, ४/२१/१)

भगवान शंकर कहते हैं- उमा! मैंने वानरी सेना देखी। वह मूर्ख है जो उसकी गणना करना चाहता है। अर्थात् वानरी सेना अगणित थी। इधर अगणित वानरी सेना, उधर रावण की अनगिनत निशाचरी सेना। युद्धस्थल लंका। आज कुल पाँच लाख की जनसंख्या है वहाँ! छठें या सातवें लाख के लिए भी स्थान नहीं है। भारतीयों को वहाँ नागरिकता नहीं मिल रही है, क्योंकि स्थानाभाव है। उस समय करोड, नील, पद्म तथा महाशंख से भी अधिक असंख्य निशाचर और असंख्य वानरी सेना थी। कहाँ टिके थे वे सब? लडते कहाँ थे? खाते कहाँ थे? क्या घटनाएँ नहीं घटीं?

घटनाएँ घटित हुई, इसमें सन्देह नहीं है। अन्यथा इतिहास न बनता, दृष्टान्त न बनते। बाह्य घटनाओं के माध्यम से महापुरुषों ने अन्तःकरण की घटनाओं को भी इंगित किया। इन घटनाओं के माध्यम से महापुरुषों ने कुशलतापूर्वक जीवनयापन करने का मर्यादित उदाहरण प्रस्तुत किया, किन्तु सदाचारपूर्वक जी लेने मात्र से ही हमारा परम कल्याण सम्भव नहीं है। इसलिए मनीषियों ने ऐतिहासिक कथानकों के माध्यम से परम कल्याण की क्रियाओं का, अन्तःकरण के संघर्ष का तथा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के युद्ध का भी पथ प्रशस्त किया। वास्तव में शरीर ही ब्रह्माण्ड है, पृथ्वी है। इसके अन्तराल में चर-अचर, अनन्त लोक और असंख्य शरीर विद्यमान हैं। यह असंख्य निशाचरी और वानरी सेना एवं नाना प्रकार के शरीर मन में ही हैं--

मन में यथा लीन नाना तन, प्रकटत अवसर पाये। (विनय पत्रिका, १४२)

इस प्रकार शरीर में दैवी एवं आसुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। आसुरी प्रवृत्तियों से एवं मोह के द्वन्द्व से आकुल होकर मनुष्य तीर्थों में जाता है। देवताओं और मुनियों की शरण में जाता है। ऐसी ही विकलता मनु को हुई थी--

हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।। (मानस, १/१४२)

हृदय ग्लानि से भर गया और मनु निकल पड़े देवताओं और मुनियों की शरण में। नैमिषारण्य पहुँचे। नियम ही नैमिषारण्य है। नियम करने कहीं जाना नहीं पडता। केवल 'धेनुमति तीरा' इन्द्रियों को बुद्धि के अधीन करना पडता है। इसी प्रकार यह शरीररूपी पृथ्वी भी **"गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी"** (रामचरित मानस १-१८३-७), देवी-देवताओं के शरण में जाती है, तीर्थों का आश्रय लेती है। तीर्थों से प्रेरणा मिलती है, पुण्य-पुरुषार्थ बढ़ता है, सहयोग भी मिलता है परन्तु उतने से परम कल्याण सम्भव नहीं होता। मुनियों से उपदेश मिलता है। पुण्य और बढता है, भजन की विधा बढती है फिर भी इतने से ही परम कल्याण नहीं हो जाता। तीर्थों ने, मुनियों

ने सहयोग दिया और पृथ्वी के साथ ब्रह्मा तक गये। "अहकार शिव बुद्धि अज, मन शशि चित्त महान (रामचरित मानस, ६/१५क)। ब्रह्मा अर्थात् ब्रह्मस्थित महापुरुष, जिनकी बुद्धि मात्र यत्र है, जिनके माध्यम से परमात्मा ही प्रसारित होता है। ऐसे ही महापुरुषों की वाणी का सकलन वेद है। इसीलिए वेद अपौरुषेय है, क्योंकि उन महात्माओं की वाणी से अव्यक्त पुरुष मुखरित होता है।

तीर्थो एव मुनियों के उपदेशजनित पुण्य से शरीर ब्रह्मस्थित सद्गुरु तक पहुँचता है। उन्होंने देखते ही जान लिया कि साधक किस स्तर का है। ऐसे महापुरुषो के पास जव तक केवल शरीर से आते-जाते हैं, कल्याण सम्भव नहीं है। इसके लिए तो मनसहित इन्द्रियो का सर्वतोभावेन समर्पण अपेक्षित है। ब्रह्मा ने कहा, "हमसे भी कल्याण नहीं होगा। मैं विधि वताता हूँ, तुम चिन्तन करो, मैं भी तुम्हारे साथ ही रहूँगा। तुम्हारा निश्चित कल्याण होगा।"

सद्गुरु साथ देने लगे। जहाँ चिन्तन में प्रविष्ट हुए, आकाशवाणी हुई। इष्ट से आदेश मिला- "तुम्हारा निश्चित कल्याण होगा। पृथ्वी पर (शरीर में) देवताओं को उतारो।" साधक मनसहित इन्द्रियों के अन्तराल में दैवी सम्पत्ति को शनै-शनैः अर्जित करता है। जव दैवी सम्पत्ति पूर्णरूप से परिपक्व हो जाती है तहाँ भक्तिरूपी कौशल्या (भग इति स भगति। भग अर्थात् प्रकृति से उपराम करा देनेवाली प्रक्रिया विशेष का नाम भक्ति है। उस भक्तिरूपी कौशल्या) की गोद मे विज्ञानरूपी राम का आविर्भाव होता है।

'रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः'-जिसमें योगी लोग रमण करते हैं, उसी का नाम है राम। योगी दिन-रात किसमे रमण करते हैं?

जदपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता। अनुभव गम्य भजहि जेहि सन्ता।। (मानस,३/१२/१२)

योगी अनुभव में रमण करते हैं। अनुभव भव से अतीत एक जागृति है, विज्ञान है, जिसके द्वारा परमात्मा के निर्देश प्राप्त होते रहते हैं। वही राम है जो पहले सचालन, पथ-प्रदर्शक के रूप में आते हैं। विवेकरूपी लक्ष्मण, भावरूपी भरत, सत्सगरूपी शत्रुघ्न सभी एक दूसरे के पूरक है। प्रारम्भ में सकेत, इष्ट का निर्देश बहुत सक्षिप्त एव क्षीण रहता है। राम बालक रहते है। क्रमश उनका उत्थान होते-होते वह योगरूपी जनकपुर में पहुँचते है। जनक वह है जिसने जना, जन्म दिया। सृष्टि में शरीरों का जन्म माता-पिता से होता है, किन्तु निज स्वरूप का दिग्दर्शन एव जन्म योग से ही होता है। योग से स्वरूप की अनुभूति होती है इसलिए वह जनक है। योगरूपी जनकपुर। जनक एकवचन है किन्तु यहाँ जनकपुर है, क्योंकि एकमात्र योग से ही अनन्त आत्माओं ने अपना स्वरूप पाया है और भविष्य में भी योग ही माध्यम है। योग का आश्रय पाकर राम शक्ति से सयुक्त हो जाते हैं, आसुरी प्रवृत्तियो का शमन करके सर्वव्यापक हो जाते है और फिर रामराज्य की स्थिति चराचर पर छा जाती है। योग की पकड आते ही अनुभव जागृत हो उठते है। जागृतिरूपी जयमाला मिलती है और अनुभवरूपी राम शक्तिरूपी सीता से सयुक्त हो जाते हैं। यह योग की प्रवेशिका है।

शनै-शनै राम शक्ति के साथ आगे बढते हैं, व्यवधान आते है और जव मोह का समूल अन्त हो जाता है तो अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है, सुधावृष्टि होती है। अमृत कोई घोल पदार्थ

नहीं है कि पानी की तरह वर्षा हो। अंगद ने रावण से कहा-

राम मनुज कस रे सठ बगा। धन्वी काम नदी पुनि गंगा।।
पशु सुर धेनु कल्पतरू रूखा। अन्न दान अरू रस पीयूषा।।
(रामचरित मानस, ६/२५/५-६)

बुद्धिहीन रावण! राम क्या मनुष्य हैं? गगा क्या किसी नदी का नाम है? कामधेनु क्या किसी पशु का नाम है? काम क्या कोई धनुर्धर है? अमृत क्या कोई घोल पदार्थ है कि उठाकर पी लोगे या छिडक दोगे? जव अमृत घोल पदार्थ नहीं है तो है क्या? वस्तुत मृत नाशवान को कहते हैं जो मरणधर्मा हो। अमृर्त वह है जो अक्षय है, अक्षर है, शाश्वत है। परात्पर ब्रह्म ही अमृत है, जहॉ पहुँचकर यह मरणधर्मा मनुष्य पुनर्जन्म का अतिक्रमण कर जाता है।

उस अमृतत्व के सचार के साथ ही क्रमश उत्थान करते-करते भक्त खो जाता है और राम ही शेष बचते है -

राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका।। (मानस, ७/१६/७)

उस अन्त करण में पूर्णरूपेण रामराज्य की स्थिति आ जाती है, जहॉ पर तीनों लोकों में भव-सम्बन्धी शोक-सन्ताप सदा के लिए मिट जाते हैं। तीनों लोकों में आवागमन का कोई स्थान नहीं रह जाता। उसके लिए सर्वत्र राममयी स्थिति आ जाती है। वह परमात्मा ही छा जाता है और उसी के अन्तराल में आत्मा लीन हो जाती है, द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही राम की पराकाष्ठा है और जहॉ से साधन प्रारम्भ होता है, उनका प्रगटीकरण होता है, वही अवतरण की निम्नतम सीमा है।

इस प्रकार अवतार किसी विरले योगी के हृदय की वस्तु है, न कि बाहर कहीं अवतार होता है। जिस पुरुष मे यह अवतरित हो जाता है वही जीवात्मा परमात्मा में विलय हो जाती है। उसके पश्चात् ''जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।'' सेवक सदा-सदा के लिए खो जाता है और स्वामी ही शेष बच रहता है, राममयी स्थिति ही शेष बचती है।

सरग नरक अपवरग समाना। जहॅ-तहँ देख धरे धनुबाना।। (मानस, २/१३०/७)

न स्वर्ग स्वर्ग के रूप में, न नरक नरक के रूप में रह जाता है। जहॉ भी दृष्टि पड़ी, आराध्य देव का स्वरूप ही दिखाई पडता है। विलय के पश्चात् वह सत्ता अपने में ही दिखाई देती है। ''साईं सन्त अर्तात'' अपने से भिन्न कोई सत्ता नहीं रह जाती। शाश्वत ही शेष बच रहता है। शरीर तो रहने का एक मकान मात्र रह जाता है। इसके पश्चात् महापुरुष जब तक ससार में रहता है, लोककल्याण के लिए ही उसका उपयोग है। स्वयं के लिए उसका कुछ भी उपयोग नहीं होता।

निर्विवाद है कि अवतार किसी विरले योगी के हृदय की वस्तु है। गीता में भी इसी अवतरण-प्रक्रिया का निरूपण है। बाहर पिण्ड-रूप में अवतार की खोज में भटकनेवाले भ्रम में हैं, क्योंकि अवतार दिव्य और अगोचर होता है। जो वस्तु मनसहित इन्द्रियो अथवा इन ऑखों से दिखायी पडे, वह माया है, अवतार नहीं--

गो गोचर जहॅ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।। (मानस, ३/१४/३)

।। ॐ ।।

राम का वास्तविक स्वरूप

प्रश्न- महाराज जी! राम का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर- देखिये, सती की भी यही जिज्ञासा थी। उनका एक जन्म तो सशय में चला गया कि नर-तन धारण करनेवाले राम भगवान कैसे हो सकते हैं? दूसरे जन्म में उन्होंने अथक परिश्रम किया, घोर तपस्या की, भगवान शकर को पुन प्राप्त किया और तत्पश्चात् सत्सग आरम्भ हुआ। पिछले जन्म में प्रश्न जहाँ से छूटा था, सत्सग वहीं से प्रारम्भ हुआ। शैलजा ने प्रश्न रखा कि राम भूप-सुत कैसे हुए? राम का स्वरूप क्या है? नर भगवान कैसे हो सकता है? शकर जी ने पहले तो वहुत डॉटा, बोले--

कहहिं सुनहि अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखंडी हरि पद विमुख, जानहि झूठ न साच।। (मानस, १/११४)

ऐसा अधम नर कहते है जो मोहरूपी पिशाच से ग्रसे हैं। जिनके हृदय में विषयरूपी काई लगी है, वे ही ऐसा कहते हैं। गिरिजा! तूने वेद-असम्मत वाणी कही है, यद्यपि तुम्हारा भाव अच्छा हे। तत्पश्चात् उन्होने उत्तर देना आरम्भ किया तो राम का स्वरूप वताया--

विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता।।
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।।
(रामचरित मानस, १/११६/५-६)

अर्थात् विषय, विषयों को करनेवाली इन्द्रियाँ, इन्द्रियो के देवता और जीवात्मा उत्तरोत्तर एक दूसरे के सहयोग से सचेत होते हैं, एक दूसरे के सहयोग से जागृत होते हैं और इन सवको प्रकाश देनेवाली जो मूल सत्ता है, वही है राम। इन सवका जो परम प्रकाशक है वही अवधपति राम है। वास्तव में इन्द्रियाँ एव मन तो चराचर में सर्वत्र पाया जाता हे इसीलिए "जगत प्रकास्य प्रकासक रामू" जगत् प्रकाश्य है और राम प्रकाशक है। वे मायाधीश हें, ज्ञान और गुण के धाम है। राम तो सर्वत्र एक जीवनी शक्ति के रूप मे हैं तभी तो पेड हरा-भरा है। यही उनका प्रकाश है। गिरिजा को भ्रम हुआ था कि राम भगवान कैसे हो सकते हैं? इसलिए शकरजी कहते है-

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोई कृपाल रघुराई।। (मानस, १/११७/३)

ऐसा भ्रम जिनकी कृपा से मिट जाता है वही कृपालु रघुराई है। वह भ्रम जव कभी किसी का मिटा है तो अनुभव से मिटा है। जव कभी किसी ऋषि-महर्षि ने उस भ्रम का निवारण पाया तो अनुभव के द्वारा ही पाया है। महर्षि मारकण्डेय ने अनुभव मे महाप्रलय की लीला देखी और अन्त में प्रलय के वाद भी उस शाश्वत सत्ता को जीवित पाया। उसके स्पर्श के साथ ही महर्षि का भ्रम दूर हो गया। कागभुशुण्डि ने हजार-लाखों वर्ष तक भगवान के उदर में पर्यटन किया। वहाँ राम-अवतार भी देखा। अपने आश्रम को देखा। विविध रूप मे भरतादिक भ्राताओ को देखा-

भिन्न भिन्न मैं दीख सबु, अति विचित्र हरि जान।
अगनित भुवन फिरेउँ, प्रभु राम न देखेउँ आन।। (रा० मानस, ७/८१ क)

अगणित भुवनों में भटका। सभी शक्तियाँ तो भिन्न-भिन्न रूप मे थीं किन्तु राम को दूसरे

प्रकार का नहीं देखा। भरत दूसरे प्रकार के थे, लक्ष्मण दूसरे प्रकार के थे, माता कोशल्या दूसरे प्रकार की थीं, लेकिन राम ठीक उसी प्रकार के थे- जैसा बाहर देखा था। वह सदैव एकरस रहने वाली सत्ता है। सुनने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि कागभुशुण्डि ने भगवान के पेट के अन्दर प्रवेश कर यह सब देखा; लेकिन नहीं, यह भी एक अनुभव था-

उभय घरी महँ मैं सब देखा। भयउँ भ्रमित मन मोह विसेषा। (मानस, ७/८१/८)

अगणित तो वे नगर देखते रहे, लोक-परलोक देखते रहे, बहुत-सा समय अपने आश्रम में भी बिताया। युग पर युग बीतते गये और अन्त में निर्णय देते हैं ''उभय घरी''- दो ही घडी में मैने सब कुछ देखा। सिद्ध है कि वह एक अनुभव था। चिन्तन में आनेवाला, ध्यान में मिलनेवाला, इष्ट से प्रसारित एक 'रील' थी, समाधिजन्य एक दृश्य था। ऋतम्भरा प्रज्ञा की अनुभूति थी। जब ऐसा भ्रम होता है कि राम सगुण हैं या निर्गुण हैं? कहाँ पैदा होते हैं? कैसे रहते हैं? ऐसा भ्रम जिस युक्ति से दूर हो जाता है, बस वही राम हैं। ''जासु कृपा अस भ्रम'' जैसा कि तुमको हुआ, ''मिटि जाई। गिरिजा सोई कृपाल रघुराई।।'' अर्थात् विज्ञानरूपी राम।

सोइ सच्चिदानन्द घन रामा। अज विज्ञान रूप बल धामा।। (मानस, ७/७१/३)

राम कैसे है? उनका स्वरूप कैसा है? विज्ञानरूपी उन राम का कार्य-कलाप कैसा है? कैसे वे चलते है? कैसे युद्ध कराते हैं? कैसे भक्त के साथ रहते हैं? शकर जी बताते हैं--

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। गहइ घ्रान बिनु बास असेषा।।
अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।।

(मानस, १/११७/५-८)

वह बिना कान के सुनता है, बिना आँख के देखता है, बिना पैर के चलता है, बिना हाथ के सम्पूर्ण कृत्य करता है। इस प्रकार राम की करनी सब तरह से अलौकिक है। सिद्ध है कि वह अनुभवगम्य है, अर्थात् विज्ञानरूपी राम- ऐसा शकर जी का निर्णय है।

राम का जन्म भी विचारणीय है--

व्यापक ब्रह्म निरजन, निर्गुन विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद।। (मानस, १/१९८)

जो कभी व्यक्त नहीं होता, बिना पैरों के चलता है, बिना आँखों के देखता है, बिना शरीर के शरीरधारी है, वही अजन्मा, अव्यक्त, शाश्वत राम प्रेमरूपी भक्ति के द्वारा कौशल्या की गोद में आता है। वस्तुत प्रेममयी भक्ति का ही दूसरा नाम 'कौशल्या' है। अत. 'भक्तिरूपी कौशल्या'। कोश कहते है सम्पत्ति के केन्द्र को। आत्मिक सम्पत्ति की स्थिर सम्पत्ति है। उस स्थिर सम्पत्ति का सग्रह भक्ति में हैं इसलिए उसका नाम कौशल्या है।

इसी क्रम में राम के नामकरण पर भी विचार कीजिए। जब भगवान राम इत्यादि का जन्म हो गया तो दशरथ हर्षोल्लास के साथ गुरु वशिष्ठ के पास पहुँचे कि इनका नामकरण किया जाय। वशिष्ठ ने कहा- इनके नाम अनेक और अनन्त हैं, गिने नहीं जा सकते किन्तु व्यवहार में सम्बोधन

के लिए उन्होंने चारों पुत्रों का क्रमश नाम दिया और यह भी कहा कि ये साधारण पुत्र नहीं हैं वल्कि वेद के तत्त्व हैं--

धरे नाम गुरु हृदय विचारी। वेद तत्व नृप तव सुत चारी। (मानस, १/१९७/१)

हृदय में विचार करके वशिष्ठ ने नाम रखा और अन्त में निर्णय दिया कि राजन्! ये साधारण पुरुष नहीं हैं। ये चारों सुत वेद के तत्त्व हैं। परमतत्त्व, जो विदित नहीं है, उसको भी विदित करा देनेवाला वेद है, उसके तत्त्व हैं। अब चारो भाइयों का नाम देखे--

विश्व भरण-पोषण कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।। (मानस, १/१९६/७)

जो विश्व के भरण-पोषण की क्षमता रखते हैं, उनका नाम भरत है। चारों भाइयों में भरण-पोषण की क्षमता यदि किसी में थी तो भरत में थी, इसीलिए उनका नाम भरत पडा। किन्तु कार्यक्षेत्र में वैसा लक्षण नहीं पाया जाता, जैसा वशिष्ठ जी ने कहा। जव माता कैकयी के आदेश से राम वनवास के लिए चले गये तो विलखते हुए भरत राम के पीछे चित्रकूट पहुँचे। लोगों ने भरत से राज्य करने का आग्रह किया किन्तु भरत ने उसे नहीं स्वीकारा। राम ने कहा- अच्छा, कम से कम चौदह वर्षो तक ही प्रजा का पालन-पोषण करो, किन्तु भरत खडाऊँ पर भार छोडकर नदिग्राम में एक कन्दरा में जाकर वैठ गये। चौदह वर्षों तक वाहर ही नहीं निकले। विश्व-पोषण तो गया भाड मे, मात्र अयोध्या के भरण-पोषण का जहॉ प्रश्न आया, भरत कदरा में बैठ गये, उलटकर देखा तक नहीं। सयोग से मत्री अच्छे और स्वामिभक्त थे अत· व्यवस्था चलती रह गई। किन्तु नामकरण जिस विशेष गुण के आधार पर हुआ था, व्यवहार मे वैसा नहीं पाया गया। दूसरे पुत्र का नामकरण देखे-

जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम शत्रुहन वेद प्रकासा।। (मानस, १/१९६/८)

शत्रुओ का नाश करने की क्षमता थी तो एकमात्र शत्रुघ्न में थी। उनके स्मरण मात्र से ही शत्रुओं का नाश हो जाता है इसलिए तो उनका नाम शत्रुघ्न पडा। लेकिन 'मानस' के अवलोकन से ज्ञात होता है कि राम लडे, लक्ष्मण लडे, आवश्यकता पडने पर भरत ने भी एक बाण हनुमान को मारा, लेकिन शत्रुघ्न ने तो एक चूहिया तक नहीं मारी। जबकि नामकरण मे, चारो भाइयो मे शत्रु-दमन की क्षमता थी तो एकमात्र शत्रुघ्न मे थी। हॉ, कुबरी को शत्रुघ्न ने लात अवश्य मारा था क्योंकि वह वेचारी घूमकर मुक्का भी नहीं चला सकती थी। शत्रुघ्न ने देखा कि वह कुछ कर नहीं पायेगी फिर भी एक लात पीछे से लगाया, तभी तो कुबड पर लगा। यही उनका पराक्रम था, किन्तु कार्यक्षेत्र में ऐसा पाया नहीं जाता। इसी प्रकार लक्ष्मण के नामकरण का आधार देखे--

लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
गुरु वसिष्ठ तेहिं राखा, लछिमन नाम उदार।। (मानस, १/१९७)

जो लक्षणों के धाम हैं, जगत् के आधार हैं, राम के प्रिय हैं, गुरु वशिष्ठ ने उनका नाम लक्ष्मण रखा। वे शुभ लक्षणों के धाम थे। एक भी दुर्गुण नहीं था उनमे, इसीलिए लक्ष्मण कहलाये। जवकि लक्ष्मण महान क्रोधी थे। क्रोध एक दुर्गुण है। यद्यपि भरत सहृदयता के साथ राम को मनाने जा रहे थे, किन्तु लक्ष्मण उन्हें आते देखकर धनुष उठाकर छलॉग भरने लगे। लक्ष्मण का क्रोधी स्वभाव प्रसिद्ध है। धनुर्भग, वनवास, किष्किन्धा, लका सर्वत्र उनका यह स्वरूप दिखायी देता है फिर

भी वे लक्षणो के धाम कहे गये। जव सीता चोरी चली गई तो "लछिमनहू यह मरम न जाना" केवट मर्म जान गया था किन्तु 'लच्छन धाम' नहीं जान सके। युद्ध में मेघनाद से सामना होने पर, यह जानते हुए भी कि शत्रु कमजोर नहीं है उसका प्रवल शस्त्र सामने से चला आ रहा है, लक्ष्मण सीना तानकर मूर्च्छित हो जाते है। लक्ष्मण ऍडे अवश्य हैं, लेकिन जहॉ तक लक्षण का प्रश्न हे, वे कोरे दीखते है। लक्षण तो तब होता जव वे शत्रु के इरादों को पहले ही भॉप जाते। **"कहेउ न तात लखन लरिकाई"** साथ-साथ पैदा हुए किन्तु राम के और उनके स्वभाव में कितना अन्तर था। चारों भाइयों मे सम्पूर्ण शुभ गुण लक्ष्मण मे थे किन्तु व्यवहार में वैसा नहीं पाया जाता। अव, राम के नामकरण पर दृष्टिपात् करे-

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी।। (मानस, १/१९६/५)

वे आनन्द के समुद्र है, सुख की राशि हैं, अपनी एक बूँद से त्रैलोक्य को सुपास प्रदान करने वाले है--

सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक विश्रामा। (मानस, १/१९६/६)

वे सुख के धाम है, इसलिये उनका नाम राम है। वे सम्पूर्ण लोकों को विश्राम प्रदान करने वाले हैं। राम आनन्द के समुद्र, सुख के धाम तो थे जिन्हें दु:ख स्पर्श ही नहीं करता था लेकिन यदि राम का जीवनवृत्त देखा जाय तो वे सुख-शान्ति से कभी नहीं रहे। बचपन में ही उन्हें विश्वामित्र ले गये। ले जाकर ताडका से लड़ा दिया। इसके उपरान्त शादी-विवाह हुआ, कुछ सफलता मिली, राजपाट के सुख का समय आया तो मन्थरा गले पड गयी। राम को राज्य की जगह चौदह वर्ष का वनवास मिला। वनवास मे किसी तरह समय काट रहे थे कि सीता चोरी चली गयी फिर तो "हाय मृगलोचनी! हाय गजगामिनी! हाय सीते! मुझे छोडकर कहॉ चली गई।" **'लता-तरु पाती'** से पूछते-बिलखते रहे। नारद को उनकी दशा देखकर महान पश्चाताप हो रहा था कि मेरे शाप के कारण राम दु:खों का बोझ सहन कर रहे हैं। यह बात अलग है कि राम ने हॅसते हुए दु:ख झेला, किन्तु थे तो दु:ख ही।

राम ने सेना का सगठन किया, रावण को जीता। सीता सहित अवध के सिहासन पर आसीन हुए तो एक धोवी ने फॉसी दे दिया। सयोग से धोबी की पत्नी रात भर किसी के यहॉ उत्सव के कारण रुक गई। धोबी वोला- मैं राम नहीं हूॅ जो दूसरों के घर रहनेवाली स्त्री को पुन: अपना लूँ। राम ने ऐसा सुना तो लोकरजन के लिए सीता का परित्याग करके असह्य दु:ख झेला, यद्यपि सीता की निर्दोषिता प्रमाणित थी। वाल्मीकि और लवकुश के प्रयास से जब जनता ने सीता को निर्दोष मान लिया और राम ने सीता से अयोध्या वापस चलने का आग्रह किया तो सीता अॅगूठा दिखाकर पृथ्वी में समा गयीं। राम के दु:ख की क्या कोई सीमा थी? अन्त मे एक वात पर लक्ष्मण सरयू में प्रविष्ट हो गये। राम को इतना कष्ट हुआ कि वे भी सरयू में कूद पडे। जिसका जीवन ही दु:ख से भरा पडा हो, वशिष्ठ उसे कहते है-- **"सो सुख धाम"** जिन्हें दु:ख स्पर्श ही नहीं करता, उनका **"राम अस नामा। अखिल लोकदायक विश्रामा।"** वे ही सम्पूर्ण लोकों के विश्रामदाता हैं।

इस प्रकार जैसा नामकरण किया गया, वैसा कार्यक्षेत्र में पाया नहीं जाता। क्या वशिष्ठ जी

ने दक्षिणा के लिए ऐसी प्रशस्ति कर दी अथवा तुलसीदास जी झूठ लिखने थे? नहीं, मानस अक्षरश सत्य है, एक भी चौपाई गलत नहीं है। लेकिन "वस्तु कहीं ढूढ़े कहीं, कैसे पावे ताहि" वह वस्तुस्थिति ही कहीं अन्यत्र है। देखिये, प्रत्येक शास्त्र का निर्माण दो दृष्टियों से होता है- एक तो ऐतिहासिक घटना-क्रम जीवित रखना और दूसरे उस घटित घटना के माध्यम से आध्यात्मिक प्रक्रिया द्वारा परमतत्त्व तक की दूरी तय करा देना। ऐतिहासिक घटनाओ से हम मर्यादित जीवन की प्रेरणा ग्रहण करते हैं। किन्तु कुशलतापूर्वक जी-खा लेने मात्र से मनुष्य का कल्याण नहीं हो जाता। अत ससार में जब तक रहें तब तक शिष्टजन अनुमोदित विधि से जीवन-यापन करें इस दृष्टि से ऐतिहासिक घटनाओं को जीवित रखा जाता है। साथ ही, इस प्रकार जीते-खाते समझ-बूझ काम करने लगे तब उस परम प्रभु के अक में प्रवेश पाने के लिये आध्यात्मिक विद्या का सृजन मनीषियो ने किया। घटना हुई न होती तो दृष्टान्त कहाँ से बनते? उसी घटना को माध्यम बना कर ऋषियो ने उस आध्यात्मिक सघर्ष का विस्तार से वर्णन किया, जिनका परिणाम परमशान्ति और परमतत्त्व है। रामचरित मानस में भी इन्हीं वस्तुओ को छिपाकर लिखा गया है। मानस को मात्र इतिहास मान लेना भयकर भूल होगी।

'रामचरित' का अर्थ है राम का चरित्र। तो क्या शरीर में या भूखण्डो मे जो राम हुए थे, तुलसीदास उनका चरित्र लिखने जा रहे हैं। गोस्वामी जी कहते हैं नहीं, अपितु 'मानस' लिख रहे हैं। मानस मन को, अन्त करण को कहते हैं। अत रामचरितमानस का तात्पर्य राम के उस चरित्र से है जो मन के अन्तराल में प्रसारित है। हैं तो सब में किन्तु दिखाई नहीं देते। यहाँ तो रात-दिन काम का चरित्र, लोभ का चरित्र, मोह और छल-छद्म का चरित्र ही दिखायी देता है। राम के चरित्र तो मन मे दिखाई ही नहीं देते। है सब मे। वे जिस प्रकार मन में जागृत होते है और जागृत होकर राम तक ही दूरी तय कराते हैं वहाँ तक का साधन-क्रम इस मानस में अकित है।

याद रखें, जो पुस्तक के शीर्षक में होता है, उसी का पट-प्रसार, उसी का विस्तार पक्तियो में हुआ करता है। रामचरितमानस का आशय राम के उस चरित्र से है जो मन के अतराल मे प्रसारित है। प्रश्न उठता है कि किस प्रकार प्रसारित है? अन्त करण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन है। एक आसुरी सम्पद्, दूसरी दैवी सम्पद्। आसुरी सम्पत्ति अधोगति एव नीच योनियो मे फेंकनेवाली है ओर दैवी सम्पद् परम कल्याण करनेवाली होती है। 'विनयपत्रिका' मे तुलसीदास जी कहते है **"वपुप ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग, रचित मन दनुज मय-रूप धारी ।।५८।।** यह शरीर ही सुव्यवस्थित ब्रह्माण्ड है, जिसमें 'प्रवृत्ति लका'- मायिक प्रवृत्ति, शारीरिक अनुरक्ति ही लका है। तुलसीदास जी रोचक कहते-कहते कहीं-कहीं यथार्थ का भी सकेत करते चलते है। मनरूपी मय दानव ने इस प्रवृत्तिरूपी लका का निर्माण किया है, जिसमे--

मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदरदुष्ट, क्रोध पापिष्ठ-विबुधान्तकारी।। (विनयपत्रिका, ५८)

मोह ही रावण है जो "सकल व्याधिन्ह कर मूला" है, इसीलिए राजा है। इस लका में क्रोधरूपी कुभकर्ण, लोभरूपी नारान्तक, अहकाररूपी अहिरावण, प्रकृतिरूपी सूर्पनखा है और इन्हीं के बीच जीवरूपी विभीषण है जो है तो दुष्टों के बीच, मोह इसका सगा भाई है, किन्तु

दृष्टि सदेव राम पर रहती है। जीवात्मा वास्तव मे मोह के कारण फँसा है। मोह के सयोग से ही तो इसका नाम जीव पडा। यह जीव अपने परिवार, वाल-वच्चों के भरण-पोपण इत्यादि की चिन्ता मे रहता है लेकिन साथ ही इसकी दृष्टि परमात्म तत्त्व पर भी रहती है। अभी आश्रम में एक अमेरिकन सज्जन आये थे। हमने पूछा कि इतने व्यस्त अमेरिका में भी क्या लोग भगवान को मानते हे? वह वोले-"यह तो 'नेचुरल' है। न मानने का प्रश्न ही खडा नहीं होता। हॉ, यह वात अलग है कि हम लोग यह नहीं जानते कि किस रास्ते से उन्हें ढूँढा जाय? इसीलिए तो भारत आये है।"

इसी प्रकार यह आसुरी सम्पद् क्रमश· चलकर असख्य अधोमुखी प्रवृत्तियों का कारण वनती है। युद्ध मे सवके मिटने के वाद रावण जव दुर्ग से निकला तो उसके साथ असख्य सेना थी। सब तो मर गये थे, यह अगणित सेना अभी शेप ही थी। लेकिन है कुछ ऐसा ही। मोहरूपी रावण वह सम्पूर्ण व्याधियो का मूल है। यदि मूल जीवित है तो शाखाओं और पत्तियों का पुन· हरा-भरा हो जाना स्वाभाविक है। उस मूल में सभी प्रसुप्त हैं समय पाकर उभडेंगे इसीलिये सभी जीवित माने जाते है।

दूसरी ओर यह शरीर ही अवध है। इसमें अवध्य स्थिति का सचार है, इसलिये यह अवध कहलाता है। जिसमे दस इन्द्रियो का निरोध ही दशरथ है। इसमें भक्तिरूपी कौशल्या, कर्मरूपी कैकेयी, सुमतिरूपी सुमित्रा, मलिन मति मथरा और ज्ञानरूपी वशिष्ठ हैं। खाना-पीना, उठना-बैठना सव ज्ञान से ही होता है, क्या यही ज्ञान? जी नहीं, **'वश इष्ट सः वशिष्ठ'**- इष्ट को वश में करनेवाली जानकारी ही वशिष्ठ है। यही जानकारी ही सच्चा ज्ञान है। तो भला वह कौन-सी युक्ति-विशेष है जिससे वह इष्ट वश में होता है? वह है श्वासरूपी श्रृगी ऋषि। श्रृंगी ऋषि ने यज्ञ किया। "यज्ञाना जपयज्ञोऽस्मि"- जप ही यज्ञ है। श्वास-प्रश्वास का यजन ही यज्ञ है, हृदय की विमलता ही हवि है। जहॉ ऐसा यज्ञ हुआ तहॉ भक्तिरूपी कौशल्या की गोद में विज्ञानरूपी राम प्रकट हो जाते हैं। अनुभवी सूत्रपात् होने लगता है। साथ ही विवेकरूपी लक्ष्मण, भावरूपी भरत, सत्सगरूपी शत्रुघ्न का प्रादुर्भाव हो जाता है। साधक के हृदय में जब ये अनहोनी वस्तुएँ जागृत होती है तो उसका विश्वास दृढ हो जाता है इसीलिए विश्वासरूपी विश्वामित्र का आगमन होता है।

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहीं प्रीती।। (मानस, ७/८८/७)

जब तक वह जानने मे नहीं आता तब तक विश्वास नहीं होता और बिना विश्वास हुए प्रीति नहीं होती, हार्दिक लगाव नहीं होता--

प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जलकै चिकनाई।। (मानस, ७/८८/८)

विना प्रीति के भक्ति दृढ नहीं होती। भक्त तो सभी बनते हैं किन्तु वह भक्ति ऐसी ही होती है जैसे जल की चिकनाई। पूरब की हवा चली तो पश्चिम के कोने में चिकनाई इकट्ठी हो गयी और दक्षिण की हवा चली तो चिकनाई उत्तर चली जाती है। सग-दोषरूपी वायु कभी-कभी न रहने से वह जल पर छायी हुई दिखाई देती है लेकिन यह क्षणिक है। जहॉ कुसग मिला तहॉ सारी भक्ति किनारे चली जाती है। जव साधक में अनुभव, भाव, विवेक, सत्सग का सूत्रपात् होने लगता है तभी

इष्ट की सर्वव्यापकता में विश्वास होता है। लोग कहते हैं विश्वास करो, किन्तु करे भी तो कैसे? ऑख मूदकर विश्वास करोगे तो अन्धविश्वास होगा। जब अनुभवी सूत्रपात् मिलने लगता है तहॉ 'विश्वासरूपी विश्वामित्र' विश्वास का होना स्वाभाविक है। तब विश्वास के साथ उसी यज्ञ को करने लगे। यज्ञ कोई दूसरा नहीं है। उसी यज्ञ को करने लगे जो पहले करते थे किन्तु अब विश्वास के साथ कर रहे हैं, विश्वामित्र भी साथ ही है। तहॉ तर्करूपी ताडका, स्वभावरूपी सुबाहु, स्वभाव में मैलरूपी मारीच विघ्न डालते हैं किन्तु अनुभव से, विज्ञानरूपी राम द्वारा शान्त हो जाते हैं। फिर "अवध हृदय लय स अहिल्या" की गति प्राप्त होती है।

यहाँ से दैवी सम्पत्ति का प्रारभ है। क्रमश चलकर दैवी गुण भी अनन्त हो जाते है। दैवी सम्पद् का तात्पर्य ब्रह्म आचरण की प्रवृत्ति है--

बानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरख जो करन चह लेखा।। (मानस, ४/२१/१)

भगवान शकर कहते हैं- उमा, मैंने वानर कटक देखा। वह निपट मूर्ख है जो उसकी गणना करना चाहता है। आज चार अरव ही विश्व की जनसख्या है फिर भी खाद्य-समस्या विश्वस्तर पर वनी ही हुई है। उस समय भगवान शकर के शव्दों में असख्य वानर थे। वे बुद्धिहीन है जो गणना करना चाहते हैं। स्पष्ट है कि यह सेना भी सद्‌गुणों की है जो मन के अतराल में ही है। ब्रह्म आचरणमयी प्रवृत्ति ही वानरी सेना है इसीलिये जब गुरु वशिष्ठ ने नामकरण किया तो स्पष्ट वताया कि मानस के राम हैं। उन्होंने कहा-

विश्व भरण पोषण कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।।

भाव ही भरत है। "भावे विद्यते देवा"- भाव में वह शक्ति है कि परमदेव परमात्मा तक विदित हो जाता है। **"भाव वस्य भगवान, सुख निधान करुना अयन"**, भगवान अन्य किसी युक्ति से वश में नहीं होते। एकमात्र भाव से ही भगवान वश में होते हैं, जो सुख के निधान और करुणा के धाम है। अत भावरूपी भरत। विश्व मे किसी ने किसी का भरण-पोषण किया है, पूर्ण तृप्ति प्रदान की है तो एकमात्र भाव से। जिन-जिन के हृदय मे भाव हार्दिक लगाव जागृत हुआ है, इष्ट से सीधा सम्वन्ध जुड़ा है। मनुष्य अपूर्ण है। भौतिक वस्तुओं से, रुपयो-पैसो से मनुष्य पूर्ण नहीं वन जाता। वह तो जव भी पूर्ण होगा, आत्मदर्शन से ही होगा और उस आत्मदर्शन की एकमात्र क्षमता भाव मे ही संभव है। इन आत्माओं को कभी भी तृप्ति मिली है तो ईश्वर-दर्शन से ही मिली है और वह ईश्वर भाव के वश मे है इसलिये भाव ही भरत है। भाव में ही वह क्षमता है जो इन आत्माओं को विश्व में पूर्ण तृप्ति कर दे इसीलिये उसका नाम भरत पडा। ऐसा नहीं कि आजकल के नेताओं की तरह भरत जनता का पेट भरते। आज तो जिसके पास वैल थे, ट्रैक्टर आ गया है; लेकिन पेट नहीं भरता। उसे दस वसें दे दी जाएँ, पेट खाली ही रहता है। 'विडला' की फैक्टरिया मिल जाय, किन्तु तृष्णा तब भी कम नहीं होगी। हॉ, शोषण की भावनाएँ अवश्य वढती जाती हैं। कव किसको तृप्ति मिली? महावीर, बुद्ध को राज्य भी तृप्ति नहीं दे सका। जव कभी किसी को तृप्ति मिली है तो परमात्मा के अक में ही मिली है, वही यथार्थ भरण और पूर्ण पोषण है। वह पोषण कैसे मिलेगा?- भाव के द्वारा। अत भाव ही भरत है। यह वेद का है अर्थात् जो तत्त्व विदित नहीं है, अलख-अदृश्य-अव्यक्त है उसे विदित करा देनेवाला

भरत, न कि कोई हाड, मास और चमडी का भरत रहा होगा।

तदनन्तर शत्रुघ्न का नामकरण करते हैं--

जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम शत्रुहन वेद प्रकासा।।

जिनके सुमिरन से शत्रुओं का नाश होता है, उनका नाम शत्रुघ्न है, 'वेद प्रकासा'-वेदों का ऐसा निर्णय है। गुरु वशिष्ठ ने उसी निर्णय पर विश्वास किया और स्वय भी वही निर्णय दिया। वेद और महर्षि दोनों का मत एक है कि शत्रुघ्न के सुमिरन का विधान है। इतना होते हुए भी शत्रुघ्न का सुमिरन कोई नहीं करता। इस वेदाज्ञा और सद्गुरु आज्ञा पर चलनेवाला कोई दिखायी नहीं देता। सुमिरन तो सभी राम का ही करते हैं। 'शत्रुघ्न-शत्रुघ्न' जपनेवाला आज तक दिखायी ही नहीं दिया। आपने कहीं सुना है? नहीं, यह है मानस का सत्सगरूपी शत्रुघ्न।

सत्सग दो प्रकार का होता है। एक सत्सग तो वह है जो वाणी से किया जाता है, जो सुनने में आता है, जैसा आप सत्पुरुषो की सभाओं में सुनते हैं। दूसरा सत्संग क्रियात्मक है। वस्तुत सत् की सगति ही सत्सग है, यथा- **सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत पसार।**

नित्यानित्य विवेकिया, लीजे बात विचार।।

सत्य और शाश्वत तो वह आत्मा ही है, उसका संग ही सत्सग है। यह सत्सग ध्यान, समाधि, चितन, भजन के द्वारा होता है। यह अतरग सत्सग केवल मन से होता है इसलिए सुमिरन से ही सत्य की सगति सभव है। मन सब ओर से सिमटकर उस आत्म-चितन में रत हो जाय, श्वास की सगत करने लगे, उस आत्मा के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने लगे, बस उसी दिन से सत्य की सगति-- सत्सग का प्रारभ हो जाता है। चितन ज्यों-ज्यों सूक्ष्म होता जायेगा, मन सब ओर से सिमटकर इष्ट मे केन्द्रित होता जायेगा, त्यों-त्यों शत्रुओं का नाश होता जायेगा। मन का सुमिरन और इष्ट जब तद्रूप हो जाते है तब मायिक शत्रुओं का उन्मूलन हो जाता है। अजेय शत्रु तो हमारे भीतर ही हैं- **"महा अजय ससार रिपु जीति सके सो वीर।।"** (मानस ७/८० क) काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि वास्तविक शत्रुओं को महापुरुषों ने शोध निकाला है। बाहरी लडाई तो मोह का द्वन्द्व मात्र है--

जलचर वृन्द जाल अंतर्गत, होत सिमिट एक पासा।
एकहि एक खात लालच वश, नहिं जानत निज नासा।। (विनय०, ९२)

वास्तव में चराचर के शत्रुओं का उन्मूलन, मोहरूपी रावण इत्यादि सम्पूर्ण शत्रुओं का समूल नाश सत्सग के माध्यम से ही हुआ है। राम तो अनुभव से सूचित करनेवाले यंत्र का नाम मात्र है। सुमिरन और चितन से ही मायिक शत्रुओं के नाश का विधान है। सुमिरन-चितन पर ही सत्सग का उतार-चढ़ाव निर्भर है इसीलिए सत्सगरूपी शत्रुघ्न। **"जाके सुमिरन ते रिपु नासा"**- जिसके स्मरण से काम, क्रोध, मोहादि शत्रुओं का शमन हो जाता है- **"नाम शत्रुहन वेद प्रकासा"**- उसका नाम शत्रुघ्न है। राजन्! यह वेद तत्त्व है, जो परमात्मा विदित नहीं है उसको विदित करा देनेवाला तत्त्व है, न कि पॉच भौतिक पिण्डधारी कोई शत्रुघ्न थे। इसी प्रकार--

लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
गुरु वशिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार।। (मानस, १/१९७)

जो सम्पूर्ण लक्षणों के धाम हैं राम के प्रिय हैं; "सकल जगत आधार। गुरु वशिष्ठ तेहिं राखा, लछिमन नाम उदार।।" विवेकरूपी लक्ष्मण! सत्य क्या है? असत्य क्या है? इसकी जानकारी और जानकारी के पश्चात् सत्य पर आरूढ़ रहने की क्षमता का नाम विवेक है। सत्य और शाश्वत तो एकमात्र ईश्वर है; आत्मा है। उस पर आरूढ़ होने की क्षमता जिसमें आ गई, वही लक्ष्मण है, वही लक्षणों का धाम है-

दच्छ सकल लच्छन युत सोई। जाके पद सरोज रति होई।। (७/४८/८)

उल्लेखनीय है कि उत्तरकाण्ड का यह निर्णय भी वशिष्ठ जी का ही है। वही लक्षणो का धाम है, वही राम का प्रिय है। सत्य वस्तु आत्मा पर ही जिसकी दृष्टि होती है, भगवान को वही प्रिय होता है--

पुरुष नपुसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्वभाव भज कपट तजि, मोहिं परम प्रिय सोइ।। (मानस, ७/८७ क)

पुरुष हो, नपुसक हो, नारी अथवा नर हो, कपट का त्याग करके सर्वतोभावेन जो भी मुझे भजता है, वही मुझे परमप्रिय है। इस प्रकार परमसत्य परमात्मा की ओर अग्रसर रहने की क्षमता का नाम ही 'लक्ष्मण' है, 'विवेक' है। जिसमें यह क्षमता होगी, वही राम को प्रिय होगा, वही सकल जगत् का आधार है। इष्ट या लक्ष्य का मनन ही लक्ष्मण है। मनन करते-करते मन इष्ट के तद्रूप होकर ईश्वरमयी स्थिति प्राप्त कर लेता है जो सम्पूर्ण जगत् का आधार है। राजन्! यह अविदित परब्रह्म को विदित करा देनेवाला तत्त्व है, लक्षण है, न कि कोई व्यक्ति विशेष!

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी।। (मानस, १/१९६/५)

जो आनन्द के समुद्र हैं, सुख की राशि है, अपनी एक बूँद से त्रैलोक्य को सुपास प्रदान करने वाले हैं, वे राम हैं। कभी-कभी साधक घवडाने लगता है, वहाँ भगवान एक बूद फेक देते हैं। कहते है तुम चिन्ता न करो, तुम्हे मुक्ति दे देंगे। वस एक बूद मिला यद्यपि मुक्ति अभी अलग है किन्तु मात्र इतने आश्वासन से, जो राम द्वारा मिलता है, साधक त्रैलोक्य में सुपास पा जाता है, उसे भय नहीं रह जाता। वह पुन साधना में लग जाता है। फिर घवराहट हुई तो वोल देते हैं, "तुम्हारी साधना ठीक है, वस थोडी-सी वृत्ति रुकी हुई है।" सन्तोप प्रदान कर दिया, एक बूद दे दिया। इसी प्रकार अलौकिक अनुभूतियों के द्वारा, अग-स्पन्दन के द्वारा, ध्यानजनित दृश्यों के द्वारा, स्वप्न के द्वारा, आकाशवाणी के द्वारा ईश्वरीय सकेत का नाम 'राम' है। यह राम के अनुभूति की प्रारंभिक अवस्था है। राम विना मुह के वोलते हैं ध्यान में वोलते हैं, हृदय एव मस्तिष्क में वोलते है, मन में वोलते हैं- उस वोली का नाम राम है। वह विना पैरों के चलते हैं, साधक के साथ-साथ चलते हैं, उनका नाम राम है। वह विज्ञान, अनुभवी उपलब्धि ही राम है। 'भव' कहते हैं संसार को और 'अनु' अतीत को कहते हैं अर्थात् भव से वाहर करनेवाली जागृति-विशेष (अनुभव) का नाम ही राम है। वह है उस परमात्मा की आवाज का हृदय में प्रस्फुटन! वह संदेश भीतर सुनाई पड़ता है, दिखायी पड़ता है। इष्ट जब साधक की आत्मा से अभिन्न होकर जागृत हो जायँ, हृदय में दिखाई पड़ने लगें, पथ प्रदर्शन करने लगें, वही राम है। वह स्वयं 'आनन्द सिन्धु' और 'सुखरासी' है। "सीकर ते त्रैलोक सुपासी" एक बूंद भी जिन साधक को देते हैं उन्हें ...

मे सुपास दे देता है, निर्भय वना देता है। "सो सुख धाम राम अस नामा।" वह सुख का धाम है उसका नाम राम है। 'अखिल लोक दायक विश्रामा' सम्पूर्ण लोक को विश्राम देनेवाला वही एक स्थल है। यही अनुभव चलते-चलते जव ईश्वर के समीप की अवस्था आ जाती है तो अनुभवगम्य स्थिति ही मिल जाती है। यह अनुभव साधक भक्त को अपने में विलय कर लेता है। यजनपूर्ण स्वर की सरयू है। राम सरयू में विलीन हो जाते हैं। राम कहीं चले नहीं जाते वल्कि श्वासरूपी सरयू मे प्रविष्ट हो जाते हैं, हर श्वास के साथ रहते है। अवधवासी भी, साथ ही, सरयू में लीन हो जाते हैं अर्थात् अवध्य स्थिति, अजर-अमर, शाश्वत स्वरूप साधक को प्राप्त हो जाता है। यही राम की पराकाष्ठा है।

प्रकृति मे स्थित जीवात्मा प्रकृति से परे परमात्मा में लय हो जाय, उससे मिल जाय यही तो 'योग' है। एक में मिलने का नाम 'योग' है। दूध में जल मिल जाता है, शरीर से वस्त्र मिल जाता है, टार्च आपके हाथ से मिलती है यह योग नहीं है। यह तो मैटर-क्षेत्र की वस्तुऍ ही परस्पर टकरा रही हैं। पदार्थ पदार्थ से टकरा रहा है। योग तो दो भिन्न तत्त्वों का होता है। प्रकृति में स्थित जीवात्मा क्रमश उत्थान करते-करते प्रकृति से भिन्न परमात्मा से मेल कर ले, वही योग है। प्रकृति नश्वर है, पुरुष शाश्वत है। दोनो दो भिन्न तत्त्व हैं। उनके मिलन और विलय का नाम 'योग' है। मिलन के साथ-साथ प्रकृति, जो कमजोर है, विलय हो जाती है और जो शाश्वत है वही शेष बचा रहता है। यही 'योगरूपी जनकपुर' है।

योगरूपी जनकपुर मे ध्यानरूपी धनुष है। चित्तचढरूपी चाप है। चित्त के चाचल्य को तोडना ही चाप का तोडना है। जिस चित्त की चचलता टूट जाती है ध्यान उसी से होता है-

नाथ शंभु धनु भंजनिहारा। होइहिं कोउ एक दास तुम्हारा।। (मानस, १/२७०/१)

भगवन्! वह स्वयभू धनु, स्वय को उपलब्ध करानेवाला ध्यान, उस ध्यान में आनेवाली चचलता को समाप्त करनेवाला विरला ही कोई आपका दास होगा। किसका दास? किसने पूछा था? एक महापुरुष ने पूछा था कि किसने तोडा, तो "होइहि कोउ एक दास तुम्हारा।" चित्त चढरूपी चाप--जव चित्त के चाचल्य का क्रम टूट जाता है तहॉ वही स्थिति ध्यान में बॅध जाती है। ध्यान की योग्यता आ जाती है। जब चित्त चलायमान ही नहीं तो ध्यान ही तो लगेगा। तुरन्त शक्तिरूपी सीता मिलती है। सीता कौन थी? राम की शक्ति थी। तो शक्तिरूपी सीता! जो अनादि शक्ति है वही अनुभवो (राम) में सचारित हो जाती है। विज्ञानरूपी राम! विज्ञान और अनुभव एक दूसरे के पर्याय हैं। पहले तो अनुभव आते है किन्तु वे क्षीण होते है। चार-छ महीने किसी महापुरुष का साथ करें तो कुछ न कुछ देखने लगेंगे। परन्तु प्रारभ में अनुभव अनियमित होते हैं। जान-बूझकर गलती करने पर अनुभवों का सचार बन्द भी हो जाता है। किन्तु जब चित्त के चाचल्य का निरोध हो जाता है तहॉ शक्तिरूपी सीता मिल जाती है। अनुभवों में शक्ति का सचार हो जाता है। फिर अनुभव में जो कुछ मिलेगा वह अकाट्य होगा। ऐसा अनुभव इष्ट का मौलिक निर्णय होगा।

फिर तो "जागृतिरूपी जयमाला।" साधक जब पहले भजन करने बैठता है तो निद्रा आ जाती है किन्तु चित्त की चचलता टूटने पर, अनुभवों मे शक्तिरूपी सीता का संयोग होने पर निद्रा

का वेग मन्द पड जाता है। वह इस मोहनिशा से सचेत हो जाता है, नींद नहीं आती क्योंकि लक्ष्य आगे दिखायी देने लग जाता है।

इस योगरूपी जनकपुर में भरत को माण्डवी मिली। भाव पहले खडित होता रहता है। आज भाव है तो कल अभाव में परिणित हो जाएगा किन्तु चित्त की चचलता समाप्त होते ही, अनुभवो में गति आ जाने पर माण्डवी मिलती है। पहले जो भाव खडित हो जाता था, वही भाव अब मडित हो जाता है। फिर टूटता नहीं, कभी नहीं टूटता।

विवेकरूपी लक्ष्मण को उनकी शक्ति उर्मिला मिली। पहले विवेक बौद्धिक स्तर पर होता है। क्या सत्य है, क्या असत्य है? बुद्धि के द्वारा विचार कर निर्णय करना पडता है। विचार के द्वारा विवेकी बनना पडता है। किन्तु जब चित्त के चाचल्य की समाप्ति से ध्यान बॅध जाता है तहॉ फिर 'उरमिला' विवेक हृदय से मिलने लगता है। बौद्धिक निर्णय लेने की आवश्यकता शिथिल पड जाती है। सत्य और असत्य का निर्णय इष्ट ही हृदय मे कर देते है।

सत्सगरूपी शत्रुघ्न को उनकी शक्ति 'श्रुति कीर्ति' मिली। सत् का सग सुमिरन से होता है। सुमिरन करते तो सभी हैं किन्तु इष्ट के चरणों मे सुरति नहीं लगती। भजन करते समय शरीर अवश्य बैठा दिखायी देता है, किन्तु मन अन्यत्र भटकता रहता है।

जब तक इष्ट के चरणों मे सुरत न लग जाय, उनका रूप हृदय में धारावाही दिखायी न पडने लगे तब तक सत्सग नहीं होता। योगेश्वर श्रीकृष्ण का निर्देश है कि अर्जुन! काया, ग्रीवा और शिर को एक सीध में रखकर, दृढ होकर नासिका के अग्रभाग को देखता हुआ, अन्य किसी भी ओर न देखता हुआ मुझमें चित्त लगावे और मेरे सिवा कुछ भी न देखे। (गीता, अध्याय ६) प्रारभ में तो ऐसा नहीं होता, किन्तु जब चित्त के चाचल्य का क्रम टूट जाता है तहॉ 'सुरत कृत्य' जो सुरत लगायी जाती थी उसमें कृतार्थता आ जाती है, सफलता मिल जाती है। इसीलिए श्रुतिकीर्ति के बिना शत्रुघ्न अपूर्ण हैं। सत्य की सगति करते-करते जब सत् और सुरत पूर्णत. तद्रूप हो जायेगे तो मायिक विकारों का, चराचर के शुभ-अशुभ सस्कारो का समूलोच्छेद हो जायगा। इस प्रकार भाव, विवेक, सत्सग, विज्ञान सभी एक दूसरे के पूरक है, सहयोगी है। साधना के समस्त सोपानों से क्रमश पार होकर साधक अनुभवगम्य स्थिति ही प्राप्त कर लेता है। सर्वत्र राममयी स्थिति ही हो जाती है। यही राम का वास्तविक स्वरूप है।

प्रश्न- महाराज जी! क्या राम हुए ही नहीं?

उत्तर- राम अवश्य हुए। ऐतिहासिक घटना घटी। वास्तव मे राम एक महापुरुष थे, हुए थे, जिनके द्वारा आदर्श व्यवस्थाओं की स्थापना हुई, इसलिये वे मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाये। बातें अपने स्थान पर सही हैं किन्तु जहॉ तक 'रामचरित मानस' का प्रश्न है, यह है। यह इतिहास मात्र नहीं है। यह लौकिक मर्यादा और पारलौकिक उपलब्धियों समन्वय हे। राम के जीवन-क्रम से हमें सासारिक जीवन की सुव्यवस्थित मर्यादा मिलती 'मानस' में साधना का सागोपाग क्रम भी सुरक्षित है। 'मानस' साधनापरक ग्रन्थ है। लिए चर्मचक्षु नहीं ''मानस चख चाही''- हृदय के नेत्रों की आवश्यकता हे।

ऐतिहासिकता में कोई सन्देह नहीं है। हुए न होते तो दृष्टान्त कहाँ से बनता? आधार कहाँ से मिलता?

प्रश्न- महाराज जी! राम यदि अनुभवगम्य हैं तो जो लोग राम के चित्र का ध्यान करते हैं, उन्हें इष्ट मानकर उनकी मूर्ति पूजते हैं, क्या वह निरर्थक है?

उत्तर- नही, निरर्थक नहीं हे। महापुरुप कोई भी हो, सदेव रहता है। क्योंकि कोई भी महापुरुष जव स्वरूप की उपलब्धि कर लेता हे तो अजर-अमर हो जाता है। आप अत्रि का ध्यान करे, कृष्ण का ध्यान करे अथवा किसी भी महापुरुप का ध्यान करें, वे मिलेगे ओर वर्तमान में जो महापुरुष हैं, उनकी सेवा करने का निर्देश दे देंगे कि वे मेरे ही रूप हैं, उनमें-मुझमें कोई अन्तर नहीं है, उनकी सेवा करो। उन अनुभवी महापुरुप की टूटी-फूटी सेवा से, उनके सान्निध्य एव सत्सग से आपके अन्दर वह चेतना जागृत हो जायगी जिससे आप अपने अन्त करण में परम प्रकाशक राम की अनुभूति प्राप्त करते जायेंगे, स्वय राम वन सकेंगे, अनुभवगम्य स्थिति के होंगे। कृष्ण गीता मे कहते हैं-

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।। (७/२१)

जो-जो भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, जिसकी श्रद्धा जहाँ झुकती है उसी देवता के प्रति उसकी श्रद्धा को मैं स्थिर करता हूँ। मेरे ही विधान से उस देवता द्वारा वह पुरुष इच्छित भोगों को नि सन्देह प्राप्त करता है।

।। ॐ ।।

//

'मानस' में नारी का स्वरूप

प्रश्न- महाराज जी! गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरित मानस' में स्त्रियो को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा है। प्रतीत होता है कि मानस में उन्होंने पुरुष के लिए पक्षपात किया है। इस पर आपके क्या विचार हैं?

उत्तर- पूज्य परमहस महाराज बताते थे- 'हो! एक बार मै हरिद्वार मे हर की पैडी पर बैठा चिन्तन कर रहा था। थोडी ही दूर पर महिलाओं का एक शिविर लगा था। महिलाये वहॉ एकत्र हो रही थीं। समय-समय पर तालियो की गडगडाहट भी सुनायी पड जाती थी। कुतूहलवश हम भी चले गये। मच पर अधेड महिला वता रही थी कि तुलसीदास की रामायण घर मे रखना महिलाओं के लिये अपमानजनक है। कैसा लिख मारा कि **'ढोल गवार शूद्र पशु नारी। ए सब ताड़न के अधिकारी।।'**- हम सब डडों और जूतो के अधिकारी है! ऐसा रामायण घर में रखना भी अपराध है। लिखा है--**"अवगुण आठ सदा उर रहही"** देखो न! ये पुरुष दूध के धोये है, इनमें एक भी अवगुण नहीं और हम लोगों मे आठ अवगुण सदैव रहते है। ऐसी रामायण फूक देनी चाहिए।''- ऐसा कहकर जब वह रामायण को मेज पर पटकती तो वडे जोर की तालिया वजती थीं। उस सभा में स्कूल की छात्राऍ थीं, जो अवोध थीं। महाराज जी ने हम लोगो से वताया--''हो! जब सब उन्हीं लोगों का गोल था तव हम क्या बताते।'' यद्यपि महाराज जी महापुरुष थे, वास्तविकता उनको विरासत मे मिली थी, तथापि उस समय वे विरक्त स्वरूप मे विचरण कर रहे थे। क्या प्रयोजन कि कौन क्या कह रहा है?

इन्हीं चौपाइयों को लेकर रामायण के पन्ने फाडने की घटनाऍ भी यत्र-तत्र सुनने में आती रहती हैं। ससद एव विधानसभाओ मे चर्चा होती है कि रामायण समत्व में बाधक है।

लिखा तो वास्तव में ऐसा ही है, लेकिन शास्त्र कोई विरला ही महापुरुष जानता है और उनके सरक्षण में कोई विरला अधिकारी ही पढता है। सब न पढते हैं, न जानते हैं, क्योंकि पूरी की पूरी रामायण एक साबर मंत्र के रूप में है। कलियुग के भयकर प्रवाह को आते देखकर भगवान शकर ने विचार किया कि अव वेद इत्यादि सस्कृत-गर्भित पुरातन शास्त्रों से जीव का कल्याण सभव नहीं है। तव उन्होंने जगत् के परम कल्याण के लिये एक सावर मन्त्र का सृजन किया।

कलि विलोकि जगहित हर गिरिजा। साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा।।

भगवान शकर ने देखा कि कलियुग मे मनुष्य की स्मृति भ्रमित है, वुद्धि विकल है, वह यथार्थ को सहसा ग्रहण नहीं कर सकेगा। इस तरह की विकृति देखकर भगवान शकर ने जगत् के हित के लिये 'सावर मन्त्र' की रचना की। यह मत्रजाल है कैसा?

अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रकट प्रभाउ महेश प्रतापू।। (१/१४/६)

'अनमिल आखर'- न तो उसमें अक्षरों की सगति वैठती है, न अर्थ का ही विधान है और न उसके जप का ही क्रम है। ऐसा है मत्रजाल! तव तो निरर्थक होना चाहिए! किन्तु निरर्थक नहीं है --**"प्रकट प्रभाउ महेश प्रतापू"** शकर जी के कृपा-प्रसाद से यदि कहीं प्रत्यक्ष

कल्याण कर देने की क्षमता है, तो वह सावर मत्र मे ही है। जिनमें अक्षरों की सगति नहीं बैठती, न अर्थ का विधान हे ओर न जप का ही सिलसिला है। सिद्ध है कि व्याकरण से उस सावर मत्र का कोई सम्वन्ध नहीं हे। भाषा मे यदि बड़ी मात्रा के स्थान पर छोटी मात्रा लग जाय तो परीक्षक लाल लकीर खींच देते हैं, विद्यार्थी अनुत्तीर्ण हो जाते हे। इस सावर मत्र में तो "अनमिल आखर"- अक्षरो की सगति ही नहीं बैठती! अत अक्षरों की सगति बैठानेवाला अथवा भाषा का ज्ञाता, भले वह दस भाषाओ का ज्ञाता ही क्यो न हो, भाषा के वल पर इस 'मानस' को पहचान नहीं सकता।

प्रश्न खडा होता है कि जव कलियुग में सावर मत्र से ही जगत् का कल्याण सम्भव है तो तुलसीदास जी कौन-सी गाथा कहने जा रहे हे? क्या वे इस सावर मत्र से भिन्न कोई नयी कथा कहने जा रहे है? नहीं-

सोइ उमेश मोहिं पर अनुकूला। करहि कथा मुद मंगल मूला।। (१/१४/७)

उसी सावर मत्र के रचयिता भगवान शकर मुझ पर अनुकूल हैं। मैं उसी "मगल मूल सावर मत्र" की रचना करने जा रहा हूँ। अर्थात् यह पूरी की पूरी रामायण एक सावर मत्र के रूप में हे, जिसे भाषा के बल पर पहचाना नहीं जा सकता। इसलिए जो लोग समय-समय पर तर्क-कुतर्क करते हैं वह उनके लिए स्वाभाविक ही है। कुछ न करने से करनेवाला श्रेष्ठ होता है इसी वहाने वे कुछ पढते तो हैं।

जव रामायण का समापन होने लगा तो प्रश्न खडा हुआ कि यह कहा किससे जाय?

यह न कहिअ सठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि।। (७/१२७/३)

यह शठ से नहीं कहना चाहिए, हठधर्मी से नहीं कहना चाहिए। जो मन लगाकर नहीं सुनता उससे भी नहीं कहना चाहिए-

कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि।। (७/१२७/४)

यह लोभी से, क्रोधी से, कामी से नहीं कहना चाहिए। यहाँ तक कि उपर्युक्त विकारों से युक्त इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली नरेश ही क्यों न हो उससे भी नहीं कहना चाहिए-

द्विज द्रोहिहि न सुनाइय कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ।। (७/१२७/५)

भला जो इन्द्र के समान प्रतिभाशाली नरेश होगा तो वह हजारो पण्डित बैठाकर पढ-सुन लेगा जबकि रामायण बाजार मे मिलनेवाली पुस्तक है। फिर उससे न कहने का क्या अभिप्राय है? परन्तु नहीं, इस प्रकार भले ही कोई रामायण पढ ले, कठस्थ कर ले, बाल की खाल निकालकर समझ ले, फिर जो समझने और समझाने वाली वस्तु है उससे वह पुरुष कुछ दूर ही खडा रहेगा। यह मानस है, सावर मत्र के रूप मे है।

कामी, क्रोधी, लोभी, मोही को यह रामायण नहीं कहनी चाहिए। कितने व्यक्तियों में ये विकार नहीं है? क्या आप में नहीं हैं? तो बताइये कहा किससे जाय? क्या हमारे लिए रामायण नहीं है? लेकिन है हमी-आप के लिए! हाँ, इन विकारो में ज्यों-ज्यो न्यूनता आयेगी, त्यों-त्यों रामायण आपकी समझ में ढलती जायगी। इसके लिए तो नितान्त सुलझे हुए, अनुभवी महापुरुष का सान्निध्य ही समझने का एकमात्र माध्यम है और रहेगा। जिनके अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह नहीं है वे ही इसके वास्तविक जानकार होंगे।

यही कारण है कि अबोध लोगो को 'मानस' मे स्त्रियो की निन्दा दृष्टिगोचर होती है। वे 'मानस' के कतिपय प्रसगों का उल्लेख करते हैं, जैसे भरत ननिहाल से लौटकर आये, माता की करतूति पर विचार किया तो बोले-- **भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरनकाल विधि मति हरि लीन्ही।।** राजा ने तुम्हारा विश्वास कैसे कर लिया? नहीं, राजा का दोष नहीं है। ब्रह्मा, जिसने सृष्टि की, वे भी नारी को नहीं जान सके फिर राजा तो धर्म मे रत और सरल स्वभाव के थे। वे भला त्रिया-चरित्र क्या जानते?

विधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी।।
सरल सुशील धरम रत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ।। (२/१६१/५)

आगे कहते है-

काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ।। (२/४७)

ऐसी कौन-सी वस्तु है जो समुद्र मे नहीं समाती? कौन-सी वस्तु है जिसे आग जला नहीं डालती? कौन ऐसा प्राणी है जिसे काल खा नहीं लेता और कौन-सा ऐसा कृत्य है जो अवला नहीं कर डालती? अवला क्यों? वह तो साक्षात् काल है, समुद्र है, अग्नि है! इससे अधिक नारी-निन्दा क्या होगी? अत विचारणीय है कि वह अवला है क्या वला? 'मानस' मे नारी का स्वरूप क्या है?

नारी के लिये अन्यत्र कहते है-

बुधि बल शील सत्य सब मीना। बसी सम तिय कहहि प्रबीना।। (३/४३/८)

बुद्धि, वल, शील और सत्य सभी मछली के तुल्य हैं और त्रिया उस कॅटिया के समान है जिसे वच्चे चारा चिपकाकर पानी मे फेक देते है। जहॉ मछली ने पकडा तहॉ उठाकर वाहर पटक देते हैं। इस प्रकार स्त्री बुद्धि, वल, शील, सत्य इत्यादि के लिए काल ही है। 'मानस' में यहॉ तक लिखा गया है कि भगवत्पथ मे यदि कोई रुकावट है तो केवल नारी ही है, अन्य कोई रुकावट है ही नहीं--

जप तप नेम जलाश्रय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी।। (३/४३/२)

जप, तप, नियम भजन सभी जल के झरने है और नारी प्रवल ग्रीष्म के तुल्य है जो इन सम्पूर्ण झरनों को सूखा डालती है। जप-तप, यम-नियम, चिन्तन इत्यादि भगवत्-पथ के ही माध्यम हैं और यदि इनमें कहीं रुकावट है, सुखा डालने की कोई प्रक्रिया है तो वह एकमात्र नारी ही है। भगवत्-पथ में यदि कोई वाधा है तो केवल नारी!

जव नारी भगवत्-पथ में वाधा है, तो नारी के लिये भजन का विधान नहीं होना चाहिए? नारी रुकावट है तो स्वय भजन क्या करेगी? जो दूसरों को डुवाती है वह स्वय पार क्या जायेगी? किन्तु नहीं, नारी के लिये भी भजन का अधिकार पुरुषों के समान ही हे--

पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्वभाव भज कपट तजि, मोहिं परम प्रिय सोइ।। (७/८७ क)

पुरुष हो, नपुसक हो, नारी अथवा नर हो, हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो- ऐसा नहीं कहा, क्योंकि--

कल्याण कर देने की क्षमता है, तो वह सावर मत्र मे ही है। जिनमें अक्षरों की सगति नहीं बैठती, न अर्थ का विधान है और न जप का ही सिलसिला है। सिद्ध है कि व्याकरण से उस साबर मत्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। भाषा मे यदि वडी मात्रा के स्थान पर छोटी मात्रा लग जाय तो परीक्षक लाल लकीर खींच देते है, विद्यार्थी अनुत्तीर्ण हो जाते है। इस सावर मत्र में तो "अनमिल आखर"- अक्षरो की सगति ही नहीं बैठती। अत अक्षरों की सगति बैठानेवाला अथवा भाषा का ज्ञाता, भले वह दस भाषाओ का ज्ञाता ही क्यो न हो, भाषा के वल पर इस 'मानस' को पहचान नहीं सकता।

प्रश्न खडा होता है कि जव कलियुग में सावर मत्र से ही जगत् का कल्याण सम्भव है तो तुलसीदास जी कौन-सी गाथा कहने जा रहे हैं? क्या वे इस सावर मत्र से भिन्न कोई नयी कथा कहने जा रहे है? नहीं-

सोइ उमेश मोहि पर अनुकूला। करहि कथा मुद मंगल मूला।। (१/१४/७)

उसी सावर मत्र के रचयिता भगवान शकर मुझ पर अनुकूल हैं। मैं उसी "मगल मूल साबर मत्र" की रचना करने जा रहा हूँ। अर्थात् यह पूरी की पूरी रामायण एक सावर मत्र के रूप में है, जिसे भाषा के बल पर पहचाना नहीं जा सकता। इसलिए जो लोग समय-समय पर तर्क-कुतर्क करते है वह उनके लिए स्वाभाविक ही है। कुछ न करने से करनेवाला श्रेष्ठ होता है इसी बहाने वे कुछ पढते तो है।

जव रामायण का समापन होने लगा तो प्रश्न खड़ा हुआ कि यह 'कहा किससे जाय?

यह न कहिअ सठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि।। (७/१२७/३)

यह शठ से नहीं कहना चाहिए, हठधर्मी से नहीं कहना चाहिए। जो मन लगाकर नहीं सुनता उससे भी नहीं कहना चाहिए-

कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि।। (७/१२७/४)

यह लोभी से, क्रोधी से, कामी से नहीं कहना चाहिए। यहॉ तक कि उपर्युक्त विकारों से युक्त इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली नरेश ही क्यो न हो उससे भी नहीं कहना चाहिए-

द्विज द्रोहिहि न सुनाइय कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ।। (७/१२७/५)

भला जो इन्द्र के समान प्रतिभाशाली नरेश होगा तो वह हजारो पण्डित बैठाकर पढ-सुन लेगा जबकि रामायण बाजार मे मिलनेवाली पुस्तक है। फिर उससे न कहने का क्या अभिप्राय है? परन्तु नहीं, इस प्रकार भले ही कोई रामायण पढ ले, कठस्थ कर ले, बाल की खाल निकालकर समझ ले, फिर जो समझने और समझाने वाली वस्तु है उससे वह पुरुष कुछ दूर ही खडा रहेगा। यह मानस है, साबर मत्र के रूप में है।

कामी, क्रोधी, लोभी, मोही को यह रामायण नहीं कहनी चाहिए। कितने व्यक्तियों में ये विकार नहीं है? क्या आप में नहीं हैं? तो बताइये कहा किससे जाय? क्या हमारे लिए रामायण नहीं है? लेकिन है हमी-आप के लिए। हॉ, इन विकारों में ज्यों-ज्यो न्यूनता आयेगी, त्यों-त्यों रामायण आपकी समझ में ढलती जायगी। इसके लिए तो नितान्त सुलझे हुए, अनुभवी महापुरुष का सान्निध्य ही समझने का एकमात्र माध्यम है और रहेगा। जिनके अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह का दवाव नहीं है वे ही इसके वास्तविक जानकार होंगे।

यही कारण है कि अबोध लोगो को 'मानस' मे स्त्रियो की निन्दा दृष्टिगोचर होती है। वे 'मानस' के कतिपय प्रसगो का उल्लेख करते हैं, जैसे भरत ननिहाल से लौटकर आये, माता की करतूति पर विचार किया तो बोले-- **भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरनकाल विधि मति हरि लीन्ही।।** राजा ने तुम्हारा विश्वास कैसे कर लिया? नहीं, राजा का दोष नहीं है। ब्रह्मा, जिसने सृष्टि की, वे भी नारी को नहीं जान सके फिर राजा तो धर्म मे रत और सरल स्वभाव के थे। वे भला त्रिया-चरित्र क्या जानते?

विधिहुं न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी।।
सरल सुशील धरम रत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ।। (२/१६१/५)

आगे कहते है-

काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ।। (२/४७)

ऐसी कौन-सी वस्तु है जो समुद्र मे नहीं समाती? कौन-सी वस्तु है जिसे आग जला नहीं डालती? कौन ऐसा प्राणी है जिसे काल खा नहीं लेता और कौन-सा ऐसा कृत्य है जो अवला नहीं कर डालती? अबला क्यो? वह तो साक्षात् काल है, समुद्र है, अग्नि है। इससे अधिक नारी-निन्दा क्या होगी? अत विचारणीय है कि वह अवला है क्या वला? 'मानस' मे नारी का स्वरूप क्या है?

नारी के लिये अन्यत्र कहते है-

बुधि बल शील सत्य सब मीना। बसी सम तिय कहहि प्रबीना।। (३/४३/८)

बुद्धि, वल, शील और सत्य सभी मछली के तुल्य हैं और त्रिया उस कँटिया के समान है जिसे बच्चे चारा चिपकाकर पानी मे फेक देते है। जहाँ मछली ने पकडा तहाँ उठाकर वाहर पटक देते हैं। इस प्रकार स्त्री बुद्धि, वल, शील, सत्य इत्यादि के लिए काल ही है। 'मानस' मे यहाँ तक लिखा गया है कि भगवत्पथ मे यदि कोई रुकावट है तो केवल नारी ही है, अन्य कोई रुकावट है ही नहीं--

जप तप नेम जलाश्रय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी।। (३/४३/२)

जप, तप, नियम भजन सभी जल के झरने है और नारी प्रवल ग्रीष्म के तुल्य है जो इन सम्पूर्ण झरनो को सूखा डालती है। जप-तप, यम-नियम, चिन्तन इत्यादि भगवत्-पथ के ही माध्यम हैं और यदि इनमें कहीं रुकावट है, सुखा डालने की कोई प्रक्रिया है तो वह एकमात्र नारी ही है। भगवत्-पथ में यदि कोई वाधा है तो केवल नारी।

जव नारी भगवत्-पथ में वाधा है, तो नारी के लिये भजन का विधान नहीं होना चाहिए? नारी रुकावट है तो स्वय भजन क्या करेगी? जो दूसरो को डुवाती है वह स्वय पार क्या जायेगी? किन्तु नहीं, नारी के लिये भी भजन का अधिकार पुरुषों के समान ही है--

पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्वभाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ।। (७/८७ क)

पुरुष हो, नपुसक हो, नारी अथवा नर हो, हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो- ऐसा नहीं कहा, क्योंकि--

अखिल विश्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया।।

सम्पूर्ण विश्व भगवान की रचना है, सब पर समान दया है। इसमें से जो मद-माया का त्याग करके भगवान को भजता है वही उन्हें परमप्रिय है। सम्पूर्ण विश्व का अर्थ क्या भारत होता है? क्या यूरोप होता है? नहीं, सारा जगत्! जगत् का कोई भी पुरुष हो! नपुसक हो, नारी हो अथवा नर हो, सम्पूर्ण भावो से सिमटकर, कपट का त्याग करके जो भजता है, भगवान कहते हैं, वह मुझे परमप्रिय है। प्रिय ही नहीं, परमप्रिय है। इस प्रकार माताओं के लिये भी भजन का उतना ही विधान है जितना पुरुषो के लिये। नारी के लिये पहले तो भजन का विधान नहीं होना चाहिये था क्योंकि वे ही तो साक्षात् बाधा है किन्तु उन महापुरुष के शब्दों में विधान भी समान है तब तो कम से कम नारियो के लिये भजन में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए **"मोह न नारि नारि के रूपा।।"** (७/११५/२) परन्तु बाधा भी समान ही दिखायी पडती है क्योंकि जप-तप नियम स्त्री का हो या पुरुष का, उसे सुखानेवाली नारी ही है। वास्तविकता तो यह है कि स्त्रियों के भजन मे बाधाएँ पुरुषो की अपेक्षा अधिक हैं। पुरुष भजन करता है तो बाधाएँ कुछ कम हैं क्योंकि यदि स्त्रियाँ पुरुष के मार्ग मे बाधक बनती है तो मात्र हाव-भाव से साधक की बुद्धि विकृत करती हैं। जब साधक स्वय विचलित होता है तभी नष्ट हो जाता है किन्तु पुरुषों में बलात्कार का एक दोष अधिक है जो स्त्रियो मे नहीं पाया जाता। बहुत सी अटूट श्रद्धावाली महिलाये इन अभागों के कारण अपने भजन-पथ से च्युत हो जाती हैं। इसीलिये पूर्व मनीषियों ने माताओं के लिये घर में ही रहकर भजन करने का विधान रखा। उन्हें परिवार के सरक्षण में रहकर अनवरत चिन्तन में समय देना चाहिये। बाहर रहकर भी उनके भजन का विधान है किन्तु जब क्षमता आ जाय तभी। जब वे अपने बचाव की क्षमता प्राप्त कर लें तभी उन्हे गृह-त्याग करना उचित है। सीता, नर्वदा, अनुसुइया, मीरा, शबरी इत्यादि ने भगवान को इतना अनुकूल कर लिया था कि उन पर विघ्न आये परन्तु असफल हो गये। मीरा के ऊपर बडे-बडे उपद्रव आये, राणा ने साँप भेजा, विष भेजा, किन्तु एक समय ऐसा आ ही गया कि मीरा ने राणा को ललकार दिया-

राणो जी! मैं तो गिरिधर रंगवा राती।
औरों के पिया परदेश बसत हैं, लिख-लिख भेजत पाती।
म्हारे पिया म्हारे हिये बसत हैं नहि कहु आती-जाती।।

अब तक तो बाधाये पहुँचायी, किन्तु अब भगवान क्षमा नहीं करेंगे। राणा जी ने चरणो में प्रणाम किया और फिर उन्हे कोई कष्ट न दिया। अस्तु, जिस नारी पर गोस्वामी बार-बार बल देते हैं, वे ये नारियाँ नहीं हैं। फिर कौन-सी है?--

काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह के धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि।। (३/४३)

काम, क्रोध, लोभ इत्यादि मोह की धारायें हैं जिसमे अत्यन्त दुखदायी मायारूपी नारि है। माया ही नारी है। स्त्रियाँ भजन करती हैं तो माया ही बाधक है। पुरुष भजन करते हैं तब भी माया ही बाधक है। माया क्या है? इन्द्रियों की विषयमयी तरगें, मनसहित इन्द्रियों का ससार। न कि ससार-सागर में कहीं जल भरा है जिसमे डूब जाओगे। माया तो लम्बी-चौडी है, जो कुछ

दिखायी-सुनायी पडता है माया है, लेकिन हमारे-आपके ऊपर उतना ही प्रभाव डाल पाती है जितना हमारे चित्त की प्रवृत्तियाँ विकृत अथवा उन्नत है। कारण यह है कि माया जिस माध्यम से पुरुष पर आक्रमण करती है वह माध्यम 'चित्त' है। जिस महापुरुष ने इस चित्त की वृत्ति का निरोध कर लिया उनके ऊपर से माया का प्रभाव सदा-सदा के लिये टल गया। माया ने जहाँ पिण्ड छोडा, वे द्रष्टा-स्वरूप मे स्थित हो गये।

इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से 'चित्तवृत्ति' ही नारी है। भजन मे तल्लीन साधक की 'चित्तवृत्ति' जव विषयोन्मुख होती है, सगदोष से साधन छोडकर किसी इन्द्रिय के पीछे बह जाती है, विषय के चिन्तन में डूब जाती है, उस समय-

दीप शिखा सम जुवति तन, मन जन होसि पतंग।। (३/४६ख)

उस क्षण यही चित्तवृत्ति तरुण होती है, दीप-शिखा के समान होती है और निश्चित जला डालती है। आज नहीं, यहाँ नहीं, तो अवसर मिलते ही कहीं ले जाकर पटक देती है- **"श्रृगी की भृंगी करि डारी, पराशर के उदर विदार।।"** जब यह चित्तवृत्ति किसी विषय को लेकर उसी के चिन्तन में सराबोर हो चलती है और भजन का क्रम टूट जाता है तब **'दीप शिखा'**- यह पूर्ण युवा होती है, जला देनेवाली होती है। उस समय न बुद्धि बचेगी, न बल बचेगा, न भजन बचेगा और न योग-युक्ति ही बच पायेगी। **'मन जनि होसि पतग'**- रे मन! तू पतगा न हो जा। काम, क्रोध, मद इत्यादि को छोडकर "करहु सदा सत्सग"- इस दीपशिखा से यदि चित्तवृत्ति को बचाना हे तो सदैव सत्सग करो।

सत्सग दो प्रकार का होता है। एक सत्सग तो वह है जिसे आप महापुरुषों से सुनते हैं। दूसरा सत्सग सूक्ष्म और क्रियात्मक है जो चिन्तन-ध्यान और समाधि के द्वारा सम्पन्न होता है, क्योंकि **'सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत पसार"**- सत्य वस्तु तो आत्मा है, उसका सग ही सत्सग है। सब ओर से चित्त को समेटकर उस आत्मा की सगति करना, उसके साथ कदम से कदम मिलाकर चलना, उस आत्मा के साथ रहना ही वास्तविक सत्सग है। अत सब ओर से चित्त समेटकर उन चरणों में लगाने से ही "दीपशिखा" से रक्षा सभव है।

'दीप शिखा सम जुवति तन'- यदि सांसारिक युवतियों की वात होती तो पिता के सामने प्रथम पुत्री युवती ही होती है। भाई के लिए बहन युवती ही होती है, वह तो कहीं खरोंच नहीं मारती? कितना स्नेह रहता है! कितनी सहृदयता रहती है कि जब तक जीवन है, दोनों का स्नेह समाप्त नहीं होता। प्रथम पुत्र के समय माता भी युवती ही होती है लेकिन वह पुत्र को जला नहीं डालती? वह मातृस्नेह आजीवन रहता है और माँ के मरने पर भी नहीं भूलता। अभी कल-परसों ही एक को बिच्छू ने डक मार दिया। कराह रहा था, "अरे माई रे! अरे माई रे!" एकदम वृद्ध किन्तु माँ का स्नेह आज भी उसके मन में कसक रहा है। इस दृष्टि से युवतियों का तन 'दीपशिखा सम' कहाँ है? वस्तुत चित्तवृत्ति जब किसी विषय की तरग लेकर उसमें ओत-प्रोत हो चलती है तव वह युवा होती है, विकराल रूप धारण कर लेती है और दीप-शिखा के समान मानव (स्त्री-पुरुष दोनों मानव हैं) को पतगे की तरह जला डालने में सक्षम होती है। ऐसी परिस्थिति में इससे वचने के लिए सत्सग ही एकमात्र माध्यम है। गोस्वामी जी जिस नारी से वचने पर वल देते हैं, वह आन्तरिक ही है, वाहर से उनका कोई प्रयोजन नहीं है।

जब तक यह चित्तवृत्ति जीवित है तब तक **"अवगुण आठ सदा उर रहहीं।"** आज कदाचित् मन केन्द्रित लगता है, श्वास का यजन सुचारु रूप से हो रहा हे किन्तु प्रारम्भ में मन की ऊपरी सतह ही केन्द्रित रहती है, भीतर तो सस्कारों की रील (राशि) भरी है। जव भी उन सस्कारों का अभ्युदय होगा, चित्तवृत्ति युवा हो जायेगी। उस समय दु:साहस, असत्य, चचलता, कपट, भय, छल-छद्म, अविवेक, आभ्यातरिक मलिनता और कठोरता इत्यादि विकार चित्तवृत्ति में विद्यमान रहते हैं।

इसी सदर्भ में इस बहुचर्चित चौपाई पर विचार करें-

ढोल गंवार शूद्र पशु नारी। ए सब ताड़न के अधिकारी।। (५/५६/६)

'ताडन के अधिकारी'- लोग इसका आशय लगाते हैं कि सभी डडे के अधिकारी अथवा जूतों के अधिकारी अथवा मारने-पीटने के पात्र हैं। यह एक भ्रान्ति है। 'ताड़न' का तात्पर्य परखने से है। आये दिन लोग कहा करते हैं कि "भाई हम तो पहले ही ताड गये थे कि आज वदली का रुख खराब है, बीज न छिडको।", "हम पहले ही ताड गये थे कि वह क्या कहनेवाला है?" इत्यादि। ढोल 'ताडन' के अधिकार क्षेत्र की वस्तु है।

'ताडन' का अर्थ पीटना मानें तो किसी को दीजिये ढोल, पीटना आरभ करे! आप कहने लगेगे, भाई! रहने दो, दिमाग मत खराब करो। रख दो! प्रचलित अर्थ में वह ताडन ही तो करता है, लेकिन किसी को अच्छा नहीं लगता। किन्तु वास्तविक अर्थों में यदि कोई कलाकार है, ढोल की सम्पूर्ण कलाओं को जिसने ताड लिया है तो 'किटधिन्न, ताता धिन्ना" ताल बढाते-वढाते १६वें ताल तक सबको मुग्ध कर लेगा, समा बॅध जायेगी। इस प्रकार 'ताडन' का आशय जानकारी का होना या विशेषज्ञ होना है।

गॅवार से काम करा लेना, उसे सत्पथ पर चला देना भी सबके वश की बात नहीं है और न तो वह मारने, पीटने से ही वश में किया जा सकता है। सहसा किसी कार्य को करने के लिये वह तैयार ही नहीं होता। यदि आप उससे कहें कि सभ्य आदमियों की तरह क्यों नहीं रहते तो तुरन्त कह देगा कि अपनी सभ्यता अपने पास रखें। परन्तु जो व्यक्ति उनकी गतिविधियों से परिचित है, मनोविज्ञान का विशेषज्ञ है, वह क्रमश उसका उत्थान करते-करते सुयोग्य बना देगा। गॅवारो को ताडना-परखना भी अधिकारी के क्षेत्र की वस्तु है। डाकू अगुलिमाल इतना क्रूर और असभ्य था कि मानव अगुलियो की माला पहनता था किन्तु गौतम बुद्ध से टकराते ही वह दानव से मानव बन गया। क्रूर, गॅवार भी सुधर गया। बुद्ध ने डंडा नहीं मारा था अपितु उस क्षेत्र के ताडक थे, विशेषज्ञ थे। उस कला का प्रयोग करके उन्होंने अगुलिमाल को सत्पथ पर प्रवृत्त कर दिया।

इसी प्रकार शूद्र भी अधिकारियों के ताडन का विषय है। शूद्र का तात्पर्य चमार या हरिजन नहीं होता, जैसा कि वर्तमान में प्रचलन है। आध्यात्मिक जगत् में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमश अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम साधकों के चार भेद मात्र हैं। शूद्र का अर्थ है- वहुत छोटा, तुच्छ। मान लीजिये हम छ घटे भजन करने वैठते हैं किन्तु सासारिक विषयों में अनुरक्त मन हवा से वातें करता है और दस मिनट भी हम उसे एकाग्र अपने पक्ष में नहीं पाते। सिद्ध है

कि चिन्तन-पथ में हमारा कोई अस्तित्व नहीं है। वहाँ हम तुच्छ हैं, शूद्र है और अल्पज्ञ है। अल्पज्ञ का क्रमश उत्थान करके उसे विज्ञ बना देना किसी ताडक एव विशेषज्ञ के क्षेत्र की बात है। जो स्वय विज्ञ है वही विज्ञ बना सकता है क्योंकि वह उन घाटियों से गुजर चुका है, उस पथ के प्रत्येक उतार-चढाव को उसने ताडा है, परखा है। इसी सदर्भ में एक कथानक का उल्लेख अप्रासगिक न होगा। किसी राजा के चार कुमार शूद्र प्रकृति के थे। विद्वानों ने बहुत प्रयास किया किन्तु वे पढते ही न थे। राजा ने घोषणा करायी कि क्या कोई ऐसा विद्वान है जो रात-दिन हँसने-खेलनेवाले गँवारों को शिक्षित बना सके? विद्वान तो हजारो थे किन्तु इस चुनौती को स्वीकारनेवाला एक ही निकला क्योंकि वह मूर्ख, गँवार, अल्पज्ञों के उन्नयन में पारगत था। उसने छोटी-मोटी कहानी सुनाना प्रारभ किया। बालकों का मन लगने लगा। उनका उंत्साह बढा तो वे गुरुजी से आगे की घटना को सुनाने का आग्रह करने लगे। सुनते-सुनते एक दिन वे पूर्ण विद्वान बन गये। ऐसी ही कथाओं का सकलन विष्णु शर्मा के 'पचतंत्र' मे मिलता है। जिसमे रीति-नीति, राजनीति, लोकनीति, भेदनीति इत्यादि का अद्भुत समन्वय है। डडे के बल पर ऐसे बालको को सुधारना कदापि सभव न था। अत गँवार तथा शूद्रो का उदात्तीकरण भी विशेषज्ञ के क्षेत्र की वस्तु है।

इसी क्रम में पशु भी ताडन के अधिकारी है। हाथी पशु है। ताडन का अर्थ यदि पीटना है तो मारिये डडा, वह उलटकर चढ बैठेगा, चीरकर फेंक देगा, भले आप कितने ताकतवर क्यों न हों। परन्तु यदि कोई कलाविद है, उसकी कला का अधिकारी है तो वह "चैधत, अगत, मल" कहता हुआ उसे उठायेगा, बैठायेगा, आगे बढायेगा, पीछे हटायेगा, घुमायेगा, दो पैरो पर खडा करेगा और यहाँ तक कि उससे जमीन से सुई उठवा लेगा। साधारण-सा पिलवान ऐसा कर लेता है, हम-आप नहीं कर पायेगे। क्यों? क्योंकि वह उसकी कला का विशेषज्ञ है। भैस दूध देनेवाली जानवर है। जब पशु ताडन के अधिकारी है तो लगाइये डडा। आज यदि पाँच किलो दूध देती है तो कल तीन किलो ही देगी। किन्तु ग्वाला जो उसकी गतिविधियो से अवगत है, खली-भूसी खिलाकर, नहलाकर, सहलाकर उसका दूध पाँच से बढाकर सात किलो कर लेगा। ऐसा ग्वाला पशुओं के ताडने का अधिकारी है। पशु उसके क्षेत्र की वस्तु है। सबके क्षेत्र की वस्तु नहीं है। अनाधिकारियों के खूटे पर तो वह सूख जाते है।

ठीक इसी तरह "माया रूपी नारि" भी है। पूर्वोक्त प्रकरण के अनुसार माया तो लम्बी-चौडी है-- **"गो गोचर जहं लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।"** जो भी दिखाई-सुनाई देता है, माया है किन्तु व्यक्ति पर उसका उतना ही प्रभाव पडता है जितना कि चित्तवृत्ति केन्द्रित अथवा विकृत है। जनसाधारण के लिये माया पूरे वेग पर है किन्तु योगियों के लिये कम है क्योंकि चिन्तन में केन्द्रित होने के कारण उनकी चित्तवृत्ति निरोध की ओर है। माया जिस माध्यम पर अकित होकर आक्रमण करती है वह है चित्तवृत्ति। अत चित्तवृत्ति ही नारी है। अब इस विकृत चित्तवृत्ति को निरुद्ध कर देना, शनै - शनै उसका उत्थान कर चित्तवृत्ति को केन्द्रित करना तथा 'माया रूपी नारि' से पार दिलाना किसी सद्गुरु के अधिकार-क्षेत्र की वस्तु है क्योंकि वे महापुरुष उस रास्ते से गुजरे हुए हैं। आरभिक अवस्था से क्रमश चलते हुए उन्होंने पूर्ण निरोध तक की घाटियाँ पार की हैं। इसलिये वे इस क्षेत्र के विशेष ज्ञाता हैं। जिन्होंने भी इस चित्तवृत्ति का पार पाया है सद्गुरु के ही आधार पर पाया है--

बिनु गुरु भव-निधि तरै न कोई। जो विरचि शंकर सम होई।।
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।

इस मायारूपी नारी का अन्त उनके बल पर ही सभव है। सद्गुरु ही साधक के हृदय में जागृत हो जाते है और उनके सरक्षण में चलनेवाला साधक मायारूपी नारी से पार पा जाता है। चलना तो साधक को ही पडता है किन्तु साधक जो पार होता है वह उन्हीं सद्गुरु की ही देन है। हल का भार बैलों पर होता है, किन्तु बैल नहीं जोतते, हलवाहा जोतता है। हल के पीछे रहकर वह बैलो को सचालित करता है, उन्हें सही दिशा देता है। इसी प्रकार साधना का समस्त भार साधक पर ही रहता है, किन्तु उसके द्वारा जो पार लगता है, वह उन्हीं प्रेरक की देन है अन्यथा साधक को कैसे ज्ञात होगा कि वह सही दिशा में बढ रहा है अथवा नहीं।

करत करावत आप हैं, पलटू-पलटू शोर।।

करते-कराते स्वय सद्गुरु हैं किन्तु नाम उसका होता है जिससे कराते हैं। साधक अपने बल पर नहीं, बल्कि तत्त्वदर्शी सद्गुरु के कृपा-प्रसाद से चित्तवृत्तिरूपी नारी अथवा मायारूपी नारी का पार पा सकता है।

नोट- प्रेरक के रूप में सद्गुरु और भगवान एक दूसरे के पूरक हैं।

सज्जनो! अब तो आप इस प्रसग को समझ गये होंगे! बतायें! भगवत् पथ में बाधा कौन है?

-''महाराजजी, भजन करते समय पुरुष के लिए नारी बाधा है और नारी के लिये पुरुष।''

महाराजजी- तब तो आप जहॉ के तहॉ रह गये। देखिये, शरीर तो रहने का एक मकान मात्र है। आत्मा न तो स्त्री है न तो पुरुष, वह न तो स्त्रीलिग है और न पुलिग। वह तो निर्लेप है। स्त्री-शरीर से भजन किया जाय अथवा पुरुष-शरीर से, बाधक चित्तवृत्ति ही है। चित्तवृत्ति ही नारी है। चित्तवृत्ति और विषय के संयोग से भावनाओ का चित्रण होता है, साथ ही उसकी क्रिया शरीर में भी उभर आती है। ससार में स्त्री-पुरुष के सयोग से केवल काम का सृजन होता है, जबकि भगवत्-पथ में काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि माया की सैकड़ों धाराऍ है। अकेले काम ही तो रुकावट नहीं है, हॉ वह भी एक अग मात्र अवश्य है। मोह एक अलग शत्रु है, तृष्णा एक अलग शत्रु है, सभी माया के अग-प्रत्यग हैं। सामान्य नारी से तो सभी व्यक्त नहीं होते। अत केवल स्त्री ही माया कैसे हो गई? स्त्री के लिये पुरुष ही सम्पूर्ण माया कैसे हो गया? इनके पारस्परिक सम्पर्क से अनन्त विकारों में से केवल एक विकार 'काम' का ही खतरा है। अन्य विकार तो अपने जगह पर बने ही हैं। अत चित्तवृत्ति ही नारी है। वही माया है। न पुरुष माया है, न स्त्री माया है। चित्त की प्रवृत्ति ही माया है।

जहॉ तक इस प्रवृत्ति के निरोध का प्रश्न है, यह ताडन के क्षेत्र की वस्तु है अर्थात् जो तत्त्वदर्शी महापुरुष उसका पार पा चुके हैं, जिनकी चित्तवृत्ति बाधक न रहकर विलीन हो चुकी है, ऐसे तपोधन ही उसके ताडक हैं, विशेषज्ञ हैं। नारी उनके अधिकार-क्षेत्र की वस्तु है और वे ही इस नारी से आपको छुटकारा दिलाने में समर्थ हैं। गीता के अनुसार इसके निरोध के लिये अनुभवी महापुरुषों का सत्सग, एकान्त देश का सेवन, यौगिक क्रियाऍ और चिन्तन परम आवश्यक है।

नारियों को समान अधिकार

प्रश्न- महाराज जी! आजकल नारियो के समान अधिकार की बड़ी चर्चा है। यह कहाँ तक उचित है?

उत्तर- हॉ, चर्चा तो बडी जोरदार है। स्त्रियों की एक सभा हो रही थी। अध्यक्षीय भाषण चल रहा था कि स्त्रियो के अधिकार भी पुरुषों के समान है। हमें पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना चाहिए। इतना सुनते ही एक आधुनिका ने प्रश्न किया कि हमारे पतिदेव तो कुछ ऊँचे पडते हैं। कन्धे से कन्धा कैसे मिलाऊँ? अध्यक्षा ने व्यवस्था दी- बहन जी! आप ऊँची ऍडीवाली जूती खरीद लीजिए! इस प्रकार बराबरी का प्रयास तो बहुत चल रहा है। और बराबरी ही क्यों, कुछ महिलायें तो पुरुषो को नौकर तक बना लेना चाहती है। अभी उस दिन किसी पत्रिका में एक 'कार्टून' प्रकाशित हुआ था- आधुनिक सभ्यता में पली किसी लडकी ने अपने 'रिग लीडर' से कहा कि मुझे एक ऐसे नौकर की आवश्यकता है जो भोजन बनाए, मालिश करे, घर की सफाई करे, कपडे धोये, क्रोध आने पर मेरा मार तक सह ले। उत्तर मिला कि ऐसा नौकर तो शादी के वाद ही मिलेगा।

स्त्रियो में ही एक सनक सवार हो, ऐसी बात भी नहीं। पाश्चात्य विलासिता मे अनुरक्त पुरुषों का एक वर्ग इस माग को नारियो के नाम पर उछालकर अपने को उनका हितैषी प्रमाणित करना चाहता है। एक भारतीय युवक को पाश्चात्य सभ्यता इतनी पसन्द आई कि देश, परिवार के लोग उसे असभ्य और गँवार प्रतीत होने लगे। पत्नी से उसने घूँघट उठाकर अपने साथ 'डान्स' करने को कहा किन्तु भारतीयता में पली पत्नी ऐसा न कर सकी। युवक ने सोचा कि भारत में रहकर जीवन का भरपूर आनन्द नहीं लिया जा सकता। अत वह अपनी पत्नी के साथ अमेरिका चला गया। वर्षो वहॉ रहकर अपना जीवन सफल करता रहा। यूरोप के विभिन्न देशो मे घूमकर नयी सभ्यता के तौर-तरीकों से परिचित होता रहा। जेब हल्की हो गयी तो सोचा अब वापस चलकर देखें कि भारत में कितनी प्रगति हुई। विदेशों मे भारत के महात्माओं का बडा नाम सुना था। उनसे भी मिलने का शौक चर्राया।

जहाज से भारतीय भूमि पर कदम रखते ही युवक ने देखा कि बहुत से लोग प्रयाग के कुम्भ मेले में जा रहे हैं। युवक ने विचार किया कि मेले में महात्माओं के दर्शन भी होगे। अत वह पत्नी के साथ माघ मेले, में चला आया। त्रिवेणी का तट महात्माओं के कैम्प और धूनियो से खचाखच भरा था। युवक अपनी पत्नी के साथ जहॉ-तहॉ घूमता-फिरता एक महात्मा के पास पहुँचा। कमर से दो इन्च आगे झुककर प्रणाम किया, बोला- "महात्मा जी! हमको भी थोडा उपदेश कर दीजिए।" महात्मा जी ने उसे ऊपर से नीचे तक देखा, सोचा इसे वतावें भी तो क्या? मुस्कराये, बोले- रामायण पढा करो। युवक ने कहा - वाह रे, महाराज! आपने तो विचित्र उपदेश दिया। विश्व का ऐसा कौन-सा शव्दकोश है जो हमें कण्ठस्थ न हो। वडे-वडे वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, साहित्यकारों की पोथियॉ हमने उलट डाली। रामायण किस खेत की मूली है। वस हो गया कल्याण! आपने तो अच्छा उपदेश दिया। पुन दो इन्च झुककर प्रणाम किया, यहॉ-वहॉ मेला देखा और ट्रेन

पकडकर अपने स्टेशन पर उतरा, किन्तु पत्नी कहीं दिखाई नहीं पड रही थी।

अव तो वह युवक प्रत्येक डिब्बे में 'पुष्पा, पुष्पा' पुकारने लगा परन्तु पुष्पा वहाँ हो तो बोले? वह तो इलाहावाद स्टेशन पर ही छूट गयी थी। माघ के मेले में भीड ही इतनी अधिक होती है कि लम्बी भीड में धक्के खाते हुए ट्रेन तक पहुँच पाना सवके लिए सम्भव नहीं होता। युवक तो वन्दरो की तरह कूदता-फॉदता किसी प्रकार डिब्बे में पहुँच गया। उसकी पत्नी वेचारी नहीं चढ सकी थी। उस भीड में वह कैसे धक्के खाती? उधर युवक अपने स्टेशन पर 'पुष्पा, पुष्पा' जप रहा था। सोचा पत्नी तो गयी। अमेरिका इत्यादि पाश्चात्य देशों में स्त्री खोने का अर्थ ही कुछ दूसरा है। पत्नी जव गायव होती है तो लौटकर वापस नहीं आती, दूसरा पति कर लेती है। दूसरा स्थान पसन्द न आने पर तीसरे स्थान पर दिखाई देती है और भूतपूर्व पति महोदय हाथ मलते रह जाते है। इन्ही आशकाओ से ग्रस्त युवक ने प्रत्येक डिब्बे में अपनी पत्नी को पुकारा। स्टेशन में जाकर कानूनी कार्यवाही की और जाडे में भी पसीने से तर वह पुन ट्रेन की ओर दौडने लगा, जो अब छूटने ही वाली थी।

रास्ते में ही प्रयाग वाले महात्मा हाथ में कमण्डल लिए दिखाई पडे। वे डिब्बे से उतरकर धीरे-धीरे स्टेशन की ओर वढ रहे थे। युवक ने पहचाना, प्रणाम किया और बोला-- "महात्मा जी, हमारी 'वाइफ' गायव हो गयी।" महात्मा ने पूछा-- "वेटा! वाइफ क्या होता है?" युवक ने बताया "महात्मा जी! पत्नी खो गयी। क्या करूँ?" महात्मा ने कहा- "वेटा रामायण पढा करो।" युवक ने चिढ़कर कहा- "वाह! हमारा तो सर्वनाश हो गया और आपको अभी रामायण की सनक लगी है।" महात्मा ने समझाया-- "बेटा यदि तूने रामायण पढा ही होता तो आज यह दुर्घटना न होती। रामायण में लिखा है-- "सियहि चढाइ चढे रघुराई!" जव भगवान राम वनवास के समय नाव पर चढने लगे, सीता जी का हाथ पकडकर पहले उन्हें नाव पर बिठाया, फिर स्वयं बैठे। घर मे स्त्रियो का कर्तव्य है कि पुरुषों की सेवा करें और घर बाहर पुरुषों का कर्तव्य है कि पत्नी की सेवा, देखभाल करे। तू तो बन्दर की तरह ट्रेन मे चढ गया। वह अवला, अपार भीड में कैसे ट्रेन में चढ पाती। तू अकेला क्यों चढ गया?" युवक ने कहा- "महात्मा जी, विदेशों में स्त्रियों को समान अधिकार है। मैंने सोचा कि ट्रेन पर जितने अधिकार से मैं चढ गया, उतना ही अधिकार तो पुष्पा का भी है। इसलिए मैने उसकी प्रतीक्षा नहीं की। सोचा था, वह भी चढ गयी होगी। महाराज जी! आपकी रामायण तो सचमुच दर्शनीय है। आज से मैं उसका पाठ अवश्य करूँगा। लेकिन, महाराज जी दया करे! वह मिलेगी कि नहीं?" महात्मा ने कहा- "पहले पाठ तो करो, वह तो मिली-मिलाई है।" युवक ने उसी दिन से पाठ प्रारम्भ कर दिया। उसकी पत्नी बेचारी कहाँ जाती। दो-एक दिन पश्चात् भीड कम होने पर ट्रेन में जगह मिलते ही वह भी चली आई। अव तो युवक की ऑखे खुल गयीं और वह रामायण की शिक्षाओं पर सोत्साह चलने लगा। वैसे भी, रामायण परम कल्याणकारक ग्रन्थ है, विश्व में उसकी मान्यता है। यहाँ तो समान अधिकार के सन्दर्भ में उसका दृष्टान्त मात्र दिया गया है। स्त्रियों को आधुनिका वनाने में पुरुषों का दोष भी कम नहीं है।

समान अधिकार का आकर्षण नयी शिक्षा पानेवाले युवक-युवतियों में विशेष पाया जाता है। सयोग से एक दम्पति वी०ए० थे। पति-पत्नी दोनों ही समान शिक्षित थे। दोनों को समान पद भी

प्राप्त हो गया। दोनों साथ-साथ रहते-खाते थे। एक दिन प्रात· 'बेड टी' आयी तो पत्नी चाय में चीनी डालना भूल गयी थी। साहब ने चाय होठों से लगाया और फीकी लगते ही कप उठाकर फेंक दिया। अपनी बनायी चाय का अपमान देख पत्नी तमतमाकर अन्दर गयी और पूरा टी सेट उठाकर पटक दिया। साहब का होश तुरन्त ठिकाने आ गया, बोले-अरे, अरे! यह क्या कर रही हो? कप-प्लेट क्यो तोड डाला? पत्नी ने कहा- आपने क्यो तोडा? साहब ने सफाई दी कि चाय में चीनी नहीं थी। पत्नी ने कहा - तो आप न पीते। आपको कप फेकने का अधिकार है तो मुझे भी समान अधिकार है, आप बी०ए० पास हैं तो मै भी बी०ए० पास हूँ।

बात बढती गयी। दोनों के पक्षपाती स्त्री-पुरुष एकत्र होते गये। विवाद का अन्त न होते देखकर किसी ने एक महात्मा से इस विवाद के निर्णय का प्रस्ताव रखा। सभी महात्मा के पास पहुँचे। अपना-अपना पक्ष रखा। महात्मा ने कहा कि समान अधिकार अवश्य होना चाहिए किन्तु माताओं और बहनों इसके लिए आपको एक कदम और आगे बढना होगा। देखिए, आप नौ महीने पेट में बच्चे का भार वहन करती हैं। मिचलियाँ आती हैं। कभी-कभी प्रसव के समय मृत्यु भी हो जाती है। माताओं को असह्य दु ख झेलना पडता है। "ज्यों युवती अनुभवति प्रसव, अति दारुण दुख उपजे (विनय पत्रिका)" दारुण दु ख उठाना पड़ता है। जब समान अधिकार है तो यह दु ख अकेले ही क्यों झेलती हो? पतिदेव से कहो कि साढे चार माह तक इस दु ख मे अपना भाग स्वय वहन करें। प्लेट तो आपने एक के स्थान पर छ फोड डाले! लेकिन इसे कैसे बाँटोगी? ईश्वरीय व्यवस्था में कोई उलट-फेर कैसे कर लेगा?

हाँ, जहाँ तक व्यावहारिक दृष्टि के समान अधिकार का प्रश्न है, भारत में सदैव समान अधिकार रहा। पार्वती जी को शकर की अर्धांगिनी कहा जाता है। अर्धांगिनी का तात्पर्य है समान अधिकार। भारतीय दर्शन मे स्त्रियो का पुरुषो के समान अधिकार सदैव रहा है। अन्तर इतना ही है कि घर से बाहर का कार्य पुरुषों को सौपा गया और घर के भीतर की व्यवस्था स्त्रियो का कर्तव्य माना गया। बाहर से धन कमाना, वस्तुओ का संग्रह करना पुरुषो पर भारित है और सग्रह की हुई वस्तु की साज-सँभार, सुव्यवस्था और सदुपयोग स्त्रियो पर आधारित है क्योकि घर से वाहर रहकर धनोपार्जन करना स्त्री-प्रकृति के प्रतिकूल है। मासिक धर्म या गर्भावस्था इत्यादि उनके कर्तव्य में बाधक हैं। स्त्रियाँ बाहर कार्य करें तो इन अवसरों पर कार्य स्थगित रखना पडेगा। सैनिक एव प्रशासनिक कार्य भी उनके लिए सुविधाजनक नहीं है। पुरुषो द्वारा बलात्कार का भय अलग वना रहता है, यहाँ तक कि माता सीता चोरी चली गयीं। इसीलिए स्त्रियों को पुरुष के सरक्षण में घर के भीतर की व्यवस्था सौंपी गयी। यद्यपि शुभ कार्यों में वे सदैव साथ रहीं। सीता वन के कटकाकीर्ण पथ में साथ गयीं। कैकेयी ने युद्ध मे दशरथ का साथ दिया।

वस्तुत जीवन के दो पहलू हैं- एक धनोपार्जन, वस्तु-सग्रह और दूसरा सग्रह की हुई वस्तु का सुचारु रूप से उपयोग। इन दोनों दायित्वो में से सग्रह पुरुषो के हिस्से में है और सदुपयोग सुव्यवस्था महिलाओं पर निर्भर हैं। इस तरह भारत में तो स्त्री और पुरुषों का समान अधिकार सदेव रहा है। इससे अधिक आप लोग कौन-सी समानता चाहते हैं? क्या दोनों को कुश्ती लडाना चाहते हे? 'वाक्सिग' कराना चाहते हैं? जिस क्षेत्र में ईश्वर ने ही असमान वनाया, वहाँ समानता

कैसे होगी?

स्त्रियॉ कहती है- हम नौकरी करेंगे, गोली चलाएँगे, फुटवाल खेलेंगे और आवश्यकता पडने पर पुरुषो को चपत भी लगायेंगे। वात तो ठीक है, लेकिन चपत मारने का साहस उनमें आयेगा कहॉ से? जीव जगत् पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि पचास गायें मिलकर भी एक सॉड का सामना नहीं कर पातीं। पचासो वन्दरियॉ एक वन्दर की वरावरी नहीं कर पातीं। पशु समाज मे स्त्रियो का सम्मान यहीं तक सीमित है। मनुष्यों में भी जिनका जीवन पशुओं की तरह "खाने-पीने और मौज करने" तक ही सीमित रहा, नारियों का स्थान पशु-समाज जैसा ही था। मुहम्मद साहब के समय में अरव निवासी कई-कई स्त्रियॉ रखते थे। मुहम्मद साहव ने इसका वडा विरोध किया और व्यवस्था दी कि एक व्यक्ति चार पत्नी रख सकता है। समान अधिकार वालों को यह व्यवस्था खटक सकती है किन्तु अरव निवासियो को यह सख्या इतनी कम प्रतीत हुई कि उन्होने मुहम्मद के विरुद्ध तूफान खडा कर दिया। वे लोग स्त्रियों का वैसा ही प्रयोग करते थे, जैसा पशुओ का करते थे। पिता के मरने पर पुत्र मॉ को रख लेता था और उसके भी मरने पर स्त्री को नाती रख लेता था। पुत्र-वधू का उपभोग पत्नी की तरह करते थे। मुहम्मद साहव ने व्यवस्था दी कि कम से कम दूध बचाकर शादी विवाह करना चाहिए। पशुवत् समाजों मे सर्वत्र ऐसा ही था और आज भी समान अधिकार को लेकर जिन देशों का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है, उन देशों मे बलात्कार, तलाक, हत्या, आत्महत्या, पागलपन, स्त्रियो का अपहरण जैसी घटनाएँ भारत से हजारो गुना अधिक है। आज भी विश्व मे भारत ही एकमात्र देश है जहॉ सतीत्व का मूल्य है और सतीत्व आज भी यहॉ सुरक्षित है। माताओ के प्रति पुरुषो मे सम्मान और गौरव की धारणा है।

सच कहा जाय तो स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देने का विचार भारतीय मनीषियों के मस्तिष्क की उपज है। किन्तु इस अर्थ मे नहीं, जैसा कि आज प्रचलन है। महर्षियों ने अभ्यास करते-करते जब उस परमतत्त्व परमात्मा का दिग्दर्शन पाया, उस पथ पर भली-भॉति दृष्टिपात् किया, उस पर सभी को चलाकर देखा तो पाया कि स्त्री और पुरुष कहलाने वाली आत्माएँ समान हैं। भगवत्पथ पर चलने की समान क्षमता रखती है। इसीलिए भजन के क्षेत्र में उन्होंने स्त्री को भी पुरुषों के समान अधिकार दिया।

समानता ही नहीं, मनीषियों ने माता को पिता और स्वर्ग से भी ऊँचा स्थान प्रदान किया। प्राचीन भारत मे पुत्र को माता के नाम से सम्बोधित करने की प्रथा थी। अन्धे धृतराष्ट्र को अम्बिकानन्दन कहा जाता था। चित्रागदनन्दन किसी ने नहीं कहा। चार-पॉच सौ वर्ष के वयोवृद्ध भीष्म पितामह गागेय सम्बोधन मे अपना गौरव मानते थे। कुन्तीपुत्र अर्जुन को कौन्तेय कहा जाता था। इस तरह माताओं का आदर सदैव रहा है और आज भी सौभाग्य से भारत मे है।

खेद का विषय है कि विलासिता के नशे में आज कुछ लोग पाश्चात्य अर्थो में स्त्री-पुरुष को समरूप वनाने के लिए आन्दोलन करते रहते हैं किन्तु माताओ और वहनों को इससे सतर्क हो जाना चाहिए। अन्यथा ठोकर खाने पर अपने आदर्शों से च्युत होकर उन्हे पाश्चात्य पशुवत् रहन-सहन का शिकार वनना पडेगा। अत माताओं को चाहिए कि वे पूर्व महर्षियों द्वारा अनुमोदित अपनी चिरसचित मर्यादा के अनुरूप आचरण करें। इसी में उनका कल्याण है।

भौतिक दृष्टि से देखा जाय, तब भी भारत में स्त्रियो के अधिकार उनकी सुख-सुविधा का विधान पुरुषो की अपेक्षा अधिक ही है। यदि पुरुष के ऊपर सौ रुपये का वस्त्र है तो माताओं के वस्त्र हजारो में आते है। पुरुष के हाथ मे अँगूठी भी न हो किन्तु माताओ की पेटियॉ वस्त्राभूषणों से भरी मिलेगी। अमेरिका इत्यादि देशों की तथाकथित प्रगतिशील महिलाओं के पास आभूषणों के नाम पर आपको निराशा ही हाथ लगेगी।

एक कनेडियन दम्पति पूज्य महाराज जी के आश्रम में अनुसुइया पहुँचे। महाराज·जी ने पूछा- "क्यों आए?" तो बोले- "योग, सीखने आये है। दर्शन-शास्त्रों में भारतीय योग के बारे में पढकर हम बहुत प्रभावित हुए। सोचा, भारत चलकर देखें कि वास्तविकता क्या है?" महाराज जी ने पुन प्रश्न किया- "अच्छा यह बताओ कि अमेरिका अच्छा है या भारत?" दोनो एक स्वर में बोल पडे- "भारत।" महाराज जी ने कहा- "अमेरिका तो बहुत समृद्ध है?" कनेडियन ने उत्तर दिया कि "समृद्ध तो है, लेकिन अशान्ति बहुत है। यदि हम पति-पत्नी पूरे अमेरिका से गुजरते तो कम से दो-चार बार हमारी पत्नी का अपहरण हो गया होता। इसे कोई ले जाता और फिर यह मुझे तीन-चार दिनों बाद ही मिलती। लेकिन जब से हमने भारत में कदम रखा तब से किसी ने भी हमारी पत्नी को 'सिस्टर' छोड़कर अन्य दृष्टि से नहीं देखा। इससे भी हमको बडी शान्ति मिली। अब हमारा पासपोर्ट समाप्त होने को है किन्तु सन्त-महात्माओं का सान्निध्यलाभ लेने के लिए 'डेट' बढवाने की सोच रहे हैं।"

देखिए, पाश्चात्य आदर्शों से अनुप्राणित शिक्षा-प्रणाली मे ढलने के कारण ही नारियों मे यह विचार पैदा हो रहा है। वैदिक एव शास्त्रीय आदर्शों को शिक्षा मे स्थान न मिलने के कारण ही मस्तिष्क विलासिता में विकृत हो रहा है। आपके मन का वेग सत्सग अभाव के कारण ही है। अत सत्सग करें। यदि सत्पुरुष उपलब्ध न हो तो राम, शिव, ॐ इत्यादि नामों के जप से भी आपको सत्पथ का सही निर्देश मिलेगा और इनमें से किसी नाम रूप की साधना में कुछ भी समय देते बन गया तो पॉच-सात साल में ही आपको लगेगा कि काम, क्रोध अथवा कोई भी ऐसा शत्रु नहीं है जिसका आप पार न पा सकें। वस्तुत विकारो का उतार-चढाव तन पर नहीं बल्कि मन पर है। मन यदि साधना के सही दौर मे आ जाय तो विषयों का भान कौन करेगा? मन स्वत नियन्त्रित हो जाता है।

सीता, सावित्री, मीरा, गार्गी, अनुसुइया, मदालसा सभी आपकी पूर्वज हुई हैं। सभी ने इसी क्रियात्मक पथ का अनुसरण किया और उन्हीं के पदचिन्हों पर चलकर आप भारत ही नहीं, विश्व के लिए उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत कर सकेंगी।

॥ ॐ ॥

निसिचरि एक सिन्धु महँ रहई

प्रश्न- महाराज जी! लंका जाते समय हनुमान जी को सिंहिका मिली थी- "निसिचरि एक सिन्धु महँ रहई।" बीच समुद्र में वह किस प्रकार रहती थी कि उसके ऊपर जल का प्रभाव नहीं पड़ता था और वह परछाईं पकड़कर खींच लेती थी। यह परछाईं पकड़ना क्या है?

उत्तर- देखिए, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं! आज भी लाखों लोग बीच समुद्र में दिन-रात निवास करते हैं। पनडुब्बियों में भरे लोग अदृश्य भी रहते हैं। दाहिने-बायें जानेवाले किसी भी शत्रु को तुरन्त गिरा देते हैं। आज ही यह साइंस प्रगति पर है, ऐसी बात नहीं है, यह सदैव थी। संघर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँचकर यह मन्द पड़ जाती है- कालान्तर में अन्य-अन्य माध्यमों से पनप जाती है। संयोग से इस बार साइंस के पनपने का स्थल भारत से बाहर के देशों में रहा। वैसे तो दुनिया ही एक गाँव है, एक घराना है। जलवायु के अनुसार गोरा-काला, लम्बी-चपटी नाक, कद की लम्बाई इत्यादि का परिवर्तन होता रहता है। आप यहाँ रह रहे हैं, कश्मीर मे चार साल रह लें, कुछ गोरे हो जायेंगे। अगली पीढ़ी गुलाब की तरह हो जायेगी।

वैसे यह 'मानस' है। मानस कहते हैं- मन को, अन्तःकरण को। 'रामचरित मानस' अर्थात् राम के वे चरित्र जो मन मे प्रवाहित हैं। इसमें संसार ही समुद्र है, वैराग्यवान पुरुष ही इसका पार पाता है।

निसिचरि एक सिन्धु महँ रहई। करि माया नभ के खग गहई।।
जीव जन्तु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्हकै परछाहीं।। (५/२/१-२)

सिन्धु मे एक निशिचरी रहती थी। "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी"- इस जगत्‌रूपी निशा मे, चलने और चलानेवाली है, इसीलिए इसका नाम निशिचरी है। यह भवसिन्धु में रहती है, और समुद्र मे जिसकी परछाईं पड़ती है उसे दबोच लेती है, फिर वह नीचे गिर जाता है--

गहइ छाँह सक सो न उड़ाई। एहि बिधि सदा गगनचर खाई।।

वह छाया को पकड लेती थी। जिससे जीव-जन्तु उड नहीं पाते थे, उनकी गति कुण्ठित हो जाती थी। इसी प्रकार गगनचरों को, आकाश में उडनेवालों को खा लिया करती थी।

सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा। तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा।।

वही छल उसने हनुमान के साथ किया। उसके कपटाचरण को हनुमान ने तुरन्त पहचान लिया, फिर तो-

ताहि मारि मारुत सुत बीरा। बारिधि पार गयउ मति धीरा।।

तुरन्त उसे मारकर हनुमान समुद्र पार कर गये। वैराग्य ही हनुमान है - मान और सम्मान का हनन करनेवाला है, इसलिए वैराग्यरूपी हनुमान। पक्षी उडता तो आकाश में है किन्तु जमीन का सहारा लेता है। केवल वैराग्यवान पुरुष ही इस संसार-सिन्धु के ऊपर उडान भरता है। वह भवसिन्धु से ऊपर उठना चाहता है, उठता भी है और क्रमशः उत्थान करते-करते परमतत्त्व परमात्मा में, भव से परे सत्ता में विलय पा जाता है।

जब पथिक चलता है तब "निशिचरि एक सिन्धु महँ रहई" दूसरो की इच्छाशक्ति ही निशिचरी है। कोई अच्छा साधक अपनी साधना मे अग्रसर होता जाता है तो दूसरे लोग मायिक विचारों को लेकर उससे टकराने लगते है। महिलाओ के लिए पुरुष या पुरुषो के लिए महिलाये ऐसा सोचने लगती है कि "बाबा तो बडे अच्छे है। न जाने कब से कटिबद्ध हैं, ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे है। कितने अच्छे है। हमारे सगी साथी रहे होते तो कितना अच्छा होता"- बस विषय की भयकर वेदना लेकर वह चिन्तन करेगी। तहाँ उनका चिन्तन ज्यो का त्यो वैराग्यवान पुरुष के शान्त चित्त से टकरायेगा क्योंकि चित्त तो सबका एक ही है। साधक यह निर्णय नहीं कर पाता कि ऐसा चिन्तन आया कहाँ से। तुरन्त उसी चिन्तन से वह आक्रान्त हो जाता है। वही भाव पनपते-पनपते कुछ ही समय में साधक को इसी ससाररूपी समुद्र मे गिरा देता है।

ससार ही समुद्र है। जिसमे विषयरूपी जल भरा है, किन्तु--

बार-बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवन तनय बल भारी।।

जो निरन्तर भगवान का स्मरण करते रहते हैं, जिसमे इष्ट का बल है, जो इष्ट के इशारों पर चलनेवाला है, उस विरक्त पुरुष में तुरन्त इस छल को पहचानने की क्षमता होगी कि हमारे चिन्तन तो गन्दे थे ही नहीं, फिर ये कहाँ से आ रहे हैं? जिसके अन्दर इस चिन्तन के विभाजन की क्षमता होती है, अपने और पराये चिन्तन को जो पहचानने लगता है, उसके ऊपर से इस सकल्पजनित सगदोष का प्रभाव टल जाता है। साधक जान जाता है कि ऐसा बुरा सकल्प कौन कर रहा है? जव चिन्तन हमारा है ही नहीं, किसी अन्य की मन स्थिति टकरा रही है। दुनिया मे सव विषयी ही तो है वे कुछ भी सोच सकते है क्योंकि वे उसी क्षेत्र मे खडे हैं, उसी वायुमण्डल में हैं और वे करेंगे भी क्या? अत उन्हे माँ कह दें, बहन कह दें फिर तो सकल्पों की लहर, जो साधक से टकरा रही थी समाप्त हो जाती है। उनकी भाव भगिमा बदल जाती है।

ससाररूपी सिन्धु मे विषय-रस से ओत-प्रोत दूसरों की इच्छाशक्ति साधक के चित्त को पकडती है। वही परछाई का पकडना है। जब साधक का चित्त विषय-चिन्तन मे आवृत्त होने लगता है तो वे सस्कार वन जाते हैं। परिणामत वह श्रेय साधन से गिर जाता है किन्तु जिस साधक में इष्ट का वल है, अनुभवी आधार पर सकल्पों के विभाजन की क्षमता है, वह इसको सहज ही पार करके आगे निकल जाता है। साधक जानता है कि दुनिया प्राय वही चिन्तन करेगी जिसमें वह लिप्त है। जिसे सर्प ने काटा है, उसे लहर तो आयेगी ही। साधक भी तो पहले दुनिया मे रहकर यही सव चिन्तन करता था। जहाँ सकल्पों के विभाजन की क्षमता आयी, सासारिक सकल्पों की लहर साधक के मन से विलग हो जाती है किन्तु यह क्षमता इष्ट को हृदय मे सतत् सँजोनेवाले साधक में प्रभु की कृपा द्वारा ही आती है। इष्ट द्वारा प्रदत्त अनुभवों के वल पर ही साधक ऐसा कर पाता हे।

ताहि मारि मारुत सुत बीरा। बारिधि पार गयउ मति धीरा।।

अत भजन करो। वे दया के सागर हैं। तुम भी पाओगे।

।। ॐ ।।

"युग-धर्म"

प्रश्न- अब तो कलियुग आ गया महाराज! अब धरम-करम कैसे होगा?

उत्तर- देखिये, रामचरित मानस में कलियुग-महिमा-गायन का प्रसग जहाँ-जहाँ आया हे उस पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि कभी सतयुग था और आज कलियुग है, ऐसी कोई बात नहीं है। कागभुशुण्डि जी ने अपने पूर्वजन्मों का वृतान्त प्रस्तुत करते समय जिन शब्दों में मल-मूल कलियुग का वर्णन किया, ठीक उन्हीं शब्दावली और उन्हीं लक्षणों का उल्लेख गोस्वामी जी ने उत्तरकाण्ड में असन्त लक्षण तथा बालकाण्ड में रावण की उत्पत्ति ओर निशाचरों के आतक के अवसरों पर किया है। कलियुग में "सब नर काम लोभ रत क्रोधी" हैं तो असन्त "काम क्रोध मद लोभ परायन" होते हैं। दोनो एक ही बात है। कलियुग में "पर त्रिय लपट कपट सयाने" लोग होते हैं तो असन्त "पर द्रोही पर दार रत, परधन पर अपवाद" हैं। इसी प्रकार निशाचरों के उत्कर्ष के समय "बाढे खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट परधन परदारा" का साम्य देखने को मिलता है। छिटपुट स्थल तो अनेकों हैं किन्तु उपर्युक्त तीन-चार स्थलों पर गोस्वामी जी ने कलि के गुण-धर्म पर प्रकाश डाला, कलियुग के अनेक लक्षण बताये--

जो कछु झूठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुनवन्त बखाना।।
जाके नख अरू जटा विशाला। सो तापस प्रसिद्ध कलि काला।।

इसी प्रकार-

देव न बरसहि धरनी, बये न जामहिं धान।

इत्यादि पचासो लक्षण गिनाये और अन्त मे निर्णय देते हैं कि-

ऐसे अधम मनुज खल, कृतयुग त्रेता नाहिं।
द्वापर कछुक वृन्द बहु, होइहैं कलियुग माहि।।

ऐसे अधम मनुष्य सतयुग और त्रेता मे नहीं होते, द्वापर में कुछ होते हैं और कलियुग में झुण्ड के झुण्ड होते हैं। प्रश्न खडा होता है कि क्या सतयुग और त्रेता में अधम मनुष्य होते ही नहीं थे?

ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सतयुग में हिरण्यकशिपु नामक एक नरेश हुए। अपनी वेधशाला मे उन्होंने ऐसा आविष्कार कर लिया कि न दिन में मरे, न रात में मरे। न अस्त्र-शस्त्र से मरे, न पशु-पक्षी से, न मानव से। जब उन्होंने देखा कि हमें मरना ही नहीं है फिर भगवान की क्या आवश्यकता? अत उन्होंने घोषणा करा दी कि मैं ही भगवान् हूँ। जो भी मुझसे भिन्न किसी भगवान का नाम ले उसे मृत्युदण्ड दिया जाय। अपने सिद्धान्त का वह इतना कट्टर था कि अपने इकलौते बेटे प्रह्लाद को भी वह क्षमा नहीं कर सका। प्रह्लाद को भी फॉसी पर चढा ही दिया। मारने के अनेक प्रयत्न किये गये किन्तु भक्त प्रह्लाद का रक्षक तो कोई और था। वस्तुत यदि भगवान एक अबोध शिशु का भी स्पर्श कर दे तो ससार में कोई शक्ति नहीं जो उसे मिटा दे। भगवान का वरदहस्त प्रह्लाद पर रहा और उसके माध्यम से उस युग में भक्ति की एक लहर सर्वत्र दौड गई।

इस प्रकार उस सतयुग में भी ऐसी परिस्थिति आयी कि धर्म की चर्चा-मात्र करने पर मृत्यु-दण्ड का विधान था और तुलसीदास कहते हैं- 'ऐसे अधम मनुज खल' ऐसे अधम मनुष्य 'कृतयुग त्रेता नाहि' सतयुग और त्रेता मे होते ही नहीं। जबकि उसी सतयुग मे ऐसे भयकर लोग हुए कि भगवान का नाम लेने पर फॉसी की सजा देते थे। आज कोई फॉसी तो नहीं देता, बहुत हुआ तो दस लोग छींटाकशी करेगे किन्तु उतने ही प्रशसक भी मिलेंगे कि दादा जी महात्माओ के यहॉ जाते हैं, तीर्थयात्रा करते हैं। चौथेपन की यही शोभा है; इत्यादि।

आइये, उस त्रेता पर दृष्टिपात् करें जिसका इतिवृत्त 'मानस' मे चित्रित है। त्रेता मे भी अधम नर थे। रावण 'धर्म सुनइ जो काना, आपुन उठि धावइ, रहइ न पावै' धर्म कानो से सुन भर पाता तो बौखलाकर स्वय चल पडता था, धर्म को नष्ट करने के लिये 'फोर्स' भेज देता था। अधर्मियों को नष्ट करने की आज्ञा नहीं थी, केवल धर्म को ही निर्मूल करने की योजना थी। चोर-डाकुओं को नष्ट नहीं करना था बल्कि राम-राम कहनेवालो को नष्ट करने का आदेश था। ऋषि-महात्माओं से भी रक्त के रूप में कर वसूल किया जाता था। उनका अपराध मात्र इतना था कि भगवान का नाम लेते थे। गुप्त रूप से निशाचरो की टुकडियॉ चला करती थीं, जो धार्मिको को अकेला पाते ही मारकर चट कर डालती थीं। वनवासी राम जब चित्रकूट से आगे बढे तो नर-ककालो का एक पहाड मिला-

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया।। (३/८/६)

हड्डियों का विशाल सग्रह देखकर भगवान राम ने मुनियों से पूछा कि ये नरककाल कैसे हैं? मुनियों ने कहा, 'आप तो अतर्यामी हैं, जानते हुए भी क्यो पूछते है? परन्तु जव आप पूछते ही हें तो वताना कर्तव्य होता है- 'निसिचर निकर सकल मुनि खाये' निशाचरों ने सम्पूर्ण मुनियों को खा डाला। यह उन्हीं की हड्डियों का ढेर है। आज आप नाम तो ले सकते हैं? कोई टैक्स तो नहीं लेता? वेद-पुराण कहने पर देश-निकाला तो नहीं मिलता? उस समय युग कौन-सा था? त्रेता! और गोस्वामी जी कहते हैं कि ऐसे अधम खल कृतयुग और त्रेता में होते ही नहीं! कलि का एक अन्य लक्षण त्रेता के ही सदर्भ में देखे-

सौभागिनी विभूषण हीना। विधवन्ह के श्रृंगार नवीना (७/९८/५)

उस त्रेता में सूर्पनखा विधवा ही तो थी। उसका पति विद्युत्‌जिव्हा युद्ध में रावण द्वारा मारा गया तो वह उलाहना देते हुए बोली- "तू मेरा भाई है या शत्रु? तूने मेरे पति को मार डाला? आज से लोग मुझे विधवा कहेंगे।" रावण ने सान्त्वना दिया- 'वहन! भूल तो मुझसे अवश्य हुई किन्तु हमारी जाति में भी क्या कभी विधवा होती है? हम हजारों स्त्रियॉ रखते हैं, तुम हजारों पुरुप रख सकती हो। भाई खर-दूषण के साथ जाओ और जनस्थान में मनचाहा विचरण करो।" इसी क्रम में **"पचवटी सो गइ एक बारा। देखि विकल भइ जुगल कुमारा।।"** जव वह राम के समक्ष पहुँची तो वहुत रूप-स्वरूप वनाकर मुस्कराकर वोली- 'मन माना कछु तुम्हहि निहारी' तुम भी वहुत सुन्दर हो, ऐसी वात नहीं है। हॉ, काम चल जायगा इसीलिए तो अभी तक कुमारी हूँ— जवकि एक भी कुकर्म उससे छूटा नहीं था। सूर्पनखा जितना अध-पतन आज तो नहीं पाया जाता? फिर भी गोस्वामी जी की उक्ति है कि त्रेता में ऐसे अधम नर होते ही नहीं थे।

फिर जव त्रेता में अधम नर होते ही नहीं थे तो राम लडे किससे? उनका चरित्र ही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि त्रेता में भी अधम खलों का अस्तित्व था ओर केवल अस्तित्व ही नहीं था वरन् उनके अत्याचारो से धरती भी आकुल हो उठी थी।

महात्माओं को निशाचर खा जाते थे। यह वात अलग है कि महर्पि अगस्त्य, अत्रि, शवरी, सुतीक्ष्ण, वाल्मीकि इत्यादि कुछ ऐसे तपोधन थे जिनके ऊपर इन निशाचरों का वल काम नहीं करता था। इसीलिये ये जहॉ भी थे सुरक्षित थे। लेकिन निशाचरों ने आजमाया इनको भी। इनका भी पीछा किया, अछूता नहीं छोडा। आतापी और वातापी दो निशाचर थे। उनका यह तरीका था कि पहले तो वे महात्माओ को निमन्त्रण दे आते थे । आमत्रित महात्माओं के आने पर वडा भाई छोटे को काटकर भोजन बनाता था। विविध प्रकार के व्यजनों का आस्वादन कर महात्मा जव प्रस्थान करते तो बडा निशाचर उन्हे प्रचुर दक्षिणा भी देता था क्योंकि वह जानता था कि दक्षिणा भी तो थोडी देर में लौटकर वापस आ जायेगी। वे महात्मा जव कुछ दूर निकल जाते तो वडा भाई छोटे को पुकारता था और छोटा निशाचर सवका पेट फाडता हुआ निकल आता था। फिर दोनों निशाचर मरनेवाले महात्माओं को गिन लेते। कुछ को ताजा ही खा जाते, कुछ को तल-भूनकर और शेष को सुखाकर रख लेते। एक ही प्रयास में परिवार भर का, कई दिनों का प्रवन्ध हो जाता था।

इसी प्रकार का छल उन्होने महर्षि अगस्त्य के साथ भी किया। जव वे उन्हें निमन्त्रित करने चले तो छोटे ने सावधान किया कि वे महात्मा वडे खतरनाक हैं, उन्हें न छेडो। वडे ने झिडका- तुम तो बडे कायर निकले! कैसा तपोधन? तपस्या क्या होती है? अस्तु, महर्षि अगस्त्य उस भक्त के यहॉ पहुँचे। आतिथ्य के पश्चात् जब वे लौटे तो बडे भाई ने छोटे को आवाज दिया। महर्षि के पेट में हलचल होने लगी। ध्यान से देखा तो पता चला कि राक्षस पेट के भीतर है। तुरन्त उन्होंने कमण्डल से जल लिया, बाहर छिडका, पेट पर हाथ फेरा और आतापी-वातापी स्वाहा करते ही भीतर का राक्षस भीतर और बाहर का राक्षस बाहर ही समाप्त हो गया। इस प्रकार महर्षि अपनी तपस्या के प्रभाव से बचे। वैसे, निशाचरो ने छोडा किसी को नहीं था। हिरण्यकशिपु ने भी छोडा नहीं था। वह तो प्रह्लाद अपनी शक्ति से बच गया अथवा प्रभु को इतना अनुकूल कर चुका था कि बचता गया। इतने पर भी गोस्वामी कहते हैं, ऐसे अधम खल सतयुग और त्रेता में होते ही नहीं। वास्तविकता तो यह है कि आज से भी अधम नरों का प्रमाण उस युग मे पाया जाता है । फिर गोस्वामी तुलसीदास जी कहना क्या चाहते हैं? अन्त में वे स्वय निर्णय देते हैं-

नित जुग धर्म होहि सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे।। (७/१०३/१)

सभी युगो के धर्म सवके हृदय में नित्य होते रहते हैं। 'हृदय राम माया के प्रेरे'- भगवान की माया की प्रेरणा से होते है। माया के दो रूप हैं - एक तो अविद्या माया है, जो विभिन्न योनियों का कारण होती है। दूसरी राममाया है जिसे विद्या भी कहते हैं। यह हरि-प्रेरित होती है और साधनात्मक क्रिया से ही उसकी जागृति सम्भव है। अविद्या माया की सीमा पार कर लेने पर राममाया की प्रेरणा से साधक के हृदय में क्रमश चारों युगों के गुण-धर्मो का प्राकट्य होता हैं। वास्तव में यह भी भगवत्पथ की चार श्रेणियॉ हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था। अव

पहचाना कैसे जाय कि हृदय मे कौन-सा युग आया? गोस्वामी जी पहचान बताते है-

शुद्ध सत्व समता बिज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।। (७/१०३/२)

जिसमे सत्वगुण ही कार्यरत हो, समता आ गई हो, विषमता सदा-सदा के लिए समाप्त हो गई हो, विज्ञान अर्थात् अनुभवी उपलब्धि हो, प्रत्येक समस्या पर इष्ट से निर्णय मिलने लगे, असीम प्रसन्नता की अनुभूति हो, ऐसा पुरुष सत्ययुगीन है। इसी प्रकार -

सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा।। (७/१०३/३)

सत्त्व अधिकाश मात्रा में हो, कुछ राजसी गुण हो, कर्म अर्थात् आराधना मे पूर्ण अनुरक्ति हो, सब प्रकार की शान्ति हो- यह त्रेता का विशेष लक्षण है। जिसके हृदय मे उपर्युक्त गुण हो उसे त्रेता श्रेणी का साधक कहा जाता है। पुन -

बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस।। (७/१०३/४)

राजसी गुणों के साथ-साथ सत्व एव तामसी गुणो का किचित् मिश्रण हो, हृदय मे कभी हर्ष और कभी भय बना रहे तो साधक द्वापरयुगीन है। दुविधा से द्वापर बना है। यदि साधना में हर्ष-विषाद का आरोह-अवरोह लगा है, दुविधा बनी है तो साधक द्वापरयुगीन है। और अन्त मे-

तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव विरोध चहुं ओरा।। (७/१०३/५)

जहॉ अधिकाश तामसिक वृत्ति हो, रचमात्र राजसी गुण हो, मन मे चारो ओर वैर और विरोध भरा हो- ऐसा हृदय कलियुग का परिचायक है। यदि इस स्तर पर साधक जीवित है तो सिद्ध है कि वह कलियुगीन है। इस स्तर पर उसमे वे सभी लक्षण विद्यमान रहेगे, जिनकी गणना गोस्वामी जी ने कलि-प्रसग में की है।

जब मन में उच्छृङ्खलता है, वैर-विरोध ही है, बुद्धि विकल है तो भला मनुष्य-तन की सार्थकता क्या है? बडे भाग्य से मानव-तन मिला तो कल्याण कैसे हो? ऐसी स्थिति में हम भजन कहॉ से आरम्भ करें?

बड़े भाग्य मानुस तन पावा। सुर दुर्लभ सबग्रन्थन्हि गावा।।
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जे परलोक सॅवारा।।

बडे भाग्य से मानव-तन मिला है। अरे, पशु-पक्षी सभी तो जी रहे है। कौआ भी सुखी है। बडे ताव से उडता है, पेड पर बैठता है फिर मनुष्य में कौन सा बडा भाग्य है? इसलिये कि शेष चौरासी लाख योनियॉ केवल भोग भोगने के लिए हैं किन्तु मनुष्य स्वय कर्मो का रचयिता है । बुरे से बुरे सस्कारों को काटने की इसमें क्षमता है, बशर्ते कि कर्म की क्रिया को समझ ले। अपने लक्ष्य को मन में, हृदय मे स्थान भर दिये रहे। यह साधन का धाम, मुक्ति का दरवाजा है। इसको पाकर जिसने अपना निज परलोक नहीं सुधार लिया (किसी पर एहसान न करें, किसी की भलाई न करें, केवल अपनी भलाई तो कर लें)-

सो परत्र दुःख पावइ, सिर धुनि धुनि पछताय।
कालहि कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाय।।

जिसने मानव-तन को पाकर निज परलोक नहीं सुधार लिया, वह जन्मान्तरों में दुःख पाता है, सिर धुन-धुनकर पछताता है और काल-कर्म-ईश्वर को व्यर्थ दोष देता है। यदि मानव-तन

उपलब्ध है और अपना परलोक नहीं सुधारा तो वस्तुत· सव दोप उसी का है। प्राय· मनुष्य दो-तीन बहाने कर लिया करता है। 'करम में नहीं लिखा हे'-कर्म को दोप देना,'समय अनुकूल नहीं है'-काल को दोष देना, 'कर्त्ता-धर्त्ता तो भगवान हैं वे कराते ही नहीं।'- इस प्रकार भगवान को दोष देना जीवों का स्वभाव वन गया है। लेकिन यहाँ भगवान राम कहते हैं कि यदि मानव-तन उपलब्ध है और कोई निज परलोक नहीं सुधार लेता तो न काल का दोप हे, न करम का है और न ईश्वर का है। वस्तुत सव दोष उसी का है। मनुष्य कर्मों का रचयिता हे -'मेटत कठिन कुअक भाल के।' भाल में यदि असाध्य कुअक, नरक और यातनाएँ लिखी हैं तो आप उसे मिटा सकते हैं बशर्ते कि नाम की युक्ति उपलव्ध हो। अव हमें यह देखना है कि यह मानव-तन तो उपलव्ध हुआ किन्तु तामसी गुण का वाहुल्य है, कलियुग का वाहुल्य है तथा भजन में हमारा मन लगता ही नहीं। तब तो हमारा मानव होना ही वेकार हुआ। ऐसी परिस्थिति में हमारे लिए भजन का विधान है भी कि नहीं? किन्तु भजन का विधान तो है-

कृतयुग सब योगी विज्ञानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी।।

सतयुग में सब योगी और विज्ञानी होते हैं। भगवान का ध्यान करते ही स्वाभाविक ध्यान जम जाता है और पार हो जाते हैं। अर्थात् जव सात्विक गुण कार्य करेगा, अनुभवी उपलब्धि होगी; उस समय सहज ध्यान की क्षमता आप में होगी।

त्रेता विविध यज्ञ नर करहीं। हरिहिं समर्पि कर्म भव तरहीं।।

जब त्रेता की योग्यता होगी तव भगवान को सम्पूर्ण कर्म समर्पण करने की क्षमता होगी। **'यज्ञाना जप यज्ञोऽस्मि'** श्वास-प्रश्वास का यज्ञ सभी यज्ञों में सर्वोपरि है। लेकिन यज्ञ की श्रेणी वाले जप का उतार-चढाव इस श्वास के ऊपर है। यह न माला के ऊपर है, न जुबान के ऊपर। त्रेता में विविध यज्ञ अर्थात् श्वास-प्रश्वास का यजन करने की क्षमता होगी, भगवान को कर्म समर्पण करने की क्षमता होगी तो समर्पण कर क्रिया में प्रवृत्त रहकर वह भवसागर का पार पा लेता है।

द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा।।

जब आप द्वापर की श्रेणीवाले होंगे तो ध्यान तो लगेगा नहीं क्योंकि मन में दुविधा लगी है तो 'पद पूजा'-भगवान के स्वरूप को हृदय में पकडना, चरणों में मन को केन्द्रित करना (ध्यान रहे यह केवल करने का प्रयास मात्र है, होता नहीं, बस अभ्यास करने की क्षमता होती है) ऐसा करके वह भवसागर का पार पाता है।

कलियुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावत भव थाहा।।

यदि हम कलियुग के स्तर वाले हैं तो केवल 'हरि गुन गाहा' भगवान का गुण-गायन, उनकी लीलाओं का चितन--जैसे रामायण मे यह लिखा है, कृष्ण ने ऐसी लीलाएँ कीं, उन महापुरुषों का चरित्र ऐसा था, इत्यादि गुण गायन और नाम का जप के अतिरिक्त कलियुग से पार जाने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। जव मन विकल है, तामसी गुण है, वैर-विरोध भरा है, राग-द्वेष का सचार है, मन हवा से वातें करता है, उस समय यदि हम ऑख मूँदकर वैठ जायॅ तो शरीर तो वेशक वैठा रहेगा लेकिन जिस मन को ध्यानस्थ होना है वह तो हवा में वातें करता है, इसलिए वह नहीं

लगेगा। ऐसी परिस्थिति मे बैठे रहने से, समय नष्ट करने से क्या लाभ? इस परिस्थिति मे लीलाओ के श्रवण करने और साधारण नाम-जप की स्वाभाविक क्षमता होती है। ऐसा करने से मनुष्य भवसागर का थाह पा जाता है।

प्रश्न खडा होता है कि क्या चार भवसागर है? तो नहीं, भवसागर तो एक ही है किन्तु उससे पार होने के लिए चिन्तन-पथ की चार श्रेणियॉ है। उन्हें ही सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि कहा गया। यदि हम कलियुग की श्रेणी के है, प्रवेशिका वाले है, तो इस अथाह भवसागर से पार होने के लिए साधना का आरम्भ गुण-गायन और नाम-जप से ही करना होगा। इससे हम भवसागर से सीधे पार नहीं हो जायेगे बल्कि द्वापर मे प्रवेश मिलेगा। जव हमारे अतराल मे पद-पूजा की क्षमता आ जायगी तो उसका अभ्यास करते-करते भवसागर का थाह पायेगे। इतने से ही पार नहीं हो जायेंगे वल्कि चरणो का चिन्तन और उसे हृदय मे पकडने के सतत् अभ्यास के फलस्वरूप त्रेता में प्रवेश मिलेगा। उस समय श्वास-प्रश्वास का यजन, ईश्वर मे कर्मों का समर्पण करने की योग्यता हम में स्वाभाविक होगी और ऐसा करने पर ही मनुष्य भवसागर का पार पाता है। ऐसा नहीं है कि त्रेता से ही सीधे-सीधे पार लग जायॅ वल्कि इतना कर लेने पर सतयुग मे प्रवेश मिलेगा। उस समय ईश्वरीय ध्यान की स्वाभाविक क्षमता होगी। जब लगाना चाहेगे, जिस क्षण लगाना चाहेंगे,मन तुरन्त स्वरूप को पकड लेगा, केन्द्रित हो जायगा। अनुभवी उपलब्धि होगी। प्रत्येक समस्या का हल वुद्धि से न होकर ईश्वर के निर्देशन पर आधारित होगा। ऐसा करके मनुष्य भवसागर का पार पा जायेगा।

इस प्रकार ये साधन-पथ की चार श्रेणियॉ है। इसी को महापुरुषो ने कलियुग, द्वापर, त्रेता ओर सतयुग इन चार सोपानों में विभक्त किया है। महर्षि पतजलि ने 'योगदर्शन' में इन्ही का उल्लेख अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणी के साधको के रूप मे किया हे। गोस्वामी जी ने अरण्यकाण्ड में 'उत्तम के अस वस मन माहीं'-माताओ के माध्यम से इन्हीं चारों युगधर्मों का निरूपण किया है।

१-हम नि सन्देह कलियुगी है लेकिन चिन्तन के माध्यम से क्रमश द्वापर, त्रेता, सतयुग और उसका भी पार पाकर व्रह्म के दिग्दर्शन काल मे उसके स्वरूप की स्थिति पा सकते है। अत युगधर्म सवके हृदय मे हैं और गुणों के परिवर्तन से युगधर्म वदले भी जा सकते हैं।

२- युगधर्म वहीं तक चलते है जव तक ईश्वर अलग है, हम अलग हैं। युगधर्म तव तक निरन्तर चलते हैं जव तक परमतत्त्व परमात्मा का आविभाव नहीं हो जाता। उस आविर्भाव के साथ ही साधना, युगधर्म और उसकी केन्द्रभूमि मन भी शान्त हो जाता है और इनमें प्रवाहित तीनों गुणों का भी विलीनीकरण हो जाता है। वही शाश्वत राममयी स्थिति है-

काल धर्म नहि व्यापइ ताहि। रघुपति चरन प्रीति अति जाहि।।

३- वास्तव में युगधर्मों के उतार-चढाव की स्थली मन है, इसीलिए-

बुध युग धर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं।।

विवेकी लोग युग-धर्म को मन के अतराल में जानकर अधर्म से धर्म की ओर, छोटे धर्म से महान धर्म की ओर क्रमश अग्रसर होते हैं। स्पष्ट है कि युगधर्मों को वदला जा सकता है।

४- अव, यदि हम समाज का वास्तविक कल्याण चाहते हैं तो मिलकर सत्य के लिए प्रयास करें। जव वहुमत मे सत्यप्रधान लोग होंगे तो सतयुग स्वाभविक, स्वतः हो जायेगा। समाज में आप परमकल्याण के स्रष्टा कहलायेंगे। लोक-कल्याण भी होगा और स्वयं तो कल्याण-भाजन होंगे ही।

५- अनुभवी अतस्प्रेरक महापुरुप के द्वारा ही युगधर्मो का पार पाया जा सकता है। इससे सामान्य पाठक की अनेक भ्रान्तियों का भी निराकरण होगा और उन्हें अनन्त शाखाओं में से उचित मार्ग का चयन कर सकना संभव हो सकेगा कि वे किस कोण से प्रारम्भ करें। वे तभी जान पायेगे कि किस मार्ग पर चलकर वे वस्तुत कल्याण के भागी हो सकते हैं। अत किसी अनुभवी महापुरुष के लिए अत करण मे सदैव शोध की लालसा रखें।

प्रश्न- महाराज जी, गोस्वामी जी ने नारियों के माध्यम से युगधर्म का चित्रण क्यों किया?

उत्तर- आप स्त्री हों अथवा पुरुप, यह शरीर भजन नहीं करता। इष्टोन्मुख प्रवृत्ति ही भजन करती एव कराती है जो स्त्री सज्ञा में आती है, इसीलिए नारियों को प्रतीक वनाकर उसका चित्रण किया गया।

।। ॐ ।।

स्वार्थ

प्रश्न- महाराज जी! दुनिया में स्वार्थियों की भरमार है। 'सुर-नर-मुनि' भी इससे नहीं बच सके। फिर स्वार्थ रहते परमार्थ कैसे होगा?

उत्तर- देखिये, अभी हमने पूछा था तो यह दस साल का लडका! इसे भी ज्ञात है कि स्वार्थी अधिक हैं। साठ-सत्तर वर्षीय वयोवृद्ध भी कह रहे हैं कि हम स्वार्थी हैं, स्वार्थियो की भरमार है। किन्तु नहीं, वस्तुत. ससार मे स्वार्थी कम है। स्वार्थ के दो स्वरूप हैं। एक स्वार्थ तो वह है जैसा अभी आपने कहा। इसी से अभिभूत होकर लोग रात-दिन झूठ-कपट तथा छल-छद्म करते रहते हैं। उनसे पूछा जाय कि ऐसा आज क्यों करते हैं, तो कहेंगे स्वार्थ के लिए। यह एक प्रकार का स्वार्थ है, किन्तु यौगिक शास्त्रों में स्वार्थ की जो परिभाषा थी उसमें और इसमें पूरब और पश्चिम का अन्तर है। उस दृष्टि से देखें तो दुनिया में स्वार्थी कम हैं।

रामचरित मानस के अनुसार भरत स्वार्थी थे। माता कैकेयी ने भरत के लिए साम्राज्य की व्यवस्था कर दी। साम्राज्य भी ऐसा, जिसमें कोई कमी नहीं थी। यहाँ तक कि-

अवध राजु सुरराज सिहाई। दशरथ धन सुनि धनद लजाई।। (२।२२३।६)

अवध का कोष इतना सम्पन्न था कि धनपति कुबेर भी लज्जित हो जाता था। सोचता था कि अवध की तुलना में तो मेरे पास कुछ भी नहीं है। और सम्मान कितना था?

आगे होइ जेहिं सुरपति लेई। अरध सिंहासन आसन देई।। (२।९७।४)

देवराज इन्द्र भी अवध के नरेशों से आगे बढकर मिलते थे, अपना आधा सिहासन उन्हें बैठने के लिए देते थे। सम्मान में इन्द्र के समकक्ष, ऐश्वर्य में कुबेर से भी उत्कृष्ट साम्राज्य की व्यवस्था अम्बा कैकेयी ने भरत के लिए कर दी; फिर भी भरत विकल थे। कहीं कोई कमी कसक रही थी, उसकी पूर्ति के लिये वे चित्रकूट चल पड़े। रोते-बिलखते जब प्रयाग पहुँचे, सुना कि यह प्रयागराज सब कुछ देने में समक्ष हैं, इन तीर्थराज का महत्त्व अगाध है तो भरत प्रार्थना करने लगे, भीख माँगने लगे-

माँगउँ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू।। (२/२०३/७)

ऐसा कौन सा कुकर्म है जो आर्त नहीं करता? मनुष्य भीख कब माँगता है? जब पेट नहीं भरता। मनुष्य आर्त कब होता है? जब अर्थ की कमी होती है। अर्थ तो कुबेर से भी अधिक था, फिर भरत आर्त क्यों थे? वस्तुत एक अर्थ तो रुपया-पैसा है जिससे जीविका की व्यवस्था होती है, किन्तु एक सम्पत्ति आत्मिक भी है जो इस शरीर का नहीं वल्कि आत्मा का पोषण करती है। इसी आत्मिक सम्पत्ति के लिये भरत आर्त थे। चित्रकूट की सभा में भरत इसकी पुष्टि भी करते हैं- **कहउँ वचन सब स्वारथ हेतू। रहइ न आरत के चित चेतू।।** (२।२९८।४)

मैं जो कुछ कह रहा हूँ, अपने स्वार्थ के लिये कह रहा हूँ। आर्त के चित्त में चेत नहीं रहता। स्वार्थ के लिये भरत आर्त हैं, अपना धर्म त्यागकर गिड़गिडा रहे हैं, भीख माँग रहे हैं। माँगा भी तो क्या?-

सीताराम चरण रति मोरे। अनुदिन वढ़उ अनुग्रह तोरे।। (२।२०४।२)

भिक्षा मे उन्होने भगवान के चरण कमलों का स्नेह मॉगा। भरत की दृष्टि में भगवान के चरण कमलों का स्नेह ही एकमात्र स्वार्थ है।

भगवान राम तो नहीं लौटे लेकिन उनकी खडाऊँ मिली। भरत ने उसे सिर पर रखा, लौट पडे और नन्दिग्राम में आकर वैठ गये। चिन्तन करते-करते सुरत की डोरी जव लग गई, उन खडाऊँओं की पूजा में मन केन्द्रित हो चला तव उन्होंने अपने स्वार्थ को कुछ हल हुआ समझा। यद्यपि-

देह दिनहुँ दिन दूवरि होई। घटइ तेज वलु मुख छवि सोई।
नित नव राम प्रेम पनु पीना। वढ़इ धरम दलु मनु न मलीना।।

(२।३२४।१-२)

शरीर उत्तरोत्तर दुवला होता जाता था (खान-पान से वढनेवाला वल घटता जाता था) किन्तु 'मुख छवि सोई' मानसिक प्रसन्नता वही थी क्योंकि राम के प्रेम का प्रण नित्य नवीन तथा परिपुष्ट होता जा रहा था, इसीलिये मानसिक प्रसन्नता कम नहीं थी, मन मलीन नहीं था। यहाँ पर भरत ने अपने स्वार्थ को कुछ हल होते देखा और जव राम लौटे, उस दिन उन्होंने अपना स्वार्थ सम्पन्न पाया।

कागभुशुण्डि जी स्वार्थी थे। एक समय गरुड को सन्देह हो गया। वे नारद, ब्रह्मा इत्यादि के पास से होते हुए शकरजी तक पहुँचे। शकरजी ने कहा कि आपका सशय इतना शीघ्र दूर नहीं होगा-

तबहि होइ सब संशय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा।। (७।६०।४)

दीर्घकाल तक सत्सग करो, तभी तुम्हारा संशय दूर होगा। वह सत्सग जहाँ होता है, मैं तुम्हें वहीं भेज देता हूँ। शकर जी ने गरुड को कागभुशुण्डि आश्रम पर भेज दिया। आश्रम में जाते ही उनके सन्देह अधिकाश दूर हो गये, जव सत्सग आरम्भ हुआ तो सर्वथा निर्मूल हो गये। गरुड ने कहा- अब मुझे कोई सन्देह नहीं है किन्तु भगवन्! आप समर्थ हैं, महाप्रलय में भी आपका नाश नहीं होता- ऐसा भगवान शकर ने बताया है और भगवान शंकर कभी झूठ नहीं वोलते- **मुधा वचन नहि ईश्वर कहई** (६।६३।६)जब आप इतने समर्थ हैं कि महाप्रलय में भी आपका नाश नहीं होता तो फिर आपने यह निकृष्ट काला कलूटा कौवे का तन क्यों धारण कर रखा है? कागभुशुण्डि जी ने इसका एक ही उत्तर दिया-

जेहि ते कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई।। (७/९४/८)

जिससे अपना निजी स्वार्थ होता है, उस पर सभी ममता करते ही हैं। भला इस निकृष्ट काग-तन से कौन-सा स्वार्थ सिद्ध हुआ? महर्षि काग समाधान करते हैं-

राम भगति एहिं तन उर जामी। ताते मोहि परम प्रिय स्वामी।। (७/९५/४)

इसी निकृष्ट तन से मुझे राम-भक्ति उपलव्ध हुई, इसीलिए यह मुझे परमप्रिय है।

महर्षि ने यह भी कहा कि मैं सदैव कौवा ही रहा, ऐसी वात भी नहीं है। मैंने सुन्दर तन भी धारण किया था-

कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं।।

देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहि की नाईं।। (७/९५/६)

दानव-देव, कीट-पतग, पशु-पक्षी, ऊँच-नीच ऐसी कौन-सी योनि है जिसमे हमने भ्रमवश वार-वार जन्म न लिया हो। सभी प्रकार की क्रियाएँ करके भी मै थक गया किन्तु इस बार कौवे के तन में, जिसे आप निकृष्ट कहते है, मुझे भक्ति उपलब्ध हुई है। इस बार मै जैसा सुखी हुआ हूँ वेसा कभी नहीं रहा। ऐसा देव-तन भी किस काम का जो रामभक्ति से शून्य है? कागभुशुण्डि जी का निर्णय है कि रामभक्ति ही एकमात्र स्वार्थ है-

स्वारथ सॉच जीव कहु एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा।। (७।९५।१)

वस्तुत जीवमात्र का सच्चा स्वार्थ मन-क्रम-वचन से भगवान के चरण कमलो मे स्नेह का होना ही है। 'स्व' का अर्थ ही स्वार्थ है जिससे स्वय की सिद्धि होती है, 'स्व' रूप की उपलव्धि होती हे। धन-दौलत, विशाल साम्राज्य किसके रह गये? जव शरीर ही हमारा साथ नहीं देगा फिर इसके सुख के लिये सग्रहीत वस्तुएँ कव साथ देगी? मकान-दुकान, पद-प्रतिष्ठा, राज्य-वैभव पा लेने पर भी वस्तुत 'स्व' को कुछ नहीं मिलता क्योंकि हम शरीर तो है नहीं! दूसरे, इन नश्वर भोगों में 'स्व' का वास्तविक कल्याण निहित नहीं, वह तो रामभक्ति से ही होगा। अत जीवमात्र का वास्तविक स्वार्थ इसी में है कि इष्ट के चरण-कमल में स्नेह हो जाय। इससे आप परमात्मस्वरूप का दिग्दर्शन कर उसी स्थिति को प्राप्त करेगे जहॉ से फिर कभी पतन नहीं होता। यही सच्चा स्वार्थ हे।

कालान्तर में इस शव्द का अपभ्रश हो गया। आतरिक आशय को लोग बाह्य वस्तुओ मे खोजने लगे। इसी को लक्ष्य करके गोस्वामी जी लिखते है-

करहिं मोह वश नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना। (७/४०/४)

मोहासक्त मनुष्य नाना प्रकार के कुकृत्य करता है। अपनी सूझ-बूझ से तो वह स्वार्थ में ही अनुरक्त है किन्तु 'परलोक नसाना' यहॉ के भोग-विलास तो यहीं छूट जाते हैं, वह परलोक तक भी खो वैठता है क्योंकि मोहाच्छन्न नहीं जान पाता कि वास्तविक स्वार्थ तो मन-क्रम-वचन से भगवान के चरणों मे स्नेह का होना ही है।

कहते तो सभी हैं कि हम मन-क्रम-वचन से भगवान का भजन करते हैं, तव तो सभी सच्चे स्वार्थी हैं? परन्तु नहीं, उसकी भी एक कसौटी है, भजन करने का एक विधान है। विभीपण जव शरण में गया तो राम ने स्वय उस विधि पर प्रकाश डाला--

जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।।
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बॉध बरि डोरी।।

माता-पिता, पुत्र, भाई, स्त्री, प्रिय परिवार, परम हितैषी अथवा जहॉ तक मन का लगाव है, वहाँ-वहॉ से ममत्व के धागों को समेटकर एक रस्सी वना लें और सारे ममत्व का केन्द्र मेरा चरण बन जाय। मन को सव ओर से समेटकर मेरे चरणों में रस्सी वनाकर वॉध दें। ऐसा जो भी कर ले 'करउँ सद्य तेहि साधु समाना।'- मैं तत्काल उसे साधु के समानान्तर स्थिति प्रदान कर देता हूँ, साध्य वस्तु को सम्भव करा देता हूँ।

इस प्रकार स्वार्थी वनने की कसौटी इतनी कठिन है कि सभी उस पर खरे उतरने की कल्पना

भी नहीं कर सकते। मित्र-परिवार, सगे-सम्बन्धी सबका त्याग सबसे नहीं होता। किसी विरले से ही पार लगता है। इसीलिए गोस्वामी जी ने सच्चे स्वार्थियों की गणना कर डाली।

श्रद्धा एव विश्वास के साथ स्वार्थ के लिए प्रयत्नशील अल्पभाव वाले भी एक दिन सुर-नर-मुनि की शुद्ध रहनी में परिवर्तित हो जाते हैं--

सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहि सब प्रीती।। (४।१२।२)

मानव-जगत् में साधकों की तीन श्रेणियाँ ही ऐसी हैं जो केवल स्वार्थ के लिए प्रीति करती हैं। वे साधक न तो ऋद्धि के लिए लालायित होते हैं, न सिद्धि ही उन्हें आकर्षित कर पाती है, बल्कि मन-क्रम-वचन से इष्ट के चरणों में ही उनका लगाव रहता है। 'सुर' उन साधकों को कहते हैं जो दैवी-सम्पत्ति को हृदय में ढाल चुके हैं। दैवी सम्पत्ति जब हृदय में पूर्णत प्रवाहित हो जाती है, उस समय आसुरी वृत्तियों का शमन हो जाता है, साथ ही सुरा में प्रवेश करने की क्षमता आ जाती है। अत सुरा में विचरने की क्षमता वाले सुर कहलाते हैं। इष्ट के अतिरिक्त अन्य सकल्प-विकल्प उसके चिन्तन में बाधक नहीं होते। इसी प्रकार नर भी साधना का एक स्तर विशेष है। लिग-भेद के आधार पर नारी और नर का लौकिक विभाजन यहाँ अभीष्ट नहीं है। 'मानस' के समापन पर गोस्वामी जी ने मानस-रोगों का निदान किया और अन्त में 'नर' के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला--

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहुशूला।।
काम वात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।।
(७/१२०/२६-३०)

मोह सम्पूर्ण व्याधियों का मूल है। काम वात है। कफ लोभ है। क्रोध-पित्त है जो निरन्तर छाती जलाता रहता है--

प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।।

काम, क्रोध, लोभ तीनों जब हृदय में एक साथ कार्य करने लगते हैं तो दुखदायी सन्निपात हो जाता है। वह व्यक्ति फिर जलपता-कलपता ही रह जाता है, भगवच्चरणों में उसे सोचने का अवकाश ही नहीं रहता। **'अहंकार अति दुखद डमरुआ'**- अहकार दुखदाई गँठिया रोग है। इसी तरह--

तृष्णा उदर-वृद्धि अति भारी। त्रिविध ईषना तरुन तिजारी।।

तृष्णा उदर वृद्धि के समान है जो बढती ही जाती है। इस प्रकार बीसों रोगों की परिगणना के अन्त मे गोस्वामी जी निर्णय देते है--

एक व्याधि बस नर मरहिं, ए असाधि बहु व्याधि।
पीड़हि संतत जीव कहुँ, सो किमि लहै समाधि।। (७/१२१ क)

उपर्युक्त रोगों में से यदि एक भी व्याधि नर का स्पर्श कर दे तो 'नर मरहि'- नर मर जाता है। सिद्ध है कि नर कोई ऐसा स्वरूप है जिसमें लोभ, मोह, काम-क्रोध, मद-मत्सर इत्यादि मन के रोग नहीं होते। सयोग मे, इनमें से यदि किसी व्याधि ने भी स्पर्श कर लिया तो वह व्यक्ति नरत्व से च्युत हो जाता है और जिसके पास सभी व्याधियाँ हों तो वे **'पीड़हिं संतत जीव जड़**

सो किमि लहै समाधि।' वह व्यक्ति जीव और जड़ है, उसके समाधि लेने का तो कोई प्रश्न ही नहीं खडा होता।

श्रोताओं से महाराज जी ने पूछा--बतावे, आप सब में काम है? क्रोध है? लोभ है? 'सभी भरे हैं महाराज'--सबने उत्तर दिया। महाराज ने कहा, भला बताइये कि इनमे से एक भी रोग जिसका स्पर्श कर ले, वह नर मर जाता है। आप तो जी रहे हैं। मर क्यो नहीं जाते?

स्पष्ट है कि नर कोई ऐसा स्वरूप है जिसमें एक भी मानस-रोग नहीं होता। नर वह है जिसके ऊपर से ''माया रूपी नारि' का प्रभाव टल चुका हो, भले ही वह आक्रामक के रूप मे खडी हो। विकार खडे हैं, लेकिन स्पर्श नहीं कर पाते। कदाचित् वे विकार सफल हो गये तो वह व्यक्ति नरत्व से च्युत हो जाता है। इसी तन को गोस्वामी जी ने मानुष तन की सज्ञा दी है--

बडे भाग्य मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।। (७/४२/७)

वडे भाग्य से मानुष तन अर्थात् मन के अन्तराल में टिकनेवाला तन प्राप्त होता है। यह देवताओं को भी दुर्लभ है--ऐसा सद्ग्रन्थो ने गायन किया है। ऐसे नर-तन को प्राप्त कर जो भवसागर का पार पा नहीं लेता; गोस्वामी जी कहते हैं वही आत्महत्यारा है।

अत. सुर-नर-मुनि ही एकमात्र स्वार्थ-हेतु प्रीति करते हैं। भगवान के चरण कमलो में स्नेह ही सच्चा स्वार्थ है। इसी स्तर के स्वार्थी भरत थे, कागभुशुण्डि थे, हनुमान और लक्ष्मण थे। 'महाभारत' में अर्जुन भी इसी स्तर के स्वार्थी थे। उन्होंने कृष्ण से कहा कि धन-धान्य सम्पन्न त्रिलोकी के साम्राज्य से भी हमारा क्या प्रयोजन? सिद्ध है कि भौतिक उपलब्धियो से वह स्वार्थ--'स्वय' का हित, स्वय की उपलब्धि सम्भव नहीं है।

'स्वय' को प्राप्त करनेवाले प्रत्येक महापुरुष का यही निर्णय है। योगदर्शनकार महर्षि पतजलि एक महापुरुष थे। स्वार्थ के सन्दर्भ में उनकी भी मान्यता है-

सत्व पुरुषयोरत्यन्ता संकीर्णयोः प्रत्यया विशेषो भोगः।
परार्थान्यस्वार्थ सयमात्पुरुष ज्ञानम्।। पातजल योग, विभूतिपाद ३५।।

अर्थात् सत्व (वुद्धि) और पुरुष (आत्मा) दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। इनको कभी एक नहीं किया जा सकता। इनका जो सम्मिश्रण सा हो गया है, जिसे मानव विचार से विलग नहीं कर पाता, वही भोग हे जिसकी दो प्रवृत्तियॉ परार्थ और स्वार्थ है। जव बहिर्मुखी परार्थ को दवाकर सयम स्वार्थ की कसौटी पर आ जाता है तो 'पुरुष ज्ञानम्' परम पुरुष परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। दुनिया में वहुसख्यक जिसे स्वार्थ कहते हैं उसके द्वारा सम्पत्ति चाहे जितनी मिल जाय, किन्तु उससे परमात्मा मिलता दिखायी नहीं देता। अत जिससे यह आत्मा परमात्मा का साक्षात् कर ले, वहीं स्वार्थ है।

साक्षात्कार किसका होगा? किसी रूप का? नहीं, वह तो मन की एक कल्पना है। ''गो गोचर **जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।''** आप शरीर तो हैं नहीं, मन भी नहीं हैं। आप तो आत्मा हैं। जो शाश्वत है, एकरस है उस आत्मा का दिग्दर्शन हो जाय, पुन योनियों का चक्कर न काटना पडे, तभी पुरुप का स्वार्थ सिद्ध होता है।

महाभारत का प्रस्तुत आख्यान इसी तथ्य का प्रतिपादन करता है। एक यक्ष शापवश अजगर

वनकर जलाशय पर पडा हुआ था। उसके चार प्रश्नों का उत्तर दिये विना जो भी जलाशय से जल लेने का प्रयास करता वहीं निश्चेष्ट होकर उसका आहार वन जाता। यथार्थ उत्तर पाते ही अजगर की शाप से मुक्ति का विधान था। वनवास काल में विचरण करते हुए एक वार पाण्डव उसी जलाशय के पास आये। युधिष्ठिर ने सहदेव को जल लेने भेजा। अजगर ने अपना प्रश्न रखा। सहदेव ज्ञानी तो थे किन्तु उन गूढ प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाये। धर्मराज की आज्ञानुसार जल ले जाना भी आवश्यक था। सहदेव ने अजगर की उपेक्षा करके जहॉ जल का स्पर्श किया, निश्चेप्ट हो गये। क्रमश नकुल, अर्जुन और भीम की भी यही दशा हुई। अन्त में धर्मराज युधिष्ठिर पहुँचे। पूछा--महाभाग अजगर! आप कौन हैं? मेरे शूर-वीर भाई सज्ञाशून्य कैसे हो गये? मैं प्यासा हूँ, मुझे जल चाहिए। अजगर ने उनसे भी अपना प्रश्न दुहराया- **का च वार्ता, किमाश्चर्यम् कः पन्था कश्च मोदते'** अर्थात् वार्ता क्या है? आश्चर्य क्या है? रास्ता कौन है? और सुखी कौन है?

युधिष्ठिर ने समाधान किया कि मोहरूपी कड़ाह में जीवों को रात-दिन काल पका रहा है, इसमें उपयोगी वार्ता वही है जो तत्त्व का निर्णय प्रदान करे। मनुष्य एक-एक करके काल के गाल मे सिमटते जा रहे हैं फिर भी वचे हुए लोग अपने को अजर-अमर मानते हैं; काल से वचने का प्रयास नहीं करते, इससे बडा आश्चर्य क्या होगा? **'महाजनः येन गतः स पन्था'**- जिस रास्ते से महापुरुष, भगवान के महान् भक्त निकल गये, वही हमारा अभीष्ट पद है। इसी प्रकार परमतत्त्व में स्थित निस्पृह महापुरुष ही वस्तुत सुखी हैं जिनके पीछे दु ख नहीं है।

इन उद्‌बोधनों को सुनकर अजगर की जड़ता समाप्त हो गई। वह पुनः यक्ष के स्वरूप में परिणत हो गया। बोला--राजन्! आपकी जानकारी यथार्थ है। हम आपसे प्रसन्न हैं। आप जिसे कहें, आपके एक भाई को हम जीवित कर सकते हैं। युधिष्ठिर ने नकुल या सहदेव में से किसी को जिलाने की सम्मति व्यक्त की। यक्ष ने कहा कि भीम और अर्जुन जैसे भाई वन में निशाचरों से आपकी रक्षा करते है, उन्हें छोडकर इन बच्चों से आप कौन-सा स्वार्थ सिद्ध करेंगे?

युधिष्ठिर ने कहा कि शरीर तो नश्वर है। किसी दिन तो यह चला ही जायगा। अत धर्म की रक्षा ही जीवात्मा का एकमात्र स्वार्थ है। मुझे अपनी रक्षा का भय नहीं अपितु धर्म का भय है। कुन्ती का एक पुत्र मै जीवित हूँ, नकुल या सहदेव के जीवित रहने पर माद्री का भी वश जीवित रहेगा। धर्म यही कहता है। युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा देखकर यक्ष ने सवको जीवित कर दिया।

अत· प्रचलित भ्रम का परित्याग करके हम सबको वास्तविक अर्थो मे स्वार्थी बनने का प्रयास करना चाहिए।

।। ॐ ।।

शिक्षा और विद्या

प्रश्न– महाराज जी! आजकल बहुत से पढ़े-लिखे बेकार भटक रहे है, उनको नौकरी नहीं मिलती। लगता है कि विद्या अनावश्यक है। विद्यालयों में बच्चों का समय अकारण क्यों नष्ट किया जाय?

उत्तर– देखिए, शिक्षा का अर्थ नौकरी नहीं होता। आप जब एम० ए० अथवा किसी क्षेत्र में 'रिसर्च' तक पहुँच गये तब देश को आपके जीवन की चिन्ता नहीं होनी चाहिए। इसलिए कि आप अब सक्षम हैं, अपनी जीविका का स्रोत स्वय ढूँढ निकालेंगे। इसी का नाम तो शिक्षा है। पूर्ण शिक्षित होने के बाद भी यदि आप किसी की आशा करते हैं तो आपके पास शिक्षा कहाँ है? आप कोई व्यवसाय, कोई हुनर तुरन्त शोध निकालेंगे, ऐसी कला जिसमे मनुष्य को ठेस न पहुँचे। यह नहीं कि डाका डालने लगे, नहीं तो चन्द दिनो मे ही मारे जायेंगे। आजकल ऐसी उलटी खोपडी वालों की औसत आयु बीस से तीस वर्ष तक ही होती है क्योकि अठारह वर्ष के बाद ही उनका सिर घूमता है। पहले दो-चार वर्ष तो लडकपन मे वीतते है कि चलो लडका है, भूल हो गयी फिर पचीस वर्ष तक आते-आजे लोग सोचेंगे 'सीरियस' है, खतरनाक है, फिर तो वह अकेला छिपनेवाला और हजारो उसका पीछा करेंगे, कब तक वचेगा? अत यह मानवता नहीं है।

अब यदि आप इधर देखे तो ये भेड चरानेवाले गडेरिये, इनके पास कोई शिक्षा नहीं है, लेकिन ये सुखी है। खाते-पीते परिवार आज के बुद्धिजीवियों से अधिक सुखी हैं क्योंकि इनकी चिन्ताएँ, आवश्यकताएँ कम हैं। दण्ड-वैठक लगाया, भेंड चराया, दूध पीया, जो मिला पेटभर खाया, केवल मटर मिला तो उसी की रोटी बनी। न इन्हें कभी अजीर्ण होता है न अरुचि होती हे। साठ वर्ष की आयु हो गयी लेकिन इन्हे कभी भी वैद्य की आवश्यकता नहीं पडी। अभी कुछ दिनों पहले इन्होंने आश्रम के बगल में भेंड रखा था। रातभर मूसलाधार वर्षा होती रही। सवेरे हमने इनसे पूछा कि रात तो तुमलोगों को वडा कष्ट रहा। रातभर पानी में भींगते रहे तो वे वोले-- नहीं, महाराज! 'लोमड के जाडा और अहिर, गड़ेरिया के वर्षा हितात है।' हम लोगों को कोई कष्ट नहीं रहा। रात को कपडे भींग जाते हैं तो सुबह सुखा लेते हैं। दिन भर के भींगे वस्त्र शाम को सुखा लेते है। रात वाले कपडे सुबह पहन लेते हैं? इसी क्रम से चलता रहता है। हमने पूछा- क्या कपडे सूख जाते हैं? वे वोले, 'पानी चूना वन्द हो गया, वाकी शरीर पर सूखते रहेंगे।' न उनको शीत होती है, न गर्मी। यहाँ कोई भींगे वस्त्र पहनकर रहे या दो घण्टे भींग ले तो वीमार पड जाय दवा खानी पडेगी लेकिन इनके स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव नहीं पडता। इनमें प्रकृति को सहन करने की क्षमता है। हमने पूछा-- तुम्हें कोई चिन्ता तो नहीं है? तो वोला-- नहीं महाराज! कोई चिन्ता नहीं। हमने पूछा-- कोई दु ख? तो सोचते-सोचते वहुत देर के वाद उनमें से एक वोला-- हमको तो कोई दु ख समझ में नहीं आता महाराज! यही जव सवेरे आँख खुलती है तो सोचते हैं कि भेंड इधर हाँके या उधर और जव भेड चल पडीं तव फिर चौवीस घण्टों के लिए कोई चिन्ता नहीं। हमने कहा-- तुम्हें अपने स्त्री-वच्चों की चिन्ता नहीं सताती। मान लो, कोई वीमार पड जाय तो? वह वोला-- घर में जो सयान होगा देखेगा। अव हम भेड़ौं चराई ओर घरों देखीं? वोलिये!

कितने स्वस्थ है ये लोग, शरीर और मस्तिष्क से। कोई चिन्ता नहीं, कोई दु.ख नहीं। इतने के लिए ही तो दुनिया तरसती है। इधर बुद्धिजीवी दिन-रात घुलता रहता है कि हमारी इज्जत, हमारी मर्यादा, हमारा 'स्टैन्डर्ड', इसे कैसे बनाये रखें?

अब देखा जाय तो प्रकृति-पुत्र गडेरिये इत्यादि अधिक स्वस्थ, चिन्ताविहीन और सुखी दिखाई देते हैं, हैं भी, लेकिन नहीं, ऐसे रहने से दुनिया जीने नहीं देगी। अशान्त प्रकृतिवाले शान्तिप्रिय लोगों को जीने नहीं देते। चीन ने तिब्बत को हडप लिया। भारत में भी शस्त्रविद्या किसी समय बहुत चढी-बढी थी। भारत सम्पूर्ण विद्याओं में निपुण था किन्तु महाभारत के पश्चात् शस्त्र-विद्या मे न्यूनता आ गयी। स्वाभाविक रूप से जो शस्त्र उपलब्ध थे उसी से लोग काम चलाने लगे। जब बाबर इत्यादि की लडाई हुई तो बाबर के पास तोपखाना था, जो भारतीयों के पास नहीं था। इधर केवल भाला और तलवार चलानेवालों की भीड थी। इसलिए राजपूतों को हारना पडा। यह तोपखाना भी भौतिक शिक्षा की ही देन है। इससे भी उन्नत शिक्षा अग्रेजों के पास थी। जिसके बल पर उन लोगों ने एक बार तो सम्पूर्ण विश्व पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। गड़ेरिए की तरह शान्त-प्रकृतिजीवियों को उन्होने जीने नहीं दिया, जैसा अग्रेजों ने आस्ट्रेलिया में किया। या तो उन्हें प्रकृतिप्रिय पशुओ की तरह गुलाम बनाकर अन्य देशों को सप्लाई कर बेंच दिया अथवा अपने फार्मो पर उनसे बेगार कराया। यह मात्र शिक्षाहीनता का कुपरिणाम था। संसार में यदि हमें कुशलतापूर्वक जीना है तो शिक्षा अपरिहार्य है। इतना ही नहीं, अपितु शिक्षा के अभाव में हम अपनी अध्यात्म विद्या को सॅजोकर रख नहीं सकेंगे। कोई आचार्य पद्धति से कुछ भी सुझाव देगा, हम शिक्षा के अभाव मे उसे स्वीकार कर लेगे। इसीलिए आज पीने से, खाने से, नदी-नाला पार करने से सनातन धर्म नष्ट होने लगा है, जो एक भ्रम है। इस प्रकार धर्म की जानकारी को सॅजोकर रखने के लिए भी शिक्षा परम आवश्यक है।

शिक्षा से लाभ चाहे जितने हो किन्तु वह विद्या नहीं है। विद्या कुछ और ही है। आजकल भ्रमवश भौतिक जानकारी को विद्या और उसके जानकार को विद्वान कहा जाता है किन्तु वस्तुत विद्या और शिक्षा में महान् अन्तर है। दुनिया में जीवन की दो धारायें हैं--एक तो जीवनयापन और दूसरी परमतत्त्व परमात्मा की प्राप्ति। कुशलतापूर्वक जीवनयापन के लिए शिक्षा आवश्यक है किन्तु यह आत्मा जिसका अश है उस परमात्मा तक पहुॅचानेवाली तथा उस अमृततत्त्व को प्राप्त करा देनेवाली युक्ति विशेष का नाम विद्या है। आजकल के विद्यालयों, विश्वविद्यालयों में दी जानेवाली शिक्षा वह विद्या नहीं है।

मुण्डकोपनिषद (प्रथम मुण्डक, प्रथम खण्ड/४-५) में कथा आती है कि शौनक नामक एक प्रसिद्ध मुनि थे, विश्वविद्यालय के अधिष्ठाता थे। पुराणों के अनुसार उनके ऋषिकुल में अट्ठासी हजार ऋषि पढते थे किन्तु वास्तविक विद्या का ज्ञान उन्हें भी नहीं था। अत' एक बार वे उस समय की परम्परा के अनुसार हाथ में समिधा लेकर महर्षि अगिरा की शरण में गये। विनयपूर्वक पूछा-- **कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातो भवति?**

भगवन्! किसके जान लेने पर यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है? कृपया बताइए उसे कैसे जाना जाय? महर्षि अगिरा ने बताया--

द्वेविद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्‌ ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ।।४।। तत्रा परा ऋग्वेदो यजुर्वेदः साम वेदोऽथर्ववेद शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति! अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।।५।।

विद्याएँ दो प्रकार की है। इन दोनो मे से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष इत्यादि अपरा विद्या के अन्तर्गत आते हैं किन्तु जिस विद्या से वह अविनाशी परमात्मा जाना जाता है वह परा विद्या है। अगिरा की मान्यता है कि वेद, व्याकरण, ज्योतिष कोई चाहे जितना पढ ले, इतना पढे कि रट ले, फिर भी अविनाशी परमात्मा को नहीं जान सकता। जिस विद्या से परमात्मा का साक्षात्कार होता है वह विद्या ही दूसरी है। उस विद्या के लिए अगिरा की सलाह है- **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्‌ समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्‌।**

उस परब्रह्म की प्राप्ति करा देनेवाली विद्या के लिए हाथ में समिधा लेकर वेद को भली-भॉति जाननेवाले ब्रह्म मे स्थित सद्‌गुरु की शरण में जाना चाहिए, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

इसी से मिलता-जुलता आख्यान छान्दोग्य उपनिषद (प्रथम अध्याय/प्रथम खण्ड) में मिलता है। एक बार नारदजी ने सनत्कुमार से उपदेश करने की प्रार्थना की। सनत्कुमार ने उनसे कहा, ".तुम जो कुछ जानते हो उसे बताओ तो मैं तुम्हें उससे आगे बताऊँ?" नारद ने बताया कि भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूॅ। मैंने इतिहास-पुराण भी पढा है जिसे पॉचवॉ वेद कहा जाता है। वेदों के वेद व्याकरण, श्राद्ध, कल्प, गणित, उत्पात ज्ञान, निधि शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्र विद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या, नृत्य तथा सगीत इत्यादि का भी मैंने अच्छी तरह अध्ययन कर लिया है। भगवन्! यह सब जानकर भी मैं केवल मन्त्रों का जाननेवाला ही हूॅ। आत्मा को नहीं जान सका। मैंने आप जैसों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक को पार कर जाता है किन्तु मैं तो शोक करता हूॅ। अत भगवन्! मुझे शोक से पार कर दीजिए। सनत्कुमार ने उपर्युक्त शिक्षा को वाणी का विलास मात्र माना और इससे आगे क्रियात्मक उपासना पर जोर दिया। बृहदारण्यक उपनिषद (चौथे अध्याय, चौथे ब्राह्मण की २१ वीं ऋचा) मे भी निर्देश है कि बहुत से शब्दों का अध्ययन न करें क्योंकि वह तो वाणी का श्रम मात्र है। वाणी के श्रम से वह ब्रह्म मिल ही नहीं सकता। तैत्तिरीय उपनिषद्‌ की श्रुति है--**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**। (तैत्ति, ब्रह्मानन्द वल्ली, नवम अनुवाक्‌)।

मनसमेत वाणी इत्यादि इन्द्रियॉ जिसे न पाकर लौट आती हैं--

मन समेत जेहि जान न बानी। (रामचरित मानस, १/३४०/७)

पुस्तकीय ज्ञान को तैत्तिरीय उपनिषद में शिक्षा की सज्ञा दी गई है-

"शीक्षां व्याख्यास्यामः! वर्ण स्वरः! मात्रा बलम्‌! साम सन्तानः। इत्युक्त शीक्षाध्याय।।"

आचार्य कहते हैं कि अब हम शिक्षा का वर्णन करेंगे। जिसमें वर्ण, स्वर, ह्रस्व-दीर्घादि मात्राएँ, वर्णों के उच्चारण में लगाए गये बल, उनकी गेयता एव सन्धि इत्यादि के नियमों की शिक्षा दी जायगी। तत्पश्चात्‌ लौकिक विद्या, नक्षत्र विद्या, प्रजनन विद्या, आयुर्वेद, धनुर्वेद, व्यायाम आदि

शारीरिक सहिताओ का वर्णन, किन्तु साथ ही 'अधिविद्यम्' विद्या के विपय में भी जानकारी दी गयी है।

उल्लेखनीय है कि तैत्तिरीय उपनिपद के तीन भाग हैं-- शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्द वल्ली और भृगुवल्ली। शिक्षावल्ली मे दी गयी शिक्षा के अनुसार अपना जीवन वना लेनेवाला मनुष्य इस लोक और परलोक के सर्वोत्तम भोगो को पा सकता है तथा ब्रह्मविद्या ग्रहण करने योग्य बनता है। इस वल्ली में विद्वान् मनीषी ने शिक्षा द्वारा लौकिक-पारलौकिक ऐश्वर्य की प्राप्ति का शास्त्रानुमोदित मार्ग तो बताया किन्तु इन भोगो को नश्वर वताते हुए उनकी मुख्य दृष्टि ब्रह्मविद्या पर ही है। दूसरी वल्ली मे उन्होंने ब्रह्मानन्द की महत्ता पर प्रकाश डाला और अन्तिम भाग में उन्होंने उस क्रियात्मक विद्या का वर्णन किया जिस पर चलने का निर्देश वरुण ने अपने पुत्र भृगु ऋषि को दिया था।

उपनिषदों का निर्णय है- **"सा विद्या या विमुक्तये"** विद्या वह है जो मुक्ति दिला दे। इसी भाव को शकराचार्य ने प्रश्नोत्तरी मे व्यक्त किया है।

"विद्या हि का ब्रह्मगति प्रदाया! बोधो हि को यस्तु विमुक्ति हेतुः।।"

बोध वही है जो पूर्ण मुक्ति का हेतु है। यह नहीं कि सव कुछ सुन लिया तो ज्ञानी वन गये। सब कुछ सुन लेने के बाद भी चलना तो शेष ही रहता है। वह दूरी वातों से नहीं, चलकर ही समाप्त की जा सकती है। इसीलिए भगवत्पथ में हजार शास्त्रों को पढने की अपेक्षा उस पथ पर एक कदम चलनेवाला भी अधिक महत्त्व रखता है। इसी प्रकार विद्या उसे कहते हैं कि जिसके पास आवे उसे घसीटकर ब्रह्मगति प्रदान कर दे। जो विद्या ब्रह्म से इच भर भी दूरी रखती हो, उसके अन्तराल मे अविद्या भी कार्यरत है। आजकल की पढाई से क्या ब्रह्मगति मिलती है? अधिक से अधिक अच्छा खाने-पहनने की व्यवस्था हो जाती है। अत आज की पढ़ाई को विद्या माननेवाले या कोरे पुस्तकीय ज्ञान का ढिढोरा पीटने वाले वस्तुत भ्रम में हैं। ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके मुण्डकोपनिषद में कहा गया है-

अविद्यायामन्तरे वर्तमानः स्वयं धीरं पण्डितं मन्यमानाः।
जघन्यमानाः परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।

अविद्या में स्थिर होकर भी अपने आप को बुद्धिमान और पण्डित माननेवाले मूर्ख लोग बार-बार कष्ट सहते हुए वैसे ही भटकते रहते हैं जैसे अन्धे के निर्देशन मे चलता हुआ अन्धा भटकता रहता है।

कवीर साहव का भी यही विचार है--

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय।।

इसी वेदना को पूज्य परमहस जी महाराज प्राय व्यक्त करते थे-- हो! का कही, कैसे कही, दू दू पैसे में वेदान्त विकत है। सार पढतौ जात हैं, लिखतौ जात हैं, लेकिन साधन एक ऐसी वस्तु है जो कभी लिखने में नहीं आती।

उस विद्या को सभी पढ भी तो नहीं सकते। कटोपनिषद् में प्रसग आता है कि महर्षि उद्दालक की आज्ञा शिरोधार्य कर उनका पुत्र नचिकेता यमराज के समक्ष उपस्थित हुआ। यमराज

ने नचिकेता से वर मॉगने को कहा। नचिकेता ने उनसे ब्रह्मविद्या का रहस्य जानना चाहा तो यमराज ने उसे पृथ्वी के दुष्प्राप्य भोगो तथा स्वर्ग के दिव्य भोगो का प्रलोभन दिया किन्तु नचिकेता उन सबको ठुकराता गया। यमराज उसके वैराग्य की प्रशसा करते हुए उसे विद्या का अधिकारी घोषित करते हैं--

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनंनचिकेतसं मन्ये न त्वां कामा बहवोऽलोलुपन्त।।

(द्वितीय वल्ली, १४)

विद्या और अविद्या ये दोनो परस्पर अत्यन्त विपरीत और भिन्न फल देनेवाली हैं। नचिकेता! तुम्हें मैं विद्या का ही अभिलाषी मानता हूँ क्योकि तुमको बहुत से भोग भी लुभा न सके। सिद्ध है कि विद्या का अधिकारी वही जिज्ञासु बन सकता है जिसने पुत्र-पौत्र, सम्पत्ति-प्रतिष्ठा एव स्वर्गिक सुखालयों के चिरभोग सुख तक को भी तिलाजलि दे दी हो। अनाधिकारी को विद्या देने पर गुरु और शिष्य दोनो को ही पश्चाताप करना होता है। 'मानस' मे कागभुशुण्डि जी की अनुभूति है--

अधम जाति मैं विद्या पाये। भयऊँ यथा अहि दूध पियाये।।

दूध पीकर पुष्ट हुआ सर्प सबसे पहले दूध पिलानेवाले को ही काटता है। कागभुशुण्डि जी के पूर्व जीवन मे इसकी परिणति गुरु अवमानना के रूप में हुई थी।

उपनिषदों मे विद्या का फल परमात्मा बताया गया है। ईशावास्योपनिषद का मन्त्र है- 'विद्ययाऽमृतम्' विद्या से अमृत स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति का प्रमाण मिलता है। गीता के नवम अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण भी कहते है--

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञान विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।९।१
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।९।२

अर्जुन! अब मैं तेरे प्रति उस ज्ञान को विज्ञान सहित कहूँगा जिसको जानकर तू इस ससार-बन्धन से भली-भॉति मुक्त हो जायगा। यह ज्ञान सभी विद्याओं का राजा है, राजविद्या है। स्पष्ट है कि विद्या कोई ऐसी वस्तु है जिसे जानकर व्यक्ति दु खरूपी ससार से मुक्त हो जाता है। यह विद्या अव्यक्त है, स्लेट पर लिखी जानेवाली नहीं है। बल्कि अव्यक्त से प्रवाहित एक धारा विशेष है जो परम कल्याण करनेवाली है।

परमगति प्रदायिनी विद्या को सोलह साल नहीं पढना पडता-

गुरु गृह गये पढ़न रघुराई। अलप काल विद्या सब आई।। (१।२०३।४)

अल्पकाल मे 'विद्या सब आई' सम्पूर्ण विद्या आ जाती है। गुरुओं के घर की विद्या बहुत थोडे समय में आनेवाली है। यह नहीं कि जन्मभर वेद-शास्त्र रटना पडे। यह विद्या इम्प्रेग्नेटेड है, अनुभवगम्य है जो अनुभवी महापुरुषों के सान्निध्य से ही हृदय में जागृत होती है।

'मानस' में प्रसग आता है कि दस हजार जन्म भोगकर कागभुशुण्डि मानव तन में आये।

इसके पूर्व भी वे साधु ही थे, लेकिन दम्भी थे। मूर्ख नहीं थे, उग्र बुद्धि थी- **'उग्र बुद्धि उर दम्भ विशाला।।'** गुरु हितकर उपदेश देते थे, विद्या ही देते थे किन्तु थोडे समय में उसे रट लेने के बाद उनके अन्दर यह भाव उठा कि अव गुरु महाराज में क्या रखा है? जो था वह सव हमें आ गया। **'गुरु नित मोहिं प्रबोध, दुखित देखि आचरण मम'**- गुरुदेव नित्य ही वास्तविक प्रबोध करते थे। मेरे आचरणो को देखकर दु खी होते थे (यहॉ भी गुरुओं के घर की शिक्षा और आजकल की शिक्षा मे अन्तर है। आजकल के शिक्षक कक्षाओं में सामूहिक व्याख्यान देते हैं, छात्रों के पल्ले जितना पडता है ग्रहण करते हैं और इसके पश्चात् शिक्षक छात्रों को प्रारव्ध पर छोड़ देते हैं जबकि सद्गुरु अपने शिष्य को तव तक समझाते रहते हैं जव तक शिष्य हृदयगम न कर ले। वे शिष्य को उसके भाग्य पर नहीं छोडते, वे जव वनाते हैं तो गुरु ही वना देते हैं, शिष्य को भी उसी गुरुत्व में स्थिति दिला देते हैं, चाहे इसके लिए शिष्य को हजार जन्म लेना पडे किन्तु गुरुदेव की विद्या उसमें सदैव रहती है, आज की शिक्षा की तरह 'आज पढे, कल साफ' नहीं होती-- (कवनेहुँ जनम मिटिहि नहि ज्ञाना।।) अस्तु, गुरुदेव मुझे समझाते रहते थे, मेरे आचरण को देखकर दु खी थे, किन्तु 'मोहि उपजइ अति क्रोध, दम्भिहि नीति कि भावई' मुझे अत्यन्त क्रोध होता था, भला कहीं दम्भी को नीति अच्छी लगती है।

एक बार मैं मन्दिर में बैठकर शिव-नाम जप रहा था। उसी समय महाराज पहुँचे तो अभिमानवश उठकर प्रणाम नहीं किया। गुरुदेव तो परम दयालु थे, उन्होंने कुछ नहीं कहा; लेकिन 'अति अघ गुरु अपमानता सहि नहि सके महेश' गुरुदेव का अपमान बहुत बडा अपराध था जिसे भगवान शकर ही सहन नहीं कर सके। जिन शंकर जी का मैं भक्त था वे इष्ट ही शत्रु हो गये। तुरन्त शाप दिया कि रे अधम! अजगर की तरह बैठा ही रह गया? जा! आज से अजगर हो जा और एक हजार जनम इसी तरह भोग! लेकिन सद्गुरु कभी नाराज भी होते हैं, वे तो शिष्य के कल्याण के लिए होते है, न कि उसके पतन के लिए। कुम्हार घड़े को इसीलिए पीटता है कि वह अपना सही आकार-प्रकार पा जाय, न कि फोड देने के लिए। ठीक ऐसे ही गुरुदेव का नियम है कि वे ताडना भी देते हैं तो शिष्य के कल्याण के लिए। गुरु महाराज ने हाहाकार किया। भगवान शकर ने कहा कि एक हजार जन्म तो यह अवश्य भोगेगा, उसके बाद मानव-तन पायेगा लेकिन आपके द्वारा दिया गया उपदेश इसे कभी भूलेगा नहीं--

कवनेउ जनम मिटिहिं नहिं ज्ञाना। सुनहि शूद्र मम बचन प्रमाना।। (७।१०८।६)

जब मानव-तन प्राप्त हो गया, हजार जन्म पूर्व गुरु ने जिस विद्या का उपदेश किया था उसका स्फुरण हो आया, उस पर 'सुरत' टिक गई और भगवान के चरणों में मन लगने लगा। अस्तु विद्या एक बार जागृत हो गई तो फिर वह कभी नष्ट नहीं होती।

प्रौढ भये मोहि पिता पढ़ावा। समझऊँ सुनउँ गुनउँ नहिं भावा।। (७।१०६।५)

प्रौढ हो जाने पर पिता ने शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था कर दी। मैं मूर्ख नहीं था, समझता था, सुनता था, चिन्तन करता था, लेकिन 'नहि भावा'- रुचिकर नहीं लगता था। अन्त में--

हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई।। (७।१०६।८)

अन्तत पिता पढा-पढाकर हताश हो गये लेकिन मैंने नहीं पढा। तव गरुड का सन्देह

स्वाभाविक था कि अरे! ज्ञान से बढकर तो कुछ नहीं है। आपके लिए शिक्षा की व्यवस्था भी थी। आप सीखे क्यों नहीं? महर्षि काग उत्तर देते है--

कहु खगेस अस कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी।। (७।१०६।७)

गरुड जी! जव मनचाहा दूध देने के लिए कामधेनु उपलब्ध है तो ऐसा कौन अभागा है जो छटॉक भर दूध देनेवाली गदही की सेवा करता फिरे? इसीलिए गरुड जी! हम नहीं पढे। सिद्ध है कि वह शिक्षा विद्या नहीं थी, विद्या कुछ और ही है। यद्यपि कागभुशुण्डि निरक्षर थे फिर भी वे उस युग के सर्वोपरि विद्वान थे। यहॉ तक कि उनके यहॉ पढनेवाले हसों का अर्थात् अनुरागियों का जमघट लगा रहता था--

"बट तर कह हरि कथा प्रसंगा। आवहि सुनहिं अनेक विहंगा।।"

"सुनहिं सकल मति विमल मराला। बसहिं निरन्तर जे जेहिं ताला।।" (७।५६।६)

त्याग के तालाब में जो तैरते थे, वही वहॉ निरन्तर कथा सुनते थे। यहॉ तक कि शंकर, जिनके डमरू से विद्याएँ नि सृत है, वे भी वहॉ सत्सग सुनने जाया करते थे। सिद्ध है कि भगवत्पथ में भौतिक शिक्षा का कोई उपयोग नहीं है और न यह शिक्षा विद्या ही है।

तो फिर विद्या है क्या? एक बार लक्ष्मण ने पचवटी मे प्रश्न किया कि भगवन्! ईश्वर क्या है? जीव क्या है? माया क्या है? इस प्रकार पॉच-सात प्रश्न लक्ष्मण ने किया तो भगवान राम वोले--

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई।। (३।१४।१)

तात! मैं थोडे में ही समझाकर कह देता हूँ तुम बुद्धि, चित्त और मन लगाकर सुनो--

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया।। (३।१४।२)

यह मैं हूँ, मेरा है, तूँ है, तेरा है- बस यही माया है। इसी ने चराचर जीवो को अपने वश में कर रखा है। उन्हें अपने लक्ष्य से च्युत कर रखा है।

तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ।।

इस माया के दो भेद हैं, एक विद्या और दूसरी अविद्या।

एक दुष्ट अतिशय दुःख रूपा। जा बस जीव परा भवकूपा।। (३।१४।५)

इनमें से अविद्या अत्यन्त दुष्ट है, उसके अधीन होकर यह जीवात्मा भवकूप में पडता है और दूसरी शाखा विद्या के लिये कहते हैं--

एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।। (३।१४।६)

विद्या वह है जिसके वश में गुण हैं। गुण माया में कहीं हैं ही नहीं। जो नश्वर है 'अशाऽवत दुखालयम्' - जो दु ख का आगार और नश्वर है उसमे गुण एवं सुख कहॉ? कल्याणकारी गुण-धर्म तो एकमात्र ईश्वर में हैं। तो माया का दूसरा भेद विद्या, जिसके आश्रित गुण हैं, स्कूलों में पढने से वह नहीं आती। 'प्रभु प्रेरित नहि निज वल ताके।' वह विद्या प्रभु-प्रेरित है। जब प्रेरक के रूप में स्वय प्रभु उतर आते हैं, आत्मा में जागृत होकर पथ-प्रदर्शक के रूप में खड़े हो जाते हैं, उनकी प्रेरणा से ही वह विद्या हमारे अन्दर उतरती है और कार्य करने लगती है।

अत यदि हमें विद्या (जो भवसागर से पार करनेवाली है, परम कल्याणकारी है) उसकी

आवश्यकता है तो उर-प्रेरक की प्राप्ति नितान्त आवश्यक है। किसी अनुभवी महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त करने, उनके सरक्षण में रहकर टूटी-फूटी सेवा करने और उनके द्वारा निर्दिष्ट साधन-पथ पर साल-छ महीने अभ्यास करने से आत्मा जागृत हो जाती है और उस ईश्वरीय प्रेरणा का स्रोत उपलब्ध हो जाता है, जिसके द्वारा मिलनेवाला उपदेश अथवा आदेश ही विद्या है। ज्यों-ज्यो साधक ऊपर उठता जायगा, त्यो-त्यों यह आदेश, ईश्वरीय स्रोत, ईश्वरीय गुण-धर्मो का प्रसार घना होता जायगा। मायिक द्वन्द्व क्षीण होता जायगा। सर्वथा ईश्वर के निकट की अवस्था आ जायगी तो हृदय ईश्वरीय गुण-धर्मो का ही केंद्र वन जायगा किन्तु यह सव उन्हीं की प्रेरणा से ही सम्भव होगा, अन्य कोई रास्ता नहीं है। इसलिए जो आत्मा को पकड चुके हैं, उनके स्वरूप को पकडकर आत्मा की आवाज पकडने का उपाय करें। जव तक आत्मा की आवाज पकड में नहीं आती तब तक वह विद्या 'विद्या' नहीं है। तव तक उसके लिए हम जो कुछ आहें भरते हैं, उस दिशा मे अग्रसर होते हैं, वह प्रयास मात्र है जो विफल कभी नहीं होगा।

प्रश्न- महाराजजी! विद्या के पश्चात् भी क्या विवेक की आवश्यकता रह जाती है?

उत्तर- देखिए, विद्या जब हरि-प्रेरित है तो विवेक इतना ही रखना पडता है कि हरि कहते क्या हैं? उसको पकडो और उसके अनुसार चलो। उस आदेश पर आरूढ़ रहने की क्षमता ही विवेक है। यदि उस पर आरूढ रहने की क्षमता नहीं है तो विद्या कार्य नहीं करेगी, भगवान भी रुष्ट हो जायेगे-

मोरेहु कहे न संसय जाहिं। विधि विपरीत भलाई नाहीं।।

पूज्य परमहस जी महाराज ने इस विवेक को बडे सरल ढग से समझाया कि, 'हो! आज्ञा पालनै भजन है।' तुम मत सोचो कि आज्ञा गलत है कि सही। लेकिन हमसे उन्होंने यह आठ साल बाद कहा। प्रारम्भ मे नहीं बताया था। प्रारम्भ में साधक के पास आज्ञा पालन करने की क्षमता और आज्ञा ही कहॉ है? जब हृदय मे ईश्वरीय आदेश का सूत्रपात् हो गया, उसके वाद ही महाराज जी ने कहा कि आज्ञा पालन ही भजन है। उस आज्ञा में मिलनेवाली वस्तु ही विद्या है। विवेक का इतना ही स्थान है कि उस आज्ञा पर दृढ़ता से चले। भगवान आदेश देते हैं कि इस रास्ते से आगे बढो तो यह मत सोचो कि वहॉ पर सर्प है। सर्प होगा भी तो हार बन जायेगा। मीरा के लिए हार बन गया था। विष होगा तो अमृत बन जायगा, मीरा के लिए अमृत बन गया था, क्योंकि उरप्रेरक के सकेत पर ही उसने विषपान किया था-

राणा जी! मैं तो गिरिधर रगवा राती।
कोई के पिया परदेश बसत हैं, लिख लिख भेजै पाती।
मेरे पिया मेरे हिय बसत हैं, ना कहुं आती-जाती।।

मीरा के परम पिया परमात्मा उसके हृदय में जागृत थे, प्रत्यक्ष रूप में वैठे थे, इसलिए वह निर्भय थी।

प्रश्न- महाराज जी! तब तो जो सकेत हृदय के भीतर से मिलता है, क्या वही विद्या है?

उत्तर- हॉ, वही विद्या है। 'हरि प्रेरित नहीं निज वल ताके' वह विद्या प्रभु प्रेरित ही होती है। यही कारण है कि विश्व के अनेक तत्त्वज्ञ महापुरुष पार्थिव शिक्षा में निरक्षर थे। सनक,

सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार पॉच वर्ष के बच्चे ही तो थे, कहॉ पढे? शुकदेव बचपन से ही भाग खडे हुए, किन्तु वे अनेक जन्मों से चलनेवाले योगी थे। विद्या स्वाभाविक रूप से जन्म के साथ ही उनके हृदय मे प्रवाहित थी। उनके पिता व्यास अपने समय के बहुत बडे विद्वान थे। चार वेद, छ॰ शास्त्र, अठारहों पुराण, महाभारत और भागवत् इत्यादि के रचयिता थे, सकलनकर्ता थे किन्तु वास्तविक जानकारी मे शुकदेव उनसे कहीं आगे थे। यदि लिखने-पढने का नाम ही विद्या होता तो व्यास बहुत पढे थे। निरक्षर थे कागभुशुण्डि-- **हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई**। जड भरत पढे-लिखे नहीं थे। बचपन से ही उनकी दृष्टि इष्ट पर थी, लोगो ने समझा पागल है।

ठीक इसी प्रकार 'महामानव बुद्ध' भी सासारिक शिक्षा के प्रति उदासीन रहे। वे राजपुत्र थे। उनके शिक्षा की भी उत्तम व्यवस्था थी, किन्तु उनका मन पढाई मे न लगा। यद्यपि बौद्धग्रन्थ, 'ललित विस्तर' के अनुसार सिद्धार्थ को बचपन मे तत्कालीन कला-कौशलो की शिक्षा कपिलवस्तु में मिली थी तथा दूसरे ग्रथ 'महावस्तु' के अनुसार यशोधरा के स्वयवर मे पॉच सौ शाक्य कुमारों के बीच आयुध-कौशल-प्रदर्शन में उन्हे अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करनी पडी किन्तु जिस विद्या के स्पर्श से सिद्धार्थ बुद्ध बने, उनके लिए उस शिक्षा का कोई उपयोगी ज्ञान नहीं था। चिन्तनशील होने के कारण बालक सिद्धार्थ का मन इन सासारिक विषयो मे अनुरक्त नहीं होता था। वहुधा लोगों ने उन्हें महल से दूर एक जम्बू वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ देखा था। साधनावस्था में सिद्धार्थ की घुडसवारी, तीरदाजी, मल्ल-कला और धनुर्वेद की सिद्धहस्तता काम न आयी। इन पर सिद्धार्थ हॅसे ओर इन्हें छोडकर वास्तविक विद्या सीखने योग्य गुरु की खोज में राजगृह आये, जहॉ आलार एव उद्रक नामक ऋषियों से उन्होंने आर्य साधना-पद्धति का ज्ञान प्राप्त किया। ध्यान की क्रमिक भूमिकाओं के उपरान्त गया में वट वृक्ष के तले उन्हे विद्या की अनुभूति हुई। ईश्वर की प्रेरणा से वे विद्वान् वन गये। उन्हें 'बुद्ध' की पदवी मिली। तथ्य से अवगत होने के कारण उन्हें 'तथागत' कहा गया।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व यातायात की कठिनाइयो को झेलते हुए, महासागरों की उत्ताल तरगों को अपनी छोटी-छोटी नौकाओं से चीरते हुए भारतीयो ने चीन, जापान, मिस्र और यूनान तक बुद्ध की उसी विद्या का सन्देश सुनाया, जिसे वहॉ की जनता ने न केवल आदर के साथ सुना वल्कि हाथों-हाथ उठा लिया, जो आज भी विश्व की अधिकाश जनता का कल्याण-स्रोत वना हुआ है। कलिग को ध्वस्त करते समय रणोन्मत्त अशोक के कर्ण-कुहरों में बुद्ध की इसी विद्या का स्वर पडते ही तलवार उसके हाथ से सदा-सदा के लिए गिर गयी। जहॉ-जहॉ भी यह विद्या पहुॅची, भेरी का घोष बन्द होता गया। चतुर्दिक धर्म-घोष ही सुनाई पडने लगा। इसी विद्या का प्रचार करने के लिए अशोक ने अपने पुत्र एव पुत्री को लका भेजा और अपना सारा जीवन इसी विद्या पर निछावर कर दिया। भारत पर आक्रमण करनेवाले यूनानियों, शकों, पह्लवों, कुषाणों और हूणों को इस विद्या ने न केवल आकर्षित किया वल्कि उन्हें आत्मसात् कर लिया, भारतीयता के रग मे रग दिया। ईश्वर-प्रेरित विद्या से महिमान्वित इस मनीषी ने जहॉ टट्टी-पेशाव भी कर दिया, 'तीर्थ' वन गया। संसार के कोने-कोने से प्रतिवर्ष लाखों तीर्थयात्री लुम्बिनी, कपिलवस्तु, सारनाथ श्रावस्ती, गया और कुशीनगर का दर्शन करके असीम शान्ति का अनुभव करते हैं, करते रहेंगे।

अरब के हजरत मुहम्मद कहाँ पढे थे? महात्मा कबीर ने तो ''मसि कागज छूयो नहीं, कलम गहि नहीं हाथ'' लेखनी का स्पर्श भी नहीं किया था। गुरु नानक को हिन्दू या मुसलमान कोई भी शिक्षक नहीं पढा सका। पिता ने उन्हें खेती की देखभाल में नियुक्त किया। वहाँ भी वे असफल रहे। व्यापार से धन बढाने की अपेक्षा 'सत् नाम' का अर्जन करना ही उन्होंने श्रेयस्कर माना। लोकनायक तुलसी ने भी यद्यपि काशी में शेष सनातन के पास रहकर वेद-वेदाग का पन्द्रह वर्षो तक अध्ययन किया किन्तु मानस की कथावस्तु का आधार उन्होंने उस विद्या को ही बनाया जिसे उन्होने अपने गुरु नरहर्यानन्द जी से सुना था-

''पुनि मैं निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।''
''भाषाबद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई।।''

गोस्वामी तुलसीदास जी ने उसी हरि-प्रेरित विद्या का निरूपण 'मानस' में किया जिसका प्रस्फुटन हृदय-देश में होता है- **तस कहियउँ हिय हरि के प्रेरे।**

स्थान-स्थान पर गोस्वामी जी ने इसी स्रोत की ओर इगित किया है-

जेहिं पर कृपा करहि जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी।।
प्रनवउँ सोई कृपालु रघुनाथा। बरनउँ विशद तासु गुन गाथा।।

यदि लौकिक शिक्षा-दीक्षा का महत्त्व विद्या जैसा ही होता तब तो तुलसी से भी अधिक पढे-लिखे व्याकरणाचार्य काशी मे थे किन्तु आज उनका कोई नाम तक नहीं जानता। क्या उनमें से एक भी तुलसी के समकक्ष बन सका? ब्रह्म-विद्या होने के कारण ही तुलसी-साहित्य नित नूतन कलेवर धारण करता जा रहा है। इसी विद्या की शोध में देश-विदेश के लाखों जिज्ञासु, विश्वविद्यालय के प्रोफेसर चित्रकूट के रामायण मेले में आते हैं और देखते-देखते संसार भर में इसी वा ङ्मय का प्रचार-प्रसार अबाध गति से होता जा रहा है।

मीरा पढी-लिखी नहीं थीं किन्तु उस प्रेम-योगिनी के भाव प्रकाशन में भाषा बाधक नहीं बनी। उसके आत्म निवेद्रन में ललित पदावलियों की ऐसी स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई कि राजस्थान की मरुभूमि एव साहित्य महारथी दोनों ही एक समान उससे आप्लावित हो उठे। 'रामकृष्ण परमहस' के समक्ष पढाई-लिखाई का प्रश्न ही नहीं था। सोलह वर्ष की आयु में पागलों की तरह थे तो भला शिक्षा कब हुई? इसी क्रम में काशी के हरिहर बाबा भी हुए। पार्थिव शिक्षा में निष्णात न होने पर भी ये सभी अपने युग के सर्वोपरि विद्वान् माने गये।

गोरखपुर के 'सत्सगी महाराज' को, जिन्होंने एक सौ पचीस वर्ष की आयु में महाप्रयाण किया, आजीवन लोग पागल समझते रहे। लेकिन पुण्यात्माओ को आकाशवाणी हुई कि ये महापुरुष हैं, मेरे स्वरूप की स्थिति वाले हैं। उनकी शरण मे जाओ, उनसे शिक्षा लो। पूज्य परमहस जी को भी आकाशवाणी हुई। मदिर में जाकर देखा तो वही पागल बाबा दिखाई पडे जो रोज इधर-उधर घूमते थे। चरणों पर गिरे, अल्प अवधि में उस साधन को पकडा और ठीक चार महीने में हरि-प्रेरित विद्या का स्रोत हृदय मे प्रवाहित हो गया। पूज्य परमहस जी महाराज भी पढे-लिखे नहीं थे, केवल तीन दिन पाठशाला गये थे। तीसरे दिन पंडित जी ने एक डंडा मार ही तो दिया। वे रोते-रोते घर आ गये। फिर तो माँ ने कहा-- भाड में गयी ऐसी शिक्षा! और पार्थिव शिक्षा

का पाठ उसी दिन से बन्द हो गया। एक समय अनुसुइया आश्रम में उनके हस्ताक्षर की आवश्यकता पडी तो एक सज्जन ने महाराज जी से तीन दिन तक हस्ताक्षर करने का अभ्यास कराया। प .र मा. न .न्द . के प्रत्येक अक्षर को महाराज जी ने बडे मनोयोग से सीखा। 'द' के नीचे महाराज जी ने लकीर एक इन्च खींच दी थी। संकोच और भयवश उस सज्जन ने कुछ नहीं कहा। हमने देखा तो कहा- महाराजजी, यह लम्बाई कुछ कम कर दी जाय तो वे मूँछों पर ताव दे के बोले- 'हूँ! तूँ का जानिहै, मै जो पढे हूँ।' वे जानते थे कि यह ठीक कह रहा है, लेकिन नहीं माने।

अनुसुइया आश्रम में विश्वविद्यालयो के प्रोफेसर, विद्वान् पहुँचते ही रहते थे। साथ आनेवाले उनका परिचय देते कि महाराज ये डाक्टर साहब हैं। इन्होने 'फिलासफी' या कई विषयों से 'रिसर्च' किया है। तहॉ पहले कुछ देर तक तो वे प्रोफेसर साहब ही अपनी कहें, तत्पश्चात् वे महाराज जी से कुछ सुनाने का आग्रह करते थे। जब महाराज जी का उपदेश आरम्भ हो तो वे सभी विस्मय में कहा करते थे कि भगवन्! साधना कुछ और ही है। पढना कुछ और है, करना कुछ और है। इस प्रकार निवेदन कर, आशीर्वाद लेकर चले जाते थे। विद्वानो की शिक्षा का उपयोग पूज्य महाराज जी की प्रत्यक्षदर्शिनी वाणी के समक्ष नहीं रह जाता था।

अत इस भगवत्पथ पर यदि आप पढे-लिखे है तो ठीक है और नहीं पढे-लिखे हैं तब भी आपके लिए कोई हानि नहीं है, क्योकि यह विद्या केवल हरि-प्रेरित और सद्गुरुओं के घर की विद्या है, उसकी पाटशाला ही दूसरी है। परमहस जी कहा करते थे--''हो! मोके भगवान पढावत हें। ससार की चाहे जौन भाषा बोलो, भगवान मोके सब समझावत हैं।''

।। ॐ ।।

साइंस का भाषानुवाद 'विज्ञान'

प्रश्न- महाराज जी! प्राचीनकाल की अपेक्षा आजकल विज्ञान अधिक प्रगति पर है। इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?

उत्तर- विद्यार्थियो! आप लोगों ने एम.एस-सी , डवल एम.ए सव कुछ किया। वता सकते हो कि साइंस का नाम विज्ञान क्यों पडा? कव पड़ा? हिन्दी में साइंस को विज्ञान कहते हैं। क्या उचित है? आप कहते हैं कि आजकल साइस वडी प्रगति पर है। आज से दो-ढाई सौ वर्ष पूर्व हवाई जहाज की इस रूप में कदाचित कल्पना भी नहीं थी। लेकिन आज वह सर्वसुलभ होता जा रहा है। राकेट, बम्ब, परमाणु, हाइड्रोजन, मिसाइल और न जाने क्या-क्या आविष्कार होते जा रहे हैं। यहॉ तक कि घर बैठे-बैठे हजारों मील की दूरी तक विध्वस करना सम्भव हो गया है। रोशनी, बिजली आप देख ही रहे हैं। चकाचौंध कर देनेवाले टेलीविजन भी आप देखते ही हैं, जिस पर हजारों मील दूर के दृश्य उभरते है! चद्रमा तक के दृश्यों को संसार ने देखा। मोटर, ट्रेन इत्यादि आविष्कार आप देख रहे है, जिसमें आये दिन परिवर्तन होते ही रहते हैं। अंग्रेजी माध्यम से इन सबका नाम साइस ही है।

यह साइस आज ही प्रगति पर है, ऐसी कोई बात नहीं है। आज से हजारों-लाखों वर्ष पूर्व इस पृथ्वी पर सैकडों बार आविष्कार हुए और आविष्कार जव पराकाष्ठा को पहुँचा तो इसका परिणाम क्या हुआ? सर्वनाश! सैकडो बार यह साइस प्रगति पर आई, भौतिक आविष्कार हुए, शक्तियॉ परस्पर टकराईं और उसका परिणाम भयकर सघर्ष निकला। देवासुर-सग्राम से शास्त्र भरे पडे हैं। आज से लाखों वर्ष पूर्व की ऐतिहासिक घटना है! इतिहास तो आप जानते ही होंगे? पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि भारतवासी इतिहास लिखना नहीं जानते थे, यह गलत है। प्राचीन इतिहास पुराणो में अक्षुण्ण है। उनमें पुरानी घटनाऍ अकित हैं। इसलिए उन्हें पुराण कहा जाता है। कालान्तर में उसी का नाम इतिहास पडा, जिससे इति का आभास मिलता है।

लाखो वर्ष पूर्व सत्ययुग मे हिरण्यकशिपु नामक एक क्षत्रिय नरेश हुए। उन्होंने अपनी वेधशाला मे यहॉ तक आविष्कार कर लिया कि न दिन में मरें न रात में मरें, न अस्त्र से मरें न शस्त्र से, न पशु-पक्षी से मरें, न मानव से। जब उन्होंने सोच लिया कि अब हमें मरना ही नहीं है तो भगवान क्या होगा? तुरन्त उन्होने भगवान को तिलांजलि दे दी और घोषणा करा दी कि हमारे राज्य में जो भगवान का नाम लेगा उसे मृत्युदण्ड मिलेगा। वह इतना कट्टर था कि अपने इकलौते बेटे प्रह्लाद को भी क्षमा नहीं कर सका। फॉसी पर चढा दिया। हॉ, यह बात अलग है कि भगवान एक ऐसी सूक्ष्म सत्ता है कि मासूम बच्चे का स्पर्श कर ले, उस पर वरदहस्त रख दे तो विश्व में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो उसे नष्ट कर सके। उसको समुद्र में फेंक दिया गया, आग में झोंक दिया गया, हाथियों से कुचलवाया गया, लेकिन प्रह्लाद बच गया और एक समय आया कि हिरण्यकशिपु मारा गया। उसकी मृत्यु के लिए भी रास्ता निकल आया। उस समय की साइस में अन्तर इतना ही है कि उस समय के मनुष्य शरीर प्रधान थे। कोई आविष्कार करते थे तो अपने शरीर पर ही उसे मढने का प्रयास था। आज की साइस यन्त्र प्रधान है, यद्यपि यन्त्र तव भी थे।

प्रह्लाद के माध्यम से भगवत् भक्ति की एक लहर दौड गयी और हिरण्यकशिपु का अन्त हुआ।

इसके पश्चात् त्रेता युग में रावण नामक एक नरेश हुआ। पहले वह नास्तिक नहीं था, भक्त था। जैसा कि अभी आपने देखा, साइस जब प्रगति पर आती है, उसका परिणाम सर्वनाश निकलता है। किन्तु इसके पूर्व ही एक अन्य परिणाम होता है- नास्तिकता की अभिवृद्धि। रावण भी पहले भक्त था। क्रमश· उसने यहॉ तक आविष्कार किया कि सर कटने पर भी वह न मरे। ऐसे-ऐसे यन्त्र बनाये कि उसे कोई न देखे किन्तु वह सबको देखे। उसका लडका मेघनाद युद्ध में क्रुद्ध होकर जब आगे बढा तो अदृश्य होकर लडने लगा। वह रथ पर आरूढ था किन्तु अदृश्य था। वह सबको देख रहा था, निशाने साध रहा था लेकिन उसको कोई देख नहीं रहा था। क्या आज भी है कोई आविष्कार जो उससे आगे हो? सिद्ध है कि उस समय का साइस आज की अपेक्षा अधिक प्रगति पर था। हनुमान जी ने लका मे आग लगा दी तो रावण के सकेत पर मूसलाधार वर्षा होने लगी। वृष्टि पर रावण का अधिकार था। आजकल भी लोग पानी बरसाने का कृत्रिम उपाय सोच रहे हैं। परन्तु अभी सफल नहीं हो सके।

एक समय रावण अमरकटक में शिव की पूजा कर रहा था। उसी समय एक शक्तिशाली नरेश सहस्रार्जुन ने नर्वदा नदी का प्रवाह रोक दिया। रावण जहॉ पूजा कर रहा था, जल का स्तर चढ गया, फूल वह चले। पता चलने पर रावण के सेनापति प्रहस्त ने आक्रमण कर दिया। शत्रु सवल था अत प्रहस्त ने सबल यन्त्र मूसल उठाया। मूसल जव चलने को हुआ तो उसके अग्र भाग से प्रलयकालीन लपटें निकलने लगीं। क्या वह धान कूॅटनेवाला साधारण मूसल था? सिद्ध है कि वह यत्र था। हॉ, उस समय की भाषा के अनुसार उसका नाम मूसल अवश्य था। धान कूटनेवाले मूसल से क्या प्रलयकालीन लपटें निकलती हैं। उस समय भी आविष्कार कितना आगे था।

इतने पर भी आविष्कार शान्त नहीं था। शोध जारी था। रावण ने निर्णय किया कि मैं स्वर्ग में सीढियॉ लगवा दूॅगा, काल का भय संसार से समाप्त कर दूॅगा, अग्नि से धुऑ मिटा दूॅगा- इत्यादि। आविष्कार पराकाष्ठा पर पहुॅचा, तहॉ वह मदान्ध हो गया। पहले तो उसने भगवान को तिलाजलि दी, गालियॉ दी, कहने लगा- मै ही ईश्वर हूॅ। फिर उसने सर्वत्र आक्रमण करना, विध्वस करना प्रारम्भ किया।

अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिय नहि काना।
तेहि बहु विधि त्रासइ देश निकासइ जो कह वेद पुराना।।

रावण 'धर्म' कानों से सुन भर जाता तो इतना बौखला उठता था कि स्वय उसे नष्ट करने दौड पडता था, सेना भेज देता था।

आजकल भी लोग कहते हैं कि भगवान कुछ नहीं हैं। पूजा-पाठ व्यर्थ है। वस्तुत मायिक क्षेत्र में खाने-जीने की सुख-सुविधा जव-जव मिली, मनुष्य ने भगवान को अनावश्यक और [illegible] की कल्पना माना। परन्तु भगवान ने मनुष्य का साथ तव भी नहीं छोड़ा। भगवान तव भी नष्ट नहीं हुए क्योंकि वही तो एक ऐसी सत्ता है जो कभी नष्ट नहीं होती।

द्वापर में भी ऐसे आविष्कारों का बाहुल्य रहा। उग्रसेन को कोई पुत्र नहीं था। मन बहलाने

के लिए उनकी पत्नी वन में विचरण करने गयीं। उसी जगल में एक असुर रहता था। उसने सुना कि महाराज उग्रसेन की पत्नी घूमने आयी हैं जो अत्यन्त सुन्दरी भी हैं, उसने जगल में तूफान खडा कर दिया। पेड़ गिरने लगे, बड़े-वडे पत्थर लुढकने लगे, अव्यवस्था फैल गयी, घोडे तितर-बितर हो गये। ऐसी विपम परिस्थिति में वह असुर पहुँचा। उग्रसेन का रूप वनाया और स्त्री से सयोग किया। जाते समय असुर ने अपना रूप दिखाया। उग्रसेन की पत्नी शाप देने को उद्यत हुई तो असुर ने कहा कि इस समागम से आपको अत्यन्त पराक्रमी पुत्र होगा। जिसे लडका न हो, उसे लडके की लालच पर्याप्त होती है। वह बेचारी मन मारकर लौट आई। कंस का जन्म हुआ। शास्त्रकार लिखते हैं कि उस अधम राक्षस ने आसुरी माया का प्रयोग किया। तूफान खड़ा कर देना, आग्नेयास्त्रो का सचालन, वृष्टि करा लेना इत्यादि आसुरी माया की सज्ञा में था। द्वापर में ही एक अन्य असुर वाणासुर था। उसने भी अपनी वेधशाला में आश्चर्यजनक आविष्कार किये थे। वाणासुर की कन्या जब·विवाह-योग्य हुई, तब वाणासुर ने उसे एक सुरक्षित महल में रख दिया। उसके चारो ओर तीन अक्षौहिणी सेना का पहरा विठा दिया, जिससे कोई राजा-महाराजा उस अनिद्य सुन्दरी कन्या का अपहरण न कर सके। उस वालिका ने देखा कि मेरे विवाह के लिए ही इतनी सतर्कता बरती जा रही है अत उसे चिन्ता हुई। वार-वार चिन्तन करने पर स्वप्न में उसे पति का रूप दिखाई पडे। उसने अपनी सखी चित्रलेखा को बुलवाया, जो मेधावी साइटिस्ट थी। सपना सुनाकर चित्रलेखा से यह पता करने को कहा कि सपने में उसे कौन मिला था। चित्रलेखा अनेक महाराजाओ के चित्र दिखाती हुई अन्त मे जब कृष्ण का चित्र बनाने लगी तो वाणासुर की कन्या ऊषा ने बताया, यह तो नहीं हैं किन्तु इनसे बहुत मिलते-जुलते हैं। जब अनिरुद्ध का चित्र आया तो ऊषा ने कहा, बस यही है। और जब यही हमारे भावी पतिदेव हैं तो सकोच किस बात का? क्यो न अभी इन्हें किसी युक्ति से लाया जाय। चित्रलेखा गयी और पलग समेत अनिरुद्ध को उठा लायी। लाखों का पहरा इधर लगा था और ऐसा ही पहरा कृष्ण के यहाँ भी था। किन्तु न इन्हें पता चला, न उन्हे भान हुआ। आप ही बताएँ कि उस समय साइस कितना उन्नत था?

वनवास काल में पाण्डव अपना समय बिता रहे थे। उसी समय सिन्धुराज जयद्रथ स्त्री-रत्न की तलाश में निकल पड़ा। उस समय बहुविवाह की प्रथा थी। जब वह घोर जगल से निकला तो एक कुटिया के सामने अतीव सुन्दरी दिखाई पडी। जयद्रथ ने कहा कि इतनी सुन्दर स्त्री तो हमने कभी देखा ही नहीं। मन्त्रियो से कहा-'पता लगाओ यह कौन है? कोई मानवी है या देवी है? मनुष्यो के उपभोग योग्य है भी अथवा नहीं?' मन्त्रियों ने पता लगाकर बताया कि यह तो पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी है। जयद्रथ ने मन्त्रियो से उसे फुसलाया और स्वय भी गया। कहने लगा कि देखो, तुम सुख भोग करने योग्य हो। पाण्डव सुख-समृद्धि से हीन हो गये हैं। अत तुम हमारे साथ चलो। मैं सिन्धुराज जयद्रथ हूँ। मेरे पास रत्न है, सेना है, तुम हमारे ही योग्य हो। द्रौपदी ने उसे वहुत फटकारा, किन्तु कामान्ध जयद्रथ उसे ले भागा। जब वह तीन-चार मील पहाड़ो की ओट में पहुँच गया तब पाण्डवों को इसकी सूचना मिली। पाण्डव उस समय शिकार खेलने गये थे। अर्जुन ने वहीं से दिव्य अस्त्र का सधान किया। जयद्रथ के घोडे धराशायी हो गये। रथ चूर-चूर हो गया किन्तु जयद्रथ और द्रौपदी को खरोच तक नहीं आयी और भीम ने दौडकर उसे पकड लिया। क्या आज भी ऐसा कोई अस्त्र है जो पचीस आदमियों में से जिसको चाहे मार दे और

जिसे चाहे वचा ले, जबकि शत्रु भी अदृश्य हों? अभी तो नहीं है। सिद्ध है उस समय साइस आज की अपेक्षा अधिक प्रगति पर था।

महाभारत युद्ध के समय दुर्योधन जब बहुत गिडगिडाया तो भीष्म ने कहा- चलो मै कल ही युद्ध का फैसला किये देता हूँ। एक ही वाण मे सम्पूर्ण पाण्डव सेना को धराशायी कर दूँगा। दूसरे दिन भीष्म ने नारायण अस्त्र का सधान किया। वह भयकर अस्त्र जव चला तव कृष्ण ने कहा- "देखो ! इस अस्त्र का एक ही निवारण है कि पीठ दिखा दो। यह शूरवीर को ही मारता है। जो इसे पीठ दिखाता है उसे यह क्षमा कर देता है।" यह सुनते ही पाण्डव सेना ने पीठ दिखा दिया लेकिन भीम ने पीठ नहीं दिखायी। वे तो ताल ठोंककर खडे हो गये। कृष्ण ने उन्हें सावधान भी किया कि इस तरह तुम मारे जाओगे, पीठ दिखा दो। भीम ने कहा-अपना उपदेश उसी अजुन को करो। मैं क्षत्रिय हूँ। मरना तो एक बार है ही। किन्तु मैं पीठ नहीं दिखा सकता। इधर वह अस्त्र सभी ओर से सिमटता हुआ समूचे वेग से भीम की ओर बढने लगा तो कृष्ण ने दौडकर भीम को छाती से लगा लिया। इधर कृष्ण ने अपनी पीठ दिखायी, उधर भीम की पीठ तो थी ही। इस तरह कृष्ण ने उस भक्त की रक्षा की। ऐसे-ऐसे अस्त्र-शस्त्र थे जो हाथ से छूटने पर भी युद्धस्थल में यदि कोई उनसे क्षमा मॉग ले तो तत्काल उन्हे छोड देता था। ऐसे ही वाणो को आज वम्व कहते है। अन्यथा क्या वे लोहे की साधारण कीले थीं? क्या आज भी कुछ ऐसे आविष्कार हैं? विश्व मे, विशेषत भारत मे यह साइस आज की अपेक्षा पचासो गुना वढा-चढा था।

परन्तु जब-तक साइस पराकाष्ठा पर पहुँचा, उसका परिणाम पहले तो नास्तिकता और तत्पश्चात् सर्वनाश ही हुआ। राम-रावण युद्ध, महाभारत-युद्ध में असख्य जनता मारी गयी। शक्तियॉ जव अधिक बढ जाती हैं तो ऐंटने लगती हैं। जैसे आजकल रूस और अमेरिका ऐंठते रहते हैं। एक न एक दिन उनमे टकराव हो जाता है, जिसका परिणाम सर्वनाश होता है। सर्वनाश का तात्पर्य यह नहीं है कि समूची सृष्टि ही समाप्त हो जाती है, अपितु वहुसख्यक समाप्त हो जाते हैं। अत्यल्प सख्या मे लोग वच रहते हैं। जैसे एकाध परिवार इस जिला में बचे तो दूसरा परिवार अगले जिले में। एक दीपक मिर्जापुर मे जल रहा है तो दूसरा काशी में, तीसरा जौनपुर में। इस प्रकार पचीस-पचीस, पचास-पचास मील पर मनुष्य रहने लगा। जनसख्या कम हो गयी। मनुष्य-मनुष्य को देखेने के लिए तरसने लगा। जहॉ घनी आवादी और लहलहाते खेत थे, वे स्थान घोर जगल में परिणत हो गये । आज आप यहॉ वैठे हैं, यदि कोई पचास वर्ष तक यहॉ न आवे तो यहॉ के हरे-भरे खेतों में धनघोर जगल पाया जायगा। वनस्पतियॉ इतनी शीघ्र पनपती हैं कि यह स्थान जगली जीव-जन्तुओं का एक निवास होगा। आपके पडोस में यहॉ से दो मील पर 'मदरवा' देखते-देखते जगल वन गया जवकि वहॉ खेती होती थी।

अव मनुष्य उन आविष्कारों को घृणा की दृष्टि से देखने लगा। उसने विचार किया कि यह उन्हीं आविष्कारों की ही तो देन है कि आज हमारा कोई नहीं वचा। केवल हम एक अभागे थे जो वचे। ढूँढने पर कोई साथी भी नहीं मिलता और कहीं मिलता भी है तो पचासों मील की दूरी पर कोई एक मिलता है। अत वह उन सिद्धान्तों को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है जिनके

वह अपनी सर्वोपरि उपलब्धि समझता था।

धीरे-धीरे वे आविष्कार लुप्त होते गये और लोग साधारण तरीके से रहने लगे। विनाश और विकास तो सृष्टि का नियम है। जिस क्षेत्र के लोग पहले विकसित हुए, वे सभ्य कहलाने लगे और जहाँ कुछ देर से पनपे वे आदिवासी कहे जाने लगे। आदिवासी का तात्पर्य यह नहीं कि जव ब्रह्मा ने सृष्टि रची या आदम पैदा हुआ तभी से असभ्य वने हुए हैं। वस्तुत. वे कई वार सभ्य रह चुके हैं।

इस प्रकार आविष्कार तो वहुत उच्चकोटि के हुए लेकिन उनके आविष्कर्ताओं को किसी ने वैज्ञानिक नहीं कहा। उन्हें असुर कहा जाता था। सुर देवता को कहते हैं। परमदेव परमात्मा पर विश्वास करनेवाले और उसकी ओर चलनेवाले सुर कहलाते हैं। उसे केवल माननेवाले मानव कहलाते थे- जो हृदय मे आस्था को सॅजोये हैं किन्तु व्यस्तता के कारण ईश्वर-चिन्तन में समय नहीं दे पाते। असुर उन्हे कहते थे जो देवत्व से विलग थे। 'देव'-भगवान अनावश्यक है, मैं ही ईश्वर हूॅ, ऐश्वर्य का भोक्ता हूॅ- इस विचारधारा के लोग असुर कहलाये। कम्युनिज्म भी तो यही कहता है। यही हिरण्यकशिपु ने किया, आविष्कारों के नशे में यही रावण और उसके परिवार ने किया। इसी मदान्धता मे महाभारत का युद्ध हुआ, जिसमें लगभग आधे असुर थे। असुर का तात्पर्य ऐसा नहीं है कि दो सींग, वडी-वड़ी ऑखों वाले या हाथ-हाथ भर के दॉतों वाले व्यक्ति रहे हो। कृष्ण की सगी बुआ का लडका शिशुपाल असुर था। सगा मामा कंस राक्षस था। सगा समधी वाणासुर निशाचर था। कृष्ण स्वय देवता थे, वसुदेव देव श्रेणी में गिने जाते थे। इन्हीं के सगे सम्बन्धी पाण्डव शुद्ध नर थे तो दुर्योधन इत्यादि मध्यम अवस्था वाले थे। उनके पक्ष में अधिकाशत आसुरी प्रवृत्ति के लोग एकत्र थे। इस प्रकार एक सम्बन्धी मानव है तो दूसरा सम्वन्धी दानव है और उसी का सगा सम्बन्धी देवश्रेणी का भी पाया जाता है।

राक्षसो का एक पर्याय निशाचर भी है। वस्तुतः 'या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति सयमी', गीता के अनुसार जगत् ही रात्रि है। इस जगत्रूपी रात्रि में विचरनेवाला ही निशाचर है। जगत् को ही सत्य माननेवाले, जगत् में ही विश्वास रखनेवाले, 'खाओ पीओ मौज करो' में ही आस्था रखनेवाले निशाचर कहलाए। ऐसे प्राणी भौतिक आविष्कारों को ही अपना गौरव समझते रहे। जिसमे देवत्व नहीं, बल्कि माया का बहाव है। इसीलिए उनके द्वारा जो आविष्कार होता रहा, उस आसुरी माया को आजकल साइस कहा जाता है। इनके आविष्कर्ताओं को पूर्वकाल में असुर कहते थे।

अंग्रेज जब भारत आये, अग्रेजी भाषा के शब्दों का हिन्दी रूपान्तरण प्रारभ हुआ। अग्रेजी शव्द साइस के हिन्दी पर्याय का प्रश्न खडा हुआ। साइकिल चली तो कहा गया कि यह साइस की देन है। इतने में 'पी' करती कार आई। लोगों को बडा आश्चर्य हुआ कि यह निर्जीव लोहा चल कैसे लेता है। देखते-देखते ट्रेन के लिए पटरी बिछ गयीं और भयकर आकृतिवाली रेल हजारों लोगों को ढोने लगी। घोडा जहॉ दस घटे में जाता था, कार एक घण्टे में जाने लगी। लोगों ने कहा कि यह साइस है। दूर-दूर के समाचार यन्त्रों से आने लगे। तब भी लोगों ने साइंस का गुण गाया। भारतीयों ने देखा कि ऐसा विशेष चमत्कार तो योग-दर्शन में पाया जाता है, जिसे हमारे

मनीपियों ने विज्ञान की सज्ञा दी थी। इसलिए बगाल के एक भाषाविद् ने साइस का नाम झट से विज्ञान रख दिया। वस्तुत यह विज्ञान नहीं है। विज्ञान तो उसे कहते हैं कि-

विज्ञान

विनु विज्ञान कि समता आवइ। कोउ अवकाश कि नभ बिनु पावइ।। (मानस, ७/८९/३)
विना विज्ञान के समता नहीं आती। जहॉ विज्ञान आ गया तहॉ विषमता सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाती है। विश्व में उसका कोई शत्रु नहीं रहता। उससे कोई द्वेष करता ही नहीं है। सर्वत्र एक समता की लहर व्याप्त हो जाती है। आज का सबसे बडा वैज्ञानिक अमेरिका को कहा जाता है, रूस को कहा जाता है, किन्तु उन्हे नींद नहीं आती। विपमता इतनी वढ गयी कि भारत को कैसे खरीदें? चीन को कैसे मिटा दें? क्या विज्ञान का यही गुणधर्म है? साइस जिसे भ्रमवश विज्ञान नाम दे दिया गया है, जहॉ-जहॉ वढी है, वहॉ विषमता की बाढ आ गयी। राग, द्वेप और शोषण चरम सीमा तक जा पहुँचा। यह विज्ञान नहीं है। यह तो आसुरी माया का लक्षण है कि सव मरे और केवल हम जीयें।

विज्ञान तो कोई ऐसी वस्तु है जिससे एकता आ जाती है, समत्व आ जाता है और जिनके पास आया उसका समर्थन महापुरुषों ने इन शव्दों में किया-

तुम्ह विज्ञान रूप नहिं मोहा। नाथ कीन्हि मोपर अति छोहा।। (मानस, ७।१२२।४)

कागभुशुण्डि जी गरुड की पीठ ठोंकते हुए कहते हैं कि तुम विज्ञान स्वरूप हो, मोह तो तुम्हें हो ही नहीं सकता। विज्ञान कोई ऐसी वस्तु है जिसके आ जाने पर मोह नहीं रह जाता। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाचनः।। (गीता, ६।८)

ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार । प्रत्यक्ष दर्शन का नाम ही ज्ञान है। इसके पश्चात् विज्ञान आता है। कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! ज्ञान और ज्ञान के पश्चात् कहीं विज्ञान आ जाय तो यह आत्मा तृप्त हो जाती है, आत्मा परिपूर्ण हो जाती है। न तो आत्मा अन्य किसी सम्पत्ति से तृप्त होती है, न दस भाषाओ के ज्ञान से तृप्त होती है और न खान-पान, भोग-विलास से ही तृप्त हो सकती है। आत्मा तो अपने ही शाश्वत रूप परमात्मा के दिग्दर्शन और उसमें प्रवेश पाने पर ही तृप्त होती है। उस ब्रह्मपीयूष को प्रत्यक्ष पाकर ही आत्मा सन्तुष्ट होती है। इससे पहले आत्मा को तृप्त कर देनेवाली कोई सत्ता है ही नहीं।

अत विज्ञान कोई ऐसी वस्तु है जो इस आत्मा को ब्रह्म-पीयूप से भेंट कराती है और उसे पूर्ण तृप्ति प्रदान कर देती है। ऐसी आत्मा फिर कभी अतृप्त नहीं होती। विज्ञान उसे कूटस्थ, अचल और स्थिर कर देता है। फिर वह आत्मा कभी चलायमान नहीं होती। चलायमान होकर योनियों में जन्म नहीं लेती, शाश्वत स्थिति पा जाती है।

इस प्रकार विज्ञान का इतना वडा महत्त्व है कि आत्मा को पूर्ण तृप्ति प्रदान करता है, अचल स्थिति प्रदान करता है। विषमता को समाप्त करके समता प्रदान करता है और जहाँ विज्ञान रहता

है वहाँ मोह नहीं रहता। किन्तु इस तथाकथित विज्ञान में तो जिनके पास जितने अधिक आविष्कार हैं, वह उतना ही अधिक इतराता है। उतनी ही द्वेष और जलन की भावना उसमें अधिक पायी जाती है। ससार को गुलाम वनाकर अकेले वही जीने की कामना करने लग जाता है। जिनके पास और अधिक आविष्कार हैं, वे कहते हैं कि भगवान कुछ नहीं है, विपय ही सव कुछ है- "खाओ पीओ मौज करो" ही सर्वस्व है। जव-जव आविष्कार वढे, हिरण्यकशिपु, रावण, कस, दुर्योधन सभी ने एक स्वर से यही कहा! देवासुर सग्राम की गाथाओं से पुराणों के पन्ने भरे पडे हैं, वे पुराण जिनमे हमारे पुरातन इतिहास का सकलन है। देवासुर सग्राम वार-वार हुआ किन्तु उल्लेखनीय है कि दैवी सम्पत्तिवाले समूल नष्ट कभी नही हुए। क्योंकि वे भगवान पर आधारित थे और भगवान ही एक ऐसी सत्ता है जिसे न शस्त्र से काटा जा सकता है न अग्नि जला सकती है, न वायु सुखा सकता है। 'मैटर' क्षेत्र में पैदा होनेवाली कोई भी वस्तु उसका स्पर्श तक नहीं कर सकती। वह सर्वत्र सचालित है, वही अपरिवर्तनशील है और वही एक ऐसी सत्ता है जो शाश्वत है। इसीलिए दैवी सम्पत्ति के अनुयायी सदैव थे, आज भी हैं और नास्तिकता चाहे जितनी वढ जाय आस्तिकता का सचार बना ही रहेगा।

आज आप कहते हैं कि "विदेशो मे विज्ञान वहुत प्रगति कर रहा है। इस पृथ्वी से वैज्ञानिकों ने वहुत कुछ पैदा कर लिया है।" परन्तु यथार्थ तो यह है कि इस पृथ्वी का वे एक कण भी उठा नहीं पाये है। उनके सभी आविष्कार मायिक परिधि तक ही सीमित हैं और विदेश क्या? दुनिया ही एक देश है। हॉ, भारत से वाहर आविष्कारो के पीछे भाग-दौड़ अधिक दिखाई देती है। भारत इस वार पीछे दिखाई दे रहा है। लेकिन अतीत में आविष्कार भारत मे ही हुए थे। हिरण्यकशिपु भारतीय था, रावण भारतीय था, देवासुर सग्राम भारतीयो के वीच ही हुआ था, पाण्डव भारतीय ही थे। आज की तुलना मे उनके आविष्कार वढे-चढे थे। किन्तु परिणाम क्या निकला? अपने ही स्वजनो की भयकर क्षति। अत यहाँ प्रलयकारी युद्धो में कल्याण न देखकर भारत शान्ति और भगवच्चर्चा की ओर अग्रसर हुआ। यही कारण है यह देश मायिक आविष्कारों में इस वार पीछे है।

यही भारत की आध्यात्मिक विरासत है जिनके लिए वह सदैव जगद्गुरु रहा है, आज भी है और रहेगा। हमारे पूर्वजो में से क्षत्रिय नरेश विश्वामित्र का नाम बडे आदर से लिया जाता है। वे अपने युग के जाने-माने आविष्कर्ताओं में से थे। उन्होने रज-वीर्य के सयोग के बिना ही मनुष्यों की सृष्टि का सकल्प किया। भौतिक वस्तुओ को जोडकर मनुष्याकृति तैयार की, नारियल जैसा मुँह वनाया, सीप जैसी ऑखें इत्यादि। जव उनमें प्राण-सचालन करने लगे तो सम्भावित पुरुषों ने आकर उनसे निवेदन किया कि आप यह क्या कर रहे हैं? विश्वामित्र ने कहा कि नयी सृष्टि रचने जा रहा हूँ। महर्पियो ने कहा कि आप समर्थ हैं, रच लेंगे, इसमे कोई सन्देह नहीं है किन्तु तनिक विचार करें कि दु ख भोगने के लिए तो दुनिया भर के जीव पडे ही हैं। आप उन्हीं को और पैदा करने जा रहे हैं। दु ख भोगने के लिए आत्माओ का सृजन आपको शोभा नहीं देता। ससार में इतने जीव दिन-रात हाय-हाय कर रहे हैं। आपको तो ऐसा कुछ करना चाहिए जिससे इन दु:खों से छूटने का कोर्ड मार्ग निकल आये। ससार को न रचकर ससार को पार करा देनेवाली कोर्ड

युक्ति रचें। ऐसा सुनकर विश्वामित्र ने अपने उस विचार को बदला। तपस्या में सलग्न को गये और क्रमश उस परब्रह्म परमात्मा का दिग्दर्शन कर उसी स्वरूप में परिपूरित हो गये। ब्रह्म से सयुक्त होते ही वे ब्रह्मर्षि कहलाने लगे। इस प्रकार मनीषियों ने मायिक चमत्कारों का कभी भी श्रेय नहीं माना।

विद्यार्थियो! अब तक आपने साइस पढा जो वस्तुत आसुरी माया है, जो अधिक बढ जाने पर भगवान तक को तिलाजलि दे देता है। किन्तु अब आप वास्तविक विज्ञान की ओर वढे, जिसे जान लेने पर और कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। जिसे पा लेने पर और कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता, केवल वही आपको पूर्ण आत्मिक तुष्टि प्रदान करने में सक्षम है।

।। ॐ ।।

शत्रु

कुटिल कर्म ही शत्रु है, आतम हने दुकाम।
महामित्र इक राम है, 'अड़गड़' करनी थाम।।

भावार्थ- कुटिल कर्म ही शत्रु है। दूषित कुकृत्य ही आत्मा की हत्या है। महानतम सहायक एकमात्र राम हैं। यदि उस राम की आवश्यकता है तो करनी को मन के अन्तराल में रोकने का प्रयत्न करो।

गो-प्रकरण

प्रश्नः- महाराज जी! आप कहते हैं कि अवतार योगी के लिए है, किन्तु 'मानस' में तो गाय के लिए अवतार हुआ। गाय के शरीर में देवताओं का निवास है। गाय हमारा धर्म है। क्या गो-रक्षा के लिए अवतार नहीं हुआ?

उत्तरः- हिन्दू-धर्म मे गाय के महत्त्व पर प्राय- आन्दोलन हुआ करता है। आज सर्वत्र मॉग उठ रही है कि भारत मे गो-वध वन्द किया जाय। लाखों भावुक इसके लिए प्राणों की आहुति दे चुके है। एक समय हिन्दू-धर्म के प्रचारक वम्वई पहुँच गये। भाविकों ने सत्सग में समस्या रखी कि जव भी धर्म-परिवर्तन होता है, हिन्दुओं को ही फोडा जाता है। हिन्दू ही मुसलमान वने, ईसाई भी हिन्दू ही वने। क्यो न हम लोग भी अन्य धर्मावलम्वियों को हिन्दू-धर्म में प्रवेश दें। प्रचारक ने कहा, "मुसलमानो को हिन्दू तो वनाया जा सकता है किन्तु उनके पेट में जो गो-मास चला गया है, उसका क्या होगा?"

भाविको ने कहा, "महाराज! अनर्थ तो हो ही गया। अव उपाय क्या है?" धर्म-प्रचारक ने कहा, "एक उपाय है। सम्पूर्ण तार्थो की वे पैदल तीर्थयात्रा करें, पुन काशी में यज्ञ इत्यादि के द्वारा उन्हे शुद्ध करके हिन्दुओ की एक अलग जाति वनाकर रखा जा सकता है।" अव किसे पागल कुत्ते ने काटा है कि भारत भर की पैदल यात्रा करे? दूसरे धर्म मे भी भोजन मिलता ही है, वस्त्र और मकान है ही, धर्म के नाम पर भी कुछ न कुछ करते ही हैं। हिन्दू-धर्म में कौन सा आकर्षण विशेष है, जवकि जातीय समानता भी मिलने से रही। अन्य जाति के रूप में उपेक्षित होकर रहना कौन चाहेगा?

वस्तुत ऐसी मान्यताएँ हिन्दू-धर्म के यथार्थ स्वरूप को न जानने के कारण ही हैं। मनीषियों की व्यवस्थाओ, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, योगेश्वर श्रीकृष्ण के निर्देशों एव आचरण से ही यह जान सकना सभव है कि शास्त्रो का यथार्थ सनातन स्वरूप क्या है? मानस में उल्लेख है कि हनुमान जव सीतान्वेपण हेतु लका गये तो सर्वप्रथम एक ऊँचे शिखर पर चढकर शत्रु की गतिविधियों को परखा। उन्होने देखा कि विशालकाय निशाचर नगर के चारों ओर पहरा दे रहे हैं। कहीं मल्लयुद्ध-कला का अभ्यास कर रहे हैं तो कहीं **"महिष मानुष धेनु खर, अज खल निसाचर भच्छहि।"** भैस, मनुष्य, गाय, गधा और बकरो को अधम निशाचर खा रहे थे। वे गाय खाते थे, उनके पेट मे गो-मास भी था। उससे भी अधिक महत्त्व रखनेवाले विप्रो का मांस भी उनका आहार था फिर भी रावण से सत्रस्त होकर जितने भी निशाचर राम की शरण में आये, उनको राम ने स्थान दिया। विभीपण, उनके मत्री, रावण का विश्वस्त गुप्तचर--सबको राम ने अपने यहॉ स्थान दिया। ऐसा स्थान नहीं कि तुम आज से हिन्दू तो हो गये, किन्तु शूद्र रहोगे बल्कि उन्हें गले लगाया और अयोध्या की भरी सभा में **"भरतहुँ ते मोहि अधिक पियारे"** घोषित किया। राम के हृदय में जो स्थान भरत का था उतना ही बडा स्थान उन निशाचरों का भी था। यद्यपि वे गो-मास भक्षी थे, विप्र-मास भी उनका भोजन था फिर भी राम ने सगे भाई से वढकर उन्हे माना। उन्हें वही स्थान दिया जो सगे भाई का होता है। इस प्रकार वे भी शुद्ध सनातनधर्मी हुए। राम की तो घोषणा

है कि पुरुष हो, नारी हो अथवा नपुसक, चराचर का कोई भी जीव जो कपट तजकर सर्वतोभावेन मुझे भजता है वह मुझे परमप्रिय है। चराचर का अर्थ भारत ही नहीं होता, विश्व का कोई भी प्राणी सनातन-धर्मी हो सकता है। तुलसीदास जी की मान्यता है कि **"श्वपच शबर खस जमन जड़ पाँमर कोल किरात।"** भी नाम के प्रभाव से परम पावन हो जाते हैं तथा चौदहों भुवनो में अत्यन्त सम्मानित वन जाते हैं। अत सनातन धर्म में सबका अधिकार है। जो अन्यथा कहते हैं वे सनातन धर्म को नहीं जानते वल्कि सनातन धर्म के नाम पर किसी रूढि के शिकजे में फॅस गये है। भला जान-वूझकर कौन फॅसना चाहेगा?

प्रश्न खडा होता है कि हमारे धर्म में गाय कव से आयी? धर्म-प्रेमियों के एक समूह से हमने पूछा कि धर्म के स्थान पर गाय कव आयी? उन्होंने कहा- अनादिकाल से! हमने जानना चाहा कि शास्त्रों में कोई उल्लेख है। उन्होंने वताया-"कृष्ण गाय चराते थे।" हमने कहा कि यादव परिवार में पालन-पोषण हुआ तो गाय न चराते तो हाथी-घोडा कहॉ से पाते? जिस परिवार मे जन्म होता है, वचपन में वैसी ही व्यवस्था भी मिलती है। रैदास को चमडा मिला था, मीरा को सिहासन मिला था और राम को धनुष-बाण मिला था तो क्या धनुष धर्म है? वडे होने पर कृष्ण ने गाय नहीं चरायी? हमने प्रश्न रखा कि क्या और भी कोई प्रमाण है? इसके पश्चात् उनके पास कहने को कुछ नहीं था। हॉ, हठधर्मिता अवश्य थी। सन्देह की दृष्टि से देखने अवश्य लगे कि गाय के विरुद्ध कहनेवाले ये कहीं मुसलमान तो नहीं हैं?

क्या गाय वस्तुत धर्म है? उपनिषद् के ऋषियों का कहना है कि सृष्टि में धर्म है तो मानव है। उनका निर्णय है- **"गुह्यं ब्रह्मतदिद व्रवीमि। न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित्।।** वडे रहस्य की वात कहता हूॅ कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। मनसहित इन्द्रियों की दरार पाट ली जाय, इन्द्रियों की त्रुटियों का निवारण-कर लिया जाय तो मनुष्य के रूप में परमात्मा देखा गया। योगेश्वर श्रीकृष्ण का भी यही उपदेश है कि आत्मा ही शत्रु तथा आत्मा ही मित्र है। जिस पुरुष के द्वारा इन्द्रियॉ जीती गई हैं, उसके लिए उसी की आत्मा मित्र वनकर मित्रता में वरतती है, परम कल्याण करनेवाली होती हे तथा जिस पुरुष के द्वारा इन्द्रियॉ नहीं जीती गई हैं, उसी की आत्मा शत्रु वनकर शत्रुता में वरतती हे, अधोगति तथा नीच योनियों में फेंकने वाली होती हे। अत अर्जुन! तू इन इन्द्रियों को सव ओर से समेटकर मेरा ही चितन कर। मैं प्रतिज्ञा करता हूॅ कि तू मेरे स्वरूप को प्राप्त होगा अर्थात् जैसा स्वरूप कृष्ण का हे, उसी स्वरूप में अर्जुन भी स्थित होगा। स्पष्ट हे कि मानव ही परमधर्म परमात्मा तक पहुॅच सकता हे। देवता तक इसी नर-तन से आशावान हैं। पशु-पक्षी, पेड-पोधे हमारा धर्म नहीं हो सकते। परम-धर्म तो परमात्मा ही हे।

फिर गाय का इतना महत्त्व क्यों है? वेदिक काल से ही गाय का विशिष्ट स्थान रहा हे। द्वापरकाल तक भैंस का दूध दुहा जा सकता है, ऐसी कल्पना भी नहीं थी। महाभारतकाल में भीष्म एवं द्रोण के पश्चात् दुर्योधन की व्यूह-व्यवस्था भग होने लगी तो कर्ण को मुख्य सेनापति बनाया गया। कर्ण ने कहा कि मैं अर्जुन को मार सकता हूँ किन्तु सारथी कृष्ण-जैसा होना चाहिए। विचार-विमर्श हुआ तो पता चला कि वैसा रथ-संचालन तो शल्य ही कर सकते हैं। शल्य का आह्वान हुआ। दुर्योधन ने प्रस्ताव किया- "मातुल! हमारे हित के लिए आप कर्ण का सारथित्व

सॅभालें।" शल्य बहुत बिगडा, बोला- "मुझे कायर ओर कर्ण को बहादुर समझते हो? हमारा हिस्सा निर्धारित कर दो, शाम तक सबको काटकर स्वदेश लोट जाऊँगा।" वह मद्र देश (मद्रास) का राजा था। बोला- "मैं मूर्धाभिषक्त राजा हूँ। यह कर्ण तुम्हारे टुकडे पर पलनेवाला है। मैं इसका सारथी नहीं बन सकता।" ऐसा कहकर शल्य उठ खडा हुआ और जाने लगा। दुर्योधन ने क्षमा माँगी और बोला-"राजन्! मेरा यह प्रयोजन नहीं था। बात यह थी कि आप-जैसा सारथी कोई नहीं है। एक आप है और दूसरे कृष्ण! और योद्धा तो आप-जैसा कोई है ही नहीं। आप कृष्ण से भी अधिक शक्तिशाली हैं।" शल्य लौट पडा बोला-"इतने राजाओं के बीच में तुमने मुझे कृष्ण से भी शक्तिशाली कहा है। अत मैं तुम्हारे हित के लिए कर्ण का सारथित्व भी करूँगा किन्तु मैं जो भी कडवी बात कहूँ, कर्ण उसे सहन करे क्योंकि मैं नरेश हूँ और यह सूत-पुत्र तुम्हारे टुकडों पर पलनेवाला है।" कर्ण ने भी दुर्योधन के हित में यह शर्त स्वीकार किया।

युद्धभूमि में जब शल्य ने कर्ण को कडवी-कड़वी बातें सुनाना प्रारभ किया तो कर्ण से न रहा गया। उसने शल्य से कहा, "तुम उस नीच जाति के लोगों के राजा हो जहॉ लोग लहसुन को दूध से खाते हैं। हमारे यहॉ सभी लोग स्वच्छ एव साफ-सुथरे हैं। तुम्हारे यहॉ भेंड़-बकरी-गधी और ऊँटनी का दूध पीते है।" स्पष्ट है कि बकरी के दूध का आविष्कार था, भेंड के दूध का आविष्कार था, गाय-गधी और ऊँटनी के दूध का प्रचलन था किन्तु "भैंस का भी दूध होता है"- ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

भैंस और भैंसे जगली जानवर अवश्य थे। आज भी जगली भैंसे हैं जिनका शिकार होता है। वनवास काल में एक दिन भीम शिकार खेलने गये। कुछ समय पश्चात् महाराज युधिष्ठिर को अपशकुन होने लगे। युधिष्ठिर को लगा कि भीम सकट में हैं। ऋषियों को साथ लेकर युधिष्ठिर भीम की शोध मे निकल पडे। रास्ते में उनको भीम द्वारा आहत एवं मृत सैकड़ों शेर मिले, सैकडों भैंसे पडे मिले, गैंडे मिले, जगली हाथी भी मिले। इन्हीं चिन्हों का अनुकरण करते हुए वे वहॉ पहुँचे जहॉ अजगर वेश में नहुष से लिपटा भीम निश्चेष्ट पडा था। युधिष्ठिर ने नहुष के प्रश्नों का समाधान कर भीम की जीवन-रक्षा की। इस प्रसग में भीम द्वारा मारे गये भैंसों का उल्लेख है। भैंसे, शेर तथा हाथी जगली जन्तु थे। दुधारू पशुओं में भैंस का उल्लेख महाभारतकाल तक नहीं पाया जाता।

इसीलिए गाय पूजनीय थी क्योंकि दूध देनेवाले पशुओं में वही सर्वश्रेष्ठ थी।

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान।।

कृषि-कार्य करने के लिए गो का विशेष महत्त्व था। उस समय विराट के पास गोधन सबसे अधिक था जिससे दुर्योधन आदि नरेश स्पर्धा किया करते थे। बैलों से खेती होती थी, आज की तरह ट्रैक्टर नहीं थे। दू, दही, घी, अन्न, खाद इत्यादि अत्यन्त उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन का एकमात्र आधार गाय थी। अतएव गाय सर्वश्रेष्ठ धन थी और धन की पूजा तो होती है।

'गजधन'- हाथी एक धन था। युद्धों में टैंक के स्थान पर हाथियों का समूह बढ़ा दिया जाता था। किले का फाटक तोडने के लिए तथा सैनिकों को विचलित करने के लिए हाथी ही एकमात्र

साधन था। रास्ता बनाने के लिए, पेडों को गिराने के लिए तथा सवारी एव श्रृंगार के लिए भी उसका महत्त्व था। इसलिए हाथी की भी पूजा होती थी। उसका स्थान टैंकों और तोपों ने ले लिया तो हाथी को अनावश्यक चारा कौन खिलाए? पहले उसी की पूजा होती थी। आज भी उसका अस्तित्व है किन्तु क्षीण होता जा रहा है। या तो कुछ लोग भीख माँगते समय 'गणेश जी' कहकर उसकी पूजा कराते हैं अथवा विवाह या कुछ पर्वो पर गजशाला पूज ली जाती है। गज की पूजा समाप्त होती जा रही है क्योंकि वह अब धन के स्थान से च्युत होता जा रहा है।

'वाजिधन'- घोडा एक धन था। प्रारभ में आवागमन के तीव्रतम साधन में उसकी गणना थी। राजा-महाराजाओं के पास जितने अधिक घोडे और रथ होते थे, उतने ही सम्पन्न समझे जाते थे। मोटर, हवाई जहाज इत्यादि सुलभ तीव्र साधनों के समक्ष घोडा भी महत्त्वहीन हो चला है। प्रारभ में घोडा की पूजा होती थी क्योंकि धन था। अब वह भी धन के स्थान से च्युत हो चला है इसलिए उसकी पूजा का प्रचलन भी अस्तित्व खोता जा रहा है।

'रतनधन' की पूजा पहले भी होती थी और आज भी होती है। सोना, जवाहरात आज भी अपने स्थान पर हैं। उनका स्थानापन्न कोई दूसरा स्वरूप सामने नहीं आया। उनसे भी उपयोगी द्रव्य अभी आविष्कार में नहीं हैं। इसलिए वे धन के स्थान पर यथावत् हैं। दीपदान के समय लक्ष्मी-पूजन की प्रथा अब भी है।

इस प्रकार प्राचीनकाल में गाय की पूजा इसलिए होती थी कि वह सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति थी। विराट इत्यादि जिन राजाओं के पास अधिक गोधन था, उनका विशेष महत्त्व था। दूसरे नरेश भी गोधन लूटकर अपनी सम्पत्ति बढाने की ताक में रहते थे। प्राचीन शिक्षा में गोचारण भी अनिवार्य विषय था। राजकुमार भी गाय चराते थे, जिससे गोधन की गतिविधियों से अवगत हो जायँ और उनकी रक्षा कर सकें। आज गाय की अपेक्षा भैंस दूध की अधिक पूर्ति करती है। कृषि भी ट्रैक्टरों पर आधारित होने लगी है। बैल उपेक्षित होते जा रहे हैं। विदेशों मे तो बैल से खेती करने की कल्पना भी नहीं रह गई। खाद की समस्या भी दूसरी तरह से हल हो रही है। रासायनिक उर्वरक आवश्यक हो रहे हैं। इस प्रकार गाय अब धन के स्थान से च्युत हो रही है किन्तु अन्त में च्युत हुई इसलिए अभी घाव ताजा है। प्राचीन प्रथा को तोडते सकोच लग रहा है। सहन नहीं हो रहा है कि वह हमारा धर्म नहीं है। वस्तुत गो धन थी इसलिए पूजा होती थी, न कि वह हमारा धर्म या उसका अग है। भारत ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में गाय की पूजा होती थी क्योंकि वह धन था। वैदिक वाङ्मय में धर्मशास्त्रों में स्थान-स्थान पर गो-रक्षा का निर्देश है। उस साहित्य में मनसहित इन्द्रियों को 'गो' कहा जाता था। 'मानस' में भी इसी आशय से 'गो' का प्रयोग है।

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।(३।१८।१३)

इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषयों में जहाँ तक मन कल्पना कर सकता है, उसे माया जानना चाहिए। जिन महापुरुषों ने मनसहित इन्द्रियों को संयमित कर लिया, उन्होंने तत्क्षण परमधर्म परमात्मा में प्रवेश पा लिया। काम, क्रोध, मद, लोभ इत्यादि के द्वारा इन्द्रियाँ विकृत होती हैं, विषयों में बिखर जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं- यही इन्द्रियों का वध है, यही गो-वध है। विवेक, वैराग्य, नियम, संयम, ध्यान और समाधि द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ केन्द्रित होती हैं। यही गो-रक्षा है।

अतः 'गो-वध बद करो' 'गो-रक्षा करो' तभी धर्म की जय होगी, परमधर्म परमात्मा पर विजय मिलेगी। गो-रक्षा पर ही धर्म निर्भर है। यदि हमें परमधर्म की चाह है तो गो-रक्षा करें, उन्हे सयत करें। यदि इन्द्रियॉ विकृत हैं तो आप परमात्मा की पूजा नहीं कर सकेंगे। मनसहित इन्द्रियों के निरोध के साथ ही उस पूजन का विधान है। इसलिए गो-रक्षा सनातन धर्म का सर्वोपरि अग है।

साधना के सही दौर में पडकर जव मन इष्ट के चरणों में लगते-लगते अतिसूक्ष्म होने लगता है, तहॉ ब्रह्म-पीयूष का स्रोत योगी के हृदय में मिलने लगता है। यह आनन्द-स्रोत ही नन्दिनी है। यही इन्द्रियॉ जब पूर्णत साध ली जाती हैं, उस अवस्था में यही गो कामधेनु हो जाती है। इन्द्रियॉ जब तक विषयोन्मुख दौडती हैं, इच्छित वस्तुओं के लिए मन दौडता रहता है, पूर्ति नहीं होती, किंतु मनसहित इन्द्रियॉ जब सिमटकर इष्ट के तद्रूप अचल स्थिर ठहर जाती हैं, उस समय इच्छायें शक्ति से सयुक्त हो जाती हैं, फिर तो **"जो इच्छा करिहउ मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।"** उस समय कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता और अत में जव यह द्रष्टा जीवात्मा अपने परमात्म स्वरूप मे स्थित हो जाता है उस समय कामना ही नहीं रह जाती। **"पाप पुण्य की करे न आसा। सो पहुंचे रघुनायक पासा"** उससे श्रेष्ठ आगे कुछ सत्ता ही नहीं है तो कामना किसकी करे। ऐसा पुरुष पूर्णकाम होता है।

इस प्रकार योगशास्त्रों में 'गो' का तात्पर्य इन्द्रिय ही होता है। मन सहित इन्द्रिय-समूह को विकृत न करे, इनका सयम करें, गो रक्षा करें। जब हम वासनाओं से इन्द्रियों की रक्षा करने में सक्षम होंगे, परमधर्म परमात्मा विदित हो जायगा। इसलिए यदि धर्म की आवश्यकता है तो गो-रक्षा करें किंतु ऐसा नहीं कि किसी पशु का पीछा कर बैठें। यदि पूर्वजो ने किसी पशु का पीछा किया हो तो आप करें। किन्तु धर्म-ग्रन्थों मे ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। पशु के रूप में गाय, बैल, हाथी तथा घोडों की पूजा करना 'धर्म' नहीं है। गाय का महत्त्व सामाजिक एवं आर्थिक उपादेयता के कारण था और धन तो आज भी पूजा जाता है।

आर्थिक महत्त्व की दृष्टि से गायो का सवर्धन विदेशो मे भी रहा है। मुहम्मद साहब ने कुरान शरीफ में लिखा है कि गाय पालतू पशु है, यह मारने की चीज नहीं है, इसी रक्षा करो। 'कुरआन' का दूसरा सूरा 'अलवकर' है। गाय को अरबी में 'बकर' कहते है। वहॉ भी इन्द्रियों के दमन का निर्देश है। जिसे अल्पज्ञ 'गो-कुशी' मान लेते हैं। वहॉ विचित्र गाय का उल्लेख है जो न खेत जोतती हो, जिस पर जुआ न रखा गया हो, जो खेत को पानी न देती हो, एक रग की हो, किसी दूसरे रग की मिलावट न हो। सुनहले रग की हो, ऐसी गाय को ईश्वर के निमित्त मारना है। यहॉ भी इन्द्रियों द्वारा विषय-सेवन का निरोध कर विशुद्ध अत करण से उन्हे ईश्वर में लगा देने मात्र का निर्देश है। मुहम्मद साहव ने गाय के दूध और मा के दूध को समान माना है और गायों की रक्षा पर बल दिया है। वकरीद का पर्व और उसमें गायों को काटना कुरान में कहीं नहीं लिखा है। किंवदन्ती है कि ईश्वर ने रसूल से उसकी प्रिय वस्तु मॉगी। उसने अपने पुत्र की वलि दी तो पुत्र के स्थान पर 'वकरा' हो गया, लडका बच गया। किंतु कुरान में बकरीद की चर्चा तक नहीं है। खाने-पीने का एक तरीका धर्म के नाम पर चल पड़ा।

मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया तो गाय के प्रति हिंदुओं की कमजोरी को भॉप लिया। महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी तथा बाबर आदि सभी ने किसी न किसी रूप में गायों को आगे करके आक्रमण किया। स्वस्तिवाचक पुजारियों के निर्देश पर धर्मभीरू क्षत्रियों ने गोमाता की रक्षा के लिए शस्त्र नीचे रख दिये। मुट्ठी भर मुसलमानों ने गाय की ओट से निशाना लेकर पहले तो सैनिकों को मारा, पडितों को पकडकर मुसलमान बना लिया और हिदुओ की भावनाओं को उत्पीडित करने के लिए गायो को भी भूनकर पचा लिया, जिसका इतिहास साक्षी है। मुसलमानों ने ऐसा जो किया उनका दोष नहीं है, दोष तो हमलोगों का है जो हमने धर्म को नहीं समझा और धर्म के नाम पर रूढि पूजी जाने लगी। अत पशु-पूजा, वृक्ष-पूजा, नाग-पूजा जैसी रूढि न अपनावें। धर्म का वास्तविक रहस्य एव उसकी क्रिया समझने के लिए किसी तत्त्वदर्शी महात्मा की शरण में जायॅ।

यदि भगवान के अलावा और कोई धर्म हो तो आप ही वतावें। क्या गीता, क्या रामायण, क्या उपनिषद्, क्या धर्म योग-दर्शन, सव मे साधनाओं की ऊँची-नीची अवस्थाएँ तो ध्रुव अकाट्य है। इन अवस्थाओं का चित्रण तो अवश्य मिलेगा किन्तु वह अलग-अलग धर्म नहीं है।

।। ॐ ।।

सुरत डोर की सग में, गगन महल में जीव।
'अडगड़' का घर अन्त में, जहँ जन जीव न पीव।।

भावार्थ- इष्ट के चरणो में जव श्वास-प्रश्वास की डोरी लग जाती हे तो 'सुरत डोर के सग में गगन महल में जीव' यह जीवात्मा आकाशवत् हो जाती है। वहीं महापुरुष का घर उसी अनन्त मे हे जहॉ जन, भक्त, जीव ओर पीव की सज्ञा विलीन हो जाती है।

"आर्य"

प्रश्न- महाराज जी! अंग्रेज इतिहासकार भारत के इतिहास को आर्यों का इतिहास तो मानते है, लेकिन उनका कहना है कि आर्य भारत के रहनेवाले नहीं थे बल्कि भारत के बाहर से, यूरोप की ओर से आये थे। आर्य गोरे थे, अंग्रेज भी गोरे हैं; अतः अंग्रेज ही शुद्ध आर्य हैं, म्लेच्छ नहीं। यह देश सदैव विदेशियों द्वारा जीता गया, अतः अंग्रेज राज्य करने आये तो बुरा क्या है? अंग्रेज यह भी कहते हैं कि आर्यों के आने से पहले भारत में असभ्य काले लोग रहते थे। आर्यो ने उनको दक्षिण भारत की ओर खदेड़ दिया। सिन्धु नदी के किनारे सभ्य लोगों की पुरानी बस्तियॉ खुदाई में आयीं तो अंग्रेजों ने कहा कि अपवाद रूप में कुछ काले लोग सभ्य हो गये थे। इसीलिए इस सभ्यता को आर्यो से भिन्न माना जाता है और इसे केवल सिन्धु घाटी की सभ्यता कहते हैं। सिन्धु घाटी मे कोई मन्दिर नहीं मिला, और जो कहते हैं कि लाखों शिवलिंग मिले हैं, वास्तव में मूसल, लोढ़े, सिल-बट्टे हैं- ऐसा अर्नेस्ट मैके ने लिखा है। आर्य और अनार्य का प्रश्न खड़ा करके दक्षिण भारत में राम का पुतला जलाया गया। अंग्रेज यह भी कहते है कि पहले के भारतीय इतिहास लिखना ही नहीं जानते थे। उसमें सन्-तारीख लिखा ही नही गया, इसलिए पुराणों मे वर्णित इतिहास गप्प है। जबकि भारतीय ग्रन्थों में लाखो वर्ष पहले का इतिहास लिखा गया है। 'बाइबिल' में मानव-सृष्टि चार हजार वर्ष पहले की बताई गई है। इधर मुसलमान कहते हैं, चौदहवीं शताब्दी के बाद यहॉ प्रलय हो जायगा। इन विचारो मे कहॉ तक सत्यता है?

उत्तर- भारतीय इतिहास के विषय में अनेक भ्रान्तियॉ हैं, इसमें सन्देह नहीं है। इतिहास लेखन की ही वात लीजिए। हमारा इतिहास वेद मे है, पुराणो में है, उसे अंग्रेज इतिहास मानने को तैयार ही नहीं है। महाराज हर्ष के समय में चीन का एक यात्री 'ह्वेनसाग' भारत आया था, उसने लिखा है कि प्रत्येक गॉव मे एक कर्मचारी होता था जो अच्छी-बुरी सभी घटनाओं को लिखता था। इतिहास और कैसा होता है? उससे भी हजार वर्ष पहले चाणक्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन में प्रत्येक गॉव मे 'अक्ष पटल' विभाग होता था जो गॉवभर के धर्म, व्यवहार, चरित्र और अच्छी-खराब घटनाओं को रजिस्टर मे दर्ज करता था। सिकन्दर के जहाजी वेडे के एडमिरल नियार्कस ने लिखा है कि भारतीय लोग कपड़े पर भी लिखते थे। अत भारत मे लिखने की परम्परा थी--यह निर्विवाद है।

प्रश्न उठता है कि पहले का इतना अधिक हमारा लिखित इतिहास कहॉ है? तो आप जानते हे कि शान्ति-प्रिय भारतीयो के साहित्य अनेकानेक आक्रमणों में जलाये जाते रहे। विश्वविख्यात नालन्दा विश्वविद्यालय का पुस्तकालय तीन वर्ष तक लगातार जलता रहा। पहले पुस्तकें बडे परिश्रम से लिखी जाती रहीं। आजकल की तरह प्रेस, साधन नहीं थे। अत उनको पुस्तकालयों मे सुरक्षित रखा जाता था। हूणों ने, मुसलमानों ने, आक्रमणकारियों ने सारा साहित्य ही समाप्त करने का प्रयास किया। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत इत्यादि जो गिने-चुने ग्रन्थ वच रहे हैं, वे तो लोगों के याद रहने के कारण और घर मे लिपि पडी रहने से वच गये। भारत में श्रुतिधरों

में कभी कभी नहीं रही और आज भी इन शास्त्रों को कण्ठस्थ करनेवाले विद्वान् भारत में भरे पडे हैं। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत की सामग्री आध्यात्मिक दृष्टि से इतनी बहुमूल्य थी कि लोगों ने उसे कण्ठस्थ करना ही श्रेयस्कर समझा और इन्हीं के माध्यम से प्राचीन गौरवशाली इतिहास की भी एक झलक हमें मिल जाती है। यह बात अलग है हमारे साहित्य को अंग्रेज इतिहास की सज्ञा नहीं देते। उनकी दृष्टि में जब तक किसी घटना की तारीख और सन् न हो तब तक इतिहास कैसा? तारीख लिखना तो अंग्रेजों ने दो हजार वर्ष से सीखा, यहाँ तो अरबों वर्ष का इतिहास है। हमारे पूर्वज इतने तुच्छ स्तर पर सोचते भी नहीं थे।

जिस प्रकार सूर्य अनन्त हैं, पृथ्वी अनन्त हैं, उसी प्रकार समय भी अनन्त है। इस अनन्त समय को महीनों और वर्षों में गिनना उसी तरह हास्यास्पद है जैसे समुद्र की जलराशि को मापने के लिए लीटर की ईकाई निर्धारित करना। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने लाखों वर्षों के कलियुग, द्वापर, त्रेता इत्यादि युगों की कल्पना की, जो ब्रह्मा का एक दिन भी नहीं है। इसीलिए उन्होंने सन्, सम्वत्, तारीख-जैसे छोटे पैमानों का उपयोग इतिहास लेखन में नहीं किया। मनीषियों की सारग्राहिणी दृष्टि में घटनाओं का महत्त्व होता था, तारीख का नहीं। किसी महापुरुष के जन्म-मृत्यु की तारीख क्या लिखी जाय, जबकि आत्मा का न तो जन्म होता है, न मृत्यु होती है? यह तो विराट प्रभु तक की यात्रा के विभिन्न पडाव हैं। यात्री की दृष्टि लक्ष्य पर ही रहती है, पडाव पर नहीं। आजकल के भौतिकवादी अपने नाम का प्रचार करने के लिए सडक, पार्क, गार्डेन, शहर के नाम अपने से जोड देते हैं, पर महर्षियों ने अपना स्मारक सितारों पर बनाया जो युगों तक मानवता को अनुप्राणित करते रहेंगे। विक्टोरिया पार्क से गाधी पार्क भले ही बन जाय, किन्तु ध्रुव तारा, सप्तर्षि मण्डल, अगस्त्य तारा युगों तक उनकी उपलब्धियों का स्मरण कराता रहेगा। तुच्छ स्मारकों अथवा पैमानों में पूर्वजों की कोई रुचि नहीं थी। जिन महापुरुषों के इतिवृत्त से जीव का वास्तविक कल्याण सम्भव है केवल उन्हीं आख्यानों को मनीषियों ने सकलित किया, साथ ही लोक शिक्षण हेतु दुर्जनों का उदाहरण भी सग्रहीत कर लिया। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि इतिहास के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सभी आते हैं।। अर्थ १/५।। पुराण का अर्थ ही पुरानी घटनाएँ हैं। अत भारतीय आर्षग्रन्थों में निहित हमारा इतिहास सर्वथा प्रामाणिक है। महाभारत की घटना आज से पाँच हजार उन्नासी वर्ष पहले की है- ऐसा शिलालेखों तथा पचाङ्गों की परपरा से प्रमाणित हे। महाभारत में रामायण की घटना का सकेत है। रामायण, पुराण, शास्त्र, उपनिषद ओर वेदों का साराश है। जिससे स्पष्ट हे कि उक्त ग्रन्थ और भी प्राचीन हें। अत यदि आज कोई विश्व की सभ्यता को चार-छ हजार वर्ष पहले तक ही सीमित कहे तो उसका केवल यही आशय है कि वह अपने चार-छ हजार वर्ष पहले से सभ्य होने का दावा कर रहा हे। रही प्रलय ओर महाप्रलय की बात। तो पूज्य महाराज जी का कहना था कि सृष्टि अनादि है और रहेगी। प्रलय न हुआ है, न होगा।

वस्तुत 'प्रलय', 'महाप्रलय' योग के शब्द हैं। प्रलय के चार रूप होते हैं-- नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय प्रलय और महाप्रलय। नित्य प्रलय वह है जिसमें आप सो जाते हैं। आपके लिए सृष्टि खो गई और सृष्टि के लिए आप अदृश्य हैं। नैमित्तिक प्रलय वह है जब आप नियम से तन्

जाते हैं। नियम में बँधकर जब श्वास की डोरी लग जाती है, मन सब ओर से सुध-बुध खोकर इष्ट के चरणो मे केन्द्रित होने की क्षमता पा लेता है, उस समय ससार और ससार की लहरें आप में नहीं रह जातीं। प्रलय वह है जब आपके जन्म-जन्मान्तरों के सस्कारों की रील का शमन हो जाता है तथा महाप्रलय तब होता है जब सस्कारो से परे शाश्वत सत्ता का दिग्दर्शन और उसमें स्थिति मिलती है। प्रकृति पुरुषत्व में विलीन हो जाती है, यही 'महाप्रलय' है। न सृष्टि है, न हम है, न होंगे। सेवक खो जाता है और स्वामी ही शेष बचता है। ईश्वर की स्थिति और विलयवाला स्तर जब आता है तो 'ईशावास्यमिद सर्वं' ईश्वर ही सर्वत्र दिखाई पडता है। यह स्थिति कहने में नहीं आती। इसीलिए बुद्ध आदि ने मूक प्रेरणा से इसे व्यक्त किया। शकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद इस स्थिति पर पहुँचे तो उन्होंने कहा- सृष्टि हुई ही नहीं, जब कि उन्हीं के हजारों शिष्य कल्याण के लिए साधन ही कर रहे थे। हॉ, जिसने पाया उसके स्वरूप में सृष्टि नहीं रह गई। जो भी ईश्वरमयी स्थिति पाता है, उसी में फना हो जाता है, मिट जाता है, उसके लिए सृष्टि मिट गई। इसी को कबीर ने अपने शब्दों में समझाने का प्रयास किया--

'अवधू! बेगम देश है मेरा'--वह बेगम है, अगम्य है। वहॉ न ईश्वर है, न जीव है, न माया है। प्रलय और कैसा होता है? **"कहत कबीर सुनो भाई साधो, नहिं तहँ द्वैत बखेड़ा"**। वहॉ द्वैत का बखेडा ही नहीं है। काला-गोरा वहॉ कुछ भी तो नहीं है, वह स्थिति अनिर्वचनीय है। यही है महाप्रलय। बाहर दुनिया मे न प्रलय हुआ है, न होगा। सृष्टि अनादि है और रहेगी। अंग्रेजों ने सृष्टि प्रारम्भ होने की तारीख को खोज निकाला, तो मुसलमानों ने प्रलय की तारीख निर्धारित कर दी, असल में महापुरुषों की ओट में आज के लोगों को तारीख खोजने का नशा है।

भारत में एक अग्रेज ट्रेन से यात्रा कर रहा था। वह सस्कृत साहित्य पर शोध करने भारत आया था। समय बिताने के लिए उसने सहयात्री की किताब ले ली और पढ़ने लगा। सयोग से वह पुस्तक गीता थी। दो-तीन घटे में वह पूरी गीता पढ़ गया। भारतीय साथी से उसने प्रश्न किया कि आप रोज गीता पढते हैं। क्या आप बता सकते हैं कि अर्जुन किस तारीख को पैदा हुआ था? भारतीय सज्जन भौचक्के रह गये। उन्होंने कभी ऐसे प्रश्न की कल्पना ही नहीं की थी। अत बोले--गीता में ऐसा कहॉ लिखा है? अंग्रेज ने छाती फुलाते हुए कहा--'यही तो भारतीय और अग्रेजो में अन्तर है। आप रोज पढते हैं लेकिन जान नहीं सके। मैंने एक घटे उलटा-पुलटा और अर्जुन के जन्म की तारीख खोज निकाला।' भारतीय सज्जन ने उससे गीता में ऐसा दिखाने का आग्रह किया तो अंग्रेज ने अध्याय चार का पॉचवॉ श्लोक दिखाया-

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।

कृष्ण कहते हैं कि--अर्जुन! मेरे जन्म को तो बहुत दिन बीत गये। हॉ, तुम्हारा जन्म चार जून को हुआ था। 'चार्जुन' स्पष्ट लिखा है। ऐसे अंग्रेज विद्वान् (?) शिवलिंग को मूसल, लोढा, सिलबट्टा कह दें तो आश्चर्य क्या? यह तो तोड-फोड की गर्हित कला है। मैकाले का विचार था कि किसी देश को नष्ट करना हो तो पहले उसकी भाषा और संस्कृति को नष्ट कर दो। इसीलिए बहुत से अंग्रेज सस्कृत को देवभाषा नहीं, गॅवारू (डेड लैंग्वेज) कहते हैं। वेद को गडेरियों के गीत मानते हैं; कहते हैं, इससे अधिक उनका महत्त्व नहीं है। मतलब, वेद और बिरहे में अंतर नहीं

है। ये शकर जी नहीं, लोढे हैं। वे हमारी ही दृष्टि में हमारी सस्कृति को गिराना चाहते हैं। वे कहते हैं कि शिवलिग किसी मन्दिर में स्थापित नहीं है। वस्तुत शिवलिग सदैव मन्दिरों में स्थापित नहीं होते। गणेश चतुर्थी को अभी इसी वरैनी गॉव मे सवा लाख मिट्टी के शिवलिग वनाकर उनकी पूजा की गई। अपनी शक्ति के अनुसार कोई मिट्टी का तो कोई पत्थर का, कोई सोना-चॉदी का शिवलिग वनवाता है। यदि इस तरह की परम्परा प्राचीनकाल में घर-घर मे रही तो विस्मय की बात नहीं है।

मोहनजोदडो और हडप्पा मे जो खुदाई हुई है, उसी प्रकार की खुदाई राजस्थान, मध्य प्रदेश, उडीसा, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश में भी हुई है। वैसा ही रहन-सहन गगा के किनारे, नर्मदा के किनारे भी मिला है। यदि सिन्धु के किनारे रहने से सिन्धु घाटी की सभ्यता का नाम दिया जाय फिर तो गगा घाटी की सभ्यता, नर्मदा की सभ्यता, लोथल की सभ्यता अनेको सभ्यताऍ निकल आयेंगी। वस्तुत यह सभ्यता भारत की सभ्यता थी। आर्यों की सभ्यता ही थी। किसी एक प्रदेश अथवा किसी भिन्न जाति की आकस्मिक सभ्यता नहीं थी।

लगे हाथ अग्रेजों के 'हाइट मेन्स वर्डेन' के दावे पर भी विचार कर लिया जाय कि उन्होंने भारतीयों को सभ्यता सिखाई। हम उन्हीं की वात मान लेते किन्तु प्राचीन खुदाइयों में अग्रेजी सभ्यता का नामोनिशान भी नहीं मिलता। एक भी मूर्ति कोट, पैन्ट, हैट, टाई लगाए नहीं मिली। एक भी क्रास नहीं मिला। इसके विपरीत विदेशों में होनेवाली खुदाइयों मे हमारी सभ्यता की वस्तुऍ चूडियॉ मिली हैं, हमारे देवताओ के चित्र मिले है, हमारी गाथायें उत्कीर्ण है। कोलम्वस से भी हजारों वर्ष पूर्व भारतीयों ने अमेरिका को शोध निकाला था। इसी वर्ष अमेरिका में हुई खुदाई से यह तथ्य उद्भासित हुआ हे। वहॉ की खुदाई में वही वस्तुऍ, वही सस्कृति निकल रही हैं जो सिन्धु घाटी में मिली हैं। उनकी भाषा तमिल से मिलती-जुलती है इसलिए भारतीय भाषाविद् वहॉ बुलाए गये हैं। स्पष्ट है कि भारत वहॉ से लेकर यहॉ तक एक था। सर्वत्र भारतीय सभ्यता थी। अभी ढाई हजार वर्ष पहले यूनान, मिस्र, चीन, जापान आदि जिन-जिन देशों में गौतम बुद्ध की परम्परा गई, सभी आर्य हैं। हम तो यह कहते हैं कि विश्व को भारत ने सभ्यता सिखाई। सिन्धु घाटी की खुदाई में कासे की नर्तकी मिली है जिसका पूरा हाथ चूडियों से भरा है। आज भी सिन्धु प्रदेश के समीपवर्ती राजस्थान में स्त्रियॉ कलाई से लेकर गले तक चूडियॉ पहनती हैं। वैसा ही सिगार-पटार आज भी हे, जैसा सिन्धु घाटी में मिला हे। अत सिन्धु घाटी की सभ्यता विशुद्ध आर्य सभ्यता है और यही सभ्यता घूम-फिरकर विश्व के कोने-कोने मे पहुँची। भारतीय सभ्यता ही विश्व की प्राचीनतम सभ्यता हे। स्वय अग्रेज भी वेद को विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ स्वीकार करते हे।

इतिहासकारों का यह कहना भी ठीक नहीं है कि आर्य बाहर से आये और काले रगवाले भारत के आदिम निवासी हैं। उनका यह कहना भी धूर्ततापूर्ण है कि आज भारतीय न तो आर्यों की तरह गोरे रह गये न द्रविडों की तरह काले, बल्कि देशी-विदेशी लोगों के मेल से पैदा होने के कारण अपने रक्त की शुद्धता का दावा नहीं कर सकते। वस्तुत रग का निर्धारण जलवायु से होता है। अक्षांश और देशान्तर के विपुल विस्तार के कारण भारत में तीन प्रकार की जलवायु पाई जाती है—शीत, उष्ण और समशीतोष्ण। ठण्डे प्रदेश कश्मीर के निवासी गोरे है, दक्षिण भारत में

अधिक उष्णता है, इसलिए निवासी काले हैं। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश जहाँ दोनों प्रकार की जलवायु का टकराव है वहाँ बालों का रग गेहुवॉ है। दूसरा कारण भी है, भारत को पहले सोने की चिडिया कहा जाता था। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारतीय सोने की थाली में भोजन करते थे। गीतों में प्रसिद्ध है-- 'सोने की थाली में जेवना परोस्यों'। घरों में सोने की थालियॉ होती थीं। बार-बार आक्रमण होने से वह सोना-चॉदी-जवाहरात विदेशों में खिंचता गया। भोली-भाली जनता खोखली होती गई। फिर तो जनता को जीवन-निर्वाह के लिए अथक परिश्रम करना पडा। धूप में अधिक परिश्रम करने से रग प्राय काला हो ही जाता है। मल्लाहों के यही लडके जब तक पढते रहते है गोरे रहते हैं, किन्तु धूप में जहॉ नाव चलाना पडा; काले पड जाते हैं। यह तो ताप की देन है। ऐसी बात नहीं है कि गोरे रगवाले कहीं बाहर से आये हैं। वस्तुत. सभी प्रकार के 'कलर' भारत में पाये जाते है और सबके सब 'आर्य' हैं।

जहॉ तक आर्यों के विदेश से भारत आने का प्रश्न है, आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व का विदेशी मेगस्थनीज लिखता है, "सिकन्दर से पहले न तो किसी देश ने भारत पर आक्रमण किया था और न भारत ने ही किसी देश को गुलाम बनाया। किसी भी देश ने भारत में अपनी बस्ती नहीं बसाई। भारत के सभी निवासी यहीं के मूल वशज हैं।" मेगस्थनीज के समय में किसी को यह ज्ञात नहीं था कि भारतीय बाहर से आये है और ढाई हजार वर्ष बाद अंग्रेजों ने खोज लिया कि आर्य बाहर से आये हैं जबकि अग्रेज जाति स्वयं ढाई हजार वर्ष की भी नहीं है।

जो लोग यह कहते हैं कि--"बाहर से आनेवाले आर्यों ने उत्तर भारत पर अधिकार कर काले द्रविडो को दक्षिण खदेड दिया और अपने एजेन्ट राम-लक्ष्मण को भेजकर दक्षिण भारत के नेता रावण को कटवाकर फेक दिया।" उनका यह कथन भी राजनीति प्रेरित एव दुरभिसन्धिपूर्ण है। राम से भी पहले सुग्रीव, बालि इत्यादि के पूर्वज तथा केरल-मद्रास तक विस्तृत उनके राज्य के निवासी भी आर्य ही थे। राम-रावण युद्ध हो रहा था। रावण के अनेक सेनापति मारे जा चुके थे, तब कुम्भकरण को जगाने का उपक्रम किया जाने लगा। बहुत प्रयास के बाद कुम्भकरण जागा। कुछ खा-पीकर अकेला ही युद्ध करने निकल पडा। भयकर आकृति वाले इस निशाचर को देखते ही वानरों मे भगदड मच गई। बहुत से छटपटा कर गिर पड़े। बहुतों की हृदय-गति रुक गयी। बहुत से भालू, वानर दलदल में दुबक गये। भाग-दौड में लाखों समुद्र में गिर गये। बहुत-सी सेना पुल से लौटने लगी। राम ने विभीषण से पूछा- "यह कौन है? हमारी पूरी सेना इसके आतक से विचलित हो गयी है। अब लडाई कैसे होगी?" विभीषण ने कहा-- "यह हमारा बडा भाई तथा रावण का छोटा भाई कुम्भकर्ण है। लका नगरी मे इससे शक्तिशाली और बलवान कोई नहीं है। आपकी सेना वास्तव मे नहीं रुक सकेगी। सेना को धैर्य बॅधाइये कि यह कोई जीवधारी मानव नहीं है बल्कि यन्त्र है। यदि इन्हें आभास होगा कि यह जीवधारी है तो कभी नहीं रुकेंगे।" यह कार्य अगद को सौपा गया। अगद भागकर सेना के मुहाने पर आया और उपदेश देने लगा-- "बन्धुओ! हम लोगों के पूर्वजों ने बडी-बडी लडाइयॉ जीती हैं। हम लोग आर्य हैं। आज पीठ दिखलाने पर अनार्य कहलायेंगे।" देखे, सुग्रीव और बालि का खानदान शुद्ध आर्य था। समुद्र तटवासी वानरी सेना आर्य थी। राम तो बाद में पहुॅचे। आर्य का तात्पर्य है, जो सत्य से पीछे नहीं हटता, जो कर्त्तव्य से च्युत नहीं होता।

कनक-मृग के पीछे जब राम चले गये, उसे मारा तो मृगरूपधारी कपटी मारीच ने राम के स्वर में लक्ष्मण को पुकारा। सीता सुनते ही विकल हो गई। बोली- 'लक्ष्मण शीघ्र जाओ। तुम्हारे भ्राता सकट में हैं।' लक्ष्मण ने कहा-'नहीं! वे कभी सकट में नहीं पड सकते। आपकी रक्षा का भार मुझ पर है। वे आपको मुझे सौंपकर गये हैं। यह राम की आवाज नहीं, किसी कुटिल निशाचर की करतूत है।' सीता बिगड पडी--'कपटी लक्ष्मण! तू भाई की भक्ति जताकर पीछे लग गया। अयोध्या से ही मैं तेरे स्वभाव को ताड़ रही थी। तू सोचता था कि वनवास में राम कहीं मारे गये तो सीता को मैं प्राप्त कर लूँगा। कपटी लक्ष्मण! तुझे धिक्कार है। अनार्य लक्ष्मण! तुझको धिक्कार है।' स्पष्ट है कि वह पुरुष अनार्य है जो सत्य से विचलित हो जाता है। जो सत्य पर आरूढ रहता है उसे ही आर्य कहते हैं। जहॉ-जहॉ सत्य से च्युत होने का प्रश्न आया, वहॉ अनार्य शब्द का प्रयोग हुआ है।

वाल्मीकि रामायण का ही प्रसग है कि एक बार रावण ने अपनी वेधशाला में राम का कृत्रिम सिर बनवाया। लाकर सीता के सामने फेंक दिया, बोला- ले अजय राम! मर्यादा राम! यह ले अपना राम! देख, हमारा सेनापति प्रहस्त गया और काटकर ले आया। अब तो मानेगी हमको?' सीता ने खून से लथपथ राम का सिर देखा, विलाप करने लगी, 'मुझ अनार्या को धिक्कार है जो मैं आपको प्राप्त न कर सकी। सिद्ध है कि मेरे सत्य में कोई कमी थी।' सिद्ध है कि आर्य वह है जो सत्य पर आरूढ रहता है। आर्य एक निष्ठा है, एक गुणवाचक कसौटी है। प्रत्येक मानव इस कसौटी पर पहुॅच सकता है।

महाभारत का प्रसग है। जब दुर्योधन की जॉघ टूट गई, तब भीम ने आक्षेपयुक्त वचन कहते हुए उसके सिर पर पॉव रखा, तब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भीम को सान्त्वना देते हुए कहा-'भीम! यह तो पहले से ही मरा हुआ है। अब इसको मत मारो। इसने झूठे जुए का स्वाग करके धर्मात्मा युधिष्ठिर को वनवास मे भेजा था। यह तभी से मरा हुआ है। इसे अब कुछ मत कहो।'

कठिनाई से लम्बी सॉस खींचते हुए दुर्योधन बोला- "ओ कस के दास के बेटे! छली कृष्ण! तुमको धिक्कार है। तुम्हीं ने छल करके द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और मुझ दुर्योधन को मरवाया है, अन्यथा पाण्डव तो क्या, विश्व की कोई भी शक्ति हमारी सेना को जीत नहीं सकती थी। शिखण्डी को आगे करके तुमने भीष्म को मरवाया--क्या मैं इसे नहीं जानता? ताल ठोंककर भीम को मेरी जॉघ पर प्रहार करने का सकेत तुमने किया--क्या यह भी मुझसे छिपा है? अनार्य कृष्ण! तुमको धिक्कार है।"

यहॉ दुर्योधन ने कृष्ण के लिए 'अनार्य' शब्द का प्रयोग किया। स्पष्ट है कि सत्य से हटकर असत्य के आश्रित होनेवाला ही अनार्य है। आर्यत्व गुण है, जाति नहीं।

आर्य शब्द का अर्थ श्रेष्ठ होता है। यह शब्द सस्कृत के 'ऋ' धातु से निकला है, जिससे ऋतु शब्द बना है। 'ऋ' का अर्थ तीक्ष्ण तथा काटने वाला तथा 'अर' हठपूर्वक काटने को कहते हैं। जो चिन्तन पथ की बाधाओ को हठपूर्वक काटता है उसे आर्य कहते हैं। 'अर यम' अर यम को भी कहते है। पातजल योगदर्शन में अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पॉच यम हैं। इस यम-पालन में आनेवाली रुकावट को काटने मे जो सक्षम है वही आर्य है? वही सत्यान्वेषी

है। जा इनका पालन नहीं करता, उसके लिये यही यम दण्डधारी यमराज वन जाते हैं। इनका पालन करनेवाला आर्य है, भले ही वह मध्य एशिया का हो अथवा यूरोप, भारत या विश्व के किसी कोने का रहने वाला ही क्यों न हो।

इस प्रकार आर्य शब्द गुणवाचक है, जातिवाचक नहीं है। यह रंग-भेद पर आधारित नहीं है। जो लोग यह कहते हैं कि "उत्तर भारत के निवासी आर्य वाहर से आये, दक्षिण के काले द्रविड भारत के मूल निवासी हैं" केवल समाज में दरार डालने के लिए, भारत में फूट डालने के लिए ऐसा कहते हैं।

वास्तविकता यह है कि दक्षिण भारत वाले रावण की वश-परंपरा में नहीं हैं। वे अगद और सुग्रीव की सन्ताने हैं, जो आर्य ही थे। स्वय रावण के पिता, पितामह सभी आर्य थे किन्तु आर्य गुण से च्युत होने के कारण रावण असुर वन गया। इसी प्रकार, देखा जाय तो दक्षिण वालों ने ही रावण को मारा। उत्तर भारत की तो एक चुहिया तक नहीं मरी थी, एक भी सैनिक उत्तर भारत का नहीं था। राम को सीता की शोध में जाना ही था। दक्षिण के लोग रावण से त्रस्त हो चुके थे। राम ने केवल उनका सगठन खडा कर दिया। वस्तुत उत्तरी-दक्षिणी भारत के निवासी आर्य-परम्परा के ही हैं। इतना ही नहीं वल्कि जापान, चीन, मध्येशिया, अमेरिका इत्यादि जिन देशों में गौतम वुद्ध की परम्परा गई, गुरु नानक के उपदेश गये, आर्य-सस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ, सवके सव आर्य हैं, सत्य की ओर अग्रसर हैं। यह अवश्य है कि सर्वत्र सभी आर्य ही नहीं हैं। आसुरी विचारधारा के लोगो का अस्तित्व भी सदैव रहा है।

प्राय प्रत्येक देश मे, प्रत्येक समाज में आर्य-अनार्य, दैवी-आसुरी प्रवृत्तियों का प्रचलन रहा है। यह वात अलग है कि कभी दैवी प्रतिशत अधिक रहा है तो कभी आसुरी प्रवृत्तियों का वोलवाला हो जाता है। शास्त्रों को उठाकर देखें, पुराणों के पृष्ठ पलटें, इतिहास साक्षी है कि समय-समय पर देवता पहाड़ों में जाकर छिप जाते थे और सर्वत्र असुरों का आतंक छा जाता था। यही हिरण्यकशिपु ने किया, यही रावण ने किया तथा यही समय-समय पर दानवों ने भी किया। परमदेव परमात्मा से विलग प्रकृति में विश्वास रखनेवाले असुर कहलाये और परमदेव परमात्मा की प्राप्ति में प्रयत्नशील पुरुप देवता एव आर्य कहे गये। दोनों में केवल इतना ही अन्तर है। 'छान्दोग्य उपनिपद' के आख्यान से इसी अन्तर पर प्रकाश डाला गया है। एक समय इन्द्र और विरोचन प्रजापति व्रह्मा से आत्मा के विषय में जानने के लिए गये। प्रजापति ने कहा--'आत्मा को शरीर मे खोजो।' दोनों लौट आये। प्रजापति ने इन्हें लौटता देखकर कहा-"दोनों आत्मा का साक्षात्कार किये विना ही जा रहे हैं। 'यह शरीर ही आत्मा है।' ऐसा मानकर जो वैठ जायगा, वह देवता हो अथवा असुर उसका पतन हो जायगा।" असुर विरोचन शरीर को ही आत्मा मानकर उसे अलकृत करके सुख देने में लगा रहा, जवकि इन्द्र ने वार-वार विचार करके सकलेन्द्रिय सयम, व्रह्मचर्य का पालन करके अन्त में आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया। 'खाओ, पीओ और मौज करो।'- यही असुरों का मत है। आज भी ऐसा प्रचार ससार में न्यूनाधिक हो रहा है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि आज दैवी प्रकृति के पुरुषों को गुफाओं में छिपना नहीं पड़ रहा है। भारत की आर्य संस्कृति विश्व में फैल चुकी है, न्यूनाधिक मात्रा में आर्य विश्व में सर्वत्र हैं। लोग केवल फूट डालने

के लिए ऐसा कहते हैं कि आर्य वाहर से आये। अनेक भारतीय विद्वान् भी उसी लकीर के फकीर हो रहे हैं क्योंकि उन्हें भी वचपन से वही पढाया गया है, वास्तविकता लिखने पर उन्हें 'डिग्री' ही न मिले, नौकरी या कुर्सी भी न मिले, भारत और उसकी सभ्यता से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है। वे भी अग्रेजों के स्वर में स्वर मिलाकर ऑख मूँद लेते हैं। कुछ अग्रेजों ने वास्तविकता के प्रतिपादन का साहस भी किया किन्तु विरोधियों ने नक्कारखाने में तूती (शहनाई) की आवाज कोन सुनता है?

वरैनी निवासी श्री ओंकारनाथ सिह ने प्रश्न किया कि महाराज जी! यदि ससार भर के निवासी आर्य हो सकते हैं तो यह मानने में क्या आपत्ति है कि आर्य वाहर से आये? महाराज जी ने कहा--"दो वातें हैं। यदि ईसाई भी आर्य ही हैं तो वे अपने को आर्य ही क्यों नहीं कहते? 'आर्य' शव्द ईसा से पहले का है अत इन्हें आर्य कहलाने में हिचकना नहीं चाहिए। आपकी वात मानने में दूसरी आपत्ति यह है कि भारत में सदा से ही धर्म का अनुष्ठान एव महापुरुषों का अवतरण अन्य देशों की अपेक्षा अधिक रहा है। आज के ही विश्व को लीजिए। ससार के अनेक देशों में जीवन की सुविधाऍ भारत से अधिक हैं। मोटर, वगला, और विलासिता में अनेक देश भारत से आगे हैं, परन्तु अशान्ति, कलह, पागलपन और आत्महत्या की घटनाऍ वहॉ पर भारत से कई गुना अधिक हैं। आवादी भारत की अधिक है, किन्तु दुर्घटनाऍ उन देशों में अधिक हैं। भारतीय गरीव भले हो गये परन्तु सतुष्ट हैं, मानसिक अशान्ति नहीं है। विवाह की स्थिरता भारत में ही है। विदेशों मे सातवॉ-आठवॉ तलाक सामान्य है। स्त्रियों का सतीत्व भारत मे ही मर्यादा की वस्तु है। कम्युनिस्ट अथवा पूॅजीवादी तथाकथित उन्नत देशों मे यह शारीरिक भूख मात्र है। इतना सदाचरण तो भारत में आज भी सर्वत्र है।

प्राचीन काल में भारत का सदाचरण कितना ऊँचा था? इसे एक विदेशी के मुख से सुनिये। आज से लगभग साढे तेरह सौ वर्ष पहले चीन का पर्यटक ह्वेनसाग भारत आया था। पन्द्रह वर्षो तक उसने सम्पूर्ण भारत का पेदल भ्रमण किया। लौटने पर उसने यात्रा वृतान्त लिखा--"भारतवासी वडे सत्यवादी और प्रतिष्ठावान होते हैं। वे पाप-पुण्य का सदैव ध्यान रखते हैं। उनका व्यवहार मधुर और नम्र होता है। पवित्रता इतनी अधिक है कि देश में मास, मदिरा, लहसुन और प्याज का प्रयोग नहीं होता। केवल चाण्डाल लोग ही इनका प्रयोग करते हैं, जो नगर से बाहर ही रहते हैं। कहा जाता है कि इस देश की भाषा को व्रह्मा ने वनाया है। सम्भवत इसीलिए भारतीयों की भाषा वडी शुद्ध है, उनका उच्चारण बडा मधुर है। उनकी भाषा देवताओं सी प्रतीत होती है, जवकि भारत से बाहर रहनेवालो की भाषा और उच्चारण अशुद्ध है। इस देश को हिन्दुस्तान कहा जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि 'हिन्दू' शव्द सिन्धु नदी से बना है, कुछेक कहते हैं यह इन्दु से निकला है, जिसका अर्थ यहॉ चन्द्रमा होता है किन्तु मेरे विचार से इस देश का वास्तविक नाम देवभूमि होना चाहिए क्योंकि यहॉ आदमी नहीं, देवता रहते हैं।"

वस्तुत दैवी प्रकृति हमारी थी। दूसरी सस्कृतियों को, दूसरे देशों को यह गौरव कभी किसी ने नहीं दिया। अत यह मानने का प्रश्न ही नहीं उठता कि हम बाहर से आये। आर्य सस्कृति का गढ तो भारत है। विश्व ने जो कुछ सीखा है, वह भारत की ही देन है। साधना के प्रारम्भ में ईसा भी योग सीखने भारत आये थे--ऐसा तिब्बत के पुस्तकालय की प्राचीन पुस्तको से

प्रमाणित हुआ है। वाइबिल में 'चिलचिलाती धूप में खेलनेवाले नंगे वच्चे', 'पानी भरती पनिहारिनें', 'आम की अमराई' का वर्णन है कि जिसे इग्लैण्ड या जेरूसलम में पले लोग स्वप्न में भी नहीं सोच सकते। स्वय ईसा शव्द भारतीय शव्द ईश, ईश्वर की नकल है। ईसा को मसीहा कहा जाता है। मसीहा वैद्य को कहते हैं। गुरु ही सवसे वडा वैद्य है, जो भवरोग से वचा लेता है। इसीलिए ईसाई मिशनरियों में गाया जाता है--'ईसू मसीह मेरे प्राण वचैया।' वस्तुत यह सभी भारतीय दर्शन से प्रभावित है और कहा तो यहॉ तक जा सकता है कि विश्व में जो कुछ श्रेष्ठ है, वह आर्यभूमि भारत की ही देन है। सही आत्मिक उपलव्धि के लिए भारत जगद्गुरु था और रहेगा। यह वात अलग है कि भारतीय शान्तिप्रिय दैवी सम्पत्ति में जीवन विताने वाले थे, जवकि विदेशी आक्रमणकारी क्रूर और हिसक थे। इसीलिए समय-समय पर भारत को गुलाम वनना पडा, न कि विदेशी शक्ति में अधिक थे। यही कारण है कि भारत और उसकी आर्य विरासत सर्वथा नष्ट कभी नहीं हुई। जब भी अपने शौर्य का स्मरण हुआ, भारत पुनः जागा और पुन अपने उसी स्थान पर पहुॅच गया। इसीलिए भारत आज स्वतन्त्र है। विदेशियों की अनेक चालों के वावजूद भारतीय सस्कृति, आर्य सस्कृति अक्षुण्ण है। आर्य गुणधारी मनुष्यों की वहुसंख्या के कारण समग्र भारत ही मूल आर्यभूमि है। वैसे है सर्वत्र। इस आर्यत्व की उपलव्धि के लिए महर्षियों का सत्संग आवश्यक है।[1]

।। ॐ ।।

---

१ भगवान गौतम बुद्ध के अनुसार मनुष्यों के दो विभाग हैं। जो सन्मार्ग पर दृढतापूर्वक आरूढ हैं उन्हें आर्य कहते हैं तथा जो सन्मार्ग पर आरूढ नहीं हैं, पृथग्जन कहे जाते हैं। वे भी जन ही हैं क्योंकि आर्य वनने की क्षमता उनमें प्रसुप्त है।

'मज्झिम निकाय' के पासरासि सुत्त (१-३-६) में कथा आती है कि एक बार भगवान श्रावस्ती में अनाथ पिण्डिक के आराम जेतवन में विहार करते थे। पूर्वाह्न के समय पात्र-चीवर लेकर श्रावस्ती में भिक्षाटन करते हुए वे रम्यक व्राह्मण के आश्रम में पहुॅचे, जहॉ धर्म-कथा हो रही थी। तथागत ने सम्बोधित किया-- 'तुम्हारे वीच कौन-सी गाथा चल रही थी?' उन लोगों ने वताया-- 'भगवान की ही कथा हमारे बीच में उठी थी, इतने में भगवान पहुॅच गये।'

साधुवाद देते हुए शास्ता ने कहा--"श्रद्धापूर्वक घर से प्रव्रजित तुम कुल-पुत्रों के लिए यही शोभनीय है। भिक्षुओ! तुम्हारे लिए दो ही कर्तव्य हैं- (१) भगवान का चिन्तन, (२) आर्यत्व के गुणों का मनन अर्थात् उन गुणों का चिन्तन जिन पर चलकर जातिधर्मा, व्याधिधर्मा, शोकधर्मा, सक्लेशधर्मा और मरणधर्मा पुरुष अ-जात, व्याधिरहित, अ-शोक, अ-सक्लिष्ट एव अमृत वन जाता है। भिक्षुओ! वही आर्य है। जो पूर्णत्त्व प्राप्त कर चुका है, वह आर्य है।"

अवतार

प्रश्न- महाराजजी! ''विप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार'' सन्त तो विरले होते हैं। सामान्य मनुष्यों में अवतार केवल ब्राह्मण के लिए होता है। क्या और किसी की पुकार भगवान नहीं सुनते?

उत्तर- ठीक कहते हो। सुनो, हिन्दू धर्मशास्त्रों में चौवीस अवतार वताये गये हैं। मुसलमानों में भी चौवीस ही नवी और जैन विचारधारा में चौवीस ही तीर्थकर हैं। न तेईस और न पचीस। विलक्षण समानता तो यह है कि लगभग सवके सव अवतार महात्मा ही हैं जिन्होंने हमारी आपकी तरह जन्म लिया। कोई परिस्थितियों से प्रेरित हुआ तो कोई पूर्व पुण्य-पुरुषार्थ से। वे सव उस तत्त्व की तलाश में निकल पडे, चिन्तन किया, चिन्मय अविनाशी की स्थिति प्राप्त की और अवतार (नवी) कहलाये।

सनातनी मनीषा में अवतार के वारे में प्राय यह भावना है कि अवतार कोई चमत्कार है जो भक्तों की आर्त पुकार पर अचानक कहीं प्रकट होगा, खलों का विनाश और हम सज्जन लोगों की रक्षा करेगा किन्तु मूल शास्त्रों में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। हिन्दू शास्त्रों के चौवीस अवतारों में अठारह महात्मा निकले और कच्छप, मत्स्य, शूकर, नृसिंह, हस इत्यादि पशु-पक्षी अवतार भी रूपक हैं जिनमें प्रभु के अवतरण की एक जैसी विधि-विशेष का चित्रण मात्र है। रहे भगवान राम ओर श्रीकृष्ण, तो उनमें भगवान श्रीकृष्ण के ही शव्दों में वे योगेश्वर हैं।

रामचरित मानस की कुछेक पंक्तियों से लगता है कि अवतार मनुष्यों में केवल ब्राह्मण के लिए होता है। अवतार पर सीधा प्रकाश डालते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है-

जब जब होइ धरम की हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।।
करहिं अनीति जाइ नहि बरनी। सीदहि विप्र धेनु सुर धरनी।।
तब तब धरि प्रभु विविध शरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।

विप्र, गाय, सुर और धरती--ये जव कष्ट पाते हैं, तव-तव विविध शरीरो में प्रभु प्रकट होते हैं। प्रथम धरती को लें। उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक की धरती। भगवान के आविर्भाव से जो दु ख-सुख मिलेगा इसे तो वही जाने। देवता का दु ख-सुख भी वही जाने। रही पशु श्रेणी की गाय तो हम गाय तो हैं नहीं कि हमें भी भगवान का कुछ अश मिलता। मनुष्य में यदि किसी के लिए अवतार होता है तो केवल वर्ग विशेष ब्राह्मण के लिए होता है। 'सीदहि विप्र' जव विप्र कष्ट पाता है तब निवारण के लिए होता है, अन्य किसी के लिए नहीं।

विश्व के लगभग पौने चार सौ देशों में से एक देश भारत। विश्व की असख्य जातियॉ। उनमे भी प्रचलित चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में से केवल ब्राह्मण वर्ग के लिए भगवान प्रकट होते हैं। तब तो यह भगवान एक कवीले का हो गया, विश्वव्यापी कैसे? अवतार लेकर भगवान करते क्या हैं? **''असुर मारि थापहि सुरन्ह, राखहि निज श्रुति सेतु।''** असुरों को मारते है। जो विप्र और धेनु को सताते हैं, वे ही असुर हैं। विप्र तो विप्र को सतायेगा नहीं। जव भी कोई

सतायेगा तो विजातीय ही। भगवान उन्हे मारने के लिए ही आते हैं तो भला ऐसे भगवान को कोई क्यों भजेगा? जिसकी वह रक्षा करता है वे भजें! शेष दुनिया वाले यदि भज ही लेंगे तो वह उठकर गर्दन ही तो काटेगा। ऐसे सोते शेर को कौन जगाये? अन्त में कहते हैं-"राखहि निज श्रुति सेतु" अपने वैदिक मर्यादा की रक्षा करते हैं। वास्तव में यही वेदोक्त तरने का तरीका है।

पूरे रामचरित मानस में **"निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि"** और आगे चलकर भगवान केवल **"गो द्विज हितकारी जय असुरारी"** मात्र गो और द्विज के हितैषी रह जाते हैं। मनुष्य में भगवान केवल व्राह्मण-वर्ण की पुकार सुनते हैं जो केवल भारत में पाया जाता है। ऐसे भगवान से विश्व के अन्य मानवों को क्या लेना-देना? अन्य वर्ग और मजहव उसके लिए क्यों ऑसू बहायें? फिर भारत विश्वगुरु कैसा? अत विचारणीय है कि वह द्विज है कौन, जिसके लिए भगवान अवतार लेते हैं?

वास्तव में शास्त्रो का यह कथन अक्षरश सत्य है कि भगवान 'गो द्विज हितकारी' हैं किन्तु जिस विप्र के लिए वे अवतरित होते हैं वह ससार में प्रचलित कोई जाति नहीं अपितु एक स्थिति है, जैसा कि मानस की ही पक्तियो में अभी आपने सुना। यत्र-तत्र सर्वत्र है। राजर्षि जनक जैसे कुलीन घराने मे सम्बन्ध तथा विश्वविश्रुत सीता जैसी वधू की प्राप्ति से महाराज दशरथ की प्रसन्नता का आरापार न था। उन्होंने तुरन्त गुरु वशिष्ठ से निवेदन किया **"अब सब विप्र बोलाई गोसाईं। देहु धेनु सब भाँति बनाई।।"** विप्रो को वुलाइये, उन्हें गाय दान दें। गुरुदेव ने राजा की सराहना की और मुनियो के समूह के लिए बुलावा भेज दिया--**लिए बोलि मुनि वृंद बोलाई।** आया कौन? **"बामदेव अरू देवरिषि बालमीकि जाबालि। आए मुनिवर निकर तब कौशिकादि तपशालि।"** एक तो वामदेव (यथा नामो तथा गुण), देवर्षि नारद (दासी पुत्र), वाल्मीकि (कोलकिरात), कौशिक (विश्वरथ नामक नरेश) इत्यादि। राजा ने चार लाख गायें मँगायी, उन्हें सजाया और **"मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्ही।"** प्रसन्नता के साथ महिदेवों को दान दिया।

उल्लेखनीय है कि राजा ने अनुरोध किया था, "विप्रों को बुलायें", मुनियों को बुलावा चला गया। मुनि भी आये तो कोई दासी पुत्र, कोई क्षत्रिय तो कोई कोलकिरात, विविध वशों के जन्मे और जब दान दिया तो महिदेव कहकर सम्बोधित किया। अस्तु मुनि, विप्र, महिदेव तथा ब्राह्मण इत्यादि मानस के अनुसार पर्यायवाची हैं। ब्रह्मनिष्ठता की क्रमोन्नत अवस्थाएँ हैं। इसी की पुष्टि आर्षग्रन्थों मे यत्र-तत्र सर्वत्र है। उदाहरण के लिए महाराज अत्रि की वाणी देखें, गीता देखें- सबमें आप यही पायेंगे। महर्षि अत्रि कहते है-

जन्मना जायते शूद्र सस्कारात् द्विज उच्यते।
वेदाध्यायी भवेत् विप्र ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।।

अर्थात् जन्म लेनेवाला प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है, अल्पज्ञ है। सस्कार से (स अश आकार) स माने वह परमात्मा- उस परमात्मा का आशिक सचार, आकार जब प्राप्त होने लगता है तव वही द्विज है, दूसरा जन्म पाया है जो गर्भवास के यातनाग्रस्त जन्म से भिन्न अजर, अमर, निर्दोष आत्मस्थिति है, शाश्वत सत्य का प्रवेश है। साधना जव और सूक्ष्म हुई तो 'वेदाध्यायी भवेत् विप्र' जो तत्त्व विदित नहीं था वही परमात्मा अपनी अनुभूति देने लगता है। उस अनुभूति का अध्ययन

करनेवाला, उन निर्देशों पर चलनेवाला ही वास्तविक वेदाध्यायी है, विप्र है। यदि वेद नामक ग्रन्थ पढने से कोई विप्र वनता तो आज अनेक पाश्चात्य एव भारतीय अध्येता विप्र हो जाते क्योंकि पहले सवको पढने का अधिकार नहीं था, आज है, किन्तु ऐसा कुछ नहीं है। वस्तुत जो भली प्रकार व्रह्म के परायण है, वही विप्र हे। साधना और सूक्ष्म हुई तो "व्रह्म जानाति व्राह्मण" जहाँ से वह व्रह्म अनुभूति देता हे, उस मूल का स्पर्श पानेवाला व्राह्मण हे। व्राह्मण एक स्थिति विशेष है।

भगवान वास्तव में गो-द्विज हितकारी हें क्योंकि जिसने भी उधर सिर झुकाया, समर्पण किया, उसका गो-सयम कर आत्मिक जागृति को सुरक्षित रखते हैं, सहायता करते हैं, इसलिए हितकारी हैं और जो उधर झुकाव नहीं लेता, उसके लिए भगवान की वह महिमा नहीं है जो अवतारजन्य है। **"कृपासिधु जन हित तन धरही।" "सो केवल भगतन्ह हित लागी।"** वह केवल भक्तो के हितकारी है।

वास्तव में व्राह्मण चिन्तन-पथ की एक योग्यता है। जो शाश्वत व्रह्म के लिए विकल है, वही विप्र है। आइये देखें वेद, उपनिषद और शास्त्रों के साराश गीता में अवतार के सम्वन्ध में क्या कहा गया है? अर्जुन ने पूछा- भगवन्! आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्य का जन्म तो वहुत पुराना है। आपने इस अविनाशी योग को कल्प के आदि मे सूर्य के प्रति कहा, यह मैं कैसे मान लूँ? योगेश्वर श्रीकृष्ण ने वताया-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सभवामि आत्ममायया।।

अर्जुन! मैं अजन्मा, अव्यक्तात्मा तथा सभी भूत प्राणियो के स्वर में सचारित (ईश्वर) होते हुए भी अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति को 'आत्ममायया' आत्मिक प्रक्रिया के द्वारा स्वाधीन करके प्रकट होता हूँ। आत्ममाया, योगमाया पर्याय हैं। आत्ममाया वह है जो आत्मा तक की स्थिति तय करा दे। योगमाया वह है जो परमात्मा से मिलन करा दे, इसी को मानस मे राममाया या विद्यामाया कहा गया, जो हरिप्रेरित होती है किन्तु प्रकृति का ही एक पहलू है। इस आत्मिक माया द्वारा तीनो गुणों के सयत होते ही भगवान प्रकट हो जाते हैं? कहते हैं-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्।।

'धर्मस्य ग्लानि'- धर्म एकमात्र परमात्मा है। धर्म शाश्वत है, धर्म सनातन है और इधर 'यान्तो व्रह्म सनातनम्' व्रह्म सनातन है। व्रह्म, आत्मा, परमात्मा एक ही परमपुरुष के पर्यायवाची शव्द हैं। वह सनातन परमपुरुष परमात्मा ही धर्म है। हम कौन है? सनातनधर्मी! उस सनातन के पिपासु! तो जव उस धर्म मे लिए हृदय ग्लानि से भर जाता है, अधर्म की वृद्धि देखकर विकल हो जाता है तव मैं अपने रूप को रचता हूँ। जो उसके लिए विकल है वह व्राह्मण है, उसी के लिए अवतार है।

उस अविनाशी तत्त्व को पाने के लिए विरह किसी में भी हो सकता है, ग्लानि से किसी का भी हृदय भर सकता है, ब्रह्मपरायण कोई भी हो सकता है, बस उसी के लिए प्रकट हो जायेंगे।

ऐसी ही ग्लानि महाराज मनु को हुई कि-

होई न विषय विराग, भवन बसत भा चौथपन।
हृदय बहुत दुःख लाग, जनम गयउ हरि भगति विनु ।।

विषयो से वैराग्य नहीं हो रहा है। विना भजन के जीवन वीत जाना चाहता है। ग्लानि से हृदय भरा तो तुरन्त भगवान ने सन्देश देना शुरू किया और मनु पा गये।

योगेश्वर कहते हैं कि **'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'** मेरा वह जन्म और जन्म लेकर करनेवाला कर्म दोनो ही दिव्य हैं। **'एवं यो वेत्ति तत्त्वतः'** इस प्रकार का मेरा स्वरूप जो देखता है, वह तत्त्वदर्शी है। केवल तत्त्वदर्शी ही जान पाता है। फिर सव लोग क्यों झुण्ड के झुण्ड दौड पडते हैं कि कहीं अवतार हो तो देख लें?

वस्तुत उस अवतार की व्यवस्था सवके अन्दर है। अत हर परिस्थिति में आपको सभालने के लिए वह सदैव तैयार है चाहे आप कहीं जन्मे हों। जो कोई भी उस ब्रह्म को पाने के लिए भली प्रकार तत्पर है, चिन्तनरत है, जिस किसी ने भी आत्म-सयम के लिए समय दिया है, अवस्था-भेद से उसी को द्विज तथा ब्राह्मण कहते हैं। अत विप्र के पवित्र स्वरूप को धूमिल करनेवाले अन्ध-वन्धनो को तोडकर विप्र के उद्‌गम की खोज करें, चिन्तन करें और विप्रत्व अर्जित करें।

।। ॐ ।।

साधक का आचरण

प्रश्न- महाराजजी! साधक का आचरण कैसा होना चाहिए?

उत्तर- देखिए, साधक को इतना ही करना चाहिए जितना कुछ सुतीक्ष्ण ने किया। वे महर्षि अगस्त्य के प्रिय शिष्य थे। जब सुना कि वनवास में पर्यटन करते हुए भगवान इसी जगल में कहीं आये हैं तहॉ प्रार्थना करने लगे-

हे विधि दीन बन्धु रघुराया। मोसे सठ पर करिहहि दाया।।

हे विधाता! दीनो पर दया करनेवाले प्रभु! क्या मेरे जैसे शठ पर भी दया करेंगे? मेरे जैसे मूर्ख पर भी दया करेंगे! क्या वे मूर्ख थे? कुछ ही घटे पश्चात् तो भगवान मिल गये। वे सोचते हैं-

मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं।।
नहिं सत्संग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा।।

(मानस, ३/६/६-७)

मेरे हृदय में दृढ भरोसा नहीं है; न भक्ति है, न वैराग्य है और न मन में ज्ञान ही है। मुझमें न तो सत्सग है, न योग है, न जप है, न यज्ञ ही है और न तो चरण-कमलों में दृढ अनुराग ही है। क्या वस्तुत उनमें इन गुणों का अभाव था? कदापि नहीं, वे इन सभी गुणों से सम्पन्न थे, **'मन क्रम वचन राम पद सेवक'** थे, स्वप्न में भी इष्ट के अतिरिक्त किसी अन्य देवता का भरोसा नहीं करते थे, अनन्य श्रद्धा थी उनकी! किन्तु उनके उद्‌गारों में कितना दैन्य है! कितनी विनम्रता है।

आजकल के महात्मा लोगों को घर छोडे जहॉ चार-छ. वर्ष हुआ, वेश तो मिल ही जाता है, फिर भी वे ऐडने लगते हैं। पॉच-सात साल मे ही समझते हैं कि हम सन्त हैं। कुछ भी उनके सम्मान के विरुद्ध हुआ कि वे बौखला जाते हैं। जो वास्तव में सन्त होने हैं, उनकी ऐसी दशा नहीं होती। वे विरही होते हैं। उनको कोई सन्त कहे, रजपूत कहे, अवधूत कहे, अथवा जोलाहा ही क्यों न कहे, उनके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पडता। उनका चित्त अपने इष्ट-सम्बन्धी तथ्यों के अतिरिक्त कुछ ग्रहण ही नहीं करता। वास्तव में अनुरागी के लिए ही इस पथ का विधान है।

साधक का आचरण भरत-जैसा होना चहिए। राम वनवास मे गये तो भरत विकल की तरह उनका पीछा करते चित्रकूट पहुँच गये। राम नहीं लौटे तो खडाऊँ प्राप्त हुई। चरण-पादुका मस्तक पर रखकर भरत अवध आये। राजपाट देखना तो दूर की बात थी, नन्दिग्राम मे एक कन्दरा बनवाई और उसके अन्तराल में बैठ गये। उस खडाऊँ का ध्यान करते हुए अश्रुपूर्ण नेत्रों से रात-दिन विताने लगे।

हनुमान सजीवनी बूटी ला रहे थे, उसी रास्ते से निकले, तब भी भरत विकल की तरह उन्हें दिखाई पडे। हनुमान रास्ते भर प्रभुचरणों में उनके अपार अनुराग की सराहना करते रहे। इतना ही नहीं, अपितु चौदह वर्ष पश्चात् प्रभु-आगमन की सूचना देने हनुमान आये तो उसी दशा में

भरत को पाया। राम ने कहा था- "जाओ, अयोध्या में भरत को सूचना दे दो कि हम आ रहे हैं, अन्यथा कहीं वह प्राण न त्याग दे।" पूज्य महाराजजी से लोग जब पूछते कि महाराजजी! क्या भगवान मिलते हैं? तब महाराजजी कहते थे- "हॉ हो काहे न मिलिहैं? यदि अनुरागी को भगवान न मिलिहैं त ऊ मरि न जाई। ऊ प्राण दे देई! मोके मिली के तो स्थिति दिये हैं।"

साधक का विरह इतना ही तीव्र होना चाहिए। हनुमान ने भरत की दशा देखी-

बैठ देख कुशासन, जटा मुकुट कृश गात।
राम राम रघुपति जपत, स्रवत नयन जल जात।। (७।१ ख)

चौदह वर्ष पूर्व भरत की जो दशा थी उससे भी प्रेमार्द्र दशा में हनुमानजी ने उन्हें देखा। कुश के आसन पर बैटे थे। जटा का मुकुट, गात कृश है। 'राम-राम रघुपति' यही जप चल रहा है। हृदय में स्वरूप है, ऑखो में अश्रुपात्।

ऐसा कुछ देखकर हनुमानजी बहुत हर्षित हुए, रोमांच हो आया, अश्रुपात् होने लगा, मन में बहुत सुख माना। अनुरागी भक्त अपने से भी अच्छे अनुरागी को देखकर प्रसन्न होता है न कि उसे जलन होती है। हनुमान ने अमृत के समान वचन कहा कि "जिसके विरह में दिन-रात सोचते रहते हो, जिसके गुण-गणों कि पक्तियॉ निरन्तर रटते रहते हो, वही राम आ रहे हैं।" इतना सुनते ही भरत के सारे दुःख दूर हो गये, प्यासा मानो अमृत पा गया। भरत बोले- "यह ऐसा सदेश है जिसकी समता का संसार मे कुछ है ही नहीं।" इष्ट की उपलब्धि ही साधक का सर्वस्व है। वह कभी नहीं भूलता कि इसी के लिए तो वह साधक बना है। अतः पूर्तिपर्यन्त साधक के विरह-वैराग्य-विकलता मे न्यूनता तथा शिथिलता नहीं आनी चाहिए। भरत और सुतीक्ष्ण के चरित्र से अपने को जोडना चाहिए। उनसे प्रेरणा लेकर अपने को उसी आचरण में ढालना चाहिए। हवा भर भी इष्ट से फासला है, तब तक अपने को साधक ही मानना चाहिए। अनुनय-विनय एव विकलता में उत्तरोत्तर उत्कर्ष होना चाहिए। इष्ट से सूत भर भी अन्तर है और साधक उस कमी को पूरा करने के प्रयत्न मे ढील देता है, तो माया कामयाब हो सकती है। इस जरा-सी दरार के लिए जड भरत को तीन जन्म लेना पडा। रचमात्र ही सही, दूरी तो दूरी ही है। बहुत दूर से दौड़कर आनेवाला यदि हताश होकर गगा से दो हाथ ही दूर ही बैठ जाय तो गगाजल का उसके लिए क्या उपयोग? दो हाथ की दूरी से ही तो वह प्यासा मर रहा है। वह दूरी ही उसके लिए योजन है, कणमात्र का अवरोध ही पहाड है। परन्तु साधको को ऐसा समझकर हताश नहीं होना चाहिए कि भगवत्पथ में विघ्न ही विघ्न हैं, कौन इतना झंझट पाले? वस्तुत भक्तिपथ में कठिनाई कुछ भी नहीं है, पार तो निश्चित है। हॉ, उत्तम साधक को विरह-वैराग्य में न्यूनता नहीं लानी चाहिए।

"**सच्चा लिंग फकीर का घूमे बजार बजार।**- सच्चे साधू के लिए सर्वत्र मगल है। दिखावटी साधु नहीं बनना चाहिए। भगवान ही कुछ बना दे तो बात अलग है। साधक के सुरत की डोरी न टूटने पाये तथा दम्भ न जमने पाये तो सब ठीक हो जाता है।"- अपने शिष्य को ऐसा उपदेश देते हुए एक विचरणशील महात्मा ने कहा--"बेटा! अपने से कुछ मत बनना।" शिष्य ने आज्ञा शिरोधार्य की। कुछ दूर चलने के पश्चात् सडक के पार्श्व में सुरम्य उद्यान दिखाई पडा। शिष्य के

आग्रह पर महात्मा उस उद्यान में गये, उपवन के जनशून्य भवन मे पडे एक तख्त पर अपना आसन लगाया। शिष्य भी पार्श्ववर्ती कक्ष मे पडा रहा।

उपवन किसी राजा का था, यदा-कदा वहाँ विश्राम करने आ जाता था। सयोग से राजा भी उसी समय आया, जिस समय उसके कक्ष में गुरु-शिष्य विश्राम कर रहे थे। सिपाहियों ने लपककर शिष्य को डॉटा- "कौन हो? जानते नहीं कि यह महाराजाधिराज का विश्रामालय है?" शिष्य ने कहा- "मैं साधू हूँ।" सिपाही ने कसकर एक झापड लगाया ओर वाहर की ओर झोंक दिया। तव तक राजा भी समीप आ चुके थे। सिपाही ने दौडकर उनका कक्ष खोला तो महात्मा पर वरस पडा- "कौन है? महाराज के तख्त पर लेटने का दुस्साहस तुमने कैसे कर लिया?" महात्मा चुपचाप उठे और बैठ गये। अगरक्षक ने अपना प्रश्न दुहराया- "कौन हो? यहाँ कैसे आ गये?" तव तक राजा ने ही कहा- "लगता है कोई महात्मा हैं, तभी तो इतने शान्त हैं। इन्हे सादर दूसरे कमरे में ले जाओ।" किन्तु विचरण-प्रिय महात्मा नहीं रुके। सड़क पर मिलते ही शिष्य ने कहा- "महाराज! हमको तो बडी मार पडी।" महात्मा ने कहा- "कुछ वने होगे।" शिष्य ने कहा- "महाराज! उन्होंने पूछा था कि कौन हो? मैने कह दिया- साधू हूँ।" महात्मा ने कहा- "साधू वन गये न! इसलिए मारे गये।" साधू वनने की वस्तु नहीं वल्कि साधनात्मक क्रिया पकडकर जव क्रमश उत्थान करते-करते योगारूढता की स्थिति आ जाये तो मन के निरोधकाल में साध्य वस्तु स्वत प्रवेश पा जायेगी, साधक को उठा लेगी, साधू वना देगी। जो परमात्मा को साध लेता है, वही साधू है। ढोंग नहीं करना चाहिए।

साधना की अवधि में भयकर विघ्न आ सकते हैं लेकिन साधक को चाहिए कि अपनी टेक पर अडिग रहे। प्रण का सच्चा उत्साही ही इस पर चल पाता है। प्रण पर अडिग रहकर साधनारत रहने से विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है, जैसा अर्जुन या महर्षि काग के जीवन में दृष्टिगोचर होता है। अर्जुन ने उर्वशी को मातृवत् ही देखा भले ही उसे एक वर्ष के लिए नपुसक वनना पडा। वह शाप भी अज्ञातवास की अवधि में सहायक सिद्ध हुआ, अर्जुन के लिए वही वरदान हो गया। कागभुशुण्डि की दृढता के लिए मिलने वाले शाप के पीछे वरदानो का तॉता लग गया। अत. साधक को अपने धर्म पर प्राणपण से स्थिर रहना चाहिए। इस क्षेत्र में महर्षि दत्तात्रेय से साधक को प्रेरणा लेना चाहिए। दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति मे भी एकाध गुण अवश्य होता है। साधक की दृष्टि केवल उसी गुण पर होनी चाहिए।

महात्मा दत्तात्रेय विचरण कर रहे थे। कुत्ता दिखाई पडा। किसी ने डण्डा उठाया तो भाग खडा हुआ, पुचकारा तो पास चला आया, टुकडा फेंका, ले लिया अन्यथा बैठा रहा। दत्तात्रेय ने विचार किया कि यह तो गुरुओं का भी गुरु है। इससे सद्गुरुओं की एक शिक्षा मिली कि अवधूत को सदैव मान-सम्मान से रहित और सतोषी होना चाहिए। वैसे कुत्ते में दुर्गुण भरे पडे है किन्तु दत्तात्रेय का उससे क्या प्रयोजन? अनन्त दुर्गुणों में भी एक गुण दिखाई पडा। उन्होंने उसी पर विचार केन्द्रित रखा।

दत्तात्रेय आगे बढे। एक अजगर दिखाई पडा। इतना मोटा कि सरक भी नहीं सकता था। दिनभर में एक फुट भी नहीं चल पाता था। महात्मा को कुतूहल हुआ कि वह जीता कैसे है? खाता

क्या है? अतः वहीं आसन लगाकर बैठ गये। देखा, प्रतिदिन कोई न कोई खग-मृग ठीक उसके मुख के सामने पहुँच ही जाता था, जिसे पकडकर उदरस्थ कर लेता था। अजगर की हिंसक वृत्ति से दत्तात्रेय को कुछ लेना-देना नहीं था, उसमें भी एक गुण दत्तात्रेय को दिखाई पड़ा कि अवधूत को पेट के लिए द्वार-द्वार नहीं भटकना चाहिए। अजगर की प्रशंसा करते हुए दत्तात्रेय चल पडे कि तुममे भी गुरुओं का एक गुण देखने को मिला है। वह अजगर दत्तात्रेय का गुरु नहीं था, गुरुओं की विद्या तो कुछ और ही होती है, फिर भी सद्गुरु की रहनी का एक गुण अजगर में भी उन्हें दिखाई पडा। समस्त भूत-प्राणियों की अच्छाइयों में उन्होंने अपने गुरु अथवा इष्ट को ही देखने का प्रयास किया।

समिटि समिटि जल भरहि तलावा। जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।।

एक-एक बूँद करके तालाव भर जाता है। ठीक उसी प्रकार अधिकारी साधक एक-एक करके गुणो का सचय करते हैं। दूसरों का छिद्रान्वेषण करने से साधक भी उन दुर्गुणों से आक्रान्त होता है। अत साधक को सदैव सजग रहना चाहिए। किसी महात्मा अथवा सांसारिक जीव की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए। परनिन्दा साधक के पतन का कारण बन जाती है- **"परनिन्दा सम अघ न गरीसा।"**

साधक को लगोटी का सच्चा होना चाहिए। जो व्यक्ति दुराचरण से विरत नहीं हुआ है, जिसे एकान्त अच्छा नहीं लगता, जागतिक वस्तुओं के त्याग की भावना जिसके लिए असभव है, उसे अक्षयपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिन वस्तुओं की अधिकता में मूढ को अनुराग होता है उन्हीं की प्राप्ति में प्राज्ञ पुरुष को वैराग्य होता है। विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है तथा सद्गुरु की कृपा के बिना सहजावस्था की प्राप्ति दुर्लभ है। अत बन्धुओ! अनुभवी सद्गुरु का सान्निध्य प्राप्त करें। मन-क्रम-वचन से उनकी शरणागति का चिरन्तन विधान है। उन महापुरुषों से अन्त प्रेरणा के स्रोत मिलने लगे, साधक की आत्मा में जागृत होकर वे महापुरुष हृदय में निर्देश देने लगे, तब समझना चाहिए कि साधना का अन्तर्प्रवेश हुआ। वह अन्तर्प्रवेश निवृत्ति का निश्चित स्रोत है। उसे जानने के लिए गुरु के पास जाना ही होगा- **"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत।"** ऐसा उपनिषदों का निर्देश है। उन महापुरुषों की प्राप्ति में आपका पुण्य माध्यम है। सन्त एव सद्गुरु जिस दृष्टि से पहचान में आते हैं, वह दृष्टि ही पुण्यमयी है।

।। ॐ ।।

गीता पर उपदेश देते हुए परमार्थ पथिकों के बीच श्री परमहंस जी

महाभारत का प्राण गीता और उसका क्षेत्र

महाभारत का युद्ध अत्यन्त मार्मिक एवं जनसमूह के लिए एक आदर्श है किन्तु उसका रूप ही दूसरा है। इस ससार में मानव समय-समय पर विशाल समूहों में विभक्त होकर परस्पर लडता आया है। उदाहरण के लिए देवासुर-सग्राम आदि। इस ससार में मानव ने मायिक स्तर पर जब-जब कुछ आविष्कार किया, तब-तब परस्पर दुनियावी स्थिति वाले युद्ध के परिणामस्वरूप अपना सर्वस्व नाश कर दिया। उस सर्वनाश के अतिरिक्त जो अल्पसंख्यक बचे, उसे शान्ति कह लिया जाय, चाहे विवशता। अस्त्र-शस्त्र के प्राप्तिकाल में सतोष तो अवश्य होता है किन्तु वे जब भी कार्यरूप में आते हैं तो मानव का कल्याण नहीं बल्कि सर्वनाश ही होता है।

इसी प्रकार कुछ विशेष आविष्कारों के आधार पर महाभारत के भयकर युद्ध का प्रणिपात हुआ था, इसमें कोई सदेह नहीं है, किन्तु आज हम लोगों के समक्ष उस महाभारत का चित्रण एक पुस्तक के रूप में है, जिसकी रचना महर्षि व्यास के द्वारा हुई है। महापुरुषों की रचना व्यवस्थापूर्वक जीने-खाने तक ही सीमित न रहकर बल्कि इस जीवात्मा के पूर्ण कल्याण के लिए होती है। पूर्ण कल्याण उसे कहते हैं, जिसे प्राप्त कर मानव कभी ईश्वर से विलग नहीं होता। भरत, महावीर, ऋषभ एव बुद्ध आदि एक अच्छे सम्राट थे, जिनके पास जीविकोपार्जन सामग्री की कमी नहीं थी। ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं, जिनके सामने भी जीवन-सम्बन्धी भौतिक व्यवस्थाओं की समस्या नहीं थी किन्तु एक अलक्षित अलौकिक वस्तु की कमी के कारण उन्हें साम्राज्य त्यागकर फकीर होना पडा। व्यावहारिक व्यवस्थावाले लाखों होंगे तो परमार्थ चिन्तनवाला कोई एक। व्यावहारिक व्यवस्था का सचार उन पुरुषों में तो पाया जाता है जिनकी सख्या एक के मुकाबिले लाख है किन्तु जिन परमार्थी पुरुषों की सख्या लाखों में एक है, वे कहीं से भी उपदेश प्रारम्भ कर मानव की सासारिक प्रवृत्तियों को समेटते हुए क्रमश परमार्थ-चिन्तन के प्रशस्त पथ पर खडा कर देते हैं। कारण कि उन्होंने चलकर देखा है कि अन्यत्र कल्याण सम्भव नहीं है।

अब आप उसी स्तर के महापुरुष योगेश्वर श्रीकृष्ण की वाणी भगवद्गीता को जरा विचार से देखें। कर्म की आवश्यकता पर बल देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! काम-क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के मूल द्वार हैं, जिन पर आसुरी सम्पत्ति-आधारित है। इन तीनों का त्याग कर देने पर ही वह क्रिया प्रारम्भ होती है जिसका परिणाम मोक्ष है, परमात्मा है। इस स्थिति में मनुष्य सुख-दु ख से उपराम हो जाता है अर्थात् ऐसे सुख की प्राप्ति होती है, जिसके पीछे दु ख नहीं है। सभी पढते एव इन शब्दों पर विचार भी करते हैं, किन्तु इन विकारों को छोडना नहीं चाहते। बहुत से ऐसे भी हैं जो विकारों से छूटने के लिए प्रयत्न करते हैं एवं विकल है, किन्तु इनसे पिण्ड छूटता नहीं। इसलिए महापुरुषों ने इनको दुर्जय शत्रु की सज्ञा दिया है। हे अर्जुन! काम और क्रोध जो रजोगुण से उत्पन्न होनेवाले हैं, इस पथ में यही मुख्य शत्रु हैं। असगतारूपी शस्त्र, ज्ञानरूपी तलवार द्वारा इनको काट! ये काममय शत्रु भोगों से कभी भी न सतुष्ट होनेवाले एव ज्ञान

व विज्ञान को नष्ट करनेवाले अत्यन्त भयकर एव दुर्जय हैं। ये शत्रु ज्ञानियों के निरन्तर वैरी हैं। इसलिए युद्ध के लिए 'उत्तिष्ठ'- खडा हो! अब आप ही बताइये, जब शत्रु अन्दर हैं तो बाहर झगडा करने से क्या लाभ? खैर यह युद्ध का प्रश्न आगे आयेगा। महापुरुषों के शब्दों में यह क्रिया तभी फल देती है जबकि विकारों का शमन हो जाता है। ऐसी ममत्व ग्रसित अवस्था में कल्याण की व्यवस्था कैसे सम्भव हो सकेगी। उसी का निदान करने के लिए महापुरुषों ने शास्त्रों को ऐसी खूबी के साथ रचा कि दुनियावी स्तर पर खड़ा मानव कल्याण की पूर्ण योग्यता प्राप्त कर सके। जैसा कि क्रोध का पूरक युद्ध, लोभ का पूरक उपार्जन व मोह का पूरक सम्बन्ध इत्यादि मन के फँसाव के जितने भी साधन हैं, सभी उपयुक्त हैं। आप खूब भोगिये परन्तु इष्ट पर दृष्टि रखते हुए, सयम के साथ। यह सयम मानव के लिए एक विशेष प्रशिक्षण है जिसके द्वारा सासारिक प्रभाव क्रमश दुर्बल हो जाते हैं और इष्टोलब्धि की सही परिधि प्राप्त हो जाती है जहॉ से क्रिया का आरम्भ है। कर्मकाण्डियों द्वारा इसकी धज्जी-धज्जी उड़ा दी गई, किन्तु उसका वास्तविक स्वरूप इतना ही है कि सुबह-शाम पॉच-दस मिनट अवश्य अपने इष्ट के समक्ष हाजिर होना चाहिए। इष्ट का स्वरूप हृदय में स्मरण कर अति विनीत भाव से अपने आप को समर्पित कर दें और अग्रिम कार्य के लिए निवेदन करें कि भगवन्! मैं दिवस की तरह निरन्तर सांसारिक उलझनों में बहता जा रहा हूँ, आप ही मेरे एकमात्र रक्षक हैं। इसी प्रकार सोने के पूर्व भी कल्याण-विषयक उनके दर्शन की कामना करनी चाहिए और साथ ही साथ एक नाम, जैसे-राम, ओम्, शिव आदि जो प्रिय हो ले ले, फिर इसी नाम को चलते-फिरते, उठते-बैठते सभी समय में निरन्तर जपने का प्रयास करें। इस नाम-जप के लिए कोई स्थान अपवित्र नहीं होता।

याद रखे, इस प्रकार हमें मन के अन्तराल में यहॉ तक योग्यता प्राप्त करनी है कि हर समय नाम-यजन और समर्पण की भावना बनी रहे। बस आगे भगवान किसी न किसी रूप में रास्ता बताने लगते हैं। जहॉ कुछ भी आभास मिला तो समय का क्रम धीरे-धीरे बढने लगता है और बढते-बढ़ते निर्दोष साधन की अवस्था प्राप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में बाह्य क्रियाओं का रूप मिट जाता है। लोभ, मोह, क्रोध आदि से प्रेरित उपार्जन, सम्बन्ध व युद्ध की आवश्यकताएँ पूर्णतया मिट जाती हैं और आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध करानेवाले एव पुरुष व प्रकृति के सघर्ष का विच्छेद करानेवाले वास्तविक आध्यात्मिक युद्ध का प्रादुर्भाव होता है। वह ईश्वर ही सच्चा सम्बन्धी है। वह परम हितैषी है, जो अपना ही अपरिवर्तनशील स्वरूप है। उसी की कृपा से सासारिक प्रवृत्तियॉ व जन्म-मरण के बन्धन को काटनेवाले युद्ध का प्रवेश-द्वार मिल जाता है। बस गीता इसी स्तर के युद्ध की प्रवेशिका है। गीता में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है जो मार-काट अथवा दुनियावी युद्ध का समर्थन करता हो। गीता में महाभारत का विरोध नहीं है किन्तु मानव-उत्थान के इस पवित्र शास्त्र का अन्तरग व सूक्ष्म भाग है। यह आवागमन के बन्धन को काटनेवाला युद्ध तभी संभव है, जब आप चिन्तन-कार्य को समझकर करें। यह चिन्तन में होनेवाला युद्ध है। कृष्ण कहते हैं कि दुनिया में जन्म लेनेवाले मनुष्य दो प्रकार के होते हैं। पहला देवताओं जैसा, दूसरा असुरों जैसा। इस अन्त करण की दो पुरातन पार्टियॉ हैं, एक दैवी सम्पत्ति और दूसरी आसुरी सम्पत्ति। जब अन्त करण में आसुरी सम्पत्ति को दबाकर दैवी सम्पत्ति कार्य करती है तो मनुष्य देवताओं जैसा हो जाता है और जब दैवी सम्पत्ति को दबाकर आसुरी सम्पत्ति कार्य करती है तो मनुष्य

निशाचरों जैसा हो जाता है। आसुरी सम्पत्ति अधम योनियों की तरफ प्रेरित करती है और दैवी सम्पत्ति परमतत्त्व परमात्मा की ओर। "तू दैवी सम्पत्ति को प्राप्त हुआ है, कल्याण को प्राप्त होगा अत शोक मत कर।"

तत्पश्चात् दोनों सम्पत्तियों के लक्षण गिनाते हुए कहते है कि ज्ञान व योग की प्रक्रिया दान, दया, धर्म, अभय व अन्त करण की स्वच्छता, इन्द्रियों का विपयों के साथ संयोग होने पर भी लगाव का न होना, मन का निरोध, चित्त का सर्वथा रुक जाना आदि दैवी सम्पत्ति हैं, जो यौगिक प्रक्रिया में प्रवेशिका से लेकर पराकाष्ठापर्यन्त आनेवाले स्थल विशेष हैं। जिसके मूल चौवीस लक्षण वतलाये गये हैं और जि़नका विस्तार सम्पूर्ण दैवी प्रवृत्ति है। उनका वास-स्थान मन है। ठीक इसी प्रकार आसुरी सम्पत्ति मन की ही एक प्रवृति है जो नीच योनियों की तरफ प्रवाहित करती है और मानव को पतन की ओर ले जाती है अर्थात् लक्ष्य से विमुख रखती है। इसमें काम, क्रोध, द्वेष, दम्भ, पाखण्ड, शत्रुता, अनन्त आशा व व्यर्थ तृष्णा का सचार इत्यादि अधोमुखी प्रवाह ही आसुरी सपत्ति है। इनका भी वास-स्थान मन ही है। जव हम तत्त्व की खोज के लिए दैवी सम्पत्ति का सग्रह व पालन प्रारम्भ करते हैं, तव आसुरी सम्पत्ति वाधा के रूप में प्रगट हो जाती है। श्रृगी इत्यादि जो करीव की स्थिति में थे, ऐसे वहुत से महात्माओं को वरवस इसी आसुरी सम्पत्ति से रुक जाना पडा। वस गीता का प्रतिपादित वास्तविक युद्ध यहीं से खडा होता है जिसको महापुरुषों ने विभिन्न नामों से समझा है, किन्तु गीता इन्हीं दो पार्टियों को धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र के नाम से प्रारम्भ कर सजातीय-विजातीय, विद्या-अविद्या, देव-असुर आदि कई नामों से पुष्ट कर लक्ष्य परमात्मा की परम आवश्यकता का निर्देश करती है। उसकी प्राप्ति के वाद गीता के शव्दों में पुनजर्न्म नहीं होता।

।। ॐ ।।

भजन देवताओं को भी करना होता है।

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः,
आ ये च धामानि दिव्यानि तस्थुः।

\+ + + + +

वेदाहमेतं पुरुष महान्तम्
आदित्यवर्णः तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।। (श्वेता० उप०, ३/८)

अर्थात् "संसार भर में रहनेवाले, अमृत-पुरुष के पुत्रों तथा दिव्यधाम के निवासी देवतागण! सुनो- मैने आदित्य के समान देदीप्यमान उस महान पुरुष को जान लिया है जो समस्त अज्ञान अन्धकार से परे है। केवल उसे जानकर ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसके अतिरिक्त मृत्युञ्जय होने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।"

देवता

प्रश्न- महाराजजी! योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता में कहीं वाह्य देवताओं पर कटाक्ष करते हैं तो कहीं देवताओं की उन्नति करने को कहते हैं, ऐसा क्यों?

उत्तर- गीता में देवत्राओं के दो रूप हैं। एक तो अन्त.करण की प्रवृत्ति (देवी सम्पत्ति) है। यह दैवी सम्पत्ति परमदेव परमात्मा के स्वरूप की ओर प्रेरित करनेवाली है। परमदेव का देवत्व यही अर्जित कराती है। यही परमतत्त्व में प्रवेश देती है, देव वनाती है, इसलिए यह इष्ट प्रसारिणी सम्पत्ति 'दैवी सम्पत्ति' कहलाती है। तीसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में श्रीकृष्ण इसी सम्पत्ति को उन्नत बनाने का निर्देश देते हैं। विवेक, वैराग्य, शम, दम, एकाग्रता, धारावाही चिन्तन की प्रवृत्ति, वास्तविक जानकारी तथा अनुभवी संचार इत्यादि दैवी सम्पत्ति के चौवीस लक्षणों का सविस्तार निरूपण योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता के सोलहवें अध्याय में किया है। इन देवताओं के द्वारा परमदेव परमात्मा शनै -शनै सुलभ होता है। क्रमश उत्थान करते-करते जब दैवी सम्पत्ति परिपक्व होती है तो अव्यक्त परमात्मा भी विदित हो जाता है।

दूसरे देवता वे हैं जिनका ससार में प्रचलन है। बहुत पहले की एक गणना के अनुसार उनकी सख्या तैंतीस करोड़ थी और अब तक तो न जाने कितने और हो गये हैं। भूत, भवानी, धात्री, सावित्री, भैरव, ब्रह्म बाबा, डीह, चौरा इत्यादि असख्य देवता नित्य बनते हैं और कुछ काल में प्रसुप्त हो जाते हैं। इन्हीं की ओर इगित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि बहुत से लोग मुझे छोडकर कामनाओं से आक्रान्त होकर अन्य देवताओं की पूजा करते है, वह पूजा अविधिपूर्वक है (गीता-७/२०, ९/२३)। उनके चिन्तन की विधि गलत है, इसलिए वे फल तो पाते हैं किन्तु मेरी प्राप्ति नहीं कर पाते। वे फल नाशवान् हैं, इसलिए उनसे कल्याण नहीं हो सकता (गीता-७/२३)। देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजनेवाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजनेवाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरा भक्त मुझको ही प्राप्त होता है (गीता ९/२५)। ब्रह्मलोक से लेकर सभी लोक पुनरावर्ती स्वभाव वाले है परन्तु कौन्तेय! मुझे प्राप्त भक्त का पुनर्जन्म नहीं होता (गीता ८/१६)।

वस्तुत देवताओ का परमदेव परमात्मा से स्वतन्त्र न तो कोई अस्तित्व है और न पृथक्-पृथक् उनकी कोई सत्ता ही है। केनोपनिषद की कथा है कि उस परमेश्वर की शक्ति के बिना अग्नि एक तिनके को भी जला नहीं सकती, वायु उस तिनके को उड़ा नहीं सकता। इसी रहस्य पर प्रकाश डालते हुए सामवेदीय जाबालदर्शनोपनिषद के चतुर्थ खण्ड में भगवान दत्तात्रेय ने साङ्कृति मुनि से कहा- "महामुने! बाह्य तीर्थ से श्रेष्ठ आन्तरिक तीर्थ ही है। शरीर के भीतर रहनेवाला दूषित चित्त बाह्य तीर्थो में गोता लगाने मात्र से शुद्ध नहीं होता, जैसे- मदिरा से भरा हुआ घडा ऊपर से सैकडों बार धोने पर भी ज्यों का त्यो ही रहता है। आत्मतीर्थ ही महातीर्थ है। आत्मतीर्थ प्राप्त पुरुष के सामने दूसरे तीर्थ निरर्थक हैं। मस्तक ही श्री शैल है, ललाट केदार तीर्थ है, नासिका और भौंहों के मध्य काशीपुरी है, दोनों स्तनों के स्थान पर कुरुक्षेत्र है और हदय

कमल में तीर्थराज प्रयाग है। मूलाधार में कमलालय तीर्थ है। जो शरीर के भीतर स्थित इन तीर्थो का परित्याग करके बाहर के तीर्थो में भटकता है, वह हाथ में रखे वहुमूल्य मणि को त्यागकर कॉच खोजता फिरता है। भावनामय तीर्थ ही सर्वश्रेष्ठ है इसलिए योगी जल से भरे तीर्थो और काष्ट आदि से निर्मित देव प्रतिमाओं की शरण नहीं लेते। योगी अपने आत्मा में ही शिव का दर्शन करता है, प्रतिमाओं में नहीं। अज्ञानी मनुष्यों के हृदय में भगवान के प्रति भावना जागृत करने के लिए ही प्रतिमाओं की कल्पना की गई है किन्तु मुनिश्रेष्ठ! अज्ञानी मनुष्य के अन्त करण को शुद्ध करने के लिए तत्त्वदर्शी महात्माओं का चरणोदक सर्वोत्तम तीर्थ है।"

इस परमपथ की प्रवेशिका में सामान्य एवं सरल मनुष्य के समक्ष सर्वप्रथम देवी-देवता, मन्दिर-मूर्तियॉ, तीर्थ-व्रत ही पडते हैं जिनसे सस्कार वनता है, पुण्य बढता है किन्तु मनुष्य उन देवताओं को परमदेव परमात्मा से पृथक् एव प्रत्येक देवता को एक दूसरे से भिन्न उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट मान बैठता है; वह ऋग्वेद की इस ऋचा को भूल जाता है "एक सद् विप्रा वहुधा वदन्ति।"- एक परमेश्वर ही सत्य है, विप्रगण उसे अनेक नामों से सम्बोधित करते हैं क्योंकि किसी एक नाम से उस विराट प्रभु की प्रभुता का बोध नहीं होता। सामान्य मानव देवताओं की अनेकता में निहित एकता को परखने का प्रयास नहीं करता, देवता की पृथक् सत्ता को ही गन्तव्य मान लेता है, इसलिए कृष्ण कहते हैं- उन्हें मेरी प्राप्ति नहीं होती। साधना के प्रारम्भ में मुझे भी एक देवता ही मिला किन्तु तत्त्वस्वरूप महापुरुष (परमहसजी) के अनुभवी प्रवेश के साथ ही वह शान्त हो गया।

वस्तुत देवता भी मरणधर्मा हैं। अपने पुण्य-पुरुषार्थ से स्वर्गलोक की प्राप्ति करनेवाले तथाकथित 'अमर' विशाल स्वर्गिक भोगों का उपभोग करने के उपरान्त 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'- पुण्य क्षीण हो जाने पर उसी मृत्युलोक में गिर जाते हैं। उसी स्थान पर आ जाते हैं जहॉ से साधन प्रारम्भ किया था। इससे वडी क्षति क्या होगी? वह देव-तन ही किस काम का, जिसमें संचित पुण्य ही समाप्त हो जाय?

देवता तक मानव-तन से आशावान् है क्योंकि मुक्त होने के लिए उन्हे भी मानव-तन प्राप्त करना होता है। देव, पशु इत्यादि भोग-योनियॉ हैं। केवल मनुष्य ही कर्मो का रचयिता है, जिसके द्वारा वह उस परमधाम को प्राप्त कर सकता है, जहॉ से पुनरावर्तन नहीं होता।

मरणधर्मा देवता हमारा लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता। हमारा लक्ष्य तो परमदेव परमात्मा ही हो सकता है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य उस स्वरूप से कभी विलग नहीं होता। यही वह पराकाष्ठा है जहॉ पहुँचकर मनुष्य देवताओं का भी देवता बन जाता है। श्रद्धालुओ में देवत्व की जागृति करनेवाला सद्‌गुरु हो जाता है।

अत आप सभी परमदेव परमात्मा को लक्ष्य बनाकर दैवी सम्पद् का अर्जन करें, दैवी प्रवृत्तियों को उन्नत बनायें।

।। ॐ ।।

कृष्ण एक योगी थे

प्रश्न- महाराज जी! कुछ लोग कहते है कि रास रचानेवाले कृष्ण और गीता के उपदेशक कृष्ण भिन्न-भिन्न थे। दोनों एक हो नहीं सकते। कुछ लोग कहते हैं, वे मनुष्य नहीं बल्कि सोलह कला के पूर्ण अवतार थे, साक्षात् भगवान थे। वास्तव में श्रीकृष्ण कौन थे?

उत्तर- श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व विवाद का शीर्षक बना हुआ है। यादव लोग उन्हें अपनी बिरादरी का मानते हैं। नृत्य-संगीत विशारद उन्हें अपना प्रणेता कहते हैं। अंग्रेज उन्हें कुशल कूटनीतिज्ञ के रूप में देखते हैं तो भारत की अधिकांश जनता उन्हें भगवान के रूप में पूजती है अत: आपकी जिज्ञासा स्वाभाविक है कि श्रीकृष्ण कौन थे?

वस्तुत: श्रीकृष्ण एक योगी थे। योग ही वह क्रिया है जिस पर चलकर साधक परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। **'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मैव भवति', 'जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।'** भगवान को जानते ही योगी भी भगवान हो जाता है। उसका सेवक एवं जीव-भाव तिरोहित हो जाता है और स्वामी ही सदा-सदा के लिए शेष बचता है। 'अयम् आत्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसी', 'अहम् ब्रह्मास्मि' इत्यादि ऋचाओं में इसी रहस्य की अभिव्यक्ति हुई है।

१- गीता के सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है। वे कहते हैं कि अनेक जन्मों के पश्चात् अन्त के जन्म में तत्त्व-साक्षात्कार को प्राप्त हुआ ज्ञानी मेरा साक्षात् स्वरूप है--

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।। (७।१८)

ज्ञानी तो मेरा साक्षात् स्वरूप ही है, भगवत्मय है। क्योंकि वह मेरे में ही अच्छी प्रकार स्थित है। ऐसे ज्ञानी भक्तों और श्रीकृष्ण की स्थिति में कोई अन्तर (श्रीकृष्ण के शब्दों में) नहीं है। कहना न होगा, श्रीकृष्ण एक योगी ही थे, महात्मा ही थे और तत्त्वज्ञ महात्मा ही भगवान होता है। भक्ति के द्वारा ही कोई भी मनुष्य भगवान हो सकता है।

२- महात्मा श्रीकृष्ण ने गीता शास्त्र मे यत्र-तत्र सर्वत्र अपना परिचय दिया है। टीकाओं में न जाकर योगेश्वर श्रीकृष्ण की मूलवाणी पर दृष्टिपात् करें तो कृष्ण के स्वरूप को लेकर भ्रान्ति नहीं होगी। गीता के तीसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने प्राप्तिवाले महापुरुष के लक्षण बताये और फिर ऐसे महात्माओं के समकक्ष अपने को भी घोषित किया। वे कहते हैं कि जो पुरुष मेरे द्वारा निर्धारित किये हुए कर्म को नहीं करता (उल्लेखनीय है कि श्रीकृष्ण केवल आराधना को ही कर्म मानते हैं- **यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**) वह पापायु पुरुष व्यर्थ जीता है किन्तु जो पुरुष आत्मा मे ही रत, तृप्त तथा सन्तुष्ट है, उसके लिए कर्मो की अर्थात् आराधना की आवश्यकता नहीं है। उस पुरुष द्वारा इन कर्मो को किये जाने से न कोई लाभ है और न छोडने से हानि ही है। इस स्थिति को बिना कर्म किये कोई नहीं पाता। जनक इत्यादि भी इसी कर्म (आराधना) को करके परमसिद्धि को प्राप्त हुए। ऐसे पुरुष केवल लोकशिक्षण अथवा लोक-कल्याण के निमित्त ही स्वय कर्म में बरतते हैं।

इतना कहने के पश्चात् श्रीकृष्ण ऐसे महात्माओं से अपनी तुलना करते हैं-कौन्तेय! मुझे भी प्राप्त होने योग्य किंचित् मात्र वस्तु अव अप्राप्य नहीं है अर्थात् मैं भी आत्मतृप्त हूँ। महात्माओं की ही तरह मुझे भी अब कर्म करने की आवश्यकता नहीं है फिर भी पीछेवालों के हित की इच्छा से मैं भली प्रकार कर्म में बरतता हूँ। इस प्रकार कृष्ण ने महापुरुषों से अपनी तुलना करते हुए संकेत दिया कि मैं भी एक योगी हूँ।

३- दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण कहते है कि यह आत्मा अपरिवर्तनशील, न सूखनेवाली, न जलने-गलनेवाली, नित्य, व्यापक, अचल और सनातन है। इसी आत्मा को साक्षात् जानना ही सनातन धर्म है। किन्तु ऐसी आत्मा सबमें है तो खोजा किसे जाय? श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा को इन विभूतियों से युक्त तत्त्वदर्शियों ने देखा। साधारण लोगों को आत्मा के यह गुण दिखाई नहीं पडते। प्राय शोक, संताप और मृत्यु का कारण माया ही दिखाई पडती है। किन्तु कृष्ण आत्मा को इन विभूतियों के साथ जानते हैं अत. वे तत्त्वदर्शी महापुरुष हैं, योगी हैं।

४- अध्याय चार में कर्म एवं उसके परिणामस्वरूप ज्ञान की प्रक्रिया सीखने के लिए निर्देश दिया- अर्जुन! तत्त्वदर्शी महात्माओं की शरण में जाओ। उन्हें दण्ड-प्रणाम करो, उनकी सेवा करो, वे तुममें ज्ञान और साधन जागृत करेंगे। वस्तुत अनुरागी ही अर्जुन है। श्रीकृष्ण ने भविष्य में आनेवाली पीढी, योग-परम्परा एव होनेवाले साधकों का ध्यान अपने शास्त्र में रखा। वे जानते थे कि आज तो यह अनुरागी मेरी शरण में है किन्तु हजारों वर्ष पश्चात् भविष्य में जो अनुरागी होंगे, वे किसकी शरण लेगे? अत अनुरागियों को उन्होंने तत्त्वदर्शी महात्माओं की शरण में जाने की सलाह दी। पहले तो अर्जुन को तत्त्वदर्शियों के पास जाने को कहा? जब स्वय भगवान ही सामने खडे थे तो तत्त्वदर्शियों की शरण में जाने को क्यों कहा? क्योंकि कृष्ण स्वय एक योगी थे। अठारहवें अध्याय में सबके हृदय में ईश्वर का निवास बताते हुए उस ईश्वर की शरण में जाने को कहा और अन्त में 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु' कहकर अपने शरण में आने को कहकर स्पष्ट कर दिया कि तत्त्वदर्शी महात्मा और श्रीकृष्ण का स्तर एक ही है।

५- अध्याय चार में ही श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे दिव्य जन्म-कर्म को जो तत्त्व से जानता है वह मुझे ही प्राप्त होता है और ऐसे बहुत से पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं। **'बहवो ज्ञान तपसा पूता मद्भावमागताः'**- बहुत से तत्त्वदर्शी महात्मा श्रीकृष्ण के समकक्ष स्थिति के हैं। इसे और स्पष्ट कहा जाय तो कहना होगा- श्रीकृष्ण भी एक तत्त्वदर्शी महात्मा ही थे।

६- चौथे अध्याय में ही श्रीकृष्ण कहते हैं-**'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं'** चारों वर्णो की सृष्टि मैंने की। तो क्या मनुष्यों को चार भागों में बॉट दिया? कृष्ण कहते हैं- नहीं, **'गुण कर्म विभागशः'** गुणों के माध्यम से कर्म को चार श्रेणियों में बॉटा। योगेश्वर श्रीकृष्ण आराधना को ही कर्म मानते हैं जिसके द्वारा परमतत्त्व परमात्मा तक की दूरी तय होती है। कृष्ण ने इसी चिन्तन-क्रम को गुणों के आधार पर चार सोपानों में बॉटा और कहा कि इनके कर्ता मुझ अव्यक्त स्वरूप को अकर्ता ही जान। प्रश्न उठना स्वभाविक था कि आप करते हैं फिर भी अकर्ता कैसे बने रहते है? कर्मो से आप लिपायमान क्यों नहीं होते? कृष्ण समाधान करते हैं कि कर्मो के फल में मेरी स्पृहा भी नहीं है। कर्मो अर्थात् आराधना का फल है शाश्वत परमात्मा में विलय! परमात्मा अलग होता तो

कदाचित् स्पृहा भी होती किन्तु वह परमात्मा भी मुझसे विलग नहीं है अत. कर्मो में मेरी स्पृहा भी नहीं है। जिस भोजन को आप करते हैं उससे भी श्रेष्ठ भोजन देखकर खाने की इच्छा अवश्य होगी किन्तु परमात्मा से श्रेष्ठ, जिससे आगे कोई सत्ता है ही नहीं, वह हमें प्राप्त है तो हम ढूंढे किसे? इसलिए मेरी स्पृहा नहीं है।

इतना ही नहीं, उपर्युक्त योग्यता के साथ जो भी मुझे जानता है उसे भी कर्म नहीं बॉधते। **'एव ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः'** पहले के मुमुक्षु पुरुषों ने इसी आशा से कर्म का आचरण किया। अर्जुन! तू भी इसी प्रकार कर तो कर्मो से नहीं बॅधेगा। जैसे कृष्ण वैसा ही अर्जुन या कोई भी साधक वन सकता है। अत कृष्ण भी एक योगी ही थे।

७- अध्याय नौ मे श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं उस परम का स्पर्श करके परमभाव में स्थित हूॅ किन्तु मेरी स्थिति को न जाननेवाले मूढ लोग मुझे तुच्छ कहते हैं, 'न कुछ' कहकर पुकारते हैं, किन्तु दैवी सपद से युक्त विवेकीजन मुझे श्रद्धा से जपते हैं। **'पत्रं पुष्पं फलं तोयं'** जो कुछ भी वे अर्पित करते है उसे मैं ग्रहण करता हूॅ और उनका परम कल्याण करता हूॅ।

महापुरुष और क्या होते हैं? वे भी साधारण मनुष्य के स्तर से शनै-शनै उत्थान करते-करते परम का स्पर्श करके परमभाव मे स्थित होते हैं। आसुरी सम्पद्‌वाले उन्हें तुच्छ कहकर सम्बोधित करते है किन्तु दैवी सम्पद् वाले अनन्य श्रद्धा से उन्हें अपने आपको समर्पित करते हैं।

८- तेरहवें अध्याय मे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है, जिसमे भले-बुरे सस्कारो के बीज जन्मान्तरों तक फल देनेवाले हैं। शरीर के तीन भाग है- स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन्हे और इनके साथ परमपुरुष को साक्षात्कार के साथ जो जान लेता है वह क्षेत्रज्ञ है- ऐसा उन मनीषियों ने कहा है जो क्षेत्र के तत्त्वज्ञ हैं। अर्जुन! तू भी मेरे को क्षेत्रज्ञ जान। यहॉ कृष्ण पहले तो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विभाजन करते हैं, फिर उनकी जानकारी वाले महात्माओं को क्षेत्रज्ञ बताकर स्वयं को भी क्षेत्रज्ञ के रूप में प्रकट करते हैं। अत सिद्ध है कि कृष्ण भी एक योगी थे, महात्मा थे।

९- अठारहवें अध्याय में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हुए पूछा- महाबाहो! सन्यास और त्याग के तत्त्व को मैं पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूॅ। तब योगेश्वर श्रीकृष्ण बोले-अर्जुन! वहुत से पण्डित काम्य कर्मो के त्याग को ही सन्यास कहते हैं (कर्म का तात्पर्य आराधना है) अर्थात् जिस आराधना के पीछे लौकिक आशाऍ छिपी हों, उन कामनाओं के त्याग को ही सन्यास कहते हैं। अनेक विचार-कुशल पुरुष कर्म-फल के त्याग को ही त्याग कहते है। कई मनीषियों का विचार है कि सभी कर्म दोषयुक्त है अतएव त्याज्य हैं, तथा दूसरे विद्वान ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म किसी भी काल मे त्यागने योग्य नहीं हैं। हे अर्जुन! उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को भी सुन! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नही है। यज्ञ, दान और तप तीनों विवेकी पुरुषों को भी परम पवित्र करनेवाले हैं।

यहॉ श्रीकृष्ण ने धर्म एवं साधना के नाम पर प्रचलित विचारधाराओं की समीक्षा की और अपना मत भी प्रतिपादित किया। प्रचलित सभी विचारधारायें दोषपूर्ण नहीं थीं, उनमें से एक धारा यथार्थ भी थी कि वहुत से मनीषियों का कहना है कि यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्यागने योग्य

नहीं हैं। इन्हीं मनीषियों के निर्णय को पुष्ट करते हुए श्रीकृष्ण ने भी अपना निश्चय सुनाया कि यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म किसी काल में त्यागने योग्य नहीं हैं। अर्थात् जैसे वे मनीषि वैसे ही योगेश्वर श्रीकृष्ण! श्रीकृष्ण उन्हीं के निर्णय को स्वीकार करते हैं। अतः स्पष्ट है, श्रीकृष्ण उन्हीं में से एक हैं, योगी हैं।

१०- गीता के समापन पर एकाग्रचित्त सजय ने भी श्रीकृष्ण का परिचय योगेश्वर कहकर दिया-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।

योगेश्वर उसे कहते हैं जो योगी हो और दूसरों को भी योग प्रदान करने की क्षमता जिसमें हो, योग पर जिसका स्वामित्व हो। यही पूर्णता तथा पूर्णयोगी के लक्षण हैं। स्पष्ट है, श्रीकृष्ण भी उनमें से एक हैं, एक योगी हैं।

वस्तुत मानव-मन की एक वडी कमजोरी है कि वह अच्छाइयों पर चलने से कतराता है, तरह-तरह के वहाने ढूँढ लेता है। कृष्ण के सद्गुणों को अपने में ढालने की अपेक्षा यह कहकर सतोष करना चाहता है कि कृष्ण तो अपौरुषेय थे, अलौकिक थे। जिन कार्यो को उन्होंने किया मैं कैसे कर सकता हूँ? वे पुरुष नहीं भगवान थे, अवतार थे। मनुष्य भगवान को जानता नहीं वल्कि मान लेता है, जबकि श्रीकृष्ण आपका आह्वान करते हैं, प्रोत्साहित करते हैं कि वहुत से साधक मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं। आप भी उन्हीं रास्तों का अनुसरण करें और कल्याण के भागी बनें।

प्रश्न- महाराजजी! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के प्रकरण को और अधिक स्पष्ट किया जाय।

उत्तर- देखिये अध्याय तेरह में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की व्याख्या करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

इद शरीर कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। (गीता १३।१)

अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है। इसमें बोया हुआ भला और बुरा बीज सस्कार रूप में उगता है और जन्मान्तरों तक फल देता है। इसको जो साक्षात् जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं, ऐसा उसके स्वरूप को जाननेवाले महर्षियों ने कहा है। हे अर्जुन! मेरे को भी सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ ही जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विभाजन और तत्त्वत. उनकी जानकारी का नाम ही ज्ञान है।

श्रीकृष्ण यहाँ स्पष्ट करते हैं कि कुछ भी रट लेने का नाम ज्ञान नहीं है बल्कि स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरों का निरोध और निरोध के साथ ही उस परमपुरुष की प्रत्यक्ष अनुभूति का नाम ही ज्ञान है। पचमहाभूतों (क्षिति, जल, गगन, पावक, समीर) से निर्मित स्थूल शरीर, मन बुद्धि, चित्त और अहकार से सृजित सूक्ष्म शरीर तथा चेतना से निर्मित कारण शरीर यह सब क्षेत्र है। ये जब तक रहेंगे तव तक शरीर किसी न किसी रूप में विद्यमान रहेगा। इस क्षेत्र का पार पाकर उस शाश्वत पुरुष, परमतत्त्व की अनुभूति और उसमें स्थिति का नाम ज्ञान है। प्रकृति और पुरुष के विभाजन की जानकारी ही ज्ञान है।

श्रीकृष्ण के ही शब्दों में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की यह परिभाषा उन महापुरुषों ने दी जो इसके जानकार थे। जो भी इसे जानता है, क्षेत्रज्ञ है। वे महापुरुष क्षेत्रज्ञ थे और अर्जुन! मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ। मेरे को भी क्षेत्रज्ञ जान अर्थात् श्रीकृष्ण भी एक महात्मा थे, योगी थे। जो क्षेत्र में फँसता नहीं बल्कि उसका सचालक है।

प्रश्न- महाराजजी! हर व्यक्ति अलग-अलग क्षेत्रज्ञ बनता है अथवा क्षेत्रज्ञ बनने पर सम्पूर्ण जीवों के शरीर को जान लेता है?

उत्तर- क्षेत्रज्ञ अलग-अलग नहीं होते। विकारों सहित प्रकृति और पुरुषत्व की साक्षात् अनुभूति जो भी कर लेता है, वह क्षेत्रज्ञ वन जाता है। ऐसा महापुरुष परमात्मा में स्थित है जो सम्पूर्ण जीवात्माओं का केन्द्र है, मूल है, उद्‌गम स्थल है। इसलिए कोई आत्मा कहीं से चिन्तन करती है, ऊपर उठती है तो तत्क्षण वह क्षेत्रज्ञ उसको सचार प्रदान करेगा, दिशा-निर्देशन करेगा वह एक साथ सहस्रों को जानता, उनके मनोगत भावों के अनुसार उन्हें निदेर्शित करता है। एक साथ उनके भावों को तौलता है। फल के साथ उनका उत्थान करते हुए अपने क्षेत्रज्ञ रूप में स्थिति पर्यन्त उन्हे चलाता है। यही उस क्षेत्रज्ञ की सर्वज्ञता है। हजारों लोग याद करें अथवा अनन्त, क्षेत्रज्ञ एक साथ सबमें सचारित हो जायेगा। उसे कुछ करना नहीं पड़ता क्योंकि वह सबके मूल केन्द्र में स्थित है। महापुरुषो की यह विशेषता है कि जिस साधक ने उन्हें हृदय से पकड़ा, तत्क्षण उसकी आत्मा से जागृत होकर, अभिन्न होकर उसका पथ-सचालन करने लगते हैं और क्रमशः प्रकृति के द्वन्द्वो से निकालते हुए शनै-शनै उत्थान कराते हुए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विभाजन तथा तत्त्व की अनुभूति साधक को भी करा देते है। फिर तो साधक भी क्षेत्रज्ञ हो जाता है। कृष्ण कहते हैं- मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ- ऐसा नहीं है, अपितु जो भी जान लेता है वह क्षेत्रज्ञ है। मैं क्षेत्रज्ञ हूँ तो आप भी बन सकते हैं। मानव अथवा जड-चराचर ही अष्टधा मूल प्रकृति, पंचमहाभूत- मन, बुद्धि, चित्त, अहकार और चेतना का विकार है। क्षेत्रज्ञ इन सभी को जानता है, उसका संचालक भी है।

प्रश्न- महाराजजी! जड़ में चेतन की अनुभूति कैसे होगी?

उत्तर- जड हमारी दृष्टि मे जड़ है किन्तु स्वयं में चेतन है। पत्थर आपकी दृष्टि में जड है किन्तु स्वयं में चेतना से ओत-प्रोत है। अब तो आपका विज्ञान भी स्वीकार करता है। वस्तुत सबके मूल ब्रह्म मे स्थित महापुरुष जहाँ भी दृष्टि डालता है 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' ही दिखाई देता है। **'सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना'** (मानस २/१३०/७) उसकी दृष्टि में न स्वर्ग स्वर्ग के रूप में रहता है और न नरक नरक के रूप में। जहाँ भी दृष्टि पडती है, उसी परमतत्त्व परमात्मा का प्रसार ही दृष्टिगोचर होता है। यही क्षेत्रज्ञ की स्थिति है। गीता में भी इस स्थिति का चित्रण है-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।। (गीता ५/१८)

जो विप्र हैं अर्थात् परब्रह्म से आप्लावित हैं, उनकी विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण और चाण्डाल, कुत्ता, हाथी और गाय सब में समान दृष्टि रहती है। उनकी दृष्टि में न गाय धर्म है न कुत्ता अधर्म है। न विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण कोई श्रेष्ठता रखता है, न चाण्डाल कोई हीनता रखता है। शरीर,

चमडे, रग और मस्तिष्क पर महापुरुष दृष्टि ही नहीं डालते हैं। उनकी दृष्टि सीधे उनकी आत्मा पर पडती है जो उसके अन्दर भी सचारित है।

प्रश्न- किन्तु महाराजजी! कुतिया चाहे अपने बारहों स्तनों से दूध दे और गाय चाहे दूध न भी दे फिर गाय तो गाय और कुतिया तो कुतिया ही रहेगी। दोनों समान कैसे हो सकते हैं?

उत्तर- देखिये, वाल्मीकि पहले चाण्डाल थे, लोग ऐसा ही उन्हें कहते हैं। किन्तु महापुरुषों ने उन्हें चाण्डाल और डाकू के रूप में नहीं देखा। उन्हें तुरन्त दिशा दी और 'वाल्मीकी भये ब्रह्म समाना'-ब्रह्मर्षि के रूप में परिणित हो गये। इस प्रकार उन महापुरुषों की दृष्टि आत्मा पर ही रहती है और जब भी आत्मा उनकी ओर झुकाव लेगी वे तुरन्त उसे पकडकर स्थूल-सूक्ष्म-कारण पर्यन्त शरीरों में निराई प्रारम्भ कर देते है। शनै -शनै उसकी आत्मा से अभिन्न होकर रथी वन जाते हैं फिर तो **'जाके रथ पर केसो। ता कहाँ कौन अँदेशो।।'** उत्थान करते-करते उस शाश्वत तक की दूरी तय करा देते हैं। वह साधक भी क्षेत्रज्ञ बन जाता है। श्रीकृष्ण भी इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ थे, योगी थे।

तुम अपने अन्तराल में उस अधिकार का अर्जन करो तथा ऐसे महापुरुषों की मन, वचन, कर्म से शरण ग्रहण करो, तुम भी प्रेरणा-स्रोत उसी शाश्वत स्वरूप को क्रमश पाओगे, और यह गदही तथा गाय तो भिन्न श्रेणी के जीव हैं। किन्तु शूद्र, जिन पर शूद्रत्व लादा गया तथा ब्राह्मण, ईसाई सभी एक ही मानव हैं। यह उदाहरण ही तुम लोगों ने गलत उठाया है ।

।। ॐ ।।

यज्ञ?

प्रश्न- महाराजजी! कृष्ण ने गीता में कहा है कि "यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः" यज्ञ के सिवाय जो कुछ किया जाता है वह इसी लोक का एक बन्धन है। कृपया बतावें कि यज्ञ क्या है? कैसे किया जाता है? कृष्ण कहते हैं कि यज्ञ की पूर्ति में भगवान मिलते हैं लेकिन संसार में इतना हवन-यज्ञ होता है फिर भी भगवान किसी को मिलते दिखाई नहीं देते! कृपया यज्ञ के स्वरूप को स्पष्ट किया जाय।

उत्तर- आपकी शंका स्वाभाविक है। तीसरे अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।। (गीता ३/६)

अर्जुन! यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। कर्म वह है जिससे यज्ञ पूर्ण होता है। इस यज्ञ के अतिरिक्त जो कुछ भी किया जाता है, जिसमें सारा जगत् दिन-रात व्यस्त है, वह इसी लोक का बन्धन है। कर्म तो 'मोक्ष्यसे अशुभात्' (४/६) अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से छुटकारा दिलाने वाला होता है, वह बॉधता नहीं। **'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर'** इसलिए कौन्तेय! उस यज्ञ की पूर्ति के लिए, सग-दोष से अलग रहकर, भली प्रकार कर्म का आचरण कर। इस प्रकार यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। वह प्रक्रिया-विशेष ही कर्म है, जिससे यज्ञ पूर्ण होता है। सिद्ध है यज्ञ कोई निर्धारित दिशा है। अतः आपका प्रश्न स्वभाविक है कि वह यज्ञ है क्या?

श्रीकृष्ण ने इस प्रश्न का गीता में सविस्तार निरूपण किया है। उन्होंने केवल इतना ही नहीं बताया कि यज्ञ क्या है? बल्कि प्रकरण की महत्ता समझाते हुए यह भी बताया कि यज्ञ आया कहाॅ से और हमे देता क्या है?

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। (३/१०)

प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञसहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृध्दि को प्राप्त होओ। यहॉ बुध्दि ही ब्रह्मा है-**'अहंकार शिव बुध्दि अज, मन शशि चित्त महान।।'** बुध्दि तीन प्रकार की कही गयी है- ब्रह्मविद्, ब्रह्मविदुर्यान और ब्रह्मविदुरिष्ट।

'ब्रह्मविद्' वह बुध्दि है जो ब्रह्म की विद्या से ओत-प्रोत हो किन्तु यह केवल रटी-रटायी विद्या मात्र है, क्योंकि इस स्तर की बुध्दिवाला उस पर पूर्णत चल नहीं पाता। क्रियात्मक जानकारी होने पर साधन क्रमश इतना उन्नत हो जाय कि वह स्वयं तो ब्रह्म का ज्ञाता हो ही, दूसरों को भी उस मार्ग पर चला देने की क्षमता रखे, उस बुध्दि को ब्रह्म विदुर्यान कहते हैं। ब्रह्मविदुरिष्ट ब्रह्म ज्ञाता की वह स्थिति है जिसमे इष्ट समाहित हो। ऐसी बुध्दि मात्र यत्र होती है और उसके माध्यम से आराध्य ही अपनी वाणी प्रसारित किया करता है। ऐसे ही महापुरुषों की वाणी का सकलन वेद है। वेदों को अपौरुषेय इसीलिए कहा जाता है, यद्यपि वह सौ-दो सौ महर्षियों की वाणी का सकलन है, वोलने वाले सौ-सवा सौ महात्मा ही हैं। फिर भी उसमें महात्माओं का कुछ भी नहीं है वल्कि वह अव्यक्त परमात्मा के श्रीमुख की वाणी है। ऐसे ही महापुरुषों ने कल्प के आदि में प्रंजा को

यज्ञ से सयुक्त किया।

कल्प के आदि का आशय भजन के आरम्भ से है। भवरोगो से त्रस्त मरणधर्मा जीवात्मा का कल्प भजन ही है। इसी के द्वारा वह पूर्ण निरोग होता है, उसका कायाकल्प हो जाता है। भजन की दो अवस्थाएँ हैं- आरम्भ एव पराकाष्ठा। कल्प का आदि भजन की आरम्भिक क्रिया हे, जव कि पराकाष्ठा वह स्थिति है जहाँ आत्मा शाश्वत व्रह्म का दिग्दर्शन पाकर पूर्ण निरोग, अचल स्थिर हो जाती है, पुन॰ योनियों में प्रवेश नहीं करती, जिसे कृष्ण कहते हैं- अर्जुन! तू मुझमें निवास करेगा। इस प्रकार प्रजापति व्रह्मा ने अर्थात् जिसकी वुद्धि मात्र यन्त्र है, ऐसे स्थितप्रज्ञ महापुरुषों ने कल्प के आदि में अर्थात् भजन के प्रारम्भ में प्रजा को यज्ञ से सयुक्त किया अर्थात् साधक के अन्त करण में यज्ञ का वीज वपन किया और कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त होओ।

यज्ञ से कौन-सी उन्नति होगी? दो पुत्र हैं तो क्या चार हो जायेंगे? एक मकान है तो क्या दो हो जायेंगे? कृष्ण कहते हैं- नहीं, यह यज्ञ 'इष्टकामधुक्' है। यह इष्ट-सम्वन्धी कामना की पूर्तिवाला होगा। इष्ट वह है जिससे कभी अनिष्ट नहीं होता। ऐसा तो एकमात्र परमात्मा है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् कभी पतन नहीं होता। देवता तक 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति' पुण्य क्षीण हो जाने पर मृत्युलोक में उसी स्थान पर लौटकर आ जाते हैं, जहाँ से चलना प्रारम्भ किया था। इससे वडा अनिष्ट क्या होगा? अतएव एकमात्र परमात्मा ही परम कल्याणकारी है। वही हमारा इष्ट हो सकता है और यज्ञ इसी इष्ट-सम्बन्धी कामना की पूर्ति करनेवाला है।

जिज्ञासा स्वाभाविक है कि यज्ञ से किस प्रकार इष्ट की उपलब्धि होगी? क्या इष्ट अकस्मात् कल्याण कर देगा? कृष्ण कहते हैं- नहीं, वल्कि-

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। (३/११)

इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो। अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं- दैवी सम्पद् एव आसुरी सम्पद्। आसुरी सम्पद् काम, क्रोध, मद, लोभ, माया की चपेट में तो जीव पहले से है ही। अत इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो, हृदय में उस दैवी सम्पद् को वलवान वनाओ। विवेक, वैराग्य, मन का शमन, इन्द्रियों का दमन इत्यादि दैवी सम्पद् है जिसका विस्तरश उल्लेख सोलहवें अध्याय में है। यह सम्पत्ति आंशिक रूप से है तो सव मे, किन्तु दुर्वल है, उसी को वलवान भर करना है। यही आपका अपना बल है। उसी की उन्नति में आपकी उन्नति निहित हे। दैवी सम्पद् ज्यो-ज्यों बलवती होगी, मन अन्तराल मे सिमटता जायेगा, ध्यान में बल मिलता जायेगा। इस प्रकार परस्पर उत्थान करते-करते परमश्रेय परमात्मा को प्राप्त हो जाओगे। यज्ञ कोई ऐसी वस्तु है जो दैवी सम्पद् को उत्तरोत्तर उन्नत करनेवाला है, परम कल्याण करनेवाला है।

दैवी सम्पद् को विकसित किये बिना अर्थात् साधन किये बिना यदि कोई अपने कल्याण को सिद्ध मान लेता है, कृष्ण उसकी निन्दा करते है-

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।। (३/१२)

यज्ञ द्वारा सवर्द्धित देवता तुम्हारे लिए इष्ट-सम्बन्धी भोग देंगे और 'तैर्दत्तान्' वे दाता है। जो विना उनके दिये ही अपने को पूर्ण मान लेता है, श्रीकृष्ण के शब्दों में वह चोर है।

प्रश्न- महाराजजी! "इष्टान्भोगान्" का अर्थ क्या इच्छित भोग नहीं होगा?

उत्तर- नहीं, क्योंकि सासारिक इच्छाएं धन, स्त्री, पुत्रादि की हो सकती हैं किन्तु इनसे परम कल्याण सम्भव नहीं है लेकिन यज्ञ तो ऐसी वस्तु है जिससे 'श्रेयः परम् अवाप्स्यथ' परम कल्याण होता है। अत इष्ट-सम्बन्धी भोग, ध्यान की मस्ती, ईश्वरीय वातावरण की उपलब्धि से सम्बन्धित है। इस प्रकार देवता तुम्हारे लिए इष्ट-सम्बन्धी भोग देंगे (चिन्तन-क्रम यज्ञ-क्रिया है) और वही एकमात्र दाता हैं। अर्थात् विना किये कोई नहीं पाता। इन दैवी प्रवृत्तियों का सम्वर्द्धन किये विना ही जो उस अव्यक्त सत्ता की स्थिति का उपभोग करता है, विना चले ही जो मंजिल पर पहुँच जाने का दम्भ भरता है, वह निश्चय ही चोर है, मुँह छिपानेवाला है। अतः यज्ञ करना नितान्त आवश्यक है। यज्ञ से मिलेगा क्या?

यज्ञ से होनेवाली उपलब्धि के वारे में श्रीकृष्ण कहते हैं-

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। (३/१३)

यज्ञ से शेष वचे हुए अन्न अर्थात् यज्ञ की पूर्तिकाल में शेष ब्रह्मानन्द को पाकर यह आत्मा सदा-सदा के लिए तृप्त हो जाती है। उस ब्रह्मानन्द का पान करनेवाले सन्त सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं किन्तु जो पापी केवल शरीर-पोषण मात्र के लिए परिश्रम करते हैं वे और अधिक पाप का ही सग्रह करते हैं। वे यज्ञ तो करते हैं किन्तु बदले में शरीर और तत्सम्बन्धित सुख-सुविधाओं की आशा रखते हैं, जबकि देवताओं तक का शरीर पुनरावर्तनशील है। अतः यज्ञ निष्काम भाव से ही करना चाहिए।

इस प्रकार ब्रह्मा ने यज्ञ से सयुक्त प्रजा को वनाया, तो अंततः वे सम्पूर्ण भूत यज्ञ से सयुक्त क्यों हो गये? कौन-सा प्रलोभन उन्हें दिखायी पडा? कृष्ण कहते हैं-

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।। (३/१४)

भूत प्राणी अन्नाद् अर्थात् अन्न को खानेवाले होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद की भृगुवल्ली में अन्नाद् शब्द का प्रयोग "अन्न का उपभोग करनेवाले" के लिए किया गया है। भूतो की उत्पत्ति सकल्प से होती है। इसी अन्न को उद्देश्य बनाकर अर्थात् ब्रह्म को उद्देश्य बनाकर सभी भूत (सकल्प) यज्ञ से सयुक्त हुए। अन्न ब्रह्म है (अन्न ब्रह्मेति व्यजानात्। तैत्ति०/भृगु० द्वितीय अनुवाक) वही तो आत्मिक आहार है जिसे पाकर आत्मा तृप्त हो जाती है, कभी अतृप्त नहीं होती। उसी ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर समस्त संकल्प यज्ञ से सयुक्त हुए।

सकल्पों की उत्पत्ति तो ब्रह्म के लिए हुई, अन्न के लिए हुई, किन्तु उस अन्न की उत्पत्ति कैसे होती है? श्रीकृष्ण कहते हैं- वृष्टि से। पूर्वजन्म में कुछ करते बन गया अथवा इस जन्म में किसी महापुरुष की कृपावृष्टि हो, जवकि वह हमारा ही पूर्व का किया हुआ यज्ञ-संचार है जो अव मिलता है, तभी ब्रह्मानन्द का आस्वादन सम्भव है। यह कृपावृष्टि कैसे होगी? श्रीकृष्ण कहते हैं यज्ञ

से। या तो किसी महापुरुष के कृपा-प्रसाद से हो अथवा 'अनेन जन्म ससिद्ध' पूर्वजन्म से वह पार लगा हो। वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों आप क्रिया करते जायेंगे, यज्ञ उन्नत होता जायेगा।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।। (३/१५)

कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान। जिन महापुरुषों को यह तत्त्व विदित है, बुद्धि मात्र यत्र है, उन्हीं की वाणी वेद है। ऐसे महापुरुषों की वाणी से इस कर्म की रचना हुई, तो क्या महापुरुषों ने अपनी बुद्धि से रचना की? कृष्ण कहते हैं--नहीं, ऐसे महापुरुषों के माध्यम से स्वय ब्रह्म ही अपनी वाणी प्रसारित करता है। इसलिए वेद को तू अक्षय ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ जान। इसीलिए वेद अपौरुषेय हैं। यद्यपि वेद सैकडों महापुरुषों की वाणियों का सकलन है, जो ब्रह्म में भली प्रकार स्थित थे फिर भी वह किसी पुरुष की वाणी नहीं है बल्कि महापुरुषों के मूल में जो अव्यक्त है उसके श्रीमुख की वाणी है। श्रुती है- **"ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति।"**, **"जानत तुम्हहि तुम्हहि होई जाई।"** स्वरूप में स्थित होने के पश्चात् महापुरुष के मुख से जो भी निकलता है वह सब वेद है क्योंकि उनकी बुद्धि मात्र यंत्र है, शरीर रहने का एक मकान मात्र है। अव्यक्त ब्रह्म ही उनमें व्यक्त होता है। इसलिए वेद को तू अक्षय ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ जान। इसीलिए वह सर्वव्यापी अक्षर परमात्मा सदैव यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।। (३/१६)

श्रीकृष्ण निर्णय देते हैं कि हे पार्थ। जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार चलाये हुए साधन-चक्र के अनुसार नहीं बरतते, वे इन्द्रियों का आराम चाहनेवाले पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीते हैं। किस साधन-चक्र को? जिस पर कृष्ण ने अभी प्रकाश डाला कि क्रमशः देवताओं की उन्नति करो, दैवी सम्पत्ति को बलवती बनाओ। ज्यों-ज्यों दैवी सम्पद् का सग्रह होगा, इष्ट की ओर चित्त केन्द्रित होता जायेगा, वही तुम्हारी प्रगति है। परस्पर उन्नति करके परम कल्याण को प्राप्त कर लो। वही एकमात्र दाता हैं। उनके दिये बिना अपने को पूर्ण मान लेनेवाला पुरुष चोर है, मुँह छिपानेवाला है। वे अघायु इन्द्रियाराम के लिए हैं। देवता भी तो मरणधर्मा हैं। उनका शरीर भी मिल जाय तो क्या? उतने से भी परमकल्याण सम्भव नहीं है। यज्ञ से शेष बचनेवाला ब्रह्मानन्द ही इस आत्मा का अशन है। उसका पान करनेवाले सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं और जो शरीर के लिए ही पचते हैं, वे पाप ही भोगते हैं। इसी ब्रह्मानन्दरूपी अन्न को उद्देश्य बनाकर प्राणी यज्ञ से सयुक्त हुए। अन्न अर्थात् ब्रह्म की उत्पत्ति कृपावृष्टि से होती है। पूर्वजन्म के यज्ञाचरण अथवा यज्ञस्वरूप महापुरुषों के द्वारा यह वृष्टि होती है। वेद अविनाशी से उत्पन्न होता है, इससे सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है। यदि आपको परमात्मा की चाह है तो यज्ञ का आचरण करें। इस साधन-चक्र के अनुसार क्रमश परस्पर उत्थान करते-करते जो परम कल्याण तक नहीं पहुँच जाते, श्रीकृष्ण के शब्दों में, इन्द्रियों का आराम चाहनेवाले ऐसे पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीवित रहते हैं। सिद्ध है कि इस चिन्तन-पथ में इन्द्रियों के आराम का कोई विधान नहीं है। मन और इन्द्रियों के

दमन के साथ ही भोगों से विरत रहकर ही इस यज्ञ का किया जाना सम्भव है।

श्रीकृष्ण की मान्यता है कि यज्ञ को किये विना उस परमतत्त्व को न कोई पाया है ओर न कोई पा सकेगा। पूर्व मे होनेवाले जनक इत्यादि महर्षिगण इसी कर्म को करके परमनैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त हुए किन्तु जो महापुरुप आत्मा में ही तृप्त एव स्थित हैं, उनके लिए कर्म करने से न कोई लाभ है और छोडने से कोई हानि ही है। इसी को और स्पष्ट करते हुए अध्याय चार में श्रीकृष्ण कहते हैं--

गतसगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।। (४/२३)

आसक्ति एव सग-दोप के प्रभाव से सर्वथा रहित तथा साक्षात्कार द्वारा प्राप्त जानकारी में स्थित चित्त, यज्ञ के लिए भली प्रकार आचरण करनेवाले मुक्त पुरुप के सम्पूर्ण कर्म नष्टप्राय रहते हैं। यज्ञ का आचरण ही तो कर्म है। कर्म करते हुए भी वह महापुरुप लिपायमान नहीं होता। क्यों? जव वह कर्ता है तो कर्म उसे वॉधते क्यों नहीं? कृष्ण कहते हैं-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। (४/२४)

ऐसे महापुरुषों द्वारा जो समर्पण किया जाता है वह भी ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही कर्ता है और जो हवन किया जाता है वह भी ब्रह्म ही है। उसके द्वारा प्राप्त होने योग्य है, वह भी ब्रह्म है क्योंकि कर्म के द्वारा वह ब्रह्म में समाधिस्थ हो चुका है। उसके लिए तो 'ईशावास्यमिद सर्वम्' सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है। सारांशत. ऐसा महापुरुष वस्तुत. कुछ करता नहीं बल्कि पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिए अभिनय मात्र करता है। यज्ञ से न तो उस पर शुभ सस्कार पड़ता है और न अशुभ ही।

यज्ञ-विधि

यह तो प्राप्तिवाले पुरुष के आचरण हैं किन्तु यज्ञ-विधि क्या है? हम आरम्भ कहॉ से करें। इस पर देखें श्रीकृष्ण के ही शव्दों मे-

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।। (४/२५)

मुक्तपुरुष के लिए यज्ञ की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु दूसरे योगी, जिन्हें अभी उपलब्धि नहीं हुई है, देवयज्ञ को अच्छी प्रकार उपासते हैं, दैवी सम्पत्ति को अच्छी प्रकार बलवती बनाते हैं वैराग्य, शम, दम इत्यादि गुण जिसमें परमदेव का देवत्व निहित है, उसको अर्जित करते हैं। परात्पर ब्रह्म अग्नि है ही, उसी में प्रवेश पाने के लिए यज्ञ के द्वारा यज्ञ को हवन करते हैं।

यज्ञ के द्वारा यज्ञ को हवन करना क्या है? अर्जुन ने जब प्रश्न किया कि भगवन्! कर्म क्या है? अध्यात्म क्या है? अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ क्या हैं और इस शरीर में वह अधियज्ञ किस प्रकार है? तव कृष्ण ने कहा- अर्जुन! मैं ही इस शरीर में अधियज्ञ हूँ, यज्ञ का अधिष्ठाता

हूँ। जो महापुरुष यज्ञ को पूर्ण कर लेता है और यज्ञ से प्राप्तव्य उस ब्रह्म के अनुरूप स्थितिवाला है वह अधियज्ञ कहलाता है (अध्याय ८/१-४) 'भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोक महेश्वरम्' अर्जुन! यज्ञ और तपो का भोक्ता भी मुझे ही जान! अत महापुरुष ही यज्ञ के अधिष्ठाता हैं। ऐसे यज्ञस्वरूप किसी महापुरुष को उद्देश्य बनाकर जो यजन करते हैं, मानसिक प्रवृत्तियों का हवन करते हैं, वे यज्ञ के द्वारा यज्ञ का हवन करते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।। (४/२६)

अन्य योगीजन श्रोत्रादिक सम्पूर्ण इन्द्रियों (ऑख, कान, नाक, रसना इत्यादि) को संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों को वाह्य विषयो से समेटकर सयमित करते हैं। अग्नि नहीं जलती वल्कि जैसे अग्नि में डालने से भली-वुरी सभी वस्तुएँ भस्मसात् हो जाती हैं ठीक इसी प्रकार सयम एक ऐसी अग्नि है जिसमें इन्द्रियों का वहिर्मुखी प्रवाह सर्वथा शान्त हो जाता है। इसलिए सयम को अग्नि की सज्ञा दी गयी।

वहुत से योगी लोग शब्दादिक विषयों का इन्द्रियाग्नि में हवन करते हैं। शव्द इत्यादि का तात्पर्य है पॉचों ज्ञानेन्द्रियो से। उदाहरणार्थ साधक शान्त चित्त होकर चिन्तन में अग्रसर है, मन के अन्तराल में विजातीय सकल्प नहीं हैं, ठीक तभी दूसरों द्वारा उच्चरित कोई शव्द वलात् सुनाई पडता है। साधक ऐसे शव्द किचित् भी सुनना नहीं चाहता फिर भी दुनिया में रहकर मनन करना है तो सुनाई पडना स्वाभाविक है, किसी दृश्य का दिखायी पडना स्वाभाविक है। तव साधक उसके द्वारा आनेवाले विषयों को "इन्द्रियाग्निषु जुह्वति"- इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन कर देता है अर्थात् इन्द्रियों के अन्तराल मे विषयजनित आशय को बदल देता है। साधक विषय को इन्द्रियो से ग्रहण नहीं करता अन्यथा वह पतित हो जाय। वह तो सकल्प-दृष्टि पैदा होते ही विकारोत्पादक भावना को ही वदल देते हैं।

इस प्रकार की एक घटना हमारे जीवन में भी घटित हुई। अष्टग्रही-योग की चर्चा थी। हम गाजीपुर में थे। उस वर्ष विवाह की केवल तीन ही लगन थी। शहर का मामला! हजारों लाउडस्पीकर एक साथ बज उठे "समधिन चली बजार, चार यार सगे चले।" "अकेली डर लागे रात मोरी अम्मा" इत्यादि गीत वातावरण में तैरने लगे। एकाध दिन तो एक भी शव्द हमारे कान में नहीं पडा क्योंकि चित्त उधर था ही नहीं, किन्तु शब्दो के बार-बार टकराने से कुछ सुनाई पडने लगा। तीसरे दिन एक लाउडस्पीकर उस दीवाल से सटकर बजने लगा, जहॉ हम रहते थे। एक-एक शव्द विषय-उद्दीप्त करनेवाला था। एक-एक शव्द गोली की तरह प्रभाव डाल रहा था। हमने सोचा कि यहॉ रहेंगे तो पतित हो जायेंगे। तुरन्त वहॉ से भाग खडे हुए और शहर से दो-एक मील वाहर निकल गये किन्तु जिससे भय लगता है, यह मन उसे ही शीघ्र पकडता है। क्षीण स्वर में भी सगीत सुनाई पडने पर मन तुरन्त ही उस गीत को पहचान लेता था। अब तो बडी घबडाहट हुई। चार-पॉच मील तक चारों ओर वे शव्द गूँज रहे थे।

हमने महाराजजी का स्मरण किया, प्रार्थना की और तुरन्त ही एक दिशा मिल गई कि 'कवीर' का भजन सुनाते समय महाराज जी भी तो प्राय ऐसा ही कहते थे--

साई के सग सासुर आई।
सग न सूती स्वाद न मानी, गयो जोवन सपने की नाई।।

इत्यादि कवीर के भजन भी तो ठीक इससे मिलते-जुलते हैं। क्यो न इसी दृष्टि से इन गानों का भी आशय लगाया जाय। वस, हम लोट आए। लिप्सा वाले वे गाने साधन-क्षेत्र में भी इतने उपयोगी लगे कि कई वरस तक हम उन भजनों को गाते रहे, समाज में सुनाते भी थे। जव-जव मन न लगे, उन गीतों को हम गा लें तो विरह-वेराग्य एव अश्रुपात् सव कुछ हो जाय। जेसे "समधिन चली वाजार, चार यार सगे चले।" चिन्तन करते-करते साधना समाधि के स्तर पर पहुँच गई, केवल परमात्मा मे विलय शेप हे, ऐसी अवस्था में यदि हम चिन्तन छोड़कर "माया गट खूव वजार" इस मायिक वाजार की ओर दृष्टिपात् करते हैं तो "चार यार संगे लगे"- काम, क्रोध, लोभ और मोह-- चारों यार अन्त करण में पनपने लगते हैं अर्थात् एक इंच भी इष्ट अलग है और हम उससे अलग है तव तक खतरा है। इस प्रकार शव्दों के माध्यम से जो विषय आये, उनके आशय को वदला। ऐसा ही अवसर अर्जुन के समक्ष देव-सभा में उस समय उपस्थित हुआ जव वे उर्वशी को टकटकी लगाकर देख रहे थे। देवताओं के पूछने पर उन्होंने वताया कि मैं देख रहा था कि माता कुन्ति स्वर्गलोक में कैसे आ गई? वहुत दिनों से माँ को नहीं देखा था, इसीलिए उत्कंठापूर्वक देखता ही रह गया। उर्वशी वौखलाकर अर्जुन के पीछे ही पड़ गई किन्तु अर्जुन अडिग रहे। उर्वशी ने शाप भी दिया किन्तु सत्य पर आरूढ़ रहनेवाले का अहित कैसे होता? अज्ञातवास मे वह शाप भी आशीर्वाद के रूप में वदल गया, सहायक सिद्ध हुआ। इस प्रकार रूप दिखाई तो पडा किन्तु कृष्ण के शिष्य अर्जुन ने उसका आशय वदल लिया, मातृ रूप देखा। इस प्रकार वहुत से योगी शव्द, रूप, स्पर्श इत्यादि के माध्यम से आनेवाले विषयों को "इन्द्रियाग्निषु जुहति"- इन्द्रियाग्नि में हवन कर देते है, उसके आशय को वदल देते हैं; जो वैराग्य एवं परम कल्याण में सहायक होता है। यह इन्द्रियाग्नि वासना का निरोध करती है।

सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि प्राण कर्माणि चापरे।
आत्मसंयम योगाग्नौ जुहति ज्ञानदीपिते।। (४/२७)

दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियो की चेष्टाओं को और प्राण के व्यापार को अर्थात् मन, वुद्धि, चित्त और अहकार के कार्य-कलापों को भली-भॉति निरोध करके साक्षात् अनुभूति द्वारा प्रकाशित आत्म-सयमरूपी योगाग्नि मे हवन कर देते हैं, परमात्मा में स्थितरूपी योगाग्नि में हवन करते हैं। यह पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए योगी का यज्ञ है।

प्रश्न- महाराजजी! उपर्युक्त श्लोकों में 'अपरे', 'अन्ये' शब्द आया है। ऐसा तो नहीं कि ये कई प्रकार के योगी हों या यज्ञ हों। देव-यज्ञ करनेवाले एक प्रकार के, इन्द्रिय-सयम करनेवाले दूसरे और विषयों के आशय बदलनेवाले तीसरे योगी हों?

उत्तर- नहीं, ऐसी कोई वात नहीं है। 'अन्ये' या 'अपरे' शव्द महापुरुषों से साधकों की पृथकता का वोधक है। सभी एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। पहले प्रारभ की अवस्था है, तत्पश्चात् मध्य की अवस्था और अन्त में पराकाष्ठा की अवस्था का चित्रण उक्त सत्ताइसवें श्लोक में किया गया है। प्रारभिक स्तर से पुन प्रारम्भ हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रता।। (४/२८)

बहुत से योगी 'द्रव्ययज्ञा' ईश्वरार्पण वुद्धि से द्रव्य लगानेवाले होते हैं। सत्पुरुष, सद्‌गुरुओं की सेवा, तीर्थो में धन लगाना तथा भौतिक वस्तुओं से हवन इत्यादि इसी में आ जाते हैं। "पत्रं पुष्पं फल तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति" वे द्रव्य ही तो लगा रहे हैं, महापुरुष की सेवा ही तो कर रहे हैं। यह भी एक यज्ञ है किन्तु आगे कहते हैं- यह यज्ञ सवसे अल्प है, चाहे करोड का ही क्यों न हो। बहुत से योगी तप-यज्ञ करते हैं। जिस इष्ट का चिन्तन करते हैं उसी के लिए इन्द्रियों को नियुक्त करने का नाम 'तप' है। इन्द्रियॉ सदैव आराम चाहती हैं, उन्हें वासनाओं से समेटकर चिन्तन-पथ पर तपाना ही 'तप-यज्ञ' है। इन्द्रियों का निरोध ही तप-यज्ञ है। इसमें शीत-वात सहन करना तथा शारीरिक चेष्टाओं का शमन करना होता है।

दूसरे साधक 'योग-यज्ञ' का भली-भॅाति पालन करते हैं। 'योग' मेल को कहते हैं। दो वस्तुओं के मिलन का नाम योग है। लोटा-थाली से मिल गया, हाथ दीवाल को छू गया तो क्या हो गया योग? नहीं, यह तो सभी 'मैटर' क्षेत्र की वस्तुऍ हैं, पदार्थ मात्र है, दो कहॉ है? प्रकृति में स्थित जीवात्मा, प्रकृति से परे परमात्मा से मेल करे, उसी दिग्दर्शन और प्रवेश का नाम 'योग' है। योग के साथ ही जीवात्मा एव अश की सज्ञा मिट जाती है। शाश्वत पुरुष 'अव्यक्त' मात्र शेष रहता है। प्रकृति परमपुरुष के अक में विलीन हो जाती है, 'पुरुष' ही शेप वचता है। अनेक साधक इस मिलन के लिए परिश्रम करते हैं। जिसमें योग के सभी अग आ जाते हैं। गीता के प्रत्येक अध्याय में श्रीकृष्ण ने इसके साधन पर प्रकाश डाला--जैसे एकान्त देश का सेवन, स्थिर आसन, सग-दोष से अलगाव, इन्द्रियों का दमन तथा व्रह्मचर्य व्रत में स्थिति छिटपुट दिया गया है। महर्षि पतजलि ने स्वतत्र रूप से भी "अष्टाग योग" पर प्रकाश डाला है। वस्तुत योग के उक्त नियम साधना की आधारशिला है जिनके ऊपर चिन्तन एवं नाम-जपरूपी मुख्य भवन का निर्माण होता है।

दूसरे अहिसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष 'स्वाध्याय' अर्थात् स्वय के अध्ययन के लिए ज्ञानरूपी यज्ञ करनेवाले होते हैं। ये ज्ञानयोगी स्वय पर निर्भर होकर कर्म करते हैं। ज्ञानयोगी क्या है? ज्ञानयोगी भी वही कर्म करते हैं जिससे इस यज्ञ की पूर्ति होती है, पराकाष्ठा मिलती है।

अपाने जुहति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्‌ध्वा प्राणायाम परायणाः।। (४/२९)

बहुत से लोग अपान वायु में प्राणवायु का हवन करते हैं और अन्य प्राणवायु में अपान वायु का हवन करते हैं। 'प्राण' वह है जिसे हम ग्रहण करते हैं, 'अपान' त्याज्य है। श्रीकृष्ण ने यहॉ प्राण के माध्यम से चिन्तन के विधान पर प्रकाश डाला है। कुछ योगी सॉस लेते समय 'ॐ, ॐ' जपते हैं, श्वास लेते समय अन्य कोई सकल्प नहीं उठने देते तो दूसरी ओर अनेक योगी श्वास को वाहर त्यागते समय ओम् का जप करते हैं। और साधना इतनी सूक्ष्म हो जाय कि न बाहर से किसी सकल्प को ग्रहण करें और न भीतर से संकल्प उठने दे तहॉ "प्राणापानगती रुद्‌ध्वा प्राणायाम परायणः"- प्राण और अपान की गति रोककर प्राणायाम परायण हो जाते है। प्राणों

का याम अर्थात् सर्वथा रुक जाना सभव हो जाता है। यही मन की निरोधावस्था है। यही यज्ञ का परिणाम और उसकी पूर्णता का स्थल है. अब पाना ही शेष है।

प्रश्न खडा होता है कि साधक यज्ञ करते ही रहेंगे या कभी उनका यज्ञ पूर्ण भी होगा? यज्ञ की पूर्ति मे मिलेगा क्या? कृष्ण बताते हैं कि जब प्राण और अपान की गति रुक जाय, प्राणों का याम हो जाय, न बाह्य वायुमण्डल के सकल्प भीतर प्रवेश करें ओर न साधक के भीतर ही सकल्प उठे, चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाय--यही यज्ञ का पूर्तिकाल है। मन के निरोध के साथ ही जगत् का प्रसार, प्रकृति का आदान-प्रदान, उसका प्रवाह शान्त हो जाता है। फिर तो यज्ञ का परिणाम निकल आता है।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नाय लोकोऽस्त्य यज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।। (४/३१)

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन। यज्ञ के परिणामस्वरूप ज्ञानामृत को भोगनेवाला योगी "यान्ति ब्रह्म सनातनम्"- सनातन शाश्वत परमात्मा में प्रवेश करता है। यही शाश्वत ब्रह्म यज्ञ का परिणाम है, जहॉ जाकर यज्ञ भी शान्त हो जाता है। आगे कोई सत्ता ही नहीं है तो किसे ढूंढा जाय। आत्मा, जो अजर-अमर तथा अमृतस्वरूप है, विदित हो जाता है। उस प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है। जब इष्ट का साक्षात्कार ही हो गया तो साक्षात्कार के साथ ही उस अमृतत्व का पान करने वाला योगी सनातन शाश्वत परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

किन्तु मान लीजिए, हम यज्ञ ही न करें, कौन इतना बड़ा झझट पाले। पार न लगे तब? कृष्ण कहते हैं कि यज्ञरहित पुरुष के लिए पुन. यह मनुष्य लोक भी नहीं है फिर परलोक कैसे होगा? उसे मानव योनि भी नहीं मिलेगी, परलोक प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं खडा होता। अतः इस यज्ञ को करने का अधिकार मनुष्य शरीर को है। मानवमात्र को है।

एव बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्म जान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।। (४/३२)

छोटी-मोटी विधियो में विभक्त ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ "वितता ब्रह्मणो मुखे"-वेदज्ञ पुरुषों की वाणी मे कहे गये है, इन सभी यज्ञों को तू 'कर्मजान्विद्धि'- कर्म से उत्पन्न हुआ जान, मन तथा इन्द्रियो की क्रिया से उत्पन्न हुआ जान। इसमें कोई भौतिक वस्तु नहीं लगती। अब यदि इन्द्रियो का सयम, प्राण मे अपान का और अपान मे प्राण का हवन या प्राणायाम परायण होना फरसा चलाने से होता है, कपडा बेचने से होता हो, तेल बेचने से होता हो तो करिये। नेतागिरि से होता हो तो करिये। लेकिन नहीं, श्रीकृष्ण कहते हैं- कर्म को मनसहित इन्द्रियों की क्रिया से उत्पन्न हुआ जान। इसमें भौतिक द्रव्यों का कोई उपयोग नहीं है। तो क्या भौतिक द्रव्यों से होनेवाले यज्ञ व्यर्थ है? कहीं लाख-दस लाख रुपये लगाकर हवन हो रहा है, क्या यज्ञ नहीं है? श्रीकृष्ण ऐसे किसी कृत्य को यज्ञ की सज्ञा नहीं देते। समाज के सामूहिक कल्याण के लिए प्रार्थना-स्थल, मन्दिर इत्यादि का निर्माण, असहायों की सहायता, दान इत्यादि सर्वोपरि यज्ञ हैं। सन्तो, सत्पुरुषों, तत्त्वस्थित महापुरुषों की सेवा में श्रद्धानुसार वस्तुओं का अर्पण द्रव्य यज्ञ है। 'पत्र पुष्प फल तोय' जो कुछ भी भाव से पत्र, पुष्प, फल इत्यादि समर्पित करता है उसे मैं सेवन करता हूॅ, यज्ञ है।

श्रीकृष्ण कहते हैं-

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञान यज्ञः परतप।
सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। (४/३३)

अर्जुन! सासारिक द्रव्यो से सिद्ध होनेवाले यज्ञों की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ श्रेयस्कर है क्योंकि उसका परिणाम प्रत्यक्ष दर्शन है। यज्ञ की पूर्तिकाल में जो अमृत तत्त्व शेष वचता है, उसी का दिग्दर्शन और उसमे प्रवेश का नाम ही ज्ञान है। हे पार्थ! यावन्मात्र कर्म ज्ञान मे ही शेप होते हैं। इस ज्ञान के पश्चात् कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

साराशत भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ एक निर्धारित क्रिया है। जो लोग शास्त्र-विधि से नियत अर्थात् गीता मे नियत विधि को त्यागकर नाममात्र के यज्ञो से दम्भपूर्वक यजन करते हैं, यज्ञ है नहीं किन्तु नाम दे दिया कि यही यज्ञ है, ऐसे लोग अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा से द्वेष करनेवाले हैं। ऐसे क्रूरकर्मी, पापाचारी नराधमों को मैं वारम्वार घोर नरक अर्थात् निम्न योनियों में गिराता हूँ। अत गीता की विधि को त्यागकर अन्य किसी विधि से यज्ञ के नाम पर कोई कुछ भी करता है तो भगवान को खुश करने के स्थान पर अधम योनियों का अपने लिए आरक्षण ही करता है। (गीता १६/१५-२०)

प्रश्न- सरकार! श्रीकृष्ण ने यह नहीं बताया कि यज्ञ क्या है?

उत्तर- बताया तो! चराचर जगत् ही हवन-सामग्री है। श्वास का प्रश्वास में हवन करना यज्ञ हैं। यज्ञस्वरूप किसी महापुरुष का ध्यान करना यज्ञ है। इन्द्रियों का दमन यज्ञ है। मन का शमन यज्ञ है। एकाग्रता यज्ञ है। दैवी सम्पद् बलवती वनाना यज्ञ है। शव्द-रूप् इत्यादि विषयो के आशय को वदलकर साधन पर निरन्तर दृष्टि रखना यज्ञ है। चित्त की प्रवृत्ति को चलायमान न होने देना यज्ञ है। इस यज्ञ में आग नहीं जलती किन्तु जिस प्रकार अग्नि मे डाली हुई वस्तु भस्मसात् हो जाती है, ठीक उसी प्रकार संयम, प्राण-अपान का निरोध ऐसा यज्ञ है कि प्रवृत्तियों सहित मन उसमें विलय होकर उपराम हो जाता है और मन में स्थित चराचर जगत् की हवन-सामग्री दग्ध हो जाती है। अमृत तत्त्व प्रगट हो जाता है। जिसका आस्वादन करनेवाला योगी अमृतस्वरूप सनातन ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है- "यान्तो ब्रह्म सनातनम्"। सभी यज्ञ कर्म से, मन इन्द्रिय की क्रिया से सिद्ध होनेवाले है। जगत् में भौतिक द्रव्यो से होनेवाले यज्ञ अल्प फलवाले हैं, किन्तु हैं आवश्यक, क्योंकि पुण्य और पुरुषार्थ का आरभ उन्हीं से होता है।

किसी तत्त्वज्ञ महापुरुष की शरण मे जाने से, उनकी टूटी-फूटी सेवा करने से, उनकी बताई हुई क्रिया को कार्यरूप देने से योग-साधना का क्रम हृदय में जागृत हो जाता है। इसलिए यज्ञ-प्रकरण के समापन पर श्रीकृष्ण किसी तत्त्वस्थित महापुरुष की शरण मे जाने का निर्देश देते हैं--

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। (४/३४)

अर्जुन! उस यज्ञ को जानने के लिए किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाओ। उन्हें भली प्रकार दण्ड-प्रणाम करो। उनकी सेवा करो और निष्कपट भाव से उनसे प्रश्न करके उस ज्ञान को

जानो। वे तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता नहीं है। यह क्रियात्मक पथ है। केवल किताब पढकर नहीं, बल्कि करने से ही आता है। तत्त्वस्थित महापुरुषों के माध्यम से ही आत्मा जागृत हो जाती है। वही आत्मा से रथी होकर उसको संचालित करते हुए इन यज्ञों से अवगत कराते हैं।

प्रश्न- महाराजजी! मुक्त पुरुषों के लिए यज्ञ की आवश्यकता नहीं रह जाती तब वे किसी को यज्ञ का उपदेश क्यों करेंगे?

उत्तर- नहीं, वे करेंगे! लोक-शिक्षण उनका कर्त्तव्य है। यदि वे मार्ग-दर्शन न करें तो लोक ही भ्रष्ट हो जाय और वे वर्णसंकर के कर्ता होंगे। इसके अतिरिक्त अठारहवें अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण प्रचलित विचारधाराओं की समीक्षा करते हुए अपने निश्चय को व्यक्त करते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म कदापि त्यागने योग्य नहीं हैं। यह विवेकी पुरुषों को भी परम पवित्र करने वाला है; महापुरुषों के लिए भी उपादेय है-- परहित के लिए।

अत' यज्ञ की क्रियात्मक जानकारी के लिए तत्त्वज्ञ महापुरुषों की शरण, उनकी सेवा, उनका सान्निध्य, सत्संग, दर्शन, स्पर्श नितान्त आवश्यक है।

।। ॐ ।।

कर्म

प्रश्न- महाराजजी! श्रीकृष्ण ने गीता में स्थान-स्थान पर कर्म करने पर बहुत बल दिया है। वह कर्म क्या है?

उत्तर- देखिये, प्रत्येक महापुरुष की दृष्टि में कर्म का शुद्ध अर्थ आराधना ही है--

करम एक आराधना, जेहि विधि रीझै राम।
सो करता करनी करै, पल पल पलटत नाम।।

एकमात्र आराधना ही कर्म है। वह प्रक्रिया ही कर्म है जिससे राम रीझ जायँ, अनुकूल हो जायँ। वही उस कर्म विशेष का कर्ता है जो क्षण-क्षण पर नाम को पलटता तथा उसका स्मरण करता रहता है। आदि शकराचार्य की मान्यता है-- "क्वा कर्म यत्प्रीति करं मुरारे" कर्म क्या हे? जिससे भगवान के चरण-कमलों में अटूट प्रीति का सचार हो जाय। गोस्वामी तुलसीदासजी के अनुसार--

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ।।
(मानस, २/२९०/१)

उस सुख, कर्म, धर्म में आग लग जाय, जहाँ भगवान राम के चरण-कमलों में स्नेह न हो। तात्पर्य यह है कि एकमात्र भगवान के चरण-कमलों में स्नेह, उनकी प्राप्ति करानेवाली प्रक्रिया ही कर्म है। ठीक इसी प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में कर्म का शुद्ध अर्थ है- आराधना।

युद्धस्थल मे अपने ही स्वजन समुदाय को देखकर अर्जुन अधीर हो उठा। अठारह अक्षौहिणी जनसमूह में अर्जुन को केवल अपना परिवार, मामा का परिवार और ससुराल का परिवार ही दिखाई पडा। क्या सब अर्जुन के रिश्तेदार ही थे। वास्तव में अनुरागी ही अर्जुन है। प्रत्येक अनुरागी के समक्ष यही समस्या होती है। चिन्तन-पथ में प्रवृत्त होते समय पहले तो बडा भाव रहता हे किन्तु जब लौकिक सम्बन्धों को त्यागने का स्तर आता है, तहाँ वह अधीर हो उठता है। उस समय परिवार का मोह, ननिहाल का मोह, साथियों का मोह और गुरुजनों का मोह उसे घेर लेता है। जब अनुरागी घर से अलग हो ही गया तो उसके लिए घरवाले मर गये और घरवालों के लिए साधक। उस समय प्रबल मोह से साधक विचलित होने लगता है। अर्जुन ने भी अपने परिवार को मौत के मुहाने पर देखा तो बोला-मै युद्ध नहीं करूँगा। अपने ही परिवार को मारकर मैं सुखी कैसे होऊँगा? इस प्रकार तो कुल-धर्म नष्ट हो जायेगा। कुल-धर्म शाश्वत धर्म है, सनातन है, पुरातन हे। इस प्रकार के युद्ध से पिण्ड-परम्परा लुप्त हो जाएगी, कुल की स्त्रियाँ दूषित होगी, वर्णसकर पैदा होंगे। वह वर्णसकर कुल एव कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए उद्यत हुए हैं। इस प्रकार अपने को ही नहीं अपितु कृष्ण को भी लाक्षित किया कि आप भी पाप करने जा रहे हैं। अन्त में ऐसा स्पष्ट कहकर कि "गोविन्द! मैं कदापि युद्ध नहीं करूँगा।" रथ के पिछले भाग में वेठ गया।

अर्जुन यदि न लडे तो युद्ध का प्रश्न ही खडा न हो, क्योंकि उसके ऊपर ही सारा महाभारत आधारित है। पाण्डव-पक्ष में अर्जुन के अतिरिक्त कोई दुर्धर्ष योद्धा नहीं, जिस पर युधिष्ठिर निर्भर

हो सके- "पल लागत अर्जुन हतें छुए न दूजो वान।।" वही तो एक विशिष्ट योद्धा था। उस अधीर अर्जुन को एकमात्र कर्म की शिक्षा देकर कृष्ण ने उस कर्म को दृढ़ाया ही नहीं बल्कि उस पर अर्जुन को चला भी दिया। अत विचारर्णीय है कि वह कर्म है क्या? अर्जुन ने पहले ही कह दिया था कि पृथ्वी एव स्वर्ग के धनधान्य सम्पन्न साम्राज्य का अकण्टक स्वामी बनने पर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियो को सुखा देनेवाले शोक को मिटा सके। अत यदि इतना ही मिलनेवाला है तो मै युद्ध नहीं करूँगा। हॉ, यदि इससे भी आगे कोई सत्य हो तो उसे आप मेरे प्रति कहिए। तव भगवान कृष्ण ने उस सत्य पर प्रकाश डाला कि आत्मा ही सत्य है, आत्मा परम सत्य है। वही शाश्वत एवं सनातन है। वही अजर-अमर एव सर्वव्याप्त है, किन्तु अजर-अमर तो कोई सत्ता दिखायी नहीं देती। आये दिन शोक, मोह, सन्ताप ही दिखाई देता है। फिर जो आत्मा सबमें व्याप्त है तो ढूढा किसे जाय? श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! आत्मा को इस रूप मे केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा, सवने नहीं। यह आत्मा अचिन्त्य है- जव तक चित्त और चित्त की लहर है, यह विदित नहीं होता। कोई विरला महापुरुष ही इसे जानता है। विरला ही इसे आश्चर्य की तरह सुनता है। सव न सुनते हैं, न जानते हैं क्योंकि क्रिया ही नहीं जानते। इसलिए अर्जुन! तू इसकी प्राप्ति के लिए युद्ध कर। क्षत्रिय के लिए इससे वढकर कोई दूसरा कर्तव्य नहीं है।

प्रश्न- महाराजजी! अर्जुन यदि क्षत्रिय श्रेणी का साधक था तो उसे परिवार का मोह नहीं होना चाहिए था?

उत्तर- देखिए, शास्त्र की रचना पीछेवालों के मार्ग-दर्शन के लिए ही होती है। जो सामने है, वह तो पार हो ही जाता है। लिखने की क्या आवश्यकता थी? गीता के समापन पर कृष्ण इसके प्रचार-प्रसार का निर्देश भी देते हैं। वस्तुत अर्जुन को निमित्त बनाकर वे सभी साधकों की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं। अर्जुन आज क्षत्रिय बना, कभी तो उसकी साधना का भी आरम्भ था। आरम्भिक अवस्था में अनुरागी के समक्ष परिवार की समस्या आती है। स्वजनों का त्याग महान कष्टदायी होता है अत वहीं से गीता का प्रारम्भ श्रीकृष्ण करते हैं।

श्रीकृष्ण ने समझाया कि पार्थ! यह युद्ध क्षत्रिय के लिए खुला हुआ स्वर्ग-द्वार है। इससे बढकर क्षत्रिय के लिए अन्य कोई धर्म नहीं है। यदि तू युद्ध नहीं करेगा तो वैरी तुझे भय के कारण रण से उपराम हुआ समझेगे। जिनसे तूने सम्मान पाया है उसकी दृष्टि से भी गिर जायेगा। हारेगा तो स्वर्ग पायेगा और जीतेगा तो "भोक्ष्यसे महीम्"- महामहीम् स्थिति को प्राप्त होगा।

प्रश्न- किन्तु महाराजजी! 'महीम्' का अर्थ तो पृथ्वी होता है?

उत्तर- ठीक है, पृथ्वी को भी मही कहते हैं। वह सबका उदर-पोषण करती है, उसकी बडी महिमा है इसलिए उसका एक नाम मही भी है, किन्तु सबसे महान महिमा तो उस महान महिमामय की है जहॉ से महिमा का प्रसार होता है-'महिम्न· पारान्ते' जिसकी महिमा अपार'है, कृष्ण उसी महीम् स्थिति का प्रलोभन देते हैं। अर्जुन पहले ही त्रैलोक्य का राज्य ठुकरा चुका है। वह उससे भी आगे कोई सत्य पाना चाहता है अत केवल पृथ्वी के भोगों का प्रलोभन श्रीकृष्ण क्यों देते और अर्जुन क्यों इतने के ही लिए तैयार हो जाता? सिद्ध है कि यह कोई ऐसा युद्ध है जो महामहीम् स्थिति को दिलाता है।

अत जीतोगे तो सर्वस्व मिलेगा और हारोगे तो देवत्व को प्राप्त करोगे। जीवन भर दैवी सम्पत्ति का ही अर्जन किया है, उसी देवत्व को प्राप्त होगे। इस दृष्टि से हानि और लाभ, सिद्धि ओर असिद्धि'दोनों को समान समझकर युद्ध कर।

अर्जुन। यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी। कौन-सी बुद्धि? यही कि 'युद्ध कर'। अपना हानि-लाभ देखते हुए युद्ध करना ही 'ज्ञानयोग' है।

प्रश्न - किन्तु महाराजजी! कई टीकाकारों ने लिखा है कि "मै ज्ञानी हूँ? मै पूर्ण हूँ, आत्मा की सर्वत्र व्याप्त है, इन्द्रियाँ अपने विषयों मे बरतती हैं।" ऐसा चिन्तन करना ज्ञान योग है।

उत्तर- ऐसा कैसे होगा? कल घर छोडा और आज पूर्ण हो गये? हृदय में तो काम छाया है, क्रोध छाया है, देखने से सच्चिदानन्दघन दिखाई देगा? टीकाकार कुछ भी लिखें, कृष्ण ऐसा नहीं कहते। कृष्ण ने जहाँ आत्मा को अजर, अमर, अविकारी, अचल एव सनातन बताया वहाँ यह नहीं कहा कि यह ज्ञानयोग है। वहाँ तो कृष्ण कहते हैं कि आत्मा को इन विभूतियों से युक्त केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। अन्यत्र वे कहते है कि "अर्जुन। जिसके द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीती गयी हैं, उसके लिए उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है और जिस पुरुष के द्वारा मन सहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गयीं उसके लिए उसी की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती है, अधोगति और नीच योनियों में फेंकनेवाली होती है। अर्जुन। मनुष्य को चाहिए कि अपनी आत्मा का उद्धार करे, उसे अधोगति में न पहुँचावे।" कौन कहता है कि आत्मा अजर-अमर और शाश्वत है? यहाँ कृष्ण कहते हैं कि आत्मा अधोगति में जाती है। आत्मा का उद्धार होता है। ज्ञानयोगियो ने यह तो रट लिया कि मै पूर्ण हूँ, यह क्यों नहीं याद किया कि आत्मा अधोगति मे जाती है। वस्तुत मनसहित इन्द्रियों के जीतने पर ही आत्मा का दिग्दर्शन सम्भव है। उसके लिए कर्म तो करना ही पडेगा। हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहना ज्ञानयोग नहीं है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।। (२/३९)

अर्जुन। अब तक यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी, इसी को अब तू निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन, जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्म-बन्धन से भली प्रकार छूट जायेगा। दोनों में क्रिया एक ही है, केवल कार्य-प्रणाली का अन्तर है, बुद्धि का अन्तर है। ज्ञानयोग में अपना हानि-लाभ स्वय देखते हुए युद्ध किया जाता है जबकि निष्काम कर्मयोग में साधक इष्ट पर निर्भर होकर युद्ध करता है। उसके हानि-लाभ का विचार इष्ट करते है। अर्जुन। इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ अर्थात् बीज का नाश नहीं होता। इसका थोडा-सा भी साधन करते बन गया, यह क्रिया आरम्भ भर हो जाय फिर माया के पास ऐसा कोई यत्र नही है जो उसे नष्ट कर दे। माया केवल आवरण डाल सकती है, देर कर सकती है, इससे अधिक कुछ भी नहीं। कागभुशुण्डि को दस हजार जन्म लगे। कृष्ण दस जन्म से योगी थे। महाराजजी को अनुभव में दिखाई पडा कि सात जन्म से साधू थे। अत इस निष्काम कर्मयोग का रचमात्र आचरण भी जन्म-मरण के महान भय से उद्धार करके ही छोडता है। "अनेक जन्म ससिद्धस्ततो यान्ति परा गतिम्।" शिथिल

प्रयत्नवाला साधक भी अनेक जन्मों के हेर-फेर से उसी स्थान पर पहुँच जाता है जिसका नाम परमगति या परमधाम है। यह साधन सद्गृहस्थ आश्रम में रहते हुए भी किया जा सकता है, फिर आगेवाली सीढी तो भगवान स्वत. पकड़ायेंगे कि अब त्याग करो। उस समय त्याग करने की क्षमता भी रहेगी। आज हम जिसे छोडना नहीं चाहते, उस समय इसी को छूना भी नहीं चाहेंगे। इस निष्काम कर्मयोग में सीमित फलरूपी दोष भी नहीं है कि ऋद्धियों-सिद्धियों या स्वर्ग तक ही पहुँचाकर छोड दे। इसका स्वल्प आचरण भी जन्म-मरण के भय से छुटकारा दिलाकर ही शान्त होता है।

कुरुनन्दन! इस निष्काम कर्मयोग में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है। क्रिया एक है, दिशा एक तब जो लोग बहुत सी क्रियायें बताते हैं क्या वे भजन नहीं करते? कृष्ण कहते हैं-- वे भजन नहीं करते। अज्ञानियों की बुद्धि अन्नत शाखाओं वाली होती है, इसलिए भजन की ओट में बहुत-सी क्रियाओ का विस्तार कर लेते हैं। ऐसे लोगों की छाप जिनके चित्त पर पड़ती है उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है। ऐसे लोग स्वर्ग को ही परमश्रेष्ठ माननेवाले होते हैं और दिखावटी शोभायुक्त वाणी से वेद की उन्हीं बातों में अनुरक्त रहते हैं जिससे भोगैश्वर वृद्धि हो। सिद्ध है कि कर्म के नाम पर प्रचलित कर्मकाण्ड कर्म नहीं है। फलासक्ति से किया जानेवाला कर्म, कर्म नहीं है।

अर्जुन! तू फल की वासनावाला मत हो। तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं। इसके साथ ही कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो। निरन्तर करने के लिए तत्पर हो जा। इसमे बुद्धि को इष्ट के अधीन रखना होता है, इसलिए निष्काम कर्मयोग को बुद्धियोग भी कहते हैं। इसमें कामनाओं का सर्वथा अभाव है, इसलिए यह निष्काम कर्मयोग कहलाता है। क्रमश. उत्थान करते-करते यह इष्ट के साथ समत्व की स्थिति दिला देता है, इसलिए समत्व योग कहलाता है। अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में इन्द्रिय सहित.मन के निरोध का बड़ा महत्त्व है। क्योंकि विषयों में विचरती हुई जिस भी इन्द्रिय के साथ मन रहता है वह अकेली इन्द्रिय ही इस अयुक्त मन का अपहरण कर कहीं ले जाकर उसी प्रकार पटक देती है जैसे वायु नाव का हरण कर लेती है। इसलिए महाबाहो! इन्द्रियों को विषयों से सब प्रकार से समेटकर कर्म का आचरण कर।

अर्जुन को कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग मे सरलता दिखाई पडी। ज्ञानमार्ग में अनुरागी हानि-लाभ का स्वय विचार कर निर्णय लेता है। साधना पूरी हो जाय तो महामहिम स्थिति मिलती है और इसके पूर्व शरीर का समय समाप्त होने पर देवत्व मिलता है जबकि निष्काम कर्मयोग में कर्म करने का ही अधिकार है, फल में कभी नहीं। यह तो निश्चित है कि कभी न कभी हम बन्धन से छूट जायेंगे किन्तु कब कितना छूटेंगे, अभी से कोई निर्णय नहीं। केवल कर्म कर! ऐसा समझ कि फल है ही नहीं। मिलना-जुलना कुछ नहीं और करने में अश्रद्धा भी न हो। कौन अकारण खाक छानता फिरे? हॉ, अन्त में कभी कल्याण हो जायेगा। इससे अच्छा तो ज्ञानयोग है जिसमें साधक अपनी गति-प्रगति को देखते हुए चलता है। इसलिए तीसरे अध्याय में अर्जुन ने प्रश्न किया-

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन। तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।। (३/१)

"भगवन्! यदि निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग आपको श्रेष्ठ मान्य है तो फिर मुझे भयकर कर्मो में क्यों लगाते हैं? कर्मो में अर्जुन को भयकरता दिखाई देती है। मिले हुए से वाक्यों से आप मेरी बुद्धि को मोहित क्यों करते हैं? कृपया निश्चित करके उस एक मार्ग को कहिए, जिससे मैं परम कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ।" अर्जुन परम कल्याण का इच्छुक था।

भगवान कहते हैं- अर्जुन! दो प्रकार की निष्ठा पहले मेरे द्वारा कही गयी है। पहले का तात्पर्य सतयुग या त्रेता नहीं बल्कि अभी-अभी अध्याय दो में कह आये हैं। इसी को सुनकर तो अर्जुन का प्रश्न खड़ा हुआ। अर्जुन! मेरे द्वारा दो प्रकार की निष्ठा कही गयी--ज्ञानियों को ज्ञानयोग से और योगियों को निष्काम कर्मयोग से, किन्तु किसी भी मार्ग में कर्मो को छोडने का विधान नहीं है। कर्म तो हर दशा में करना ही होगा। ऐसा नहीं है कि कर्मो को न करके कोई नैष्कर्म्य की परम सिद्धि को प्राप्त कर ले। निष्कर्म का आशय अकर्मण्य नहीं होता। हम कुछ न करें तो हो गये निष्कर्मी? कोई ऐसा वचाव न ढूँढ लें इसलिए श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि अर्जुन! कर्मो को न करने से न तो कोई निष्कर्मता को प्राप्त होता है और आरम्भ की हुई क्रिया को त्याग देने से न तो कोई सन्यास की परमसिद्धि पाता है। वहुत से लोग कहते हैं- हम तो ज्ञानी हैं, अग्नि नहीं छूते, हमारे लिए भजन का कोई विधान नहीं है। आगे कोई परमात्मा नहीं है तो किसको भजें? 'अह ब्रह्मास्मि' इत्यादि। प्राप्ति के पश्चात् ठीक ऐसा ही है लेकिन किये बिना कोई पाता नहीं। श्रीकृष्ण इस पर बल देते हैं कि क्रिया का त्याग करके न तो कोई निष्कर्मी बनता है और न सन्यास की परमसिद्धि को ही पाता है। अव आपको ज्ञानयोग अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, कर्म तो हर दशा में करना ही होगा क्योकि कोई पुरुष क्षणमात्र कर्म किये बिना नहीं रह सकता।

प्रश्न- महाराजजी! अध्याय चार में श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ की पूर्ति में ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाता है। सम्पूर्ण कर्मों की ज्ञान पराकाष्ठा है। ज्ञान में सम्पूर्ण कर्म विलय हो जाते हैं। ऐसे पुरुष द्वारा कर्म होते ही नहीं और यहाँ कृष्ण कहते हैं कि ज्ञानयोग अच्छा लगे या निष्काम कर्मयोग; कर्म तो करना ही होगा। ऐसा विरोधाभास क्यों?

उत्तर- कृष्ण कहते हैं "**कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।**"(३/५)। प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश जीव हर हालत में क्रिया में बरतता है। जब तक प्रकृति है, प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों का मस्तिष्क पर दबाव है, तब तक किसी न किसी रूप मे कर्म तो करना ही होगा। प्रकृति के आश्रित हुआ पुरुष कर्म किये विना नहीं रह सकता किन्तु जिस समय "ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माण"- ज्ञान में कर्म विलय हो जाता है उस समय प्रकृति का विलय हो जाता है, इसलिए उस पुरुष द्वारा कर्म नहीं होता।

अत जव तक पुरुष प्रकृति से पार नहीं हो जाता, कर्म करना ही पडता है। फिर भी जो पुरुष हठ से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का चिन्तन करते हैं और कहते हैं- मैं ज्ञानी हूँ, मैं पूर्ण हूँ, मैं परमतत्त्व मे स्थित हूँ, कृष्ण कहते है- वे दम्भाचारी हैं, पाखण्डी हैं। अर्जुन तू नियत कर्म को कर।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।। (३।८)

सिद्ध है कि कर्म बहुत से हैं, उनमें से कोई कर्म निर्धारित किया गया। सोलहवें अध्याय के अन्त मे कहते हैं--जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से बरतता हे वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है ओर न परमगति तथा सुख को ही प्राप्त होता है। इसलिए कार्य और अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। अत. शास्त्र द्वारा नियत कर्म को कर। किस शास्त्र द्वारा नियत? अन्य शास्त्रों से यहाँ तात्पर्य नहीं, गीता शास्त्र द्वारा निर्धारित कर्म कर। "गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरै.।।" कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेयतर है क्योंकि करने से कुछ दूरी तय तो होगी। कर्म न करने से शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी।

प्रश्न- महाराजजी! शरीर-यात्रा का क्या अर्थ है? क्या शरीर-निर्वाह नहीं होगा?

उत्तर- नहीं, आप शरीर तो हैं नहीं। यह जीवात्मा युग-युगान्तरों से शरीरों की यात्रा करता आया है। कीट-पतग, देव-दानव-मानव इत्यादि योनियों को यह जीवात्मा बदलता रहता है। यह यात्रा तभी पूरी होती है जब यह शाश्वत ब्रह्म में समाहित हो जाय। यदि एक जन्म भी लेना पडा तो यात्रा अभी जारी है।

सिद्ध है कि कर्म ऐसी वस्तु है जो आत्मा की शरीर-यात्रा पूर्ण कराती है। यह आत्मा को वह अचल स्थिति दिलाती है, जिसके पश्चात् शरीरों की यात्रा नहीं करनी पडती।

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नियत कर्म है क्या? श्रीकृष्ण उस नियत कर्म पर प्रकाश डालते हैं--

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।। (३।९)

यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। वह हरकत कर्म है, जिससे यज्ञ पूरा होता है। "अन्यत्र लोकोऽय कर्मबन्धन ।"--इस यज्ञ की प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्यत्र जो कुछ भी किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धन है। कर्म तो "मोक्ष्यसेऽशुभात्" ससार-बन्धन से छुटकारा दिलानेवाला है। कर्म तो शरीर-यात्रा पूर्ण करानेवाला है। इसीलिए अर्जुन! उसी यज्ञ की पूर्ति के लिए सगदोष से अलग रहकर कर्म का आचरण कर। कर्म एक ऐसी विधा है जिसका आचरण संग-दोष के रहते असभव है। इसलिए सग-दोष से अलग रहकर यज्ञ की पूर्ति के लिए भली प्रकार आचरण कर। अब एक नवीन प्रश्न उपस्थित होता है कि यज्ञ है क्या, जिसकी प्रक्रिया ही कर्म है? कर्म वही है जिससे यज्ञ सम्पन्न होता है तो वह यज्ञ कौन-सा है, क्या है? उस यज्ञ मे क्या करना पडेगा? यज्ञ की उत्पत्ति एव विशेषताओं का सविस्तार निरूपण करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-- इस यज्ञ से देवत्व की वृद्धि करो। दैवी सम्पद् ज्यों-ज्यों बलवती होगी त्यों-त्यों तुम्हारी प्रगति होगी। इस प्रकार परस्पर क्रमश उत्थान करते-करते परम कल्याण को प्राप्त हो जाओ। यह यज्ञ ऐसा है कि जो परम कल्याण के नीचे की बात नहीं करता। अध्याय चार में श्रीकृष्ण बताते हैं कि बहुत से लोग देवयज्ञ करते हैं, दैवी सम्पत्ति को बलवती बनाते हैं। विवेक, वैराग्य, शम, दम, एकाग्रता, ध्यान, समाधि, चिन्तन की प्रवृत्ति--यही सब दैवी सम्पत्ति है (सोलहवें अध्याय में जिसका विशद विवेचन

हे)। इसी को भली प्रकार स्थायित्व देने के लिए साधन करते हैं। दूसरे योगी इन्द्रियों के वहिर्मुखी प्रवाह को सयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं। वहुत से साधक शव्दादि विषयो को इन्द्रियों में हवन कर देते है अर्थात् विषयो के प्रति अपना भाव वदल लेते हैं। वहुत से योगी योग-यज्ञ अर्थात् निष्काम कर्मयोग द्वारा इसी यज्ञ को करते हैं तो अनेक स्वाध्याय ज्ञान-यज्ञ द्वारा स्वय को सामने रखकर अपनी भलाई-बुराई, हानि-लाभ का स्वय निर्णय करके इस यज्ञ का आचरण करते हैं। ज्ञानयोगी स्वय पर आश्रित रहता है, जव कि निष्काम कर्मयोगी इष्ट पर निर्भर होकर उसी क्रिया को करता है। यज्ञ एक ही है, कर्त्ता दो शैलियों के है। वहुत से योगी प्राण को अपान में और अनेक अपान में प्राण को हवन करते हैं अर्थात् श्वास-प्रश्वास का चिन्तन करते हैं। वहुत से योगी प्राण-अपान की गति रोककर प्राणायाम-परायण हो जाते हैं। प्राणों की गति का याम हो जाता है, सर्वथा निरोध की अवस्था आ जाती है। न भीतर से सकल्प उठते हैं न वाह्य वायुमण्डल के सकल्प भीतर प्रवेश कर पाते हैं। इस यज्ञ की प्रक्रिया में चराचर जगत् ही हवन-सामग्री है। जगत् है तो लम्बा-चौडा किन्तु मनुष्य के लिए उतना ही है जितना मन पर अकित है। मन के निरोध के साथ ही जगत् पर विजय है। श्रीकृष्ण कहते हैं, **"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।"**- उन पुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में ही ससार जीत लिया गया जिनका मन समत्व मे स्थित है। क्यों? मन की स्थिति और ससार जीतने से क्या सम्वन्ध? तो **"निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः"** ।५।१९।। ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर मन भी समत्व की स्थिति वाला हो गया इसलिए ब्रह्म में स्थित हो जाता है। उस रहनी में ससार होता ही नहीं। इस प्रकार जब प्राण-अपान की गति का निरोध हो गया, सकल्प शान्त हो गये, सिद्ध है, वह मन की निरोधावस्था है। इस निरोध के साथ ही यज्ञ का परिणाम निकल आता है, **"यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।।** (४।३१) यज्ञ के परिणामस्वरूप उत्पन्न ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी सनातन ब्रह्म मे प्रविष्ट हो जाता है। इस यज्ञ की पूर्तिकाल मे मन का सर्वथा निरोध और निरोध के साथ ही वह परमात्मा जो है, जिन विभूतियों और जिन गुणधर्मो वाला है, विदित हो जाता है। साक्षात्कार का ही नाम ज्ञान है। उस ज्ञानामृत का पान करनेवाला योगी सनातन, शाश्वत ब्रह्म में प्रविष्ट एव स्थित हो जाता है। अर्जुन! यह सम्पूर्ण यज्ञ मन और इन्द्रिय की क्रिया द्वारा सिद्ध होने वाले हैं। तो क्या उनमें चावल, तिल, घी नहीं लगता? कृष्ण कहते हैं- नहीं! भौतिक वस्तुओ से सिद्ध होने वाला यज्ञ अत्यन्त अल्प है। है वह भी यज्ञ, उपादेय भी है क्योकि प्रारम्भ वहीं से होता है किन्तु इन यज्ञों की तुलना मे अत्यन्त अल्प है। जिन यज्ञो पर कृष्ण ने वल दिया, वे सभी उन्हीं के शब्दों में मन और इन्द्रियो की क्रिया से सम्पन्न होनेवाले हैं। ४/३२।।

यह श्वास-प्रश्वास का हवन यदि फरसा चलाने से होता तो कीजिए। प्राण-अपान की गति का निरोध कपडा वेचने से होता है तो कीजिए। नौकरी या नेतागिरि से होता हो तो कीजिए। सिद्ध है कि दुनिया में जो कुछ किया-कराया जाता है, जिसमें लोग दिन-रात व्यस्त रहते है, कर्म नहीं है। वह तो इसी लोक का एक वन्धन है। यज्ञ की क्रिया ही कर्म है अर्थात् कर्म का तात्पर्य आराधना है। इस आराधना में बहुत से योगी देवयज्ञ करते हैं। अनेक ज्ञानयज्ञ, योगयज्ञ करते हैं तो कोई प्राण का अपान में और अपान का प्राण में हवन करते हैं। लगता है यह अनेक प्रकार के योगी हों, किन्तु नहीं, यह सभी एक ही साधना की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। प्रत्येक साधक को

इन सभी भूमिकाओं से गुजरना पड़ता है। प्रारम्भ में प्रत्येक साधक दैवी सम्पद् को बलवती बनाता है। शनैः-शनैः वह सयमाग्नि पर पहुँचता है, तत्पश्चात् शब्दादि सग-दोषों से बचने की युक्ति में प्रवेश पाता है। क्रमश श्वास-प्रश्वास में प्रवेश हो जाता है और श्वास-प्रश्वास का निरोध होते ही मन के लय की स्थिति में यज्ञ के परिणाम पर पहुँचता है। यह सभी एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार जो भी जानते हैं, यज्ञ के भेद के जानकार हैं। ये सभी यज्ञ मन और इन्द्रियों की अन्त क्रिया से सिद्ध होनेवाले हैं, भौतिक द्रव्यों का उपयोग नहीं है। इस प्रकार कृष्ण आराधना को ही कर्म मानते है।

कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! कर्म क्या है, अकर्म क्या है, विकर्म क्या है? इसमें बडे-बडे बुद्धिमान भी भ्रमित रहते हैं। इसलिए कर्म के उस तत्त्व को मैं तेरे लिए कहूँगा, जिसे जानकर तू संसार-बन्धन से सर्वथा छूट जायेगा-(गीता ४/१६)। कर्म ऐसी प्रक्रिया है जो ससार-बन्धन से छुड़ाती है। कर्म, अकर्म और विकर्म तीनों के स्वरूप को जानना चाहिए। कर्म की गति गहन है कर्म में अकर्म देखना चाहिए अर्थात् आराधना तो करें किन्तु यह न सोचें कि मैं आराधना करता हूँ। करानेवाली सत्ता तो कोई और है। बैल हल नहीं जोतते यद्यपि हल का सम्पूर्ण भार बैलों के कन्धे पर रहता है। हल तो वह हलवाहा जोतता है जो बैल के पीछे रहकर दिशा-निर्देशन करता रहता है, अन्यथा बैल क्या जानें कि किधर जोतना है। इसी प्रकार सम्पूर्ण साधना साधक को ही करनी पड़ती है लेकिन उसके द्वारा जो पार लग जाता है, वह उसी प्रेरक की देन है, सचालक की देन है। भजन तो स्वय हरि करते हैं। साधक तो मात्र यत्र है। वह जिधर सकेत करें, उधर लुढकता भर रहे, यही भजन है। इस प्रकार कर्म में अकर्म देखने की क्षमता आ गयी उसी को तू कर्म जान। कर्म में अकर्म देखो और अकर्म को (इष्ट के आदेशो को ही) कर्म जानें। इस प्रकार जो करता है वही मनुष्यो में बुद्धिमान है, वही सम्पूर्ण कर्मो को करनेवाला है। केवल इष्ट के आदेशों पर चलनेवाला व्यक्ति ही सम्पूर्ण कर्म को करता है, जिससे किंचित् मात्र भी भूल होने की सम्भावना नहीं रहती। कर्म एव अकर्म से उन्नत विकर्म की स्थिति है। विकर्म अर्थात् विशेष कर्म, अर्थात् जो प्राप्तिवाले महापुरुषों द्वारा लोकहितार्थ होता है। 'वि' उपसर्ग यहाँ पर विशिष्टता का द्योतक है, जैसे-जितेन्द्रिय में 'वि' उपसर्ग लगाने से विजितेन्द्रिय शब्द सृजित होता है, जिसका अर्थ है विशेष रूप से जीती हुई इन्द्रियाँ। इस प्रकार विकर्म अर्थात् विशेष कर्म। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों द्वारा किया गया विशिष्ट कर्म ही विकर्म है।

प्रश्न उठता है कि साधक सदैव कर्म करता रहेगा या कभी छुटकारा भी मिलेगा? इस पर श्रीकृष्ण कहते है-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। (४/१९)

सम्पूर्णता से आरम्भ की हुई क्रिया, जिसमें लेशमात्र भी त्रुटि न हो, क्रमश उत्थान होते-होते उतनी सूक्ष्म हो गयी, जहाँ काम और सकल्प नहीं हैं (काम और सकल्पों का निरोध होना मन की विजेतावस्था है) मन का प्रसार ही तो जगत् था। जब मन का निरोध हो गया तो वह अव्यक्त, शाश्वत, परमतत्त्व प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। "ज्ञानाग्नि दग्ध

कर्माण"-उस जानकारी के साथ ही कर्म सदा के लिए जल जाते हैं। ऐसी स्थिति वालों को वोधस्वरूप महापुरुषों ने पण्डित एव ज्ञाता कहकर सम्वोधित किया है। सिद्ध है कि कर्म कोई ऐसी वस्तु हे जो मन को कामनाओं और सकल्पों से ऊपर उठा देती है। सासारिक इच्छाओं की पूर्ति में कामनायें बढती जाती हैं। अत वास्तविक कर्म आराधना ही है जिसमें साक्षात् जानकारी के पश्चात् कुछ पाना शेष नहीं रहता। इसलिए कामनाएँ भी नहीं रह जातीं।

अध्याय सोलह में श्रीकृष्ण कहते हैं-अर्जुन! ससार में मनुष्य दो प्रकार का होता है- एक देवताओं-जैसा, दूसरा असुरो-जैसा। किस प्रकार? श्रीकृष्ण कहते हैं- अन्त करण की दो प्रवृतियाँ पुरातन हैं- दैवी सम्पद् एव आसुरी सम्पद्। आसुरी सम्पद् अधोगति एव नीच योनियों में फेंकने के लिए है, जवकि दैवी सम्पद् परम कल्याण के लिए है। इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, एकाग्रता, सरलता, सही जानकारी, धारावाही चिन्तन, ध्यान, समाधि इस प्रकार दैवी सम्पद् के चोवीस लक्षण गिनाये जो सब के सब प्राप्ति के लिए समीपवाले महापुरुषो में सम्भव है, आशिक रूप से हममे आप में भी हो सकते हैं। अर्जुन! तू दैवी सम्पद् को प्राप्त हुआ है। शोक मत कर! तू मुझमें निवास करेगा। तदनन्तर, श्रीकृष्ण आसुरी सम्पद् का सविस्तार वर्णन करते हैं। काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर इत्यादि आसुरी सम्पद् हैं। आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष सोचता है कि मेरे पास इतनी सम्पत्ति है, भविष्य में इतनी और होगी। मैं ही ईश्वर एव ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ। ईश्वर नाम की और कोई सत्ता नहीं है। स्त्री-पुरुष के सयोग से जो कुछ उत्पन्न है यही सत्य है। मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान करूँगा। मेरे द्वारा वह शत्रु मारा गया, भविष्य मे मैं उसे मारूँगा। अर्जुन! ऐसा सोचने वाला दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा को कृश करनेवाला है। वे शत्रुओं को नहीं मारते वल्कि मुझ परमात्मा से द्वेष करते हैं। अर्जुन! ऐसे मनुष्यों को मैं नीच योनियो मे ही बार-बार गिराता हूँ। वे मेरे को प्राप्त न होकर, जो उन्हें प्राप्त है, उससे भी नीच योनि को प्राप्त होते हैं। तो क्या अर्जुन ने युद्ध किया? यदि वह प्रण करके किसी को मारता, सांसारिक कार्यो में अनुरक्त रहता तो कृष्ण मे निवास कभी नहीं करता। कर्म तो ससार-बन्धन से छुडाता है। नीच योनियों में नहीं गिराता।

दैवी सम्पद् परमदेव परमात्मा को लक्ष्य बनाकर गठित होती है किन्तु आसुरी सम्पत्ति का आधार क्या है? कृष्ण कहते हैं-"अर्जुन! काम, क्रोध तथा लोभ ही नरक के तीन द्वार हैं। इन्हीं पर आसुरी सम्पत्ति टिकी है। इन तीनों के त्याग देने पर ही कर्म का आरम्भ होता है जिससे परम गति, परमकल्याण की प्राप्ति होती है (गीता १६/२२)। कर्म वह प्रक्रिया है, काम-क्रोध-लोभ त्यागने पर ही जिसमें प्रवेश मिलता है।

प्रश्न- महाराजजी! जब काम, क्रोध, लोभ को त्यागने पर ही कर्म का आरम्भ होता है तब तो साधारण मनुष्यों के लिए कर्म का विधान नहीं होना चाहिए। क्योंकि आरम्भ में वे हमसे छूटते नहीं केवल मान लेने से त्याग तो नहीं हो जाता?

उत्तर- हाँ! प्रारम्भ मे छूटते तो नहीं किन्तु यही तो युद्ध है। इसी के लिए तो साधन किया जाता है। ससार इसी में अनुरक्त है और आप उसी को छोडना चाहते हैं, यही क्या कम है? ज्यों-ज्यों ये विकार अन्दर से घटते जायेंगे, त्यों-त्यों कर्म मे प्रवेश मिलता जायेगा। विचारणीय तो

यह है कि दुनिया में जो कुछ किया जाता है, जगत् जिसमें मोहित है, रात-दिन व्यस्त है, क्या कर्म है? उसमें जो जितनी सफलता पाता है काम-क्रोध और लोभ उसके भीतर उतने ही सजे सजाये मिलते हैं, अधिक मात्रा में मिलते हैं। यहाँ कृष्ण कहते हैं कि इन तीनों के त्याग देने पर ही उस कर्म का आरम्भ होता है। स्पष्ट है कि सासारिक क्रिया-कलाप कर्म नहीं हैं। कृष्ण जिसे कर्म मानते हैं एकमात्र आराधना ही है। त्याग के विना उसका आरम्भ ही नहीं होता।

प्रश्न- महाराजजी! घर त्याग देने से क्या कर्म आरम्भ हो जाता है? क्या काम, क्रोध, लोभ छूट जाते हैं?

उत्तर- छूटते तो नहीं, किन्तु प्रवल विरह-वैराग्य होने पर भगवान के लिए गृहत्याग से इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करनेवाली प्रवृत्ति तो शान्त होती ही है। प्रत्येक विषय की दो सीमायें होती है। एक तो निम्नतम सीमा, जहॉ से आप उसमें प्रवेश करते हैं और दूसरी अधिकतम सीमा होती है, जिसे पराकाष्ठा कहते हैं। उदाहरण के लिए भक्ति की निम्नतम सीमा वह है, जहॉ से समर्पण के साथ आप भजन आरम्भ करते हैं, किन्तु अधिकतम सीमा तो वह है जहॉ **"भग इति सः भक्ति"** जहॉ प्रकृति की इति है। प्रकृति से परे पुरुषत्व में स्थिति दिला देनेवाली अवस्था भक्ति की चरम सीमा है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु की दो सीमाएं होती हैं। इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करना बन्द करके कर्म अर्थात् आराधना में प्रवृत्त होना, काम-क्रोध-लोभ के त्याग की प्रवेशिका है और ज्यो-ज्यों मन निरुद्ध होता जायेगा त्यों-त्यों विकारों का भी निरोध होता जायेगा और अन्तत. वे सर्वथा मिट जायेंगे। कर्म में आपको प्रवेश मिल जायेगा। अत. कर्म कोई ऐसी वस्तु है जिसमे काम, क्रोध और लोभ त्यागने पर ही प्रवेश मिलता है।

सातवे अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! जो मेरी शरण होकर जन्म और मरण से छूटने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं। तब अर्जुन ने प्रश्न किया-"भगवन्! वह ब्रह्म क्या है? सम्पूर्ण अध्यात्म क्या है? कर्म कब सम्पूर्ण होता है?" इत्यादि सात प्रश्न अर्जुन ने किया। भगवान श्रीकृष्ण ने एक ही उत्तर दिया-

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।।

अक्षर- जिसका कभी नाश नहीं होता, वही परब्रह्म है। जिसे प्राप्त कर लेने पर भक्त का कभी क्षय नहीं होता। लोभ के भाव, पुत्र के भाव इत्यादि ससार के भाव सिमटकर 'स्व' में स्थिर हों, यही अध्यात्म की पराकाष्ठा है। 'अधि आत्म' अर्थात् आत्मा का आधिपत्य। जीवों पर माया का आधिपत्य है, उससे छूटकर आत्मा का आधिपत्य, आत्मा की स्थिति आ जाय इसी का नाम अध्यात्म है। **"स्वभावो अध्यात्मम् उच्यते"** स्वरूप में स्थिर भाव ही अध्यात्म है। **"भूत भावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः"** भूतों के वे भाव जिनसे कुछ न कुछ सरचना होती है, उन पर विसर्ग लग जाना, सर्वथा निरोध हो जाना ही कर्म की पराकाष्ठा है। भूत प्राणियों को कहते हैं। इन प्राणियों की उत्पत्ति सकल्प पर आधारित है-**"मन में यथा लीन नाना तन प्रगटत अवसर पाये।"** अत भूत का तात्पर्य सकल्प है। सकल्पों में उत्पन्न वे भाव, जिनके द्वारा शुभ अथवा अशुभ कुछ न कुछ सरचना होती रहती है, जो संसार है, उनका विसर्ग--सर्वथा निरोध हो जाना,

विराम-- रोक लग जाना ही कर्म की सज्ञा है, पूर्णता है। इसके उपरान्त कर्म करने की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती। कर्म वह वस्तु है जो सकल्पों पर विसर्ग लगा देता है। दूसरे शब्दों में, कर्म का तात्पर्य आराधना ही है।

इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में सम्पूर्ण गीता में कर्म पर भरपूर प्रकाश डाला गया है और सब मिलाकर उसका शुद्ध अर्थ है- 'आराधना', जो शाश्वत तत्त्व परमात्मा की उपलब्धि कराती है। यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। निर्धारित कर्म को ही कर, नहीं तो शरीर-यात्रा सिद्ध नहीं होगी। कर्म करके तू ससार-बन्धन से छूट जायेगा । यज्ञ की प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्यत्र जो कुछ किया जाता है, इसी लोक का एक बन्धन है। यह श्वास-प्रश्वास का चिन्तन है। इन्द्रियो का सयम यज्ञ है। कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो काम और सकल्पों से ऊपर उठा देता है । काम-क्रोध-लोभ त्यागने पर ही कर्म का आरम्भ होता है। भूतों के वे भाव, जिनसे कुछ न कुछ सरचना होती है उनका निरोध हो जाना ही कर्म की पराकाष्ठा है। अत योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में कर्म का शुद्ध अर्थ आराधना ही है, इसमें दो राय नहीं है। जिससे वे आराध्य देव सतुष्ट होते हैं, उस प्रक्रिया विशेष का नाम कर्म है।

गीता पर सैकडों टीकाएँ मिलती हैं, पचासों टीकाएँ तो अकेले सस्कृत में ही हैं। पचीसों मत, जिनकी आधारशिला गीता है, एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तो कोई एक बात ही कही होगी, फिर इतनी वैभिन्नता क्यों? राजनीतिज्ञ व्यक्ति के हाथ में गीता पडी तो बोले-- देशभक्ति ही कर्म है। व्यवसायी कहते हैं-- गीता में लिखा है 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' व्यवसाय ही कर्म है। कपडा बेचो, कुछ धरम-करम कर लो, सवेरे शकर जी पर जल चढा दो, हो गया कर्म। नोकरी वाले कहते हैं- हम तो अपने कर्तव्य का पालन करते है, पूरी ड्यूटी देते है, यही निष्काम कर्म है। एक नायब तहसीलदार साहब कहते थे-- बडे साहब जो भी कहते हैं, उसी के अनुसार मैं कर्म करता हूँ। गीता मैंने अपने जीवन में ढाल ली। हमारी कोई कामना नहीं है। हम निष्काम कर्मयोगी हैं। वाह रे योगी! अत आप किसी भी टीका पर न जायँ। योगेश्वर की मूल वाणी ग्रहण करें तो कोई सदेह नहीं होगा।

प्रत्यक्ष दर्शन वाले अनेक महापुरुष पढे-लिखे नहीं थे। रामकृष्ण परमहस पढे-लिखे नहीं थे। हमारे महाराज भी एकदम नहीं पढे थे। राम लिखना भी उन्हें ठीक से नहीं आता था। देख-रेख करके येन-केन प्रकारेण राम की लकीर खींच लेते थे। जड भरत पढे-लिखे नहीं थे। कागभुशुण्डि पढे-लिखे नहीं थे-**'हारेउ पिता पढ़ाई पढ़ाई।'** पिता हताश हो गये परन्तु वे नहीं पढे। ठीक इसी प्रकार बहुत से महापुरुष ऐसे मिलेगे जो पार्थिव शिक्षा-दीक्षा मे शून्य थे लेकिन अपने युग के सर्वश्रेष्ठ विद्वान थे। कागभुशुण्डि आश्रम में भगवान शकर भी जाया करते थे। अत यदि आप पढे-लिखे हैं तो ठीक है अन्यथा कोई क्षति भी नहीं है। क्योंकि इष्ट से समत्व दिलानेवाली क्रिया जिसका नाम कर्म अथवा आराधना है, विरह-वैराग्य से सीखने में आती है। लौकिक शिक्षा बुद्धि का प्रसार करती है। जबकि इष्ट-सम्बन्धी कर्म के लिए बुद्धि-मन का निरोध होना आवश्यक है। अत किसी अनुभवी पुरुष की शरण में रहकर साधना करनी चाहिए। कहने में कुछ और आता है, लिखने में कुछ और आता है किन्तु क्रियात्मक आचरण से उन महापुरुषों द्वारा, आत्मा की

अन्तःप्रेरणा से; साधन-क्रम जागृत हो जाता है, वह और विलक्षण है। आरम्भ हो जाने के पश्चात् फिर वह कभी भी पिण्ड नहीं छोडता, कभी नष्ट नहीं होता। ध्रुव-कल्याण करता है। योग में आरम्भ का भी नाश नहीं है। थोडा भी साधना करें, आरम्भ तो करें।

॥ ॐ ॥

मन ज्योति अधिकार है, मन माया विसरात।
'अड़गड़' तिन्ह को पार है, जहँ मन दीन्हा साथ॥

भावार्थ- मन ज्योति का अधिकारी है। माया के फॅसाव में यह मन सत्पथ को भूल जाता है। उन्हीं पुरुषों का लक्ष्य पूर्णत पार हो जाता है जिनका मन चिन्तन-पथ में साथ देता है। अत मन को रास्ते पर लगावें।

गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था

प्रश्न - महाराजजी! गीता में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप क्या है?

उत्तर- गीता में जैसी वर्ण-व्यवस्था पायी गयी है उसे समझने के लिए गीतोक्त कर्म को समझ लेना आवश्यक है। गीता के अनुसार आराधना ही कर्म है। यज्ञ और कर्म एक दूसरे के पूरक हैं। आराध्य को प्राप्त करा देनेवाला रास्ता ही यज्ञ है, जिसमें चिद्विलास जगत् ही हवन-सामग्री है। इस यज्ञ की अन्तिम आहुति में सचित और प्रारव्ध को, वृत्तियों सहित चित्त के अस्तित्व को प्रकृति के प्रवाह रूप तीन गुणों को समाहित कर बुद्धि भी यज्ञ रूप हो जाती है। तत्क्षण यज्ञ के परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाला परमात्मा असम्भव से सभव हो जाता है।

यज्ञ को क्रियारूप में लाना कर्म कहलाता है। दूसरे शव्दो में, यज्ञ के आचरण को कर्म कहते हैं--

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसगः समाचर।।

वस्तुत यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। इसके अतिरिक्त जो किया जाता है, जिसमें सारा ससार मरता-जीता और मोहित रहता है, कर्म नहीं है। वह तो इसी लोक का बन्धन है, जीवों के बन्धन का कारण है। गीता जिसे कर्म कहती है वह तो अमरत्व की उपलब्धि करानेवाला है। गीता में यत्र-तत्र सर्वत्र कर्म के इसी पक्ष पर बल दिया गया है। क्योंकि यही कर्म पूर्ण कल्याण करनेवाला है। परमपद और परमधाम इसी कर्म की पूर्ति में है। गीतोक्त कर्म आराधना अथवा भजन का पर्याय मात्र है। सुगमता की दृष्टि से इसी कर्म को चार क्रमिक सोपानों में विभाजित किया गया जिसे श्रीकृष्ण ने वर्ण के नाम से पुकारा। 'वर्ण' नामकरण में बहुत बडा रहस्य छिपा है। वर्ण का शाब्दिक अर्थ रूप, रग, आकृति होता है। अध्ययनकर्ता जिस श्रेणी का होता है उसका हाव-भाव, उसकी आकृति उसी स्तर के अनुरूप होती है। उदाहरणार्थ, प्राथमिक कक्षा का छात्र सैकडों उलझनों की अनुभूति में डूबता-उतराता रहता है। यह मानसिक उथल-पुथल उसे एक प्रकार की आकृति प्रदान करती है। इसके विपरीत 'डाक्टरेट' इत्यादि उपाधियों से अलकृत, पारगत विद्वान अपने को पूर्ण अधिकार में देखेगा। उसके विचारों का वेग कुछ और ही होगा। अपने विषय पर उसका स्वामीभाव रहेगा। प्राथमिक छात्र की अपेक्षा उसकी उमग कुछ और होगी, वर्ण या चेहरे की रगत में आकाश-पाताल का अन्तर होगा। उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट योनियो की प्रगति भी मानसिक स्तर से निर्धारित होती है। मृत्यु के समय मन उच्च विचारों से ओत-प्रोत रहने से उच्च योनियाँ प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार सकीर्ण विचारों से क्षुद्र योनियो में जन्म लेना पडता है। अत मन स्थिति ही आकृति का निर्धारक है। और स्पष्ट कहा जाय तो मन की स्थिति ही आकृति है।

श्रीकृष्ण ने गुणों के भेद से कर्मो को चार वर्णो में विभक्त किया। दैनिक जीवन में देखा जाता है कि मनुष्य भजन करने बैठते हैं लेकिन मन नहीं लगता। विचारों का ज्वार आ जाता है। जो वात याद नहीं थी, भजन के ही समय याद आती है। भजन में बाधक कौन वनता है? इसमें मोलिक अवरोध कहाँ से है? चिन्तन से ज्ञात होता है कि तीनों गुण ही इस कर्म (भजन) में रुकावट

हैं। इन तीनों गुणों के माध्यम से ही कर्म (आराधना) का उत्थान और पतन होता है। गुणों से कर्म को देखा और मापा जाता है। गुण ही वर्ण परिवर्तन की जॉच का पैमाना है। मन की केंद्रित अथवा विच्छिन्न अवस्था गुणों के कारण ही होती है। परन्तु कर्म (भजन) एक ऐसा यत्र है जो गुणों के सम्पूर्ण कार्य को उठाता-गिराता है और गुण को जड से उखाड भी देता है। कर्म के प्रभाव से गुण प्रभावित होते हैं।

श्रीकृष्ण का कथन है कि **"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं'**- चार वर्णो की रचना मैंने की है। मनुष्य को नहीं वल्कि कर्म को चार भागों मे वॉटा है। किस आधार पर? कृष्ण कहते हैं **"गुणकर्म विभागशः"**- गुणों के उतार-चढाव से कर्म को वर्णो (श्रेणियों) में वॉटा गया है। अत मनुष्य ब्राह्मण-क्षत्रिय नहीं है वल्कि भजन ही ब्राह्मण है, भजन ही क्षत्रिय है, भजन ही वैश्य है और शूद्र भी है। यह विभाजन गुणों पर आधारित है। तीनों गुण अलग-अलग प्रभाववाले हैं। मन इनके रहने का स्थान है। गुण तीन हैं, किन्तु वर्ण चार हैं क्योंकि एक गुण जितनी मात्रा में हटता है दूसरा गुण उतनी ही मात्रा में उसका स्थान ग्रहण करता है। तीनों गुणों में से प्रत्येक का स्वभाव है कि वढने पर वह शेष दो गुणों को दवा देता है। अत समान अनुपात में दो गुणों के मिश्रण से एक अधिक वर्ण का सृजन स्वाभाविक है। व्यवहार में, जिस व्यक्ति में केवल सात्त्विक गुण हैं उसे ब्राह्मण, आधा सात्त्विक और आधा राजसी गुण वाले को क्षत्रिय, आधे राजसी और आधे तामसी को वैश्य तथा मात्र तामसी गुण वाले को शूद्र कहा जाता है।

ब्राह्मण- जिस पर सात्त्विक गुण का प्रभाव है, जो ब्राह्मण है, उसका मन स्वभावत शान्त होगा। अन्त करण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, वाह्यातर की शुद्धता, क्षमा, तप, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, ईश्वरीय जानकारी की मस्ती इत्यादि उसमें स्वभाव से ही रहेगा। जिसके अन्त करण में सात्त्विक गुण मात्र है, जिनमें राजसी एव तामसी गुण कार्यरत नहीं हैं उस पुरुष में सात्त्विक गुणों के कार्य-ज्ञान, विज्ञान, ध्यान इत्यादि ब्रह्म-लक्षण स्वाभाविक रहेगे। ब्राह्मण अथवा उच्चकोटि के साधक के लिए यही करना विधेय है। ऐसा करने में ही उसका कल्याण है।

क्षत्रिय- जिसके अन्त करण में तामसी गुणों का पूर्णत अभाव है, राजसी गुण भी आधा शान्त हो चुका है परन्तु सात्त्विक गुण पूरा नहीं मिला ऐसा, अति उत्तम तो नहीं, उत्तम साधक क्षत्रिय वर्ण का है। ऐसा साधक शूरवीर होता है, माया की चपत से कायर नहीं होता है। आसुरी वृत्तियों से युद्ध करने में कभी पलायन नहीं करता। उसमें ईश्वर भाव अर्थात् स्वामीभाव बना रहता है क्योंकि भजन की बाधाओं पर विजय प्राप्त करने में उसे दृढ़ विश्वास रहता है। आत्म-प्रकाश का तेज, धैर्य, दक्षता, दान इत्यादि क्षत्रित्व के लक्षण हैं। राजसी और सात्त्विक गुण का आधा-आधा मिश्रण जब कार्यरत होता है तव यह लक्षण स्वत बन जाता है। इन गुणों के सम्मिश्रण के विना वलात् कोई क्षत्रिय नहीं वन सकता क्योंकि इन लक्षणों की जड तो स्वभाव है, जो गुणो से निर्धारित होता है। इसीलिए कृष्ण **"क्षात्रं कर्म स्वभावजम्"** कहते हैं, अर्थात् उपर्युक्त लक्षण स्वभावस्थ हैं, आदत का अग वन चुके हैं। इसलिए क्षत्रिय के कर्म को भी स्वभाव ने जन्म दिया।

वैश्य- जिसके अन्त करण में आधा तामसी और आधा राजसी गुण होता है वह वैश्य है।

हैं। इन तीनों गुणों के माध्यम से ही कर्म (आराधना) का उत्थान ओर पतन होता हे। गुणों से कर्म को देखा और मापा जाता है। गुण ही वर्ण परिवर्तन की जॉच का पेमाना है। मन की केंद्रित अथवा विच्छिन्न अवस्था गुणो के कारण ही होती हे। परन्तु कर्म (भजन) एक ऐसा यत्र हे जो गुणो के सम्पूर्ण कार्य को उठाता-गिराता हे और गुण को जड से उखाड भी देता है। कर्म के प्रभाव से गुण प्रभावित होते है।

श्रीकृष्ण का कथन है कि "**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट**'- चार वर्णो की रचना मैंने की है। मनुष्य को नहीं वल्कि कर्म को चार भागो मे वॉटा हे। किस आधार पर? कृष्ण कहते हैं "**गुणकर्म विभागशः**"- गुणों के उतार-चढाव से कर्म को वर्णो (श्रेणियों) में वॉटा गया है। अत मनुष्य ब्राह्मण-क्षत्रिय नहीं है वल्कि भजन ही ब्राह्मण है, भजन ही क्षत्रिय हे, भजन ही वैश्य हे ओर शूद्र भी है। यह विभाजन गुणो पर आधारित है। तीनों गुण अलग-अलग प्रभाववाले हैं। मन इनके रहने का स्थान है। गुण तीन हैं, किन्तु वर्ण चार हैं क्योंकि एक गुण जितनी मात्रा में हटता है दूसरा गुण उतनी ही मात्रा मे उसका स्थान ग्रहण करता है। तीनों गुणों में से प्रत्येक का स्वभाव हे कि बढने पर वह शेष दो गुणों को दवा देता है। अत समान अनुपात में दो गुणों के मिश्रण से एक अधिक वर्ण का सृजन स्वाभाविक है। व्यवहार में, जिस व्यक्ति में केवल सात्त्विक गुण हें उसे ब्राह्मण, आधा सात्त्विक और आधा राजसी गुण वाले को क्षत्रिय, आधे राजसी और आधे तामसी को वैश्य तथा मात्र तामसी गुण वाले को शूद्र कहा जाता है।

ब्राह्मण- जिस पर सात्त्विक गुण का प्रभाव है, जो ब्राह्मण है, उसका मन स्वभावत शान्त होगा। अन्त करण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, वाह्यातर की शुद्धता, क्षमा, तप, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, ईश्वरीय जानकारी की मस्ती इत्यादि उसमें स्वभाव से ही रहेगा। जिसके अन्त करण में सात्त्विक गुण मात्र है, जिनमें राजसी एव तामसी गुण कार्यरत नहीं हैं उस पुरुष में सात्त्विक गुणों के कार्य-ज्ञान, विज्ञान, ध्यान इत्यादि ब्रह्म-लक्षण स्वाभाविक रहेगे। ब्राह्मण अथवा उच्चकोटि के साधक के लिए यही करना विधेय है। ऐसा करने में ही उसका कल्याण है।

क्षत्रिय- जिसके अन्त करण में तामसी गुणों का पूर्णत अभाव है, राजसी गुण भी आधा शान्त हो चुका है परन्तु सात्त्विक गुण पूरा नहीं मिला ऐसा, अति उत्तम तो नहीं, उत्तम साधक क्षत्रिय वर्ण का है। ऐसा साधक शूरवीर होता है, माया की चपत से कायर नहीं होता है। आसुरी वृत्तियों से युद्ध करने मे कभी पलायन नहीं करता। उसमे ईश्वर भाव अर्थात् स्वामीभाव बना रहता है क्योकि भजन की बाधाओं पर विजय प्राप्त करने में उसे दृढ विश्वास रहता है। आत्म-प्रकाश का तेज, धैर्य, दक्षता, दान इत्यादि क्षत्रित्व के लक्षण हैं। राजसी और सात्त्विक गुण का आधा-आधा मिश्रण जब कार्यरत होता है तब यह लक्षण स्वत· बन जाता है। इन गुणों के सम्मिश्रण के बिना बलात् कोई क्षत्रिय नहीं बन सकता क्योकि इन लक्षणो की जड तो स्वभाव हे, जो गुणो से निर्धारित होता है। इसीलिए कृष्ण "**क्षात्रं कर्म स्वभावजम्**" कहते हैं, अर्थात् उपर्युक्त लक्षण स्वभावस्थ हैं, आदत का अग बन चुके हैं। इसलिए क्षत्रिय के कर्म को भी स्वभाव ने जन्म दिया।

वैश्य- जिसके अन्त करण मे् आधा तामसी और आधा राजसी गुण होता है वह वैश्य है।

हैं। इन तीनों गुणों के माध्यम से ही कर्म (आराधना) का उत्थान और पतन होता है। गुणों से कर्म को देखा और मापा जाता है। गुण ही वर्ण परिवर्तन की जॉच का पैमाना है। मन की केंद्रित अथवा विच्छिन्न अवस्था गुणों के कारण ही होती है। परन्तु कर्म (भजन) एक ऐसा यंत्र है जो गुणो के सम्पूर्ण कार्य को उटाता-गिराता है और गुण को जड से उखाड़ भी देता है। कर्म के प्रभाव से गुण प्रभावित होते है।

श्रीकृष्ण का कथन है कि **"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं'**- चार वर्णो की रचना मैंने की है। मनुष्य को नहीं बल्कि कर्म को चार भागों मे बॉटा है। किस आधार पर? कृष्ण कहते हैं **"गुणकर्म विभागशः"**- गुणों के उतार-चढाव से कर्म को वर्णो (श्रेणियों) में बॉटा गया है। अत मनुष्य ब्राह्मण-क्षत्रिय नहीं है बल्कि भजन ही ब्राह्मण है, भजन ही क्षत्रिय है, भजन ही वैश्य है और शूद्र भी है। यह विभाजन गुणो पर आधारित है। तीनों गुण अलग-अलग प्रभाववाले हैं। मन इनके रहने का स्थान है। गुण तीन हैं, किन्तु वर्ण चार हैं क्योंकि एक गुण जितनी मात्रा में हटता है दूसरा गुण उतनी ही मात्रा में उसका स्थान ग्रहण करता है। तीनो गुणों में से प्रत्येक का स्वभाव है कि बढने पर वह शेष दो गुणों को दबा देता है। अत समान अनुपात में दो गुणों के मिश्रण से एक अधिक वर्ण का सृजन स्वाभाविक है। व्यवहार में, जिस व्यक्ति में केवल सात्त्विक गुण हैं उसे ब्राह्मण, आधा सात्त्विक और आधा राजसी गुण वाले को क्षत्रिय, आधे राजसी और आधे तामसी को वैश्य तथा मात्र तामसी गुण वाले को शूद्र कहा जाता है।

ब्राह्मण- जिस पर सात्त्विक गुण का प्रभाव है, जो ब्राह्मण है, उसका मन स्वभावत शान्त होगा। अन्त.करण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाह्यातर की शुद्धता, क्षमा, तप, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, ईश्वरीय जानकारी की मस्ती इत्यादि उसमें स्वभाव से ही रहेगा। जिसके अन्त करण में सात्त्विक गुण मात्र है, जिनमें राजसी एव तामसी गुण कार्यरत नहीं हैं उस पुरुष में सात्त्विक गुणों के कार्य-ज्ञान, विज्ञान, ध्यान इत्यादि ब्रह्म-लक्षण स्वाभाविक रहेगे। ब्राह्मण अथवा उच्चकोटि के साधक के लिए यही करना विधेय है। ऐसा करने में ही उसका कल्याण है।

क्षत्रिय- जिसके अन्त करण मे तामसी गुणों का पूर्णत अभाव है, राजसी गुण भी आधा शान्त हो चुका है परन्तु सात्त्विक गुण पूरा नहीं मिला ऐसा, अति उत्तम तो नहीं, उत्तम साधक क्षत्रिय वर्ण का है। ऐसा साधक शूरवीर होता है, माया की चपत से कायर नहीं होता है। आसुरी वृत्तियों से युद्ध करने में कभी पलायन नहीं करता। उसमे ईश्वर भाव अर्थात् स्वामीभाव बना रहता है क्योकि भजन की बाधाओं पर विजय प्राप्त करने में उसे दृढ विश्वास रहता है। आत्म-प्रकाश का तेज, धैर्य, दक्षता, दान इत्यादि क्षत्रित्व के लक्षण हैं। राजसी और सात्त्विक गुण का आधा-आधा मिश्रण जब कार्यरत होता है तब यह लक्षण स्वत बन जाता है। इन गुणों के सम्मिश्रण के विना वलात् कोई क्षत्रिय नहीं वन सकता क्योंकि इन लक्षणों की जड़ तो स्वभाव है, जो गुणों से निर्धारित होता है। इसीलिए कृष्ण **"क्षात्रं कर्म स्वभावजम्"** कहते हैं, अर्थात् उपर्युक्त लक्षण स्वभावस्थ हैं, आदत का अग बन चुके हैं। इसलिए क्षत्रिय के कर्म को भी स्वभाव ने जन्म दिया।

वैश्य- जिसके अन्त करण में आधा तामसी और आधा राजसी गुण होता है वह वैश्य है।

ऐसे व्यक्ति के भजन-पथ से आधा तमस् हट चुका है, अर्धरजस् से पथ आलोकित है। अतः कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ऐसे साधक के लिए स्वाभाविक कर्म हैं। 'राम नाम धन खेती' आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। इसी का उपार्जन करना ही खेती है। 'गो' इन्द्रियो को कहते हैं। अत. गोरक्षा का तात्पर्य इन्द्रियों की रक्षा है। काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि विषयों में इन्द्रियों का विचरना ही उनका नष्ट होना है। ज्ञान-विज्ञान, विवेक-वैराग्य से उनकी रक्षा होती है। आत्मिक शक्ति का अपव्यय नहीं होने पाता। आत्मिक सम्पत्ति को विषयों में न खोकर उनका संग्रह करना ही धन कमाना है। माया इस सग्रह मे बाधक है। वह इस आत्मिक सम्पत्ति को क्षीण करती रहती है। घाटा दिलाती रहती है। इसलिये भजन भी एक प्रकार का व्यवसाय है, जिससे आत्मिक सम्पत्ति का सवर्द्धन करना वैश्य का स्वभाव माना गया है। आत्मिक सम्पत्ति को अपने में ढालना ही पूँजी का सग्रह है। यही सत्य व्यापार है जो निज धन की प्राप्ति करानेवाला है। ऐसे पुरुष का मन साधना में लगने लगता है।

शूद्र- भजन की सबसे क्षुद्र सोपान शूद्र है। जो उन व्यक्तियों में पाया जाता है जिनके अन्त.करण में तामसी गुण कार्यरत रहते हैं, राजसी गुण की क्षीण रेखा ही रहती है। व्यक्ति के मन में प्रमाद और आलस्य विशेष होगा। प्रयत्न करने पर भी उसका मन स्थिर नहीं रह सकेगा। सत्य वस्तु को समझने की क्षमता भी उसमें नहीं होगी। उसका मन तमस् से पूर्णतः आच्छादित होने के कारण अपने लक्ष्य को नहीं देख पाता। आराधना में मन लगता ही नहीं। कर्म के क्षेत्र में उसका स्थान तुच्छ होता है । अत. शूद्र स्वभाववाले व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने निजी उत्थान के लिए महापुरुषों की सेवा करे--**"परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।"**

जो महापुरुष अपने से बहुत ऊपर उठ चुके हैं, उनको पकडें। उनके शरण होकर तन-मन-वचन से सेवा करने का विधान है। सेवा-धर्म परम गहन है। सेवक किसी भी सेवा को तुच्छ नहीं समझता। वह कभी यह तर्क नहीं करता कि बिस्तर-झाडू क्यो लगाऊँ? या टट्टी क्यों साफ करूँ? वस्तुत जो महापुरुष पवित्र हो चुके हैं, उनके सान्निध्य से ही शूद्र स्तर के साधक का मल दूर हो सकेगा। इसी सेवा मे ही उसे आगेवाली श्रेणी प्राप्त हो सकेगी, वह वैश्य-गुणधर्म को पकड सकेगा। उसमें जो योग्यता नहीं थी, वह भी आ जायेगी।

इस प्रकार गुणों के उतार-चढाव से कर्म के चार विभाजन किये गये। जिसे ब्रह्म का निकटवर्ती अनुभव है, प्रवेश करना ही शेष है, जिसके पश्चात् कर्म की आवश्यकता ही नहीं रहती। ऐसे सत्त्वगुण से सचालित, ज्ञान, विज्ञान, ध्यान और समाधि की अवस्था जिसमें स्वभाव से है वह ब्राह्मण है। 'त्री' तीन को तथा 'क्ष' काटने को कहते हैं। तीनों गुणो को काटने की जिसमे क्षमता है वह क्षत्रिय है। भजन के विघ्नों का सामना करने में शूरवीरता, आत्मतेज, स्वामीभाव इत्यादि कर्म उसमें स्वभाव से ही होते है, जो ब्राह्मणत्व प्राप्ति के कारण हैं। भजन में मन का कुछ-कुछ लगना, सद्गुणों का एक-एक करके हृदय मे लाना, इन्द्रियों की विषयोन्मुखी प्रवाह को रोकना वैश्य का सहज कर्म है जो क्षत्रियत्व की ओर ले जानेवाला है। इस प्रकार जिस साधक से कुछ भी पार न लगता हो, निद्रा-प्रमाद और आलस्य की अधिकता से भजन न बन पडता हो, ऐसे शूद्र स्थिति

वाले के लिए कर्म (भजन) का प्रथम चरण सेवा है। उस सेवा के प्रभाव से वह वैश्यत्व की ओर अग्रसर हो सकेगा।

चराचर जगत् ही तीनों गुणों का विकार है। देवता, मनुष्य, राक्षस सभी लोग इन तीन गुणों के अन्तर्गत ही आते हैं (गीता-१८/४०)। इससे सिद्ध है कि देश-विदेश के सभी लोग भजन प्रवेश के साथ इन वर्णो के अन्तर्गत हैं। वे लोग भ्रम में हैं जो कहते हैं कि वर्ण केवल हिन्दुस्तान में है। वस्तुत. हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन, यहूदी अथवा विश्व का कोई भी प्राणी जव परमात्म स्वरूप की ओर वढेगा, तव गीता के अनुसार चार वर्णो में से उसे गुणों के अनुरूप किसी न किसी वर्ण में आना ही पडेगा। चाहे आप हिन्दू ही क्यों न हों, भजन में प्रवेश शूद्र स्तर से ही होगा।

भगवत्-पथ (कर्म) में वेषधारी ठग वहुत से हैं। योग्यता में तो वे शूद्र हैं। तमोगुण के वाहुल्य से उनका मन तो हवा से बातें करता है किन्तु स्वाग ऐसा भरते हैं जैसे तपोधन हों। ऐसे वचक कर्म के क्षेत्र में कुछ भी नहीं कर पाते। कृष्ण कहते हैं कि स्वभाव से प्राप्त स्थिति को छोड़कर जो ऊँची श्रेणी की नकल करता है वह वस्तुत अपनी हानि ही करता है--

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।"

क्रमश चलकर तो बड़ी से वडी योग्यता प्राप्त की जा सकती है किन्तु प्राथमिक कक्षा का छात्र यदि उच्चकक्षा में बैठ जाय तो उच्चकक्षा का ज्ञान तो दूर रहा, प्राथमिक कक्षा की योग्यता से भी वह वचित रह जाता है। लौकिक दृष्टान्त से इस प्रकार भी समझा जा सकता है। शूद्र, जिसे अभी 'प्राइमरी' में भी पढ़ना शेष है, यदि मैट्रिक या इटर की कक्षाओं में बैठने लगे तो उसे प्राइमरी का भी ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार वैश्य, जिसे मिडिल या मैट्रिक तक पढ़ने का अधिकार है, बी.ए. की कक्षाओं में बैठे तो उसे मैट्रिक की योग्यता भी नहीं मिलती। इसी प्रकार बी.ए. की कक्षाओं में पढने का अधिकारी क्षत्रिय, एम.ए. अथवा शोध की कक्षाओं में बैठे तो वह बी.ए. की भी योग्यता से शून्य हो चलेगा। यह तो एक दृष्टान्त मात्र है। वस्तुत एक के पश्चात् एक कक्षा को पार करने पर ही जिस प्राकर पारगत विद्वान बना जाता है उसी प्रकार एक के पश्चात् दूसरे वर्ण को पार करने पर ही निज लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।

गीता का अकाट्य निर्णय है कि स्वभाव से प्राप्त अपने कर्म (भजन) द्वारा परमेश्वर की अर्चना करके मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। अपने धर्म का आचरण करते हुए अर्थात् गुण के अनुरूप कर्म करते हुए मरना भी कल्याणकर है जबकि दूसरों का धर्म भयावह है। दूसरों की नकल करनेवाला समूल विनष्ट हो जाता है। नकल करने के प्रयास में उसकी अर्जित क्षमता भी समाप्त हो जाती है। अत गीता के अनुसार **"कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।"** (१८/४१) स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के अनुसार कर्म विभक्त किया गया है। स्पष्ट है कि विभाजन कर्मो का हुआ है, मनुष्य का नहीं। अत जिन लोगों का विचार है कि मनुष्यों का वर्ण जन्म से निर्धारित हो जाता है अथवा जिस वर्ण का वनना था वन गये, अव तो जीवन भर उसी वर्ण में रहकर भगवान की वाणी का पालन करना है, ऐसा सोचने वाले भ्रान्ति में हैं। ऐसा प्रचार करनेवाले श्रीकृष्ण के उपदेशों से वस्तुत दूर खडे हुए हैं। कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि **"कर्माणि**

प्रविभक्तानि" कर्म को बॉटा गया है। भगवान कृष्ण ने तो कृपा करके आराधना-पथ को चार सोपानों में विभक्त किया, जिससे कमजोर से कमजोर मनवाला मानव भी क्रमश चलकर भगवान तक पहुँच सकता है। वहॉ तक पहुँचानेवाली क्रिया के विभिन्न सोपानों को पार करके आत्मा राक्षस से देवता और देवता से भी आगे प्रभु से मिलकर स्वय प्रभु स्वरूप बन जाती है। कृष्ण कहते हैं कि अनेक जन्मों से चलकर साधक मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यह कर्म (आराधना) उच्च से उच्च योनियों में जन्म देता है, स्वरूप बनाता है। इसलिए इसका 'वर्ण' नामकरण यथार्थ एव सार्थक है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने अतिशय प्रिय भक्त अर्जुन को आराधना-पथ के विभिन्न वर्णो को पार करने का परम गुह्यतम किन्तु सबसे सुगम उपाय गीता के उपसहार के समय बताया है। उन्होंने कहा कि कर्म करनेवाला स्वय इस चक्कर मे न पडे कि मैं किस वर्ण में हूँ। वह अपनी परीक्षा में समय को व्यर्थ न गॅवाये। इसीलिए अर्जुन! तू किसी वर्ण-धर्म का विचार न करके मेरी शरण मे हो जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। यह उल्लेखनीय है कि योगेश्वर, परमात्मा, परमतत्त्व, परमपुरुष, सद्गुरु साधन-काल में एक दूसरे के पर्याय के रूप में कार्य करते है। साधक को अपने वर्ण की चिन्ता छोडकर उनकी शरण में ही जाना चाहिए। कृष्ण कहते हैं.- **"चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्य मत्परः।।"** (१८/५७) चित्त से सभी कर्मो को मुझपर छोडकर मेरे परायण हो जा। ऐसा करने से वर्ण मिटेंगे नहीं बल्कि शरण में होने पर वर्णो से पार करने की जिम्मेदारी भगवान पर हो जाती है। वर्णो को तो पार करना ही होगा किन्तु स्वामी पर जिम्मेदारी सौंपकर सेवक निश्चिन्त हो जाता है। जब वर्ण भगवान द्वारा सृजित हैं तो उनके अनुरूप साधक में गुणों का समावेश कराना भगवान या सद्गुरु के लिए नितान्त सरल है। इसीलिए कृष्ण स्पष्ट कह देते है-

तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। (१८/६२)

अर्जुन! तू सब प्रकार से उन्हीं परमेश्वर की शरण में जा। उन्हीं की कृपा से ही तू परमशान्ति एव शाश्वत स्थान को प्राप्त कर सकेगा। किसी महापुरुष की शरण मे रहकर वर्णो को पार करना सुगम है।

गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था के इस विवेचन से कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते है-

१- भगवत्प्राप्ति के उपायों का नाम यज्ञ है और उस यथार्थ क्रिया का नाम कर्म है। यज्ञ जिस प्रकार किया जाता है वह कर्म है।

"कर्माणि प्रविभक्तानि" कर्म को चार वर्णो में बॉटा गया है, न कि मनुष्यों को। गीतोक्त कर्म का अर्थ आराधना है। इसी आराधना के चार सोपान हैं। एक बार जागृत हो जाने पर यह कर्म तभी पीछा छोडता है जब इन चारो वर्णो से गुजर जायॅ।

२- जो भगवत्पथ पर नहीं चलता, वह किसी भी वर्ण का नहीं है। न तो वह ब्राह्मण है, न क्षत्रिय, न तो वैश्य है, न शूद्र। वर्ण उसके लिए है जो कर्म करता है, आराधना करता है। परमात्मा की प्राप्ति के अतिरिक्त सासारिक कार्यो में सलग्न लोग न तो किसी वर्ण की क्रिया करते

है और न तो गीतोक्त किसी वर्ण के अन्तर्गत आते हैं। यदि आस्तिक हैं तो प्रत्याशी अवश्य हैं। जो इच्छा करता है वही तो पाता है, जो नहीं करता वह कभी नहीं पाता, मात्र हताशा हाथ लगती है।

३- गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है। जबकि हिन्दुओं में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था भौतिक शरीर का सामाजिक विभाजन मात्र है। समाज में प्रचलित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण शरीर के है। इनकी उतनी ही सीमा है। इन वर्णो से शरीर का निर्वाह होता है और जीवनयापन की दृष्टि से यह विभाजन अपने स्थान पर उचित ही है। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारकों में परिवर्तन होने से वर्ण-व्यवस्था में उलट-फेर होता रहा। प्रारम्भ में जातियों एव वर्ण श्रेणियो की कोई रूप-रेखा नहीं थी। कालान्तर में समाज सुर और असुर इन दो वर्णो में वॅट गया। फिर तो गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, वानर इत्यादि वर्ग वने और मिटे। जीविका के साधनों की उत्कृष्टता अथवा निष्कृटता के आधार पर समाज अनन्त चक्रों में विभाजित होता गया और भविष्य मे भी होता रहेगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा जो भी नाम दिया जाय, उदर-पोषण को लेकर समाज मे वर्ग वनते ही रहेंगे किन्तु वास्तविक कल्याण के लिए गीतोक्त वर्ण-व्यवस्था ही यथार्थ है। मोह से पराधीन होकर मनुष्य स्वय अपने को नष्ट करता है। वस्तुतः न तो कोई मुसलमान घातक है, न कोई अन्य धर्मावलम्बी आध्यात्मिक प्रगति मे वाधक हो सकता है। कर्म ही व्यक्ति का उन्नायक है और उससे रहित होकर मनुष्य स्वय ही अपने को नष्ट करता है, गीता का यह दृढ निश्चय है।

४- तीनो गुणो के द्वारा कर्म (भजन) को चार वर्णो मे वॉटा गया और इन तीनों गुणों के अन्तर्गत ही सम्पूर्ण ससार है। इससे भगवान ने स्पष्ट कर दिया कि सारा ससार चार वर्णो के अन्तर्गत है। यह उल्लेखनीय है कि योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अठारहवे अध्याय में वर्ण विभाग का वर्णन यहीं से प्रारम्भ किया कि देवलोक, मृत्युलोक यावन्मात्र सर्व जगत् तीनो गुणों से उत्पन्न होकर उन्हीं से कार्य करते है। गुण ही ऊँचे-नीचे स्वभाव का कारण है और उसी स्वभाव से वर्ण बनते है। इस प्रकार सम्पूर्ण ससार वर्ण-धर्म से बाहर नहीं है। इस बात पर पुन बल देना समीचीन होगा कि ससार का अर्थ केवल भारत ही नहीं होता।

५- तीनों गुणो से स्वभाव बनता है, स्वभाव से ही वर्ण की योग्यता निर्धारित होती है। छोटे गुण से क्षुद्र स्वभाव बनता है जबकि बडे गुण से ब्राह्मणत्व जैसा बडा स्वभाव बन जाता है। गीता के ही अनुसार किसी भी गुण को बढाया जा सकता है। अध्याय चौदह के दसवें श्लोक के अनुसार कोई भी गुण शेप दो गुणों को दबाकर बढाया जा सकता है, बढता-घटता है। इस प्रकार यदि गुणो में परिवर्तन सभव है तो शूद्र से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय, क्षत्रिय से ब्राह्मण होना नितान्त सभव है। इसी का अनुसरण करके आज भी आप जगत्गुरु है।

६- अत्यन्त चचल मनवाले व्यक्ति भी साधना के सही दौर में पडने पर सकल्परहित समाधि की क्षमता वाले देखे गये। वाल्मीकि, सूरदास, तुलसीदास इत्यादि महापुरुषों के प्रारम्भिक जीवन पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य उद्भासित होता है कि स्वभाव में परिवर्तन सभव है। उनके जीवन के पूवार्ध और उत्तरार्ध के स्वभाव मे पूरव और पश्चिम का अन्तर पाया जाता है। काम-क्रोध,

लोभ से चचल उनका मन समाधि की क्षमतावाला तथा सरलता से युक्त पाया गया, जो ब्राह्मण के लक्षण हैं। इस प्रकार यदि स्वभाव मे परिवर्तन सभव है तो वर्णो के परिवर्तन में भी सदेह नहीं है।

७- श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वर्ण-परिवर्तन के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होने कहा कि अर्जुन! वेद तीन गुणों तक ही प्रकाश करते है अथवा तीनों गुणों तक ही सीमित है, इसलिए तू वेदो के वन्धन से ऊपर उठ। साथ ही कृष्ण ने ऊपर उठने का तरीका भी बताया कि निर्द्वन्द्व, एकरस, सत्त्व में स्थित हो और योगक्षेम की चिन्ता न कर, आत्मपरायण वन! श्रीकृष्ण के शव्दों मे-

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। (२/४५)

यहॉ प्रश्न खडा होता है कि क्या कोई वेदों से ऊपर उठा? (वेदों से, गुणों से ऊपर उठना एक ही वस्तु है) और यदि कोई कभी उठा तो उसकी क्या गति हुई? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस प्रकार बडे जलाशय के प्राप्त होने पर मनुष्य का छोटे जलाशय से जितना प्रयोजन रह जाता है, ठीक उतना ही प्रयोजन ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदों से रहता है। साराशत वेद तीन गुणों तक ही प्रकाश करते है, इसलिये वेदों से ऊपर उठ। ऊपर उठने पर जो स्थिति आती है उसका नाम ब्राह्मण है। यहॉ व्रह्म प्रत्यक्ष है। अर्थात् तू ऊपर उठ और ब्राह्मण बन--

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। (२/४६)

कर्म की गति वस्तुत गूढ है। क्या कर्म है? क्या अकर्म है? वडे-बडे विद्वान भी इसी स्थल पर सशययुक्त हैं। वस्तुत कर्म का तात्पर्य आराधना है। और अकर्म का आशय मात्र इतनी मान्यता है कि करानेवाला कोई और है, मै तो निमित्त मात्र हूॅ- ऐसा समझकर कर्म मे तल्लीन हो जाना ही मोक्षप्रद है। इसी का नाम निष्काम कर्म है। कर्म की अन्तिम स्थिति ब्राह्मण श्रेणी की कही जाती है।

८- कोई ब्राह्मण कव बनता है? इस प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कृष्ण कहते है-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। (४/१९)

जव सम्पूर्णता से प्रारम्भ किया हुआ कर्म (जिसमे कहीं कमी न हो) क्रमश उस श्रेणी पर पहुँच जाय जहॉ काम और सकल्प का सर्वथा अभाव है (सिद्ध है कि कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो मन की सकल्पों से उपराम करता है), तहॉ ज्ञान अग्नि में कर्म जल जाते है और कर्म के जलते ही वह प्राणी महर्षियों द्वारा बोध स्वरूप ब्राह्मण कहा जाता है। इससे सिद्ध है कि कोई भी पुरुष ब्राह्मण अथवा पण्डित वन सकता है। कोरी, चमार, वैश्य, शूद्र, ईसाई, मुसलमान, यहूदी सभी कर्म को समझ, उस पर चलकर ब्राह्मण वन सकते हैं।

९- यथार्थ तो यह है कि ब्राह्मण वनना ही हमारा लक्ष्य नहीं है। यह वर्ण भी दोषो का घर है। अन्य वर्णो की अपेक्षा यह वर्ण सुलझा हुआ अवश्य है किन्तु सुलझे कर्म का कर्ता भी मुक्त

नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मण वर्ण प्राप्त कर लेने पर भी हार्दिक प्रसन्नता कैसे होगी जवकि ससार पीछे लगा है। जहॉ तक वर्ण और कर्म है, ससार का अस्तित्व भी साथ ही है। इसलिए वर्णो से कोई आशा नहीं करनी चाहिए। वर्ण छोटा मिला हो अथवा वडा, वह हमारा लक्ष्य नहीं है। हॉ, लक्ष्य तक पहुँचने मे वह सहयोग अवश्य देता है। उन्हें पार किये विना लक्ष्य तक पहुँचा भी तो नहीं जा सकता। इसलिए इन वर्णधर्मो का पालन आवश्यक है। प्रत्येक वर्ण के निर्धारित लक्षणों को जो अपने में अच्छी तरह ढाल लेता है। वह आगे के वर्ण में प्रवेश का अधिकारी वन जाता है। क्रमश चौथे वर्ण के धर्म की जिस क्षण पूर्ति होती है उसी क्षण परमप्रभु अपने दीन सेवक को अपना बना लेते है। अपने में स्थिति प्रदान कर देते हैं।

१०- परमप्रभु परमात्मा में स्थिति प्राप्त करना ही जीव का चरम लक्ष्य है। यह वह स्थल है जहॉ वर्ण नहीं रह जाता, कर्म नहीं रह जाता, धर्म-अधर्म कुछ भी तो नहीं शेष वचता। श्री शकराचार्य जी इसी स्तर से वोल उठते हैं- **"न ब्राह्मण न क्षत्रिय न वैश्यं न शूद्रं चिदानन्द रूप शिवो केवलोऽहम्।"** जीवात्मा एव परमात्मा का द्वैत इसी विन्दु पर सदा-सदा के लिए तिरोहित हो जाता है। इसी अद्वैत स्थिति का सकेत गोस्वामीजी भी **"जानत तुम्हहि तुम्हहि होई जाई"** कहकर करते है। यही नानक का 'वाहे गुरु' और कवीर का 'प्रत्यक्ष स्वरूप' है। जिसके अखण्ड-अभेद स्वरूप मे वर्ण-भेद का कोई स्थान नहीं है।

गीता मे श्रीकृष्ण कहते है--अर्जुन तू मुझमें निवास करेगा। अनेक जन्मों के अन्त में पूर्णत्व पानेवाला ज्ञानी मेरा ही स्वरूप है, मुझमें और उस ज्ञानी में किंचित् अन्तर नहीं है। (गीता ७/१६)। अब उस भजन का स्वरूप क्या है? कृष्ण कहते है- हमारे पास आओ। अर्थात् किसी तत्त्वस्थित महापुरुष के पास जाकर निष्कपट भाव से सेवा और प्रश्न करते हुए उस ज्ञान को प्राप्त करो। **"सद्गुरु मारे उलट निहारे, सोवत में उठ जागे।"**

प्रश्न- सरकार! वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में ऋग्वेद के अनुसार ब्राह्मण विराट पुरुष के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य पेट से तथा शूद्र पैर से पैदा हुए, जिससे लगता है कि वर्ण-व्यवस्था जन्म से निर्धारित होती है?

उत्तर- देखिए, सब कुछ गीता मे है क्योकि वेदो का प्राण उपनिषद है और "श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्र" के अनुसार उपनिषदो का भी सार गीता है जो वेद सम्मत ही है। महाभारत मे महर्षि व्यास का वचन है-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्ध गीतामृत महत्।।

अत गीता स्वय में पूर्ण है किन्तु आपने जव वेद की किंचित् चर्चा की है तो उस ओर से भी देख लेते हैं, वैसे गीता इससे भिन्न नहीं है, कृष्ण की वाणी है।

प्रश्न है कि ब्रह्म कव पैदा होता है? जव ब्रह्म कण-कण में व्याप्त है तो उसके पॉव कहॉ

होंगे और शीर्ष स्थान कहाँ जायेगा?

वस्तुत. वेद, उपनिषद् इत्यादि योग-दर्शन हैं, जैसा गीता मे भी पाया जाता है। यह परमतत्त्व परमात्मा में विलय करनेवाला दर्शन है। उस व्यापक चेतन का प्रकटीकरण समाज में विवाद का एक विषय है किन्तु योगियो के बीच वही सर्वसम्मत तथ्य है।

कठोपनिषद का वचन है-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।। (२/२३)

यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त होती है, न विशिष्ट बुद्धि से प्राप्त होती है और न बहुत सुनने-सुनाने से प्राप्त होती है। बल्कि हजारों में से वह परमात्मा जिस किसी का चयन कर लेता है वही उसको पाता है। हजारों पथिकों मे से जिसका वह वरण कर लेता है वही उस आत्मतत्त्व को पाता है। जिस साधक की मन-क्रम-वचन से की गयी सेवा-प्रार्थना को वह स्वीकार कर लेता है, उसके हृदय से वह परमात्मा रथी बनकर आरूढ हो जाता है और क्रमश बुद्धिरूपी लगाम को पकडकर सही मार्गदर्शन करते हुए उस परमतत्त्व परमात्मा एव स्वय में स्थिति दिलाता है।

वस यही, साधक के हृदय में प्रसारण के साथ ही साधना के प्रथम चरण मे वह परमात्मा साधक को शूद्र श्रेणी में प्रवृत्ति प्रदान करता है, उसका वैसा ही स्वभाव बनता है। दूसरे सोपान में वह भरण-पोषण और आत्मतृप्ति वाली वस्तुओं का सग्रह करता है। तीसरी अवस्था मे वह विराट प्रकृति से सघर्ष झेलने की क्षमता देता है। शीर्षस्थान अर्थात् चौथे स्थान पर ब्रह्म अपनी ब्रह्ममयी आत्मा से आर्जव, मन का शमन, सरलता, धारावाही चिन्तन इत्यादि गुणो को प्रस्फुटित कर स्वय रथी के रूप मे आरूढ रहते हुए पूर्ण तत्त्व की दिशा मे ब्राह्मण की श्रेणी से विभूषित करता है और इस स्थिति से चलाता हुआ क्रमश अपरिवर्तनशील स्थिति से गुजारते हुए अपने में समाहित कर लेता है। इस प्रकार वैदिक वर्ण-व्यवस्था भी जीव के परमकल्याण के सपनो का निर्देशन मात्र है, न कि कोई ऐसा पुरुष खडा है जिसका सिर आकाश मे और पॉव रसातल मे चला गया हो। अत यह क्रियात्मक पथ और उसकी जागृति आज भी पूर्णत्व से आप्लावित महापुरुषों में है और उन महापुरुषों मे वह अनुभवगम्य है, जैसा कि विराट स्वरूपों का विस्तार पाया जाता है। उनकी सगति करें और वे भी कृपा से मिलते है--

सत विशुद्ध मिलहि परि तेहीं। चितवहिं राम कृपा करि जेहीं।।

मानस का यही निर्णय है क्योंकि मानस भी तो 'नाना पुरान निगमागम' का निचोडमात्र है।

वस्तुत इन प्रसगो में गीता से बाहर ढूँढने का प्रश्न ही खडा नहीं होता क्योंकि योगेश्वर श्रीकृष्ण की वाणी सभी अगों से पूर्ण है और उपनिषदो का साराश है। आइये, महाभारत का एक ज्वलंत उदाहरण लें जिसमें वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप को जानकर शापवश अजगर के रूप मे निवास करनेवाले महाराज नहुष अपने परमधाम को प्राप्त हुए।

पत्नी एव भाइयों सहित महाराज युधिष्ठिर वनवास कर रहे थे। भीम को शिकार का विशेष शौक था। एक दिन भीम शिकार से नहीं लौटे। धर्मराज युधिष्ठिर को भयकर अपशकुन होने लगे। वामाग फडकने लगा। उन नरेश ने महर्षि धौम्य से कहा -"ऋषि प्रवर! लगता है कि भीम किसी

भारी सकट में पड गया है। मुझे अपशकुन हो रहा है। चलें, उसका पता लगायें।" महर्षि को साथ लेकर महाराज युधिष्ठिर भीम की शोध में निकल पडे। भीम द्वारा मारे गये सैकडों शेर, हाथी, जगली भैसे पडे थे; पेड उखडे मिल रहे थे। इन्हीं चिन्हों का अनुसरण करते हुए युधिष्ठिर आगे बढे और वहॉ पहुँच गये जहॉ भीम अजगर से लिपटा हुआ निश्चेष्ट पडा था। युधिष्ठिर ने कहा, "भीम! तुम महान् बलवान हो। सृष्टि में जन्म लेनेवाला कोई भी जीवधारी ऐसा नहीं है जो तुम्हें नियत्रित कर सके, फिर तुम एक अजगर की लपेट में कैसे आ गये? यह महाभाग अजगर कौन हैं?

भीम ने कहा--"यह हमारे पूर्वज, महान धर्मात्मा महाराज नहुष हैं। ब्राह्मणों के शाप से यहॉ पडे है। दिन के तीसरे प्रहर मे जो भी इनकी अधिकृत भूमि में आ जाता है, वह कितना शक्तिशाली क्यो न हो, सहज ही इनके वश में हो जाता है। इनकी खुराक बन जाता है। यह भी ब्राह्मणों के आशीर्वाद का बल है।" तब तो युधिष्ठिर ने नहुष से कहा, "राजन्! आप तो महान धर्मज्ञ थे। आपने बडे-बडे अश्वमेध यज्ञ किये। जिसके प्रभाव से इन्द्र पद पर अभिषिक्त हुए। फिर आपने ब्राह्मणो का अपमान किया। आप से ऐसी भूल कैसे हो गयी? क्या आप विप्रो का महत्त्व नहीं जानते थे?" नहुष ने पूछ ही लिया कि आप ही बताइये कि विप्र का क्या महत्त्व होता है? तव धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा कि इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, एकान्त सेवन, निरन्तर चिन्तन, अनुभवी उपलब्धियॉ, आर्जव, क्षमा, तपस्या इत्यादि लक्षण जिसमें स्वभाव से हों, वह विप्र है। तव अजगर वेषधारी नहुष बोले कि ये लक्षण तो शूद्र में भी पाये जा सकते हैं? युधिष्ठिर ने कहा- तब वह शूद्र भी विप्र है। अजगर पुन बोला, "इन लक्षणों से हीन विप्र भी तो पाये जाते हैं।" (यही तो नहुष की भ्रान्ति का कारण बना था। तभी उन्होने महर्षियों से पालकी उठवाया और जन्मना उन्हे कुलीन न जानकर पैर से मारा था)। युधिष्ठिर ने निर्णय दिया कि "यदि कोई इन लक्षणो से हीन है तो वह स्वभावत शूद्र है, विप्र नहीं।" इतना सुनते ही महाराज नहुष तत्क्षण अपने स्वरूप मे आ गये, भीम को मुक्त किया और युधिष्ठिर को विजय का आशीर्वाद देते हुए स्वर्ग चले गये।

इन्द्र का पद और विलासिता की सामग्री पाकर नहुष मदान्ध होकर शची तक चला। अत्रि, अगस्त्य, पुलह, वशिष्ठ इत्यादि विप्रों से पालकी ढुलवायी क्योंकि वे जन्मना कुलीन नहीं समझे जाते थे। देर असह्य होने पर शीघ्र चलने के लिये महर्षियों को सर्प-सर्प कहकर प्रेरित किया। दयालु विप्र पहले तो सहते गये किन्तु नहुष ने अगस्त्य को लात मारी, उसी का दुष्परिणाम था कि महर्षि ने कहा कि- "जा, सर्प हो जा।"

नहुष ने जव अपने को पालकी से पतित होकर अधम योनि के लिये पृथ्वी पर आते देखा तो गिडगिडाये। वोले- "हमारा उद्धार कैसे होगा?" महर्षियों ने आशीर्वाद देते हुए कहा-"भविष्य में परम धर्मज्ञ महाराज युधिष्ठिर तुम्हारे कुल में होंगे, जिनसे विप्र की यथार्थ महिमा सुनने पर तुम्हें इस अधोगति से छुटकारा मिलेगा।" महिमा सुनते ही नहुष अपने परमधाम को चले गये। अत विप्र के स्वरूप के सम्वन्ध में युधिष्ठिर का यह निर्णय निर्विवाद है, जिसके यथार्थता के प्रत्यक्ष व से नहुप की सद्गति तत्क्षण हो गई। वर्ण-व्यवस्था के सम्वन्ध में इससे सच्ची आख्या क्या

होगी, जिसके प्रभाव से नहुष को अधोगति से छुटकारा मिल गया।

इस आख्यान से स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध मे भ्रान्तियाँ प्रत्येक युग में थीं। सतयुग में उत्पन्न नहुष की भ्रान्ति का निराकरण कहीं जाकर द्वापर में हो सका। वीच मे धर्म का तत्त्वज्ञ कोई हुआ ही नहीं जो नहुष की भ्रान्ति का निराकरण करता और वह भी विप्रों के आशीर्वाद का फल था। नहीं तो युधिष्ठिर को वह बुद्धि कहाँ से आती? अत सज्जनो! विप्र को चाहिये कि वे अपने स्वरूप की रक्षा उक्त सद्गुणों के सृजन से करे। अन्य वर्णो, वर्गो, सम्प्रदायों के जो प्रत्याशी देर-सवेर इस अवस्था को पार करते हैं, महान हैं। इस क्रिया, विधा कि उपलब्धि का एक ही माध्यम, चिरन्तन सत्य है और रहेगा कि अनुभवी विज्ञानी तत्त्वज्ञ महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त करें। उन्हीं हरकतों से पेश आवे जिनसे वे प्रसन्न रहें, जिनकी कृपा से आप सत्य की प्राप्ति कर सकें। कृष्ण गीता मे इगित करते है-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

"अर्जुन तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियो के पास जा। दण्ड-प्रणाम करके उनकी सेवा कर और निष्कपट भाव से प्रश्न करके उस ज्ञान को जान।" हृदय में ईश्वर की जागृति तथा अपने मन से वौद्धिक स्तर का कार्य करना दोनों में पूरव और पश्चिम का अन्तर है। बौद्धिक निर्णय नास्तिकता और पतन की ओर अग्रसर कर सकता है। अत किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा अनिवार्य है। तत्त्वदर्शी महापुरुष ही माध्यम हैं। "जिन खोजा तिन पाइयाँ।" ऐसे महापुरुष भी पुण्य-पुरुषार्थ से ही मिलते हैं।

प्रश्न - महाराजजी! महापुरुष की प्राप्ति कहीं तो आप कृपा की देन मानते है और कहीं पुरुषार्थ की देन मानते हैं, ऐसा क्यों?

उत्तर- देखिये, साधक का भाव ही इधर से कृपा वनकर लौटता है। भाव ही पुण्य कराता है और "भाववस्य भगवान"। "भावे विद्यते देवा।"

।। ॐ ।।

वर्णसंकर

प्रश्न- महाराजजी! अर्जुन को शंका थी कि युद्ध करेंगे तो इतने लोग मरेंगे कि स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी। लोग वर्णसंकर हो जायेंगे जिससे सनातन-धर्म नष्ट हो जायेगा। किन्तु श्रीकृष्ण ने गीता में कहीं भी इस आशंका का समाधान नहीं किया कि वर्णसंकर क्या है? कैसे होता है?

उत्तर- श्रीकृष्ण ने अर्जुन की प्रत्येक शका का समाधान कर दिया था। शस्त्र-सचालन की तैयारी के समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खडा कर दीजिए, जिससे इन युद्ध की इच्छा वालों को भली प्रकार देख लूँ कि मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना उचित है। कृष्ण ने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खडा किया तो अर्जुन ने उस अठारह अक्षौहिणी जनसमुदाय में अपने परिवार को खडा पाया। वहॉ अर्जुन ने अपने पिता के भाइयो को, पितामहो को, आचार्यो को, मामाओं को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को, मित्रों को, श्वसुर तथा सुहृदो को देखा। इस गणना मे कुल दस शब्द आये हैं जिसमें अपना परिवार, ननिहाल का परिवार, ससुराल का परिवार, सुहृद और गुरुजन ही थे। अठारह अक्षौहिणी लगभग साढे छ अरब के करीब होता है। (महाभारत की गणना के अनुसार चालीस लाख के समकक्ष होता है।) इतने जन-समूह मे अर्जुन को केवल अपना सुहृद, सम्बन्धी रिश्तेदार और परिवार दिखाई पडा, अन्य कोई नहीं? कहीं इतने रिश्तेदार भी होते हैं? नहीं होते! वस्तुत. महाभारत अन्त करण की लडाई है।

अर्जुन ने सुहृदों को देखा। देखते ही कॉपने लगा, रोमाच हो आया। बोला- भगवन्! मैं अपने ही परिवार को मारकर क्या सुखी होऊँगा? कुल धर्म सनातन है। ऐसा युद्ध करने से सनातन धर्म लुप्त हो जायेगा। कुलधर्म शाश्वत है, युद्ध करने से शाश्वत धर्म नष्ट हो जायेगा। पुरुषों के सहार से कुल की स्त्रियॉ दूषित हो जायेगी, पिण्ड परम्परा समाप्त हो जायेगी। कुल की स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसकर पैदा होंगे और वह वर्णसकर कुल और कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। हम लोग समझदार होकर महान पाप करने को उद्यत हुए हैं। अर्जुन ने यह नहीं कहा कि केवल हम ही भूल करते हैं, बल्कि उसने कृष्ण पर भी आरोप लगाया कि आप भी भूल करते हैं। अर्जुन ने कहा कि जिनके लिए हमें भोग इच्छित है, ये सभी तो जीवन की आशा त्यागकर मौत के मुहाने पर खडे हैं, फिर मैं अकेला यह साम्राज्य लेकर क्या करूँगा? अत. मैं युद्ध नहीं करूँगा।

यहॉ पर अर्जुन दो प्रश्न मुख्य रूप से रखता है। पहला तो यह कि सनातन धर्म लुप्त हो जायेगा। सनातन धर्म के लिए वह आहे भरता है। दूसरा प्रश्न था कि वर्णसकर हो जायेगा। कृष्ण ने इसका एक ही उत्तर दिया कि अर्जुन! इस विषम स्थल में, जिसकी समता का कोई स्थल विश्व मे नहीं है, तुझे अज्ञान कहॉ से उत्पन्न हुआ? जिस क्षमता का युद्ध मैं बताता हूँ, उस क्षमता का सघर्ष नि सदेह कुछ भी नहीं है।

तो क्या शाश्वत धर्म की सुरक्षा के लिए व्यग्र होना अज्ञान है? वर्णसकरता के जघन्य दोष

से वचा लेने का प्रयास भी क्या अज्ञान है? कृष्ण कहते हैं--हॉ अर्जुन! जिसे तू सनातन धर्म कहता हे, न तो श्रेष्ठ पुरुषों ने कभी इसका आचरण किया है न यह परम कल्याण करनेवाला है और न यह कीर्ति को ही बढानेवाला है। सिद्ध है, अर्जुन जिसे सनातन धर्म समझता था, न तो वह सनातन धर्म था और न उसे वर्ण की सही जानकारी ही थी। वह अर्जुन का भ्रम मात्र था। तभी तो उसने कहा--

कार्पण्य दोषोपहत स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ चेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मा त्वा प्रपन्नम्।। (२/७)

"धर्म के विषय में मोहित चित्त मैं आप से पूछता हूँ। आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण हूँ। मुझे वही उपदेश कीजिए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ।" अर्जुन परम कल्याण से वचित नहीं रहना चाहता। श्रीकृष्ण ने पहले तो सनातन धर्म की व्याख्या की, तदनन्तर वर्णसकर पर प्रकाश डाला। अब आइये वर्णसकर पर विचार किया जाय। तीसरे अध्याय मे श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन इस कर्म को किये बिना न तो कोई उस परम नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त कर सका है और न भविष्य में कोई प्राप्त कर सकेगा। कर्म ही इस मानव जीवन की सफलता है किन्तु जो पुरुष आत्मा में ही रत, आत्मा मे ही तृप्त तथा आत्मा में ही सतुष्ट है उसके लिए कर्म करने से न तो कोई लाभ है और न छोड देने से कोई हानि ही है। सिद्ध है कि कर्म उस आत्मा तक पहुँचाता है, जिसके पश्चात् फिर कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती। पहले भी इस कर्म को किये बिना न तो कोई पाया है और न भविष्य में कोई पा सकेगा। कर्म ही उसकी प्राप्ति का एकमात्र माध्यम है। यही मानव-तन की सार्थकता है।

"पार्थ! मुझे भी तीनों लोकों मे कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है तथा प्राप्त होने योग्य किचित् वस्तु भी अप्राप्त नहीं है फिर भी मैं कर्म में वरतता हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म मे न बरतूँ तो यह सब लोक भ्रष्ट हो जाय और मैं वर्णसकर का कर्ता कहा जाऊँ।"

गीता की दृष्टि से कर्म का तात्पर्य आराधना ही है, जिससे आराध्य प्रसन्न होते हैं, जिससे आत्मा का साक्षात्कार होता है, जो संसार-बन्धन से सदा-सदा के लिए मुक्ति दिलाता है।

स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसकर होना तो सुना गया किन्तु यहाँ कृष्ण एक नयी बात कहते हैं कि स्वरूप में स्थित महापुरुष यदि चिन्तन-क्रम को नहीं करता तो सब लोग वर्णसकर हो जायेंगे। वस्तुत इस जीवात्मा का शुद्ध वर्ण परमात्मा है--

हसा तूँ सुबरन बरन, हलकी तेरी चाल।
एक तला के बीछुरे, विकल फिरे बेहाल।।

यह हस (जीवात्मा) वस्तुत 'सुबरन' शुद्ध वर्ण का है। केवल स्वरूप विस्मृत हो जाने से विकल होकर दर-दर भटक रहा है। इस आत्मा का परमात्मा तक की दूरी तय करा देनेवाली प्रक्रिया-विशेष का नाम कर्म है। इसी कर्म को करके पूर्वकाल में जनक इत्यादि महर्षियो ने नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त किया था जिसके पश्चात् कर्म किये जाने से न तो कोई लाभ है और न छोड देने से कोई हानि ही है। फिर भी ऐसे महापुरुष कर्म मे ही वरतते हैं क्योंकि यदि ऐसे महापुरुष सावधान होकर कर्म में न वरतें तो लोग प्राय उनकी नकल करेंगे कि महाराजजी तो प्राय बैटे

रहते है, भजन तो करते ही नहीं। ऐसे अन्धानुकरण से वे श्रेयपथ से च्युत हो जाते हैं। कोई भी व्यक्ति जब चिन्तन-पथ मे है, वह अपने वर्ण की ओर- शुद्ध स्वरूप परमात्मा की ओर अग्रसर होने का प्रयास करता है, किन्तु जब वह आराधना से हट जाता है तो सिद्ध है कि वह प्रकृति की भँवर में फँसाव ले रहा है। यही वर्णसकर का होना है। परमात्मा ही हमारा शुद्ध वर्ण है। उनकी ओर अग्रसर न होकर जड प्रकृति में भटकना ही वर्णसकर होना है।

साराशत कृष्ण का आशय है कि इस कर्म को किये विना उस परम नैष्कर्म्य स्थिति को न किसी ने पाया है, न भविष्य में प्राप्त कर सकेगा। कर्म अर्थात् आराधना अनिवार्य है। किन्तु जो कर्म करके आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्म सन्तुष्ट हो गया उसके द्वारा कर्म किये जाने से न कोई लाभ है, न छोडने से हानि ही है फिर भी वह महापुरुप पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिए कर्म में बरतता है। कदाचित् वे कर्म में न वरतें तो उन महापुरुष की तो कोई क्षति नहीं लेकिन उनका अनुकरण करनेवाला समाज वर्णसकर हो जायेगा। समाज महापुरुषों का अनुकरण करता ही है क्योकि वे सभी जीवात्माओ के मूल केन्द्र मे स्थित हैं। जिस प्रकार समुद्र की ओर सभी नदियाँ स्वभावत. झुकती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवात्माओं का केन्द्र परमात्मा है। परमात्मा से ही सभी सचालित होते है। उसी कक्षा मे महापुरुष भी स्थित होता है। इसीलिए सभी जीवात्माएँ महापुरुषों का अनुसरण करती ही है। केवल कोरे उपदेश से साधन-क्रम पकड में आता भी नहीं। महापुरुष क्रियात्मक ढग से उन उपदेशो को अपने आचरण मे ढालकर लोक-शिक्षण का आदर्श प्रस्तुत करते है। किन्तु यदि महापुरुष क्रिया मे नहीं बरतता तो कतिपय साधक साधना स्थगित करके महापुरुष की नकल करके अपना पूर्णत्व जताने लगते हैं। इससे वे पूर्ण नहीं हो जाते बल्कि स्वरूप से भटककर वर्णसकर हो जाते है।

तीसरे अध्याय मे श्रीकृष्ण ने कहा कि ज्ञानी को चाहिए कि कर्म मे लगे हुए अज्ञानियों को चलायमान न करे वल्कि स्वय कर्मो का भली प्रकार आचरण करता हुआ उनसे भी करावे। यदि महापुरुष ऐसा नहीं करता तो वह वर्णसकर का कर्त्ता होगा क्योकि साधक उनका अनुकरण करके साधना से विरत हो जायेगे, आत्मिक पथ से च्युत हो जायेंगे। दूसरे शब्दों में वर्णसकर हो जायेंगे। ठीक इसी प्रकार, योगेश्वर श्रीकृष्ण ने उन मनीषियो से तुलना करते हुए कहा कि यदि वे महापुरुष सावधान होकर क्रिया मे न बरते अथवा मैं न बरतूँ तो वर्णसकर का कर्त्ता होऊँ।

जहाँ तक स्त्रियो के दूपित होने से उत्पन्न वर्णसकरता का प्रश्न है, महापुरुषों की दृष्टि में वह कोई दोप नहीं है। किन्तु सामाजिक सगठन के लिए रक्त की शुद्धता अपरिहार्य है। वह जीवन की मर्यादा है, कल्याणपथ-अन्वेषण की पहली सीढी है। दाम्पत्य सत्य के लिए समाज मे नितान्त आवश्यक है। उसमे अमेरिका की तरह नप्ट नहीं होते बल्कि वाल-माधुर्य वचा रहता है। प्रश्नकर्त्ता अर्जुन, सभी पाण्डव, स्वय पाण्डु, व्यास सवके सब वर्णसकर थे। इतना ही नहीं, अधिकाश महापुरुप लौकिक दृप्टि से वर्णसकर ही थे। उनकी तो मुक्ति नहीं होनी चाहिए थी। ''नरकेऽनियत वास' का विधान होना चाहिए था। किन्तु वर्णसकरता उनके रास्ते में व्यवधान नहीं डाल सकी। महापुरुपो के इतिवृत्त से प्रमाणित है कि माता-पिता की त्रुटियों का कर्त्तव्य परायण पथिक पर कोई वुरा प्रभाव नहीं पडता।

ईसा मसीह वर्णसकर ये। उनकी माँ का विवाह हुआ तो सात महीने का लडका पेट मे था।

लोगों ने 'मरियम' को कुलक्षणा कहकर उन्हें समाज एव नगर से निकालने का विचार किया (लगता हे पातिव्रत धर्म उस समय जेरूसलम मे प्रचलित था। आज तो कोई नहीं निकलता) फिर, स्वप्न दिखाई पडा कि इनके पेट मे जो बालक है वह पवित्रात्मा है। बाद मे लोगों ने जोड दिया कि वह पवित्रात्मा से गर्भवती हुई। वस्तुत कोई पुण्यात्मा ही पेट मे था न कि परमात्मा मरियम से गन्धर्व विवाह करने आया। अस्तु, ईसा बडे अच्छे महापुरुष हुए। विश्व का काफी वडा भाग उनका अनुसरण करता है। भारतीय विचारधारा, भारतीय दर्शन ही उनके उपदेशों मे भी है। प्राप्तिवाले सभी महापुरुषों का उपदेश एक ही जैसा है क्योंकि एक ही सत्ता को सभी ने देखा तो दूसरा कोई कहेगा क्या? प्राप्तिवाले महापुरुष समाज के बीच कभी दरार डाल ही नहीं सकते। वे कभी नहीं कहते कि आप हिन्दू हो, वह ईसाई है, तुम बौद्ध, जैन, पारसी या सिक्ख हो। महापुरुषो के नाम पर उनके अनुयायी पीछे दरार डालते रहते हैं। स्वार्थ सिद्धि के लिए महापुरुष के नाम से वे अनेक भ्रान्तियो, रूढियों, सम्प्रदायों का प्रचलन करते रहते हैं। प्राय प्रत्येक महापुरुष के साथ ऐसा होता आया है। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, कवीर सवके उपदेशो पर कुरीतियाँ पनप गयी हैं। यदि किसी ने उस सत्ता का स्पर्श पा लिया, जो सबकी आत्मा मे सचारित है फिर वह मानव-मानव मे दरार कैसे डालेगा? यदि दरार डालता है तो सिद्ध है कि वह लक्ष्य से अभी दूर है।

कवीर 'लहरतारा' पर पडे मिले। अनुयायियों ने गढना प्रारम्भ किया कि प्रकाश-पुज आकाश से उतरा। वहुत देर मँडराता रहा, एक कमल पर केन्द्रित होकर गिरा, बालक बन गया। जुलाहे की स्त्री गयी और ले आयी। इस प्रकार स्वय परम चेतन परमात्मा ही कबीर के रूप मे प्रगट हुआ। माता-पिता के सयोग से उनकी उत्पत्ति नहीं हुई। लेकिन कबीर ने अपना परिचय दिया कि मैं ही कबीर हूँ, ऐसी बात नहीं, आप भी कबीर हो सकते हैं-

कबिरा-कबिरा क्या करै, शोधो सकल शरीर।
आशा तृष्णा बस करे, सोई दास कबीर।।

कबीर अच्छे हैं, कबीर महात्मा है- क्या कबीर-कबीर रट लगा रखा है? 'शोधो सकल शरीर' स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनो शरीरों की शोध कर लो। किन्तु आशा और तृष्णा के रहते वह शोध सम्भव नहीं है। अत "आशा तृष्णा बस करे" जिसने भी वश मे किया "सोई दास कबीर।" जितना हमने किया, आप भी कर लें तो आप भी कबीर बन जायें। "काया का वीर सोई कबीर।"

ठीक इसी प्रकार वशिष्ठ उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। वाल्मीकि कोल थे। कोलों में उठना-बैठना, खाना-पीना, शादी-विवाह सब था किन्तु महर्षि हुए। क्षत्रिय विश्वामित्र अन्तत महर्षि वने। मछोदरी के लडके व्यास वर्णसंकर थे किन्तु सर्वोपरि ब्रह्मर्षि कहलाये। वस्तुत माता-पिता की भूलों का उत्पन्न होनेवाले बालक पर कोई प्रभाव नहीं पडता। "अपनी करनी, पार उतरनी।" सभी अपनी करनी लेकर आते हैं। माता-पिता, स्त्री-पुरुष, वच्चे सभी जन्म-जन्मान्तरों के ददले हें, जिसे कोई पिता बनकर, कोई पुत्र बनकर चुकाता रहता है। 'वदला' वर्णसकर नहीं होता। वस्तुत वर्णसकर का अर्थ यह है कि यदि आत्मज्ञ महापुरुष क्रिया में नहीं वरतता तो उसी की नकल करके जो लोग क्रिया में नहीं बरतते, वे वर्णसकर हो जाते हैं। ।। ॐ ।।

ज्ञानयोग एवं कर्मयोग

प्रश्न- महाराजजी, ज्ञानयोग और कर्मयोग में क्या अन्तर होता है? दोनों में श्रेष्ठ कौन है?

उत्तर- रणक्षेत्र मे अपने ही परिवार को खडा पाकर अर्जुन युद्ध से कतराने लगा। उसने कहा कि अपने स्वजनो को मारकर मैं सुखी कैसे हो सकूँगा? तीनों लोकों के राज्य में तथा पृथ्वी के धनधान्य-सम्पन्न अकटक साम्राज्य मे भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को दूर कर सके। अत. इतने के ही लिए मैं युद्ध नहीं करूँगा। इससे तो भिक्षा माँगकर खाना ही श्रेयस्कर है। हॉ, इसके आगे कोई सत्य हो तो मेरे प्रति कहिये, जिससे मैं परम कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। श्रीकृष्ण उसे समझाते हैं- अर्जुन! इस युद्ध में हारोगे तो भी देवत्व मिलेगा और जीतोगे तो महिम स्थिति ही प्राप्त हो जायेगी। इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के सघर्ष में दैवी सम्पत्ति अर्जित करते-करते यदि शरीर का समय समाप्त हो गया तो देवत्व तो मिलेगा ही, पार पा जाने पर उस महामहिम परमात्मा में स्थिति मिल जायेगी, जहॉ से महिमा प्रसारित होती है। अत. जय-पराजय, हानि-लाभ, सिद्धि-असिद्धि को समान समझते हुए युद्ध कर।

अर्जुन! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी। कौन सी बुद्धि? यही कि अपने हानि-लाभ पर स्वय विचार करते हुए युद्ध कर। युद्ध तो करना ही पडेगा। हानि-लाभ का स्वय विचार करके साधन तो पूरा करना ही पडेगा। हाथ पर हाथ रखकर बैठने का नाम ज्ञानयोग नहीं है। वहुत से लोग साधन किये ही बिना कहते हैं, ''मैं आत्मा हूँ, पूर्ण हूँ। आत्मा ही अजर-अमर और शाश्वत है''-ऐसा चिन्तन करनां ज्ञानयोग है, किन्तु कृष्ण ने जहॉ आत्मा को अजर, अमर, अपरिर्वतनशील इत्यादि बताया,, वहॉ यह नहीं कहा कि यह ज्ञानयोग है। वहॉ तो कृष्ण यह कहते है कि आत्मा को इन विभूतियो से युक्त केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। वह तो महापुरुष की स्थिति है, साधन नही। वह तत्त्वदर्शन है, ज्ञानयोग नहीं। वस्तुत स्वय पर निर्भर होकर कर्म करने का नाम ज्ञानयोग है। ''मै इस भूमिका में हूँ, भविष्य में उस सोपान से गुजरूँगा। यदि पार पाता हूँ तो महामहिम स्थिति अन्यथा देवत्व तो निश्चित ही है''- इस प्रकार अपने भविष्य को दृष्टिगत रखते हुए स्वय निर्णय लेकर कर्म में प्रवृत्त होने का नाम ही ज्ञानयोग है।

अर्जुन! यह वुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी है। इसी को अब तू निष्काम कर्मयोग के विषय मे सुन! ज्ञानयोग से तू जिस स्थिति को प्राप्त होगा, उसी को कर्मयोग के आचरण से भी प्राप्त कर सकेगा। दोनो का लक्ष्य एक है, क्रिया एक है। हॉ! करने का तरीका दो है। तो भला उस कर्मयोग में करना क्या होगा? अर्जुन! कर्म करने में ही तेरा अधिकार है, फल में कभी नहीं। ऐसा समझ फल है ही नहीं, कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो- यही है कर्मयोग। इसमें साधक की अपनी कोई कामना नहीं रहती। वह इष्ट पर निर्भर होकर चलता है इसलिए इसे निष्काम कर्मयोग भी कहते हैं। इसमें अनुरागी अपने आराध्य के आश्रित होकर उनके हाथ में मात्र यत्र वनकर चलता है। अनुरागी यह तो जानता है कि कभी न कभी पार अवश्य लगेंगे किन्तु कव

और कितना लगे? इसे वह नहीं जानता। उसके द्वारा जो भी पार लगता है वह कर्त्ता की उपलब्धि नहीं, आराध्य की देन है।

अध्याय तीन में अर्जुन प्रश्न करता है कि भगवन्! निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा आप ज्ञानयोग को श्रेष्ठ बताते हैं फिर आप मुझे भयकर कर्मो मे क्यो लगाते हैं? अर्जुन को कर्मयोग में भयकरता दिखाई पडी। ज्ञानयोग उसे सरल लगा क्योंकि ज्ञानयोग में हारने पर देवत्व है। शरीर का अन्त हो जाने पर सफलता नहीं मिली तो देवत्व है, लाभ ही है और यदि जीत जाते हैं, शरीर के रहते मन के पूर्ण निरोध तक पहुँच जाते है तो सर्वस्व मिलता है। महामहिम स्थिति मिलती है। दोनों प्रकार से मिलना ही है। स्वतत्र रहकर अपना हानि-लाभ समझते हुए चलना है, अत अर्जुन को सरल लगा। निष्काम कर्मयोग में कर्म करते रहने का अधिकार है, फल की वासना न हो। ऐसा समझ कि फल है ही नहीं। कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो। निरन्तर कर्म करने के लिए तत्पर हो जाओ।

हॉ, एक झीना-सा प्रलोभन अवश्य है कि कभी न कभी कर्म-बन्धनों से मुक्त अवश्य हो जाओगे लेकिन जो कुछ समझाया गया उससे वर्तमान में तो कुछ मिलनेवाला नहीं है, फिर ऐसा कौन होगा जो अकारण खाक छानता फिरे। यद्यपि आगे यह निष्काम कर्मयोग महान विभूतियो का आलोक दर्शाने वाला होता है किन्तु क्षण-प्रतिक्षण की उपलब्धि से बेखबर साधक को प्रारम्भ मे यह निरस प्रतीत होता है। इसलिए अर्जुन ने कहा कि आप मुझे निष्काम कर्मयोग की भयकरता में क्यों फॅसाते हैं? निष्काम कर्मयोग अर्जुन को भयकर लगा।

तव योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा- अर्जुन दो प्रकार की निष्ठाये मेरे द्वारा पहले कही गयी है। पहले का आशय सतयुग या त्रेता नहीं वल्कि अभी-अभी जो अध्याय दो में कह आये हैं- ज्ञानियो की ज्ञानयोग से और कर्मयोगियो की निष्काम कर्मयोग से, किन्तु किसी भी मार्ग के अनुसार कर्म को त्याग देने का कोई विधान नहीं है।

न तो ऐसा ही है कि कर्मो को आरम्भ न करके कोई निष्कर्मता की परमसिद्धि को प्राप्त कर ले और आरम्भ की हुई क्रिया को त्याग देने से भी कोई ज्ञानी नहीं होता। इसलिए ज्ञानयोग अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, कर्म तो करना ही होगा। छठे अध्याय मे श्रीकृष्ण ने पुन इस पर वल दिया कि कर्म और अग्नि को छोडनेवाला ज्ञानी नहीं हो सकता। यहॉ उन्होने केवल क्रिया को ही लिया है। कर्म किया ही नहीं तो कैसा निष्कर्मी?

कृष्णकाल में भी ऐसी भ्रान्ति प्रचलित थी इसीलिए उन्होने निराकरण किया कि अकर्मण्यता कदापि निष्कर्मता नहीं है। क्योकि कोई भी पुरुष क्षणमात्र कर्म किये विना रह ही नहीं सकता। प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश होकर वह कर्म करता है। जव तक प्रकृति है, प्रकृति से उत्पन्न सत्, रज, तम तीनों गुणों का उतार-चढाव है, तव तक उसी के अनुरूप कार्य होते ही रहेंगे। हॉ, जव यज्ञ की पूर्तिकाल में ज्ञानामृत का पान करनेवाला पुरुप शाश्वत सनातन व्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। वहॉ पर प्रकृति ही विलय हो जाती है, इसलिए उन्हे कर्म नहीं वॉधते। उन ज्ञानाग्नि में कर्म दग्ध हो जाता है। किन्तु जव तक प्राप्ति नहीं हो जाती तव तक कर्म नितान्त आवश्यक है। इतने पर भी वहुत से लोग हठ से इन्द्रियों को रोककर मन से विपयों का चिन्तन करते हैं, कृष्ण

कहते हैं- वे दम्भाचारी है, पाखण्डी हैं, धूर्त हैं। अतः ज्ञानयोग अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, कर्म तो हर दशा में करना ही होगा। दोनों के वीच क्रिया एक ही है, कोर्स एक ही है, डिग्री एक जैसी है। अन्तर इतना ही है कि निष्काम कर्मयोगी इष्ट पर निर्भर होकर अपने को निछावर करके कर्म करता है और ज्ञानयोगी अपनी सादृश्यता से अपना बलावल समझते हुए पूर्तिपर्यन्त उसी कर्म में प्रवृत्त रहता है। जव तक उस शाश्वत को न पा लें, कर्म में प्रवृत्ति अभीष्ट है।

जब कर्म करना ही होगा तो 'नियत कुरु कर्म त्व'- अर्जुन! तू निर्धारित किये कर्म को कर! वह निर्धारित कर्म है क्या? 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मवन्धन ।' यज्ञ की प्रक्रिया ही एक मात्र कर्म है। इसके अतिरिक्त दुनिया में जो कुछ किया जाता है क्या वह कर्म नहीं है? कृष्ण कहते है- नहीं, वह तो इस लोक का एक वन्धन है। इसी यज्ञ की प्रक्रिया को ज्ञानयोग में करना है और यही प्रक्रिया निष्काम कर्मयोग में ही करनी होती है। दोनों में यही यज्ञ किया जाता है। यज्ञ के अतिरिक्त दुनिया में जो कुछ भी किया जाता है वह इसी लोक का वन्धन है, कर्म नहीं, क्योंकि कर्म तो 'मोक्ष्यसेऽशुभात्' अशुभ अर्थात् ससार-बन्धन से छुटकारा दिलाता है, बॉधता नहीं।

अब अर्जुन ने भली-भॉति समझ लिया कि ज्ञानमार्ग हो अथवा कर्ममार्ग हो, दोनों ही प्रणालियों मे कर्म तो करना ही होगा। क्रिया दोनों में एक ही है। तव उसने जानना चाहा कि दोनों मे अच्छा कौन पडेगा? कौन-सा मार्ग सुविधाजनक रहेगा। उसने प्रश्न किया -

संन्यासं कर्मणा कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय य एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।। (५।१)

भगवन्! कभी तो आप निष्काम कर्मयोग की प्रशसा करते हैं तो कभी ज्ञान दृष्टि से कार्यो की प्रशसा करते हैं। इन दोनों मे से किसी को निश्चय करके कहिये, जिससे मै परम कल्याण को प्राप्त हो जाऊॅ। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन! परम कल्याण तो दोनों करनेवाले हैं। सन्यास अर्थात् ज्ञान दृष्टि से कर्म और निष्काम कर्मयोग दोनों में से प्रत्येक परम कल्याण करनेवाला है किन्तु ज्ञानयोग की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है। अर्जुन! जो न किसी से द्वेष करता है, न किसी से आकाक्षा रखता है- ऐसा निष्काम कर्मयोगी सदैव सन्यासी समझने योग्य है। सन्यास, साख्य अथवा ज्ञानयोग के द्वारा जिस परमतत्त्व को प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोग के द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। दोनों एक ही स्थान पर पहुॅचाते हैं। मूढ लोग ही दोनों को अलग-अलग कहते हैं, न कि विवेकीजन। फलरूप में दोनों को जो एक देखते हैं उन्हीं की दृष्टि यथार्थ है। किन्तु अर्जुन! निष्काम कर्मयोग का आचरण किये बिना सन्यास का प्राप्त होना दुर्लभ है। ज्ञानयोग में क्रिया वही है जो निष्काम कर्मयोग की है। निष्काम कर्मयोग का आचरण किये विना कोई ज्ञानी नहीं होता। कर्म तो वही करना ही होगा। भगवत् स्वरूप का मनन करनेवाला योग-युक्त पुरुष तत्क्षण ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। वह योगयुक्त अर्थात् ब्रह्म से सयुक्त पुरुष, जिसने इन्द्रियॉ और अन्त करण को विशेष रूप से जीत लिया है, कर्म करते हुए भी लिपायमान नहीं होता।

युक्त पुरुष करते हुए भी लिपायमान क्यों नहीं होता? श्रीकृष्ण कहते हैं- "युक्तो मन्येत तत्त्ववित्" वह तो तत्त्व से सयुक्त है न! इसलिए देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूॅघते, भोजन करते,

सोते, श्वास लेते, त्याग इत्यादि से सारे कार्य करते ऐसी धारणा उसे उपलब्ध हो जाती है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थो में ही प्रसारित हो रही है। यह युक्त पुरुष के लक्षण है। प्राप्ति के पश्चात् युक्त पुरुष की रहनी का चित्रण है। जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी उससे अलग रहता है, ठीक उसी प्रकार युक्त पुरुष ससार मे रहते हुए भी उससे अलग रहता है। यह योगयुक्त पुरुष के लक्षण है, न कि ज्ञानमार्ग की साधना का चित्रण है। आजकल प्राय लोग कहा करते हैं कि हम तो ज्ञानी है, हमारी इन्द्रियाँ अपने अर्थो मे वरत रही हैं, हमारे लिए कोई कर्म नहीं है, इत्यादि। ऐसी भ्रान्तियाँ कृष्णकाल मे भी थीं। उन्हीं पर कटाक्ष करते हुए श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि यह योगयुक्त पुरुष के लक्षण हैं और युक्त एक स्थिति विशेष है। युक्त पुरुष के लक्षण का दिग्दर्शन कराते हुए कृष्ण कहते है-

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।। ६।१८

विशेष रूप से वश में किया चित्त जिस समय परमात्मा मे भली प्रकार स्थित हो जाता है उस समय सम्पूर्ण कामनाओं से निस्पृह पुरुष योगयुक्त कहा जाता है। ऐसा पुरुष कर्मो में लिपायमान नहीं होता। जब तक यह स्थिति नहीं मिल जाती, कर्म तो करना ही होगा। श्रीकृष्ण इस विन्दु पर वार-वार वल देते हैं कि ज्ञानमार्ग मे भी कर्म छोडने का विधान नहीं है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।। ६।१

फल के आश्रय से रहित होकर जो 'कार्यम् कर्म' करने योग्य प्रक्रिया विशेप को करता है वही सन्यासी है, वही योगी है। केवल अग्नि और क्रियाओं को त्यागनेवाला, कर्म को त्यागनेवाला न तो सन्यासी हो पाता है और न योगी ही हो पाता है ।

यं सन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।। ६।२

अर्जुन! जिसे सन्यास कहते हैं उसी को तू योग जान, किन्तु कोई भी पुरुष सकल्पों का त्याग किये विना सन्यासी अथवा योगी नहीं हो पाता। सकल्पों का उतार-चढाव मन पर होता है। मन का निरोध होने पर ही सकल्पो का शमन सभव है। अब सकल्पो का निरोध कैसे हो? कहने मात्र से तो सकल्प छूट नहीं जाते। इसलिए श्रीकृष्ण उपाय बताते है-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योग कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।। ६।३

योग में आरूढ होने की इच्छा वाले पुरुष को चाहिए कि कर्म करे। कौन-सा कर्म? 'कार्यम् कर्म', 'नियत कर्म' जो यज्ञ की प्रक्रिया है। काम, क्रोध, लोभ त्यागने पर ही जिसमे प्रवेश मिलता है। कर्म करते-करते योग की पराकाष्ठा पा लेने पर 'शम कारणमुच्यते' सर्व सकल्पो का अभाव है। जिस समय इन्द्रियों के भोगों में पुरुष आसक्त नहीं होता और कर्म करने की आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है, उस समय 'सर्वसकल्प-सन्यासी' सभी सकल्पों का अभाव होता है। वही सन्यास है, वही योग है। वीच में न कहीं सन्यास, न योग ही है। अत पुरुष को चाहिए कि अपनी

आत्मा का उद्धार करे, उसे अधोगति में न पहुँचावे। सिद्ध है कि आत्मा का उद्धार होता है और पतन भी होता है। कर्म के द्वारा मनसहित इन्द्रियों का जिसने भली प्रकार निरोध कर लिया है उसके लिए उसी की आत्मा मित्र वनकर मित्रता में वरतती है, परम कल्याण करनेवाली होती है। जिसके द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गयी हैं, उसके लिए उसी की आत्मा शत्रु वनकर शत्रुता में वरतती है, अधोगति और नीच योनियों में फेंकनेवाली होती है। अत. संन्यास अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, 'कार्यम् कर्म' करने योग्य प्रक्रिया विशेष तो करना ही होगा। इस प्रकार स्थान-स्थान पर श्रीकृष्ण ने दोनों मार्गो में कर्म की अनिवार्यता पर वार-वार वल दिया।

अध्याय ग्यारह के अन्त में श्रीकृष्ण ने अपनी भक्ति पर वल देते हुए कहा--अर्जुन! 'मत्कर्मकृत्' मेरे द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ कर्म मेरे लिए ही कर। 'मत्परम्' मेरे परायण होकर कर। 'मद्भक्त' मेरा अनन्य भक्त हो। किन्तु 'सगवर्जित '- सगदोष में रहते हुए इस कर्म का होना असम्भव है। असग रहकर सम्पूर्ण भूत प्राणियों में जो वैरभाव से रहित है वह मुझे प्राप्त करता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निष्काम कर्मयोग अपनाने का परामर्श दिया। तव अर्जुन ने बारहवें अध्याय में प्रश्न किया कि भगवन्! इस प्रकार जो भक्त निरन्तर आपकी उपासना करते हैं और दूसरे, जो अव्यक्त अक्षर ब्रह्म की उपासना करते हैं, इन दोनों में उत्तम योगवेत्ता कौन है? अर्जुन अब भी यही सोच रहा कि जो श्रेष्ठ है उसी को पकड़ूँ। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने वताया कि मेरे मे मन को एकाग्र करके भजन-ध्यान में 'नित्ययुक्त'- निरन्तर लगे हुए श्रद्धा के साथ जो मुझ (सगुण, सदेह परमेश्वर को, जो समक्ष वर्तमान है) को भजते हैं, वे मेरे को योगियों में भी अति उत्तम योगी मान्य हैं। वस्तुत' श्रीकृष्ण एक योगी थे। साधकों को उन्होंने इगित किया है कि परमात्मा के चिन्तन की अपेक्षा परमात्मा में स्थित ऐसे महापुरुष का भजन श्रेयस्कर है, जो साधक के समय मे वर्तमान हों। ऐसे महापुरुष श्रीकृष्ण की तरह शरीर के आधारवाले होते हुए भी शाश्वत स्वरूप की उपलव्धि वाले होते है। उनके लिए शरीर तो रहने के लिए एक मकान मात्र होता है। ऐसे महापुरुपो के निर्देशन पर भजन में अग्रसर होना ही निष्काम कर्मयोग है। इसी को श्रीकृष्ण भी अति श्रेष्ठ मानते हैं।

दूसरी ओर ज्ञानमार्गी, जो इन्द्रियों को अच्छी प्रकार वश में करके मन-बुद्धि से परे सर्वव्यापी, अकथनीय, एकरस, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, परमात्मा को लक्ष्य वनाकर उसी कर्म में प्रवृत्त होते हैं, 'सर्वभूतहितेरता' ऐसे महापुरुष मेरे को ही प्राप्त होते हैं, किन्तु 'क्लेशोऽधिकतर तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्'' उन पुरुषों के रास्ते में क्लेश अधिक हैं। कौन-सा क्लेश अधिक है? कृष्ण कहते हैं- 'देहवद्भि ' देहाभिमानियो को वह अव्यक्त गति प्राप्त होना दु खपूर्ण है। ज्ञानमार्गी सोचता है, आज साधना मे मै यहाँ पर हूँ, मैं इतनी मजिल तय करूँगा, मैं स्वय को प्राप्त करूँगा। इस प्रकार 'मैं मैं' कहते वह लक्ष्य से बहुत दूर रह जाता है और उसके चारो ओर 'मैं' का आवरण तन जाता है। ज्ञानमार्गी अपने ही वल पर साधन में प्रवृत्त होता है और प्राय वह देहाभिमान में परिणित हो जाता है। ज्ञानमार्ग में यही विघ्न विशेष है।

किन्तु निष्काम कर्मयोग में जो मेरे आश्रित होकर सम्पूर्ण कर्मो को मेरे में सर्मपण करके भाव से निरन्तर 'ध्यायन्त '- ध्यान करते हैं, 'उपासते'- मेरी उपासना करते हैं, 'तेपामह

समुद्धर्ता मृत्यु ससार सागरात्' उन्हे मै ससाररूपी समुद्र से उद्धार कर देता हूँ। ऐसे लोगों का 'योगक्षेम वहाम्यहम्' उनके योग की रक्षा मैं स्वय कर लेता हूँ। इस प्रकार निष्काम कर्मयोग में सुविधा विशेष है क्योंकि अनुरागी की हार-जीत का दायित्व आराध्य पर होता है। अनुरागी मन, क्रम, वचन से निर्भर हो जाय फिर तो सारी जिम्मेदारी आराध्य देव की, उन महापुरुष की हो जाती है।

करउँ सदा तिनकी रखवारी।
जिमि बालक राखई महतारी।।

अत बन्धुओ! चिन्तन-क्रम मे प्रवृत्त होने पर निष्काम कर्मयोग और ज्ञान पथ-- दोनों आप की मुट्ठी में हैं, आपके लिए है। किसी महापुरुष के सरक्षण में, श्रद्धा आप्लावित नेत्रो से चिन्तन में लगे रहने पर आप निष्काम कर्मयोगी की सज्ञा पा जायेंगे। अथवा प्रण प्रधान बुद्धि से हार्दिक साहस बटोरकर स्वय निर्णय लेकर कर्म में प्रवृत्त रहने पर ज्ञानमार्गी कहलायेगे। कर्म तो हर हालत में करना ही होगा। यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। उस कर्म के पालन करने की दो दृष्टियो (ज्ञानयोग तथा निष्काम कर्मयोग) का श्रीकृष्ण ने सविस्तार वर्णन मात्र किया है। जागृति के लिए तो अनुभवी महापुरुष के प्रति अनन्य श्रद्धा तथा उस क्रिया को आचरण में ढालने का चिरन्तन्न विधान है।

।। ॐ ।।

गीतोक्त युद्धस्थल

प्रश्न- महाराजजी! कुरुक्षेत्र की स्थिति को लेकर आजकल मत-मतान्तर, समाचार पत्रों में देखने को मिलते हैं। गीतोक्त कुरुक्षेत्र कहाँ है?

उत्तर- देखिए, गीता एक यौगिक शास्त्र है। गीता पढते सभी हैं, पढना भी चाहिए। यह वात अलग है कि प्रारम्भ में अधूरी जानकारी मिलती है किन्तु अधूरी जानकारी ही पूरी जानकारी के लिए प्रेरणा देती है इसलिए पढना आवश्यक है। गीता कोई विरला महापुरुष जानता है और उनके सरक्षण में कोई विरला अधिकारी साधक ही पढता है। सव न पढते हैं, न जानते हैं। आज गीता पर सैकडों टीकाएँ मिलती हैं, पचीसों मत हैं जिनकी आधारशिला गीता है, योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तो कोई एक ही बात कही होगी। फिर एक ही शास्त्र को लेकर इतना विचार वैभिन्न क्यों? वस्तुत मनुष्य जिस वातावरण में पलता है उसका प्रभाव बुद्धि पर पडता ही है। अपने बुद्धि के अनुसार ही लोग शास्त्र का आशय लगाते हैं। राजनीतिज्ञ के हाथ में गीता पडी तो कहा, 'स्वदेशी कपडा बेचो, यही निष्काम कर्म है। विदेशी कपडा वेचना सकाम कर्म है।' रूढ़िवादियों के अनुसार 'जिसका जो पैतृक पेशा है वही उसका कर्म है' गीता यही कहती है। नेतागण कहते हैं- जो कुछ हमारे सामने है उसे हम करें। यदि हम उसमें घूस लेते हैं तो सकाम कर्मयोगी हैं, नहीं लेते हो निष्काम कर्मयोगी हैं।' सेठ साहूकार कहते हैं कि "गीता में व्यवसाय को कर्म माना गया है।" यही कारण है कि शास्त्र तो एक ही उपदेश करता है परन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार उसे अपने परिवेश मे ढाल लेता है। श्रीकृष्ण ने जिस क्षेत्र में युद्ध का चित्रण किया है, यह केवल वही जान सकता है जो श्रीकृष्ण की स्थिति के समीप अथवा उन्हीं की स्थिति वाला हो। साधन के क्रमिक उत्कर्ष द्वारा श्रीकृष्ण के स्तर तक पहुँचा हुआ पुरुष ही अक्षरश बता सकेगा कि जब गीता कही गयी थी, उस समय श्रीकृष्ण के मनोगत भाव क्या थे? घर बैठे लेख पढकर हिमालय के दृश्यों की केवल कल्पना की जा सकती है। वास्तविक आनन्द के लिए तो हिमालय पर चढना होगा। वहाँ पहुँचने पर आपके समक्ष भी वही दृश्य होगा जैसा आपने पढा था। इसी तरह गीता योगदर्शन है, क्रियात्मक पथ है। केवल अध्ययन करके किवा उसे कठस्थ करके भी कोई गीता के रहस्यों को जान लेने का दावा नहीं कर सकता।

आपका प्रश्न है कि जिस कुरुक्षेत्र मे लडाई हुई थी वह कहाँ है? कुछ लोग कहते हैं कि काशी और प्रयाग के वीच कुरुक्षेत्र है तो कुछ लोग उसे हरियाणा में बताते हैं। किन्तु गीता में ऐसा कुछ भी नहीं है। प्रथम श्लोक में धृतराष्ट्र ने पूछा--

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किम कुर्वत संजय।। (गीता १/१)

टीकाकारों ने इसका अर्थ वताया है कि सजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्र मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? टीकाकार ने क्षेत्र का अर्थ भूमि कहा है जबकि शास्त्रकार का यह आशय नहीं था। जिन योगेश्वर कृष्ण ने क्षेत्र का वर्णन किया, उन्होंने यह भी वताया कि वह क्षेत्र है कहाँ? "इदम् शरीरम् कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।" अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है ऐसा

कहा जाता है। जो इसे जानता है वह क्षेत्रज्ञ है, इसका सचालक है।

इस प्रकार शरीर ही वह क्षेत्र है जिसमें लडाई हुई। इसमे धर्म एक क्षेत्र है। कुरु एक क्षेत्र है। अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र। मनुष्य में जब धृष्टता आ जाती है, वह देखते हुए भी नहीं देखता और जिनके हृदय में धृष्टता का राष्ट्र ही बसा हो उसे देखने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए धृतराष्ट्र अन्धा है। अज्ञान मोह को जन्म देता है। मोहरूपी दुर्योधन, दुर्बुद्धिरूपी दु शासन, कर्मरूपी कर्ण, विकल्परूपी विकर्ण, भ्रमरूपी भीष्म, द्वैत के आचरणरूपी द्रोणाचार्य और आसक्तिरूपी अश्वत्थामा ओर सशयरूपी शकुनि इत्यादि सभी आसुरी सम्पद् है। कुरुक्षेत्र- 'कुरु' अर्थात् करो? आज करते हो ओर अनन्त सृष्टि मे करते जाओ। इन्हीं के बीच जीवरूपी विदुर फॅसा है। जो है तो कौरवों की ओर किन्तु उसकी सीधी दृष्टि पाण्डवों पर है।

दूसरी ओर है धर्मक्षेत्र, जिसमें पुण्यरूपी पाण्डु है, कर्तव्यरूपी कुन्ती है। जब तक पुण्य साथ नहीं देता, तब तक मनुष्य कर्तव्य समझकर जो कुछ भी करता है, उसके बन्धन का कारण होता है, क्योंकि पुण्य जागृत हुए बिना कर्तव्य-अकर्तव्य का निदान नहीं हो पाता। इसलिए पाण्डु के साहचर्य के पूर्व कुन्ती ने जो कुछ पैदा किया वह था कर्ण। आजीवन कुन्ती के पुत्रों से लडता रहा। पाण्डवों या दैवी सम्पद् के लिए सबसे बडा घातक यदि कोई था तो वह था कर्ण। पुण्य जागृत होते ही धर्मरूपी युधिष्ठिर, भावरूपी भीम, अनुरागरूपी अर्जुन, नियमरूपी नकुल, सत्सगरूपी सहदेव का आविर्भाव हो जाता है। जहॉ सद्गुरुरूपी श्रीकृष्ण आत्मा से जागृत होकर शरीररूपी रथ के सारथी बनकर साधक का पथ-सचालन करते हैं। वे हजारो मील दूर रहे किन्तु जागृति के पश्चात् साधक के इतने समीप रहते है जैसे हाथ, पॉव, नाक इत्यादि बल्कि इससे भी समीप, क्योंकि वे तो आत्मा में ही सचारित होते है।

यही है धर्म का क्षेत्र और वह परमधर्म परमात्मा ही है। श्रीकृष्ण कहते हैं- "यह आत्मा ही परमसत्य, सनातन और शाश्वत है।" ब्रह्म की भी तो यही परिभाषा है। आत्मा अशोच्य है, अकाट्य है तो ब्रह्म की भी यही उपाधि है। तात्पर्य यह है कि दर्शन के पश्चात् आत्मा ही परमात्मा से अभिन्न हो जाती है किन्तु आत्मा को इस स्वरूप मे सबने नहीं केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। अत उस परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाली प्रवृत्ति ही धर्मक्षेत्र है। श्रीकृष्ण कहते है--अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है। जो इसका पार पा लेता है वह क्षेत्रज्ञ है। वहं इसमे फॅसा नहीं बल्कि इसका सचालक है। वह आपके अन्दर भी सचालन-क्रिया पैदा कर सकता है और स्वय तो पूर्ण है ही।

इस प्रकार इसी शरीररूपी क्षेत्र में दो प्रवृत्तियॉ अनादि है- एक दैवी सम्पद्, दूसरी आसुरी सम्पद्। इसी को क्रमश विद्या और अविद्या, कुरुक्षेत्र अर्थात् दूषित रूखवाला क्षेत्र और धर्मक्षेत्र अर्थात् परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाला क्षेत्र सम्बोधित किया। वस्तुत शरीर ही एक क्षेत्र है। जब इसमें वहिर्मुखी प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है तब यही क्षेत्र कुरुक्षेत्र कहलाता है। इसी शरीर में जब परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाली प्रवृत्ति सबल हो उठती है तो यही शरीररूपी क्षेत्र उस धर्म से सयुक्त हो जाता है, तब यही धर्मक्षेत्र कहलाता है। उदाहरण के लिए बाल्मीकि का प्रारम्भिक जीवन। व्यक्ति वही है लेकिन सत्पुरुष का साथ हुआ तो वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना। ब्रह्म के समानान्तर स्थितिवाले हो गये।

यह मन है तो अन्धा! अज्ञान से आच्छादित रहता है। (अज्ञान भी मन का एक स्तर है) अत. अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र! धृतराष्ट्र है तो अन्धा किन्तु "सयमरूपी सजय" सयम के माध्यम से यह देखता और समझता है। अज्ञान इसका सहज है। इसलिए पूर्तिपर्यन्त मन में संस्कार मात्र भी जीवित है, इसी दृष्टि सदैव कुरुक्षेत्र की ओर रहेगी। अयुक्त मन को एक ही इन्द्रिय घसीटकर पतित कर देती है "मन एव मनुष्याणाम् कारणं बधमोक्षयो।" अत पूर्तिपर्यन्त खतरा है-

हम जाने मन मर गया, मरा हो गया भूत।
मरते ही पुनि उठि लगा, ऐसा मना कपूत।।

"मुएहु मन मनसिज जागा" की उक्ति चरितार्थ होती है, ऐसा यह शत्रु है। इसलिए वह अन्धा अन्त तक दुर्योधन का पक्ष लेता रह गया। जवकि भली प्रकार जानता था कि पाण्डव सत्य पर है।

सैन्य निरीक्षण- सैन्य निरीक्षण भी युद्धस्थल के आध्यात्मिक स्वरूप को उद्भासित करता है। कौरवो की सेना ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डव पक्ष मे सात अक्षौहिणी सेना थी। दोनों पक्षों को मिलाने पर यह गणना साढे छ अरब के लगभग होती है। प्राय उतनी, जितनी आज विश्व की जनसख्या है। इतनी जनसख्या कुरुक्षेत्र के सीमित मैदान में कट गयी, जानकर आश्चर्य होता है। किन्तु आध्यात्मिक जगत् में ठीक ऐसा ही है। कौरव पक्ष मे दस इन्द्रिय और एक मन यही ग्यारह अक्षौहिणी सेना है। अक्ष दृष्टि को कहते है। मनसहित इन्द्रियमयी दृष्टि से जिसका सचालन है वही है कुरुक्षेत्र, अविद्या की पार्टी। मन और इन्द्रिय यदि अपने विषयों की ओर उन्मुख है तो मोहरूपी दुर्योधन, दुर्बुद्धिरूपी दु शासन, काम, क्रोध, मद, लोभादि आसुरी प्रवृत्तियॉ रहेंगी ही। यही वह कुरुक्षेत्र है, इसी को आसुरी सम्पत्ति कहते हैं। दूसरी ओर योग की सात भूमिकामयी दृष्टि से जिसका गठन है वह है धर्मक्षेत्र, जिसमे अनुरागरूपी अर्जुन, कर्तव्यरूपी कुन्ती, भावरूपी भीम, धर्मरूपी युधिष्ठिर, सत्सग, नियम इत्यादि हैं। और सबके मूल में हैं सद्गुरुरूपी श्रीकृष्ण जो आत्मा से जागृत होकर रथी के रूप में पथ सचालन करते है। इस प्रकार यह दैवी सम्पद् भी अनत हैं। दो दृष्टियों से सेनाओं का मूल्याकन शास्त्रकार ने किया है, न कि वहॉ आमने-सामने कहीं कुछ खडा था।

वीरों का स्वरूप- इस क्षेत्र में स्थित वीरों का स्वरूप भी आध्यात्मिक ही है। युद्ध आरम्भ होने के पूर्व दुर्योधन ने द्रोण से कहा कि अपने शिष्य धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खडी की गयी सेना को देखिये! इन लोगों की यह सेना जीतने में सब प्रकार से सुगम है जबकि हमारी सेना सव प्रकार से अजेय है, जिसमें समितिजय, कृपाचार्य इत्यादि हैं, जो अकेले ही सम्पूर्ण पाण्डवों को जीत सकते हैं। वस्तुत कृपा का आचरण ही कृपाचार्य है। इष्ट और अपने बीच यदि सूत भर अन्तर है तो साधक को कृपा का एक आचरण ही पराभूत कर देगा। "दया विनु सन्त कसाई। दया करी तो आफत आई।।" सीताजी न दया करतीं, न लका में भोगना पडता। लक्ष्यप्राप्ति के पूर्व साधक कृपा के आचरण में उलझा तो कृपाचार्य समितिजय वन जायेगे, पूरे दैवी सम्पत्ति पर विजय पा लेंगे। किन्तु प्राप्ति के पश्चात् कृपा तो योगी का स्वरूप है। किन्तु अधूरी अवस्था में कृपा भी खतरा है।

उत्साहवर्धन करते हुए दुर्योधन ने निर्देश दिया कि भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना सब प्रकार से अजेय है अत हमलोग सभी मोर्चो पर भली प्रकार रहते हुए भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें। दुर्योधन सकेत करता है कि भीष्म चले गये तो फिर हमलोगो के लिए कोई चारा नहीं है। अत' भीष्म वह कौन सी शक्ति है, जिसपर समग्र कौरव समूह निर्भर है। आप सब युद्ध न करें बल्कि भीष्म की रक्षा करे! वस्तुत भ्रम ही भीष्म है। जब तक हमारे आपके भीतर भ्रम विद्यमान है, विकार अजेय हैं। जहॉ भ्रम का निदान हुआ तहॉ बन्धन कारक कर्म भी समाप्त हो जायेगा, मोह भी समूल नष्ट हो जायेगा।

भीष्म की एक विशेषता थी कि उनकी इच्छा-मृत्यु थी। "**इच्छा काया इच्छा माया, इच्छा जग उपजाया। कह कबीर जे इच्छाविवर्जित भ्रम नहीं तहँ भरमाया।।**" इच्छा ही काया और इच्छा ही माया है। इच्छा ने ही जगत् की उत्पत्ति की है। जब तक इच्छा है तब तक भ्रम तो जीवित रहेगा ही। इच्छा का अन्त नहीं दिखता किन्तु एक बिन्दु ऐसा भी है जहॉ जाकर इच्छा समाप्त हो जाती है और वह विन्दु है- भगवत्प्राप्ति की इच्छा। भगवान अलग है और हम अलग है तो उन्हें प्राप्त करने की इच्छा स्वाभाविक है। किन्तु उनके प्राप्त होने पर उनसे श्रेष्ठ कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता, ऐसी अवस्था में वह इच्छा, वह भ्रम निर्मूल हो जाता है। यह भीष्म की इच्छा-मृत्यु का रहस्य था। प्राप्ति के साथ ही इच्छा सर्वथा निर्मूल हो जाती है।

भीष्म उत्तरायण की प्रतीक्षा करते थे। सुरा की उर्ध्वरेता स्थिति ही उत्तरायण है। इगला-पिगला जिसमें क्रमश चन्द्रमा और सूर्य का निवास है, ऐसी श्वास की गति सुरा है। वही जव प्रकृति से उपराम होकर ऊर्ध्व गमन करने लगती है, ईश्वर में प्रवाहित होने लगती है, उस स्थिति में भीष्म सदा-सदा के लिए मर जाता है क्योंकि भगवान में भ्रम तो होता ही नहीं।

दूसरी ओर दुर्योधन कहता है कि भीम द्वारा रक्षित इन लोगो की सेना जीतने मे सब प्रकार से सुगम है। भावरूपी भीम! भीम था तो सबसे बलवान, किन्तु वह वृकोदर था। उसका स्थान था उदर। आज भरा है तो कल खाली। भाव का निवास भी तो हृदय ही रहता है। भाव सबसे शक्तिशाली भी है। 'भावे विद्यते देवा।' यदि भाव हो तो वह परमदेव परमात्मा भी विदित हो जाता है। 'भाव वस्य भगवान, सुख निधान करुना अयन।'- भाव में वह महान शक्ति है कि भगवान को भी वश में कर लेता है। अब इससे बडी कौन सी शक्ति होगी? किन्तु यह इतना नाजुक है कि आज भाव है तो कल अभाव में बदलते देर नहीं लगती। इसलिए दुर्योधन कहता है कि भीम द्वारा रक्षित यह सेना जीतने में सुगम है। साधारण विघ्नों का धक्का लगते ही भाव मिट जाता है।

दोनों पक्षों की शंखध्वनि- तत्पश्चात् दोनो पक्षो में शखध्वनियॉ हुई जिससे युद्धक्षेत्र के अलोकिकता की पुष्टि होती है। शखध्वनि का तात्पर्य अपने लक्ष्य का उद्घोष करना है कि यदि हम सफल हुए तो क्या कर दिखायेंगे, कौन-सी सुख-सुविधा देगे। कौरवो की ओर से एक ही शखध्वनि होती है। पितामह भीष्म ने सिहनाद के समान गरजकर शख बजाया। जगल से आप गुजरें और खुले में शेर की गर्जना सुनाई पड जाय तो रोंगटे खडे हो जायेंगे। सिह भय का प्रतीक है। भय प्रकृति में है, भगवान में नहीं। अत भ्रमरूपी भीष्म यदि सफल होता है तो भय की और भी गहरी पर्तो पर आपको खडा कर देगा। ससार में तो आप पहले से हैं ही, जिसमें भय ही भय

है। भ्रम प्रबल होते ही आप भय से और भी अधिक प्रभावित हो जायेंगे। इससे आगे कौरवों की गति नहीं है। माया के हजार बंधन हैं तो लाख हो जायेंगे, अनन्त हो जायेंगे, भय की ओर ही मात्रा बढती जायेगी। इसके आगे और कोई घोषणा नहीं है। फिर कौरवों की ओर से कई बाजे बजे, नगाडे बजे किन्तु शखध्वनि नहीं हुई।

तदनन्तर पाण्डवों की ओर से शखध्वनि हुई। अलौकिक रथ (वह लौकिक रथ भी नहीं था कि चार पहियों या चार घोडों वाला रहा हो) पर बैठे हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक शख बजाया। इन्द्रियो की पंच तन्मात्राओं (शव्द, स्पर्श, रूप, रस, गध, जो प्रारम्भ में विकृत थीं) को 'जन' की श्रेणी में नियुक्त कर देना अन्तर्यामी सद्गुरु पर निर्भर करता है। सद्गुरु आत्मा से जागृत होकर इन पॉचों के बहिर्मुखी प्रवाह को संयमित कर उन्हें जन की स्थिति में ढाल देता है, उन्हें सेवक बना देता है। इन्द्रियॉ बाधक नहीं, सहयोगिनी बन जाती हैं। यह स्थिति सद्गुरु-कृपा की ही देन है। श्रीकृष्ण भी एक योगी ही थे, सद्गुरु थे। अर्जुन प्रणत होता है- "शिष्यस्तेऽह शाधि मा त्वा प्रपन्नम्।" भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ, धर्म के विषय में मोहित मैं आपकी शरण हूँ। वही उपदेश कीजिए जिससे मै कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। नि सन्देह अर्जुन एक शिष्य है और योगेश्वर श्रीकृष्ण सद्गुरु के स्थान पर है।

"पाचजन्यम् हृषीकेशो देवदत्त धनजय·।" अर्जुन ने देवदत्त नामक शख बजाया। 'अनुराग रूपी अर्जुन।' यदि तीव्र अनुराग है तो साधक दैवी सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त कर लेता है, जो परमदेव परमात्मा में विलय करानेवाली है। इसीलिए अर्जुन का नाम धनजय भी है। "पौण्ड्र दध्मौ महाशख भीमकर्मा वृकोदर ।" वृकोदर भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशख बजाया। भाव सफल होता है तो इष्ट में प्रीति और प्रवृत्ति होती है। यही पौण्ड्र है।

नकुल ने सुघोष नामक शख बजाया। नियमरूपी नकुल। ज्यों-ज्यो आप नियम में प्रवृत्त होते जायेंगे, अशुभ का दमन और शुभ घोषित होता जायेगा। इसी प्रकार सहदेव ने 'मणिपुष्पक' शख बजाया। सत्सगरूपी सहदेव! महर्षियों ने प्रत्येक श्वास को मणि की सज्ञा दी है- 'तेरी हीरा जैसी श्वॉसा, बातो मे बीती जाय रे।" पत्थर की मणि तो कठोर है जो बाहर मिलती है लेकिन यह श्वासरूपी मणि कुसुम सदृश्य कोमल है। आज है तो कल के लिए निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। श्वास टूट गयी तो सदा के लिए चली जाती है इसलिए बहुमूल्य है। अत एक भी श्वास इष्ट के नाम से खाली न जाय। श्वास-प्रश्वास में गमन की क्षमता आ जाय, 'रिनक-रिनक धुनि अपने से उठे' तो एक-एक श्वास मणि की श्रेणी मे आ जाती है। श्वास-प्रश्वास की यह क्रिया सत्सग द्वारा जागृत हो जाती है और एक भी श्वास व्यर्थ न जाय, यह सत्सग पर निर्भर करता है। यदि सत्सग कामयाब होने लगता है तो उस मणि पर, श्वास-प्रश्वास पर अधिकार दिला देता है।

"अनन्त विजय राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिर।" "युद्धे स्थिर स· युधिष्ठिर।" इस आत्मिक सघर्ष में वही स्थिर रह पाते हैं जिनके अन्त.करण मे धर्म का सचार हो। धर्मरूपी युधिष्ठिर। परमधर्म परमात्मा ही है। धैर्यपूर्वक अभ्यास करते-करते साधक जव परमधर्म का स्पर्श पा जाता है अर्थात् धर्म जव हृदय में कामयाव हो जाता है तो 'अनन्त विजयं' उस अनन्त, अखण्ड, व्यापक व्रह्म पर विजय मिल जाती है। यह असम्भव से सम्भव हो जाता है।

लीजिए! कहीं 'अनन्त विजय', कहीं 'देवदत्त', कहीं 'पौण्ड्र', कहीं 'पाचजन्य' जैसे शख बज रहे हैं और स्वय सूत्रकार का कहना है कि सभी शख, सभी घोषणाएँ दिव्य हैं, अलौकिक हैं, लोकिक नहीं। ससार के प्रति इनकी दृष्टि थी ही नहीं। अब आप ही वताइए कि यह कैसा युद्ध-क्षेत्र हे?

अर्जुन विषाद- युद्धस्थल में अर्जुन ने कहा- भगवन्! मेरे रथ को दोनों सेनाओ के बीच में खडा कीजिए। मै देख तो लूँ कि किससे लडना है? श्रीकृष्ण ने रथ वीच मे खडा किया तो अर्जुन कॉपने लगा। उसे पिता के भाई, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, ससुर और सुहृद दिखाई पडे। अठारह अक्षौहिणी सेना मे अर्जुन को पिता का परिवार, मामा का परिवार और ससुराल का परिवार ही दिखाई पडा। क्या सब-के-सब अर्जुन के रिश्तेदार ही थे? नहीं, वस्तुत भगवत्पथ में चराचर जगत् ही युद्ध के रूप मे उपस्थित है। अत यह कहना असम्भव है कि सख्या प्रमाण क्या है? दो दृष्टियों से सेना का विभाजन मात्र है। इनमे अर्जुन ने अपने परिवार और हितेषियों को ही खडा पाया। सबसे पहले अर्जुन ने उन्हे देखा और व्यग्र हो उठा। देखिए, अनुरागरूपी अर्जुन! अनुरागी जब इष्ट के पथ पर अग्रसर होता है तो पारिवारिक आसक्ति उसके समक्ष विकराल रूप लिये आती है। पूज्य परमहसजी कहते थे- "मरव और साधू होब बराबर है।" मरना और साधू होना वराबर है। ससार में और कोई जीवित है भी किन्तु घरवालो के नाम पर कोई नहीं, कभी नहीं। यदि कुछ भी आसक्ति बनी है तो उसका कल्याण नहीं होता, जन्म लेना पडता हे। इसीलिए इतना वडा प्रतिवन्ध है। मन से विस्मरण करना और मरना एक जैसी ही बात हे। सासारिक बन्धन मन की कल्पना मात्र है। इन सम्बन्धों का विस्मरण भी मरण ही है। चेतनारहित होने पर सभी सम्बन्ध लुप्त हो जाते हैं। अत साधक के लिए लौकिक स्नेह-सम्बन्धो का विस्मरण ही श्रेयस्कर है।

इस प्रकार साधक के समक्ष सर्वप्रथम यही समस्या रहती है कि अबोध बच्चों, मामा के परिवार, चाचा के परिवार, सगे-सम्बन्धियों का त्याग कैसे किया जाय? इनके प्रति भी तो कुछ धर्म होता हे। इनका पालन-पोषण भी तो कर्तव्य है। यही तो सनातन कुलधर्म है। धर्म के नाम पर प्राय ऐसी ही कुरीतियॉ सदा ही पनपती रही है। मुसलमानो के आगमन के साथ तथा अद्यावधि ऐसी ही भ्रान्ति है कि स्पर्श करने या उनका एक ग्रास चावल खाने से, एक घूँट पानी पीने से सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा। ऐसी ही एक कुरीति का शिकार अर्जुन भी था। वह भी इन्हीं की दुहाई देने लगा कि अपने ही परिवार का क्षय करने से वह कुलक्षय के दोष का भागी बनेगा और इस प्रकार सनातन धर्म भी नष्ट हो जायेगा। वह यह नहीं कहता कि हम भूल कर रहे हैं वल्कि कहता हे कि हमलोग महान पाप करने को उद्यत हुए हैं अर्थात् कृष्ण पर भी आरोप लगाता है कि आप भी पाप करने जा रहे हैं।

कृष्ण कहते हैं- अर्जुन इस विषम स्थल में तुझे अज्ञान कहॉ से उत्पन्न हो गया? विषम अर्थात् जिसकी समता का कोई स्थल है ही नहीं। जिस युद्ध की बात मै कर रहा हूँ उसके समानान्तर कोई युद्धक्षेत्र ही नहीं है। कुलधर्म नष्ट हो जायेगा, यह अज्ञान की बात कैसी, क्यों? अर्जुन सनातन धर्म के लिए विकल था। सनातन धर्म की रक्षा की बात करना अज्ञान है? कृष्ण

कहते हैं- हॉ, अज्ञान ही है। न तो श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा इसका कभी आचरण किया गया, न ससार में कीर्ति बढानेवाला है और न तो यह परम कल्याण ही करनेवाला है। सम्भावित पुरुषों ने जिसका आचरण नहीं किया, सिद्ध है कि वह अज्ञान ही है।

अर्जुन ने समर्पण कर दिया कि भगवन्! धर्म के विपय में मैं मूढ चित्त हूँ। मैंने सुना है कि यही धर्म है। सत्य क्या है, मै नहीं जानता। जो सत्य हो उसे आप मेरे प्रति कहिए, जिससे मैं परमकल्याण को प्राप्त हो जाऊॅ। पृथ्वी अथवा त्रिलोकी के धन-धान्य सम्पन्न साम्राज्य के लिए भी मैं युद्ध नहीं करना चाहता। क्योंकि देवताओं का स्वामी होने पर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियो को सुखानेवाले इस शोक को दूर कर सके। इससे भी श्रेष्ठ कोई वस्तु हो तो आप उसे मेरे प्रति कहिए। विलक्षण था वह युद्धक्षेत्र, जो भौतिक उपलब्धियों के लिए नहीं वरन् उससे भी श्रेष्ठ स्थिति के लिए आपका आह्वान करता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि सत्य वस्तु का तीनों काल मे अभाव नहीं है और असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है। अर्जुन! यह आत्मा ही परमसत्य है, यही सनातन है। अग्नि इसे जला नहीं सकती, वायु इसे सुखा नहीं सकता, जल इसे गीला नहीं कर सकता। शरीर के मरने पर भी यह मरता नहीं। यह अजर, अमर, अविनाशी, अपरिवर्तनशील है और यही सनातन है। भौतिक क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाला कोई पदार्थ जिसका स्पर्श भी नहीं कर पाता, उसका नाम सनातन है, तो केवल खाने-खिलाने से, एक घूॅट पानी पीने से वह सनातन नष्ट कैसे होगा? हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो सकती है, वह भ्रष्ट नहीं हो सकता। ऐसी ही शंकाओं का निराकरण श्रीकृष्ण ने गीतोक्त कुरुक्षेत्र में किया था और ऐसा ही था वह युद्धस्थल, जिसमें विकारों से लड़कर सनातन एव अव्यय स्थिति की प्राप्ति का मार्ग सद्गुरु श्रीकृष्ण ने अनुरागी अर्जुन को बताया, केवल बताया ही नहीं, उस पर चला भी दिया।

प्रश्न- महाराजजी! कुरुक्षेत्र को आप विजातीय पार्टी कहते हैं लेकिन उस कुरुक्षेत्र में तो कौरव और पाण्डव दोनों ही सेनाएँ एकत्र हुई थीं।

उत्तर- कौन कहता है कि आध्यात्मिक कुरुक्षेत्र में दोनों सेनाएँ एकत्र हुई। कृष्ण कहते हैं "धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे" धर्मक्षेत्र में और कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छावाले एकत्र हुए थे, इसे क्यों नहीं याद रखते? धर्म एक क्षेत्र है, कुरु एक अलग क्षेत्र है।

प्रश्न- क्या महाभारत युद्ध की ऐतिहासिकता सदिग्ध है?

उत्तर- ऐसी बात नहीं है कि महाभारत-युद्ध नहीं हुआ। युद्ध अवश्य हुआ। महापुरुषों ने उस सघर्ष को दृष्टान्त वनाकर उसी के माध्यम से हृदय-देश में प्रकृति और पुरुष के वीच सघर्ष का चित्रण किया। घटना घटी न होती तो उदाहरण कहॉ से आते? किन्तु महाभारत, गीता इत्यादि मात्र ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं हैं। श्लिष्ट एव यौगिक शब्दों में लिखे गये इन ग्रन्थों में आध्यात्मिक रहस्य अनुस्यूत है जिनपर चलकर विश्व का कोई भी मानव परमकल्याण की अनुभूति कर सकता है। यही मानव-तन की चरम उपलब्धि भी है।

वस्तुत· प्रत्येक शास्त्र की रचना दो दृष्टियों से हुआ करती है। तत्त्वज्ञ मनीषियों का यही

चिरन्तन विधान रहा है। शास्त्रों की सरचना मे उनका दो अभिप्राय रहा है, एक तो इतिहास को जीवित रखना, जिससे भावी पीढी को ससार मे जीवन-यापन का मर्यादित मार्ग-दर्शन मिल सके। पिता-पुत्र, भाई-बहन, माता-पिता, सुहृद, मित्र तथा पूज्य गुरुजनों के प्रति आदर्श व्यवहार का प्रशिक्षण इन शास्त्रो के माध्यम से प्रदान करना मनीषियों का प्राथमिक लक्ष्य रहा है किन्तु कुशलतापूर्वक जी-खा लेने मात्र से हमारे कर्तव्यों की इतिश्री नहीं हो जाती। इससे कल्याण की भूमिका अवश्य तैयार होती है किन्तु इतने-से ही वह परम कल्याण सम्भव नहीं जो परमतत्त्व की उपलब्धि से होता है। आत्मिक पथ को प्रशस्त करना, यौगिक-प्रक्रिया का सम्यक् जागरण कराना तथा उस पर मानव-मात्र को चलाना शास्त्र-रचना का मूल हेतु है। इस पहलू के निरूपण मे उस घटित घटना को महापुरुष उदाहरण के लिए ले लेते है। जिसे साधक सरलता से हृदयगम कर लेता है। यही कारण है कि तत्त्वज्ञ मनीषियो ने रोचक, भयानक कथानकों के बीच-बीच में यथार्थ का भी सकेत किया जिससे अधिकारी उसे ग्रहण कर सकें और उस पर चलकर जन्म-मृत्यु की असह्य यातनाओं से छुटकारा पाकर परमश्रेय को प्राप्त कर सके।

॥ ॐ ॥

गीतोक्त युद्ध

प्रश्न- महाराजजी! गीता में युद्ध का स्वरूप क्या है?

उत्तर- देखिये, देश-विदेश में जहाँ जिसने गीता का नाम भी सुना है वह इतना अवश्य ही सोच लेता है कि गीता महाभारत युद्ध की प्रवेशिका मात्र है। इतनी ही नहीं, गीता का नाम लेते ही मानव-मन युद्ध की ओर चला जाता है। परन्तु शास्त्रकार की सूक्ष्म दृष्टि पर विचार करें तो यह अकाट्य निर्णय है कि बाह्य युद्ध नहीं अपितु अन्त करण की दो प्रवृत्तियों का सघर्ष है। इसलिए गीता योगशास्त्र है। सम्पूर्ण गीता में भौतिक सघर्ष अथवा मारकाट का एक भी सूत्र नहीं है।

१- अर्जुन लडना नहीं चाहता था। अठारह अक्षौहिणी में अपने ही परिवार, सुहृद और गुरुजनों को देखकर वह युद्ध से कतराने लगा। सनातन धर्म और कुलधर्म की दुहाई देने लगा। तब भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन! तू न शोक करने योग्यों के लिए शोक करता है और पडितों की तरह वचन कहता भर है परन्तु पडित लोग जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गये है उनके लिए भी शोक नहीं करते क्योकि आत्मा न तो मरता है, न किसी को मारता है। कौन्तेय! सर्दी-गर्मी और सुख-दु:ख को देनेवाले इन्द्रिय और विषयों के सयोग तो क्षणभगुर हैं। इसलिए अर्जुन! तू उनको सहन कर।

क्यो? क्या हिमालय की लडाई थी जो अर्जुन सर्दी सहता? अथवा रेगिस्तान की लडाई थी जो गर्मी सहन करता? कुरुक्षेत्र तो एक समशीतोष्ण स्थली है। कुल अठारह दिन ही तो लडाई हुई। कृष्ण ऐसा निर्देश क्यो देते हैं? वस्तुत वह एक अन्त करण की लडाई है। सुख-दु ख, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी इनका सहन करना एक योगी पर निर्भर करता है। अत: योग की प्रवेशिका वालों के लिये ही इसका विधान है।

२- तदनन्तर श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन! असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं होता और सत्य का तीनो कालो मे कभी अभाव नहीं। यह आत्मा ही परमसत्य है और शरीर नाशवान है, इसीलिए तू युद्ध कर। तो क्या पाडव-पक्ष के शरीर अविनाशी थे? वे भी तो शरीरधारी थे। इससे यह तो निश्चित नहीं होता कि अर्जुन कौरवो को मारे, पाडवों को नहीं। जिधर भी शरीर दिखायी पडे, उधर ही मारना चाहिए था। फिर, जब शरीर नाशवान है, इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है तो कृष्ण किसकी रक्षा मे खडे हैं? अर्जुन कौन था? क्या कोई पिण्डधारी था? कृष्ण की ही मान्यता है कि नाशवान शरीर के लिए श्रम करनेवाले यथार्थ नहीं जानते। इन्द्रियो का आराम चाहनेवाले पापायु वृथा ही जीते है। अत यदि कृष्ण किसी की शरीर-रक्षा के लिए खडे थे तब तो वे भी अविवेकी, पापायु और व्यर्थ जीनेवाले सिद्ध होगे क्योंकि शरीर को तो रोका नहीं जा सकता। अत स्पष्ट है कि गीता सासारिक युद्ध से सवधित नहीं है।

पुन काटने से क्या शरीर कट जायेगा? टहनियो के काटने से क्या वृक्ष सूख जायेगा? असम्भव! वस्तुत जो जिसको जितना दबाता है, बदले मे उसे भी उतना ही दबना पडता है। यह शरीर भी जन्म-जन्मान्तरों मे चुकाया जानेवाला वदला है। शस्त्र से काटने मात्र से शरीरक्रम के समाप्ति की सभावना नहीं है क्योकि शरीर सस्कारों पर निर्भर है। अत शरीर का सर्वथा अन्त तभी होगा जव जन्म-जन्मान्तरों के सस्कारों का अवसान होगा। तभी इस शरीर और आत्मा का

सदा-सदा के लिए विच्छेद होता है। सस्कारों में जो कुछ भी है, सकल्पो में उभडकर आता है। अतएव जिन महापुरुषों ने सकल्प-विकल्प की गति का निरोध कर लिया उन्होने मन के सर्वथा निरोध के साथ ही अन्त करण मे परमतत्त्व, शाश्वत, सनातन, ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पा लिया। **"इहैव तैर्जितः सर्गो येषा साम्ये स्थितं मनः"** उन पुरुषो द्वारा सपूर्ण ससार जीत लिया गया जिनका मन समत्व में स्थित है। क्यों? मन के समत्व और ससार जीतने का क्या सम्बन्ध है? जिसने ससार जीत लिया वह रुका कहाँ? कृष्ण कहते हैं **"निर्दोष हि समं ब्रह्म"** ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर साधक का मन भी उत्थान करते-करते इतना निरुद्ध हुआ कि निर्दोष और समत्व की स्थिति वाला हो गया अत **"तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः"** (५/१८) इसीलिए वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। इसी अवस्था में शरीर का सम्बन्ध सदा के लिए टूटता है, इसके पूर्व कभी नहीं। अत शरीर का वास्तविक नाश चिन्तन-भजन पर निर्भर करता है, न कि तलवार द्वारा काटने पर।

३- अध्याय दस में भगवान श्रीकृष्ण ने् अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियो का सक्षेप मे वर्णन किया कि अर्जुन! सप्तर्षि और उनसे भी पूर्व होनेवाले सनकादि चारों ऋषि मै ही हूँ। सूर्य मे प्रकाश मैं हूँ। अग्नि में तेज मैं हूँ। शस्त्रधारियों में राम मै हूँ। इन्द्रियों में मन हूँ। इसी प्रकार विभूतियो का वर्णन करते हुए कहा कि अर्जुन मेरी विभूतियो कोई अन्त नहीं है, अनन्त है। तुम्हे बहुत जानने से क्या प्रयोजन? जितनी भी ऐश्वर्य युक्त वस्तुएँ है, मेरे ही अश से उत्पन्न जान! जुए मे, छल में जीतनेवालों की विजय मैं हूँ। यदि यह साधारण जुआ है तब तो भगवत्प्राप्ति के साधनो में इसे भी गिना जाता। क्योंकि जीतने पर भगवान मिलते किन्तु सम्पत्ति चाहे जो मिल जाय, जुए से भगवान मिलते किसी को दिखायी नहीं पडे। वास्तव में प्रकृति ही एक जुआ है, धोखे का एक आवरण है। विवेक-वैराग्य से, सतत् लगनपूर्ण साधना से ब्रह्मज्ञ पुरुपो के सरक्षण से जो भी प्रकृति पर विजय पा लेता है उसी की विजय सच्ची विजय है। इसी विजय के अन्त में भगवान रहते है, न कि साधारण जुए के अन्त मे। इसी प्रकार कृष्ण ने कहा, मै सबमे व्याप्त हूँ।

इसे सुनकर ग्यारहवे अध्याय के आरभ मे अर्जुन ने कहा, भगवन्! आपने जो कुछ कहा सर्वथा सत्य है, मै मानता हूँ। इसे सुनकर मेरा अज्ञान, मोह नष्ट हो गया। क्या वस्तुत अर्जुन का मोह नष्ट हो गया था? क्योकि इसी के ठीक पश्चात् भगवान के विराट स्वरूप का दर्शन कर अर्जुन गिडगिडाने लगा। कहीं ज्ञानी को भय होता है? अर्जुन को अभी तक कोरी सैद्धान्तिक जानकारी ही थी। अर्जुन भी इस वात को जानता था। अत उसने प्रार्थना किया कि भगवन्! जैसा आपने वताया है, बल, ऐश्वर्य और विभूतियो से परिपूर्ण आपके उस स्वरूप को मै देखना चाहता हूँ। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय भक्त, अनन्य सखा अर्जुन से कहा--लो, तुम मेरे उसी स्वरूप को देखो। अव, आकाश से पाताल तक सर्वत्र फैले हुए मेरे तेज को देख! मेरे ही अन्तर्गत आदित्यों, वसुओं और अश्विनी कुमारों को देख! मरुद् गणों को देख! चराचर सहित सम्पूर्ण विश्व को मेरे अन्तराल में एक ही स्थान पर खडा देख! इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण दो-तीन श्लोक तक दिखाते चले गये लेकिन अर्जुन ऑखें मलता ही रह गया। तव सहसा भगवान रुक जाते है। कहते हैं--अर्जुन! तू मुझे इन ऑखों से नहीं देख सकता (क्योंकि भगवान तो अगोचर हैं, मन-वुद्धि से सर्वथा परे हैं।) अव मैं तुझे वह दृष्टि देता हूँ कि तुम मुझे देख सको।

भगवान तो सामने खडे ही थे। अर्जुन ने देखा। सहस्रों (अनन्त) सूर्य से भी अधिक उनके

तेज को देखा। सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश दिखाई पडा। अर्जुन को दिग्-भ्रम हो आया (क्योंकि सूर्य से तो ही दिशा का बोध होता है) वह बोला- भगवन्! आपका यह असह्य तेज देखकर मैं दिशाओं को भी नहीं जान पा रहा हूँ 'दिशो न जाने'। हे पुरुपोत्तम! आप स्वय ही अपने से आप को जानते हैं। आप जिसे जना दें वही आपको जान पाता है। वस्तुत भगवान जिस भक्त को बताना चाहते हैं उसके अन्तराल में स्वय दृष्टि बनकर और सामने स्वयं खडे हो जाते हैं। केवल वही देख पाता है, अन्य कोई नहीं।

अर्जुन ने बताया--आपके अन्तर्गत मैं चराचर जगत् को स्थित देखता हूँ। रुद्र, वसु, साध्यगण, विश्वदेव, अश्विनी कुमार, मरुद्गण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धगणों के समुदाय सभी आपके अन्तराल मे स्थित हैं। धृतराष्ट्र के सभी पुत्र, भीष्म, द्रोण, सूतपुत्र कर्ण सबके सब बडे वेग के साथ आपके भयानक मुखों में चूर्ण होते जा रहे हैं। न मैं आपके आदि को देख पाता हूँ, न अन्त को ही देख पाता हूँ और न मध्य का ही निर्णय कर पाता हूँ। रोमाच हो गया, धनुष गिर गया। प्रार्थना करने लगा--"भगवन्! भोजन अथवा शयन के समय, एकान्त अथवा सखाओं के बीच मैंने कभी आपको 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा'-ऐसा कुछ कह दिया था। उन त्रुटियों को आप क्षमा करे।"

छोटी-छोटी बातों के लिए अर्जुन क्षमा-याचना करने लगा। कभी 'कृष्ण' अर्थात् काला कह दिया था। क्या कृष्ण कहना भी कोई अपराध है? कृष्ण का रग साँवला था ही, गोरे कैसे कहे जाते? यादव कहना भी कोई अपराध नहीं था क्योंकि यदुवश में श्रीकृष्ण ने जन्म ही लिया था, और कहा भी क्या जाता? सखा कह देना भी अपराध नहीं था। कृष्ण स्वय अर्जुन को सखा कहकर सम्बोधित करते थे किन्तु जब अर्जुन ने उनके प्रभाव को देखा तो इन क्षुद्र त्रुटियों के लिए क्षमायाचना करने लगा। उसने देखा कि श्रीकृष्ण न तो काले हैं, न गोरे हैं, न यादव हैं और न सखा ही बल्कि यह तो परात्पर ब्रह्म अव्यक्त सत्ता हैं। जिस पर दया करते हैं उसी को दिखाई पडते हैं। इधर दृष्टि बनकर खडे हो जाते हैं उधर स्वय रहते हैं। इस प्रकार अर्जुन ने कृष्ण को तत्त्वत देखा।

भगवान बोले--"अर्जुन! मेरे स्वरूप को जैसा तूने देखा है वैसा तो सिवाय 'न दृष्टपूर्वम्' न तो कोई पहले देख पाया है और न कोई भविष्य में देख सकेगा।" तब तो गीता हम सबके लिए व्यर्थ है, क्योंकि भगवान को देखने की योग्यता केवल अर्जुन तक सीमित रह गयी। स्वय कृष्ण पहले बता आये हैं कि इसी कर्म को करके बहुत से मनीषी मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं--**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः'** (४/१०)।। यहाँ ग्यारहवें अध्याय में कृष्ण कह रहे हैं कि मेरे स्वरूप को पूर्व में तेरे अतिरिक्त न कोई देख पाया, न भविष्य में कोई देख सकेगा। अन्तत कृष्ण कहना क्या चाहते हैं? अर्जुन कौन था? 'अनुरागरूपी अर्जुन!' अर्जुन अनुराग का प्रतीक है। कहना न होगा कि भगवान अनुरागी को ही मिलते हैं--

मिलहि न रघुपति बिनु अनुरागा। किये कोटि जप योग विरागा।

इष्ट के अनुरूप राग अनुराग है और अनुरागी ही अर्जुन है। अनुराग विहीन न तो पहले ही किसी ने भगवान को प्राप्त किया और न भविष्य में ही कभी कोई प्राप्त कर सकेगा। भगवान **"अनुरागिन के उर बसैं, उदासीन के शीश।"**

४- इतना ही नहीं अपितु श्रीकृष्ण ने अपनी प्राप्ति का उपाय भी बताया-

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।११/५५

अर्जुन! जो मेरे द्वारा निर्धारित कर्म करता है, मेरे परायण होकर कर्म करता है, 'सगवर्जित' किन्तु सगदोष के रहते इस कर्म को नहीं किया जा सकता, अत सगदोष से अलग रहकर जो कर्म करता है, जो सम्पूर्ण भूत प्राणियों से सर्वथा वैरभाव रहित है, वही मुझे देख सकता है, जैसा तूने देखा है। सगदोष से रहित होकर नितान्त एकान्त मे अर्जुन किससे लड़ता? फिर यदि अर्जुन लडता तो वह भगवान के स्वरूप को नहीं देख सकता। यदि वह प्रण करके जयद्रथ या कर्ण को मारता है तो 'निर्वैर सर्वभूतेषु' की भगवद् आज्ञा का तिरस्कार करता है। किन्तु अर्जुन लडता है। बिना वेर के लडाई कैसी? इस प्रकार गीता में एक भी सूत्र ऐसा नहीं है जो बाह्य मार-काट का समर्थन करता हो। वस्तुत यह अन्त करण की लडाई है।

५- अध्याय सोलह मे श्रीकृष्ण ने बताया- अर्जुन! इस लोक में प्राणियों के स्वभाव दो प्रकार के माने गये है। एक तो देवो जैसा और दूसरा असुरो जैसा। अभय, अन्त करण की स्वच्छता, इन्द्रियों का दमन, आर्जवम्, क्षमा, दया, अद्रोह, निरन्तर चिन्तन, वास्तविक जानकारी इत्यादि चोवीस लक्षण दैवी सम्पद् के गिनाये, जो सब के सब किसी पहुँचे हुए महापुरुष मे ही सभव है। आशिक रूप में आप मे, हममें भी हो सकते हैं। इसी तरह दम्भ, दर्प, मात्सर्य, काम, क्रोध, लोभ तथा मोह आसुरी सम्पदा को प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं। आसुरी सम्पद् को प्राप्त मनुष्य अनन्त आशा, अनन्त तृष्णा एव अपरिमेय चिन्ताओ से युक्त रहता है। वह सोचता है कि मेरे पास इतना धन हे, भविष्य में इतना हो जायेगा। मैं ही ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ। स्त्री-पुरुष के सयोग से जो कुछ उपलब्ध है, मात्र इतना ही सत्य है, आगे ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है। "आसुरी सम्पद् अधोगति ओर नीच योनियो के लिए होती है जबकि दैवी सम्पद् परमकल्याण और शाश्वत स्थिति के लिए होती है। पाण्डव! तू शोक मत कर क्योकि तू दैवी सम्पदा को प्राप्त हुआ है, तू मुझमे निवास करेगा।" सुधीजनों से कहने की आवश्यकता नहीं है कि दैवी सम्पदा की सभी योग्यताएँ ईश्वरोन्मुख साधको के लिए है, न कि किसी सासारिक योद्धा के लिए।

इसी क्रम में श्रीकृष्ण कहते है कि आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष विचार करता है, "वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रु भी भविष्य में मेरे द्वारा मारे जायेंगे-- ऐसा सोचने वाला अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा को कृश करनेवाला है। उस आत्मा और मुझ परमात्मा के बीच प्रकृति की परतें पडती जाती है, वह मुझ परमात्मा से दूर हो जाता है। ऐसे क्रूरकर्मी नराधमों को में ससार मे वारम्बार अधोगति और नीच योनियों मे ही गिराता हूँ।" इतनी स्पष्ट चेतावनी सुनकर भी क्या अर्जुन लडता? यदि अर्जुन प्रण करके जयद्रथादि किसी को लडाई में मारता तो वह भी अधोगति और नीच योनियों का पात्र होता। फिर तो आसुरी योनियों में जाना चाहिए था जवकि भगवान स्वय कहते हैं कि "अर्जुन! तू मुझमे निवास करेगा।" अर्जुन यदि लडता तो परमकल्याण को न पाता, भगवान को न पाता। खुले हुए नरक के द्वार देखकर भी क्या कोई लडेगा? कभी नहीं। मूर्ख भले ही लडे किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण का शिष्य तो कभी नहीं लडेगा। अत पूरी गीता में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है जो वाह्य मारकाट का समर्थन करे। ससार में झगडे होते रहते हें लेकिन जो जीतता है विजय उसकी भी नहीं होती। जव शरीर ही नाशवान है तो शरीर के उपयोग की वस्तु कब तक साथ देगी? ससार में होनेवाली लडाई तो वदले हैं जिसमें

जन्म-जन्मान्तर के सस्कार चुकाये जाते हैं। वास्तविक युद्ध तो अन्त करण की लडाई है, जिसमें एक बार जीत लेने पर हारने का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता।

६- अध्याय आठ में श्रीकृष्ण ने कहा--"अर्जुन! प्रयाणकाल में मनुष्य जिसका स्मरण करते हुए शरीर त्यागता है प्राय: उसी को प्राप्त होता है और जो पुरुष अतकाल में मेरा चितन करते हुए शरीर का त्याग करता है वह साक्षात् मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।" तव तो वडा सस्ता सौदा है। जनम भर मौज करे, मस्ती काटे, जब मरने लगेंगे तो भगवान का स्मरण कर लेंगे। किन्तु कृष्ण कहते हैं ऐसा हो ही नहीं सकता। उस समय स्मृति भ्रमित रहती है, वुद्धि विकल रहती है। नवीन विचार आ ही नहीं सकते। आजीवन जिस भाव का अभ्यास रहता है, अतकाल में भी वही चितन अनायास खडा हो जाता है। अत अर्जुन! तू आज से ही मेरा चिन्तन कर। कल तो कभी आता ही नहीं। यदि करता है तो आज से ही कर और युद्ध भी कर।

अब निरन्तर चिन्तन और युद्ध कैसे सभव है? हो सकता है कि हम डंडा फेंकते रहें, वाण चलाते रहे और 'जय कन्हैया लाल की' 'जय भगवान' कहते जायें। किन्तु नहीं, इस प्रकार के चितन से काम नहीं चलेगा। उस चितन का विधान भी स्वय श्रीकृष्ण अगले श्लोकों में स्पष्ट करते है-**अभ्यास योग युक्तेन चेतसा नान्यगामिना।** (८/८) अर्जुन! उस चितन का विधान है कि परम वैराग्य मे स्थिर होकर, सगदोष से अलग रहकर, एकान्त देश का सेवन करते हुए, इन्द्रियों को विषयो से भली प्रकार समेटकर, चित्त को सब ओर से खींचकर मुझमे लगाये। सिवाय मेरे किसी दूसरे विषय-वस्तु का चितन न करते हुए मेरा निरन्तर चितन करे।" इस प्रकार भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का चितन न आये। यदि आता है तो भजन नहीं है। एकान्त देश में जहॉ साधक के अतिरिक्त कोई नहीं है, युद्ध किससे होगा? पुन चिन्तन की विधि इतनी सूक्ष्म है कि इष्ट के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का स्मरण तक न हो। मान लीजिए कि आपके सामने रखी वस्तु ही कृष्ण है तो उनके सिवा पृथ्वी, गिलास, पुस्तक, 'मैटर' क्षेत्र की कोई भी वस्तु ध्यान में आ जाय तो चितन नहीं है। जव चितन इतना सूक्ष्म है तो युद्ध कैसे होगा। जिसकी ऑखें बन्द हैं, दृष्टि स्थिर है, तो चित्त को सब ओर से समेटकर जिसने इष्ट मे लगा रखा है, वह लडेगा कैसे? साधारण लडाई में तो शत्रु की गति-विधि क्षण-क्षण पर परखते रहते हैं। ध्यानस्थ व्यक्ति युद्ध किस प्रकार करेगा? अत गीता साधारण युद्ध का उद्‌बोधन नहीं है।

वस्तुत जब साधक चितन में अग्रसर होता है, चित्त को सब ओर से समेटकर इष्ट में निरोध करने लगता है तो मायिक प्रवृत्ति बाधा के रूप में प्रत्यक्ष है। मन उडने लगता है। इन मायिक प्रवृत्तियो का पार पाना ही युद्ध है। वास्तविक युद्ध तो इस आध्यात्मिक क्रिया में ही है इसीलिए अर्जुन प्रश्न उठाता है कि भगवन्! इस मन को मै वायु से भी तेज चलनेवाला पाता हूँ। इसका रुकना तो असम्भव ही है। श्रीकृष्ण उसे उत्साहित करते हैं- **असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।** अर्जुन! इसमे कोई सशय नहीं कि मन वड़ा दुर्जय एव चचल है। वडी कठिनाई से वश में होनेवाला है किन्तु--**"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते"** ।६/३५। अभ्यास और वैराग्य द्वारा अयुक्त मन को भी निरुद्ध किया जा सकता है। मन को एक स्थान पर वार-वार सव ओर से समेटने का नाम अभ्यास है और वैराग्य का आशय है देखी और सुनी विषय-वस्तुओं में राग का सर्वथा त्याग। जहॉ भी चित्त जाय, वहॉ से समेटकर इप्ट में लगाने का नाम ही अभ्यास है।

दीर्घकाल तक अभ्यास और वैराग्य द्वारा यह मन शनै -शनै निरुद्ध होते-होते सर्वथा रुक जाता है। अत अर्जुन! तू अभ्यास कर। इस प्रकार कृष्ण ने चितन का जो स्वरूप बताया उसके लिए वैराग्य और अभ्यास ही एकमात्र माध्यम है जिसमें चित्त को सब ओर से समेटकर केवल इष्ट में लगाना होता है।

इसी रहस्य की ओर सकेत करते हुए श्रीकृष्ण तीसरे अध्याय में कहते है कि अर्जुन! 'अध्यात्म चेतसा'- ध्यानस्थ चित्त से 'युद्धस्व'- युद्ध कर। यदि चित्त ध्यान की ओर उन्मुख है, ऑखें वन्द हैं, सुरत की डोर लग रही है तो युद्ध किससे होगा? किन्तु श्रीकृष्ण कहते है- युद्ध कर। वस्तुत सुरत की डोर लगाते समय जन्म-जन्मान्तरो के सस्कार उभरकर सामने आते है। सग-दोषजनित वर्तमान का दोष, यहॉ तक कि कुछ क्षण पूर्व का टकराव भी दृश्य वनकर सामने आता है। इन विजातीय सकल्पो का पार पाना ही युद्ध है अन्यथा जिसका चित्त ध्यान में केन्द्रित है वह भला किससे लडेगा?

७- इसी सन्दर्भ में इन शत्रुओं पर भी विचार कर लिया जाय जिनसे लडना है। तीसरे अध्याय में अर्जुन ने पूछा- भगवन्! जो कुछ आप कहते हैं, यदि वह सत्य है, फिर मनुष्य न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है? श्रीकृष्ण ने बताया- **'काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवम्'** अर्जुन! रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध ही इस रास्ते के महान शत्रु है। यही ज्ञान-विज्ञान को नष्ट करनेवाले तथा ज्ञानियों के निरन्तर के शत्रु है। इन्द्रियॉ और मन इनके निवास-स्थान है। इसलिए भरतर्षभ! तू पहले इन्द्रियो को वश मे करके कामरूपी इस दुर्जय शत्रु को मार। जब शत्रु अन्दर है तो बाहर कोई किसी से क्यों लडेगा? अत यह अन्त करण की लडाई है, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का सघर्ष है। अत करण की दो प्रवृत्तियॉ पुरातन है- दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद्। एक परम कल्याण करनेवाली है तो दूसरी अधोगति की ओर ले जानेवाली है। जब साधक चिन्तन द्वारा दैवी सम्पद् की ओर अग्रसर होता है तो आसुरी सम्पद् बाधा के रूप में प्रत्यक्ष ही है। इसका पार पाना ही युद्ध है।

८- शत्रुओं का स्वरूप स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण बताते हैं कि ससार ही एक शत्रु है- **ऊर्ध्वमूल अधः शाखम् अश्वत्थम् प्राहुरव्ययम्।** ससार पीपल का वृक्ष है। जिसमे ऊपर आत्मा ही मूल है, नीचे प्रकृति ही शाखाएँ हैं। यह अविनाशी भी है। जो इसे जानता है वह वेद के तत्त्व का ज्ञाता है।

अधश्चोर्ध्व प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।। (१५/२)

अर्जुन! उस ससार वृक्ष की तीनों गुणरूपी जल के द्वारा बढी हुई शाखाएँ, विषय-भोगरूपी कोंपलें देव, मनुष्य और तिर्यक् योनियो में सर्वत्र फैली हुई है। अन्य योनियॉ तो केवल भोग भोगने के लिए है। केवल मनुष्य ही कर्मो का रचयिता है। इसीलिए देवता भी मानव-तन से आशावान है। अत मानव-तन अति दुर्लभ है। इस मानव योनि में कर्मो के अनुसार बॉध लेनेवाली अहम् और ममतारूपी जडें भी नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई है। अत इस ससाररूपी शत्रु को असगतारूपी शस्त्र से काट! यहॉ ससार ही एक शत्रु है।

६- छठें अध्याय मे श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! यह आत्मा ही अपना शत्रु और मित्र है, विश्व में और कोई शत्रु या मित्र नहीं है। जिस पुरुप द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीती हुई हैं, उसके लिए उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है, परम कल्याण करनेवाली होती है और जिस पुरुष के द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गयी हैं उसके लिए उसी की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतती है, अधोगति और अधम योनियों में फेंकनेवाली होती है। अत अर्जुन! तू अपने द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार कर। यहाँ काम शत्रु, क्रोध शत्रु, सगदोष शत्रु, ससार शत्रु तथा इन्द्रियो के अधीन रहनेवाली आत्मा को भी शत्रु कहा गया है। हिन्दू शत्रु, मुसलमान शत्रु, ईसाई शत्रु या राज्य हडपनेवाले को शत्रु नहीं कहा गया। जब शत्रुओं का यही स्वरूप है तो कोई बाहर किसी से क्यो लडेगा? जब शत्रु घर में है तो बाहर वालों से लड़ना कौन-सी बुद्धिमानी है?

दुनिया मे झगडे होते रहते है। आज जीते तो कल हारे! विश्व विजय का सपना देखनेवाला सिकन्दर भी आहे भरता रह गया। ससार नश्वर है। यदि इतने के लिए ही कोई सिर पीटता है तो सिद्ध है कि वह अविवेक से आवृत्त है। जो स्वय नश्वर है, उसमें हम ढूँढ क्या रहे हैं? वहाँ विजय कहाँ? वास्तविक युद्ध इस आध्यात्मिक प्रक्रिया मे है जिसमें एक बार विजय पा लेने पर पुन कभी हार नहीं होती। इस प्रक्रिया में मन के निरोध के साथ ही ससार का निरोध हो जाता है, सस्कारों का निरोध हो जाता है। मनसहित इन्द्रियों के निरोध होते ही आत्मा अनुकूल और विदित हो जाती है। उस दिग्दर्शन के साथ ही जीवात्मा उस परमतत्त्व में प्रवेश पा जाती है, विलय हो जाती है, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता। यह ऐसी विजय है जिसके पीछे कभी हार नहीं होती।

क्रमश साधना के सही दौर मे पडकर अनुभवी महापुरुष के ससर्ग और कृपाप्रसाद से जब हृदय में यौगिक क्रिया जागृत हो गयी, वे प्रेरक अभिन्न होकर, आत्मा से रथी बनकर रथ-सचालन करने लगे तो क्रमश चलाते-चलाते, प्रकृति की भँवर से निकालते हुए साधक को अपने समकक्ष उसी स्थान पर खडा कर देगे जहाँ से फिर पीछे लौटकर जीवात्मा आवागमन मे नहीं आती। यह ऐसी विजय है, जिसके पश्चात् काल, कर्म और प्रकृति पर विजय मिल जाती है। साधक पुरुषत्व में चेतन का प्रतिबिम्ब पा लेता है। फिर तो काल, कर्म और प्रकृति उस पुरुषत्व मे विलीन हो जाती है। इस स्तर पर पहुँचकर साधक स्वय कल्याणस्वरूप, एकरस, अविनाशी, अव्यक्त और स्रष्टा का प्रतिबिम्ब पा जाता है। यही इस आध्यात्मिक युद्ध का परिणाम है। उस प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों ने निर्णय पाया कि **'ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किंच जगत्यां जगत्'** सर्वत्र ईश्वर का वास है। दूसरे शब्दो मे किंचित् मात्र भी जगत् है ही नहीं, तो कोई नष्ट कहाँ होगा? गड्ढा है ही नहीं तो कोई गिरेगा किसमें? अत पूर्णता प्राप्त कर लेने पर पुनरावर्तन का विधान नहीं है। यही शाश्वत विजय है। वास्तव में गीता अन्त करण की लडाई है। अन्त करण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं- दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद्। दैवी सम्पद् कल्याण के लिए है तो आसुरी सम्पद् नीच योनियों में ले जाने वाली होती है। साधक जब परमतत्त्व की ओर, विद्या की ओर अग्रसर होता है तो आसुरी सम्पद् बाधा के रूप में प्रत्यक्ष ही है। इन प्रवृत्तियों का पार पाना ही युद्ध है। बाहरी मार-काट गीता का अभीष्ट नहीं है।

।। ॐ ।।

सनातन धर्म (हिन्दू-धर्म)

प्रश्न- महाराजजी! आजकल हिन्दू-धर्म मे अनेक रूढ़ियाँ, अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं। सभी अपने को सनातनधर्मी कहते हैं। कृपया बताया जाय कि सनातन धर्म क्या है?

उत्तर- धर्म में समय-समय पर भ्रान्तियॉ पनप जाया करती है। सनातन धर्म के नाम पर भी पनपती आयी हैं किन्तु उन युगों मे भी ऐसे महापुरुष होते आये हैं जो उस दलदल से समाज को निकालकर प्रशस्त पथ पर खडा कर देते हैं। भगवान राम ने यही किया। श्रीकृष्ण ने यही किया। वुद्ध, शकराचार्य, कवीर, नानक, तुलसी सभी ने यही किया। आज भी कुछ रूढियॉ प्रचलित हें, भले ही उनका स्वरूप कुछ दूसरा है।

आज भी अधिकाश तथाकथित सनातनधर्मी नहीं जानते कि वस्तुत सनातन धर्म है क्या? देखा जाता है कि कोई पीपल की पूजा करता है, कहता है-- सनातन धर्म है। भूतो की पूजा, वह भी सनातन धर्म, देवी-देवताओ की पूजा भी सनातन धर्म, तीर्थो की पूजा भी सनातन धर्म मानी जाती है। यहॉ तक कि तैतीस करोड देवताओ की गणना किसी समय मे हुई थी और अव भी वे पनपते, वढते जा रहे है। भुइयॉ रानी, सन्तोषी मॉ जैसी देवियों का सृजन होता जा रहा है। चित्रकूट क्षेत्र में लोमडी के बिल की पूजा होती है। एक विशेष पर्व पर कोल-भील उसकी पूजा करते हैं। मजीरा लेकर बिल के चारों ओर नाचते-कूदते गाते है- **'लोहखरी के बिल से निकली भवानी लप-लप टेबरी खाइयो मॉ!'** अर्थात् लोमडी के बिल से भवानी निकलेगी और जो नैवेद्य (उवला हुआ महुआ) हम अर्पित करेंगे, वह लपलप सेवन करेगी और वदले में हम लोगो का कल्याण-साधन जुटायेगी।

इसी प्रकार नाग-पूजा, बैल-पूजा, हाथी-पूजा तथा कुत्ते की भी पूजा होती है। तुकाराम नामक एक मस्त महात्मा थे। एक वार उन्होंने भगवान को भोग लगाने के लिए भोजन तैयार किया। इतने मे एक कुत्ता रोटी लेकर भाग चला। तुकाराम ने सोचा कि भगवान का भोग कुत्ता नहीं खा सकता। सिद्ध है कि भगवान ही कुत्ते का रूप धारण करके आये है। बस, घी का कटोरा लेकर कुत्ते के पीछे दौड पडे कि महाराज रोटी सूखी है। आपके गले उतरेगी कैसे? घी तो लगा देने दो। भावावेश में दौडते रहे। वही तुकाराम बडे अच्छे सन्त हुए। लोगों ने पूछा-महाराज! रोटी कोन ले गया था? तुकाराम बोले- विट्ठल भगवान ले गये। उसी दिन से कुत्ते की पूजा आरम्भ हो गयी। यह पूजन उन्होंने चलाया नहीं था, वे तो अपने भावावेश में थे।

गुरु गोविन्द सिह ने परिस्थितियो से बाध्य होकर एक बाज पाला, जो इस बात का प्रतीक था कि जैसे एक वाज पक्षियों के झुण्ड पर टूट पडता है वैसे ही प्रत्येक वहादुर को वनना चाहिए। केवल इस प्रेरणा के लिए उन्होंने वाज को माध्यम बनाया था। उनके पश्चात् अव सिख जहॉ वाज देख लेते हें, उनके सम्मान की भावना लोगों मे उभर आती है। इस प्रकार महापुरुषों के नकल पर भी अनेक रूढियॉ पनप जाया करती है।

प्रारम्भ में शास्त्रार्थ और दिग्विजय ही विद्वता का प्रमाणपत्र था। शास्त्र तो नपे-तुले हैं, उनपर कितना विवाद हो? शास्त्र के श्लोक कम पडने लगे तो गढे जाने लगे। किसी ने पूछा कि ये श्लोक

उसने अपने को प्रमाणित कर दिखाया। उसका नाम ही लोगों ने काला पहाड रख दिया। कहा जाता है कि हिन्दुओ के साथ उसने वहुत ज्यादती की। ज्यादती उसने की या हिन्दुओं ने उसके साथ ज्यादती की?

विचार कीजिए, धर्म की शरण हम क्यो ग्रहण करते हैं? इसलिए कि हम दुर्वल हैं, धर्म सवल है। हम मरणधर्मा है लेकिन धर्म शाश्वत है। हम धर्म की शरण इसलिए ग्रहण करते हैं कि वह हमारी रक्षा करे, जन्म-मरण से छुटकारा दिलाकर शाश्वत व्रह्म में स्थिति दिलाये। हम तो काटने से मरे, जहर से मरें और धर्म इतना गया गुजरा हो गया कि एक घूँट पानी पीने से, एक ग्रास चावल खाने से, रोटी के एक टुकडे से नप्ट हो जाता है। जो फलों का रस पीने से नष्ट हो जाता है, वह हमारी रक्षा क्या करेगा? सिद्ध है कि वह धर्म नहीं, धर्म के नाम पर कोई रूढि पनप रही थी जो धर्म की सज्ञा पा गयी।

अग्रेज आये तो उन्होंने भी यही किया कि हिन्दुओं को किसी तरह अपने साथ खिलाओ-पिलाओ। ईसाई मिशनरियॉ इसके लिए अधिक सक्रिय थीं। वॉदा जिले के मानिकपुर के पास इसी प्रकार की मिशनरी है। वे कोल-भीलों को अपनाते हैं। उनके दु ख-दर्द में दवा-कपडा वॉटते हैं। फिर उन्हें खाना खिलाकर छोड देते हैं और सुविधा वन्द कर देते हैं। प्रचार करा देते हैं कि यह भील ईसाई वन गया। भील जव अपने समाज मे आता है तो सुनने को मिलता है, "तै क्रिस्तान होईगा। देख मोर भडवा न छुइहे।" अर्थात् मेरे वर्तन न छू देना। भोली-भाली जनता धर्म-कर्म क्या जाने। सव लकीर के फकीर! यह धारणा व्यापक रूप से प्रसारित हो चली। यहॉ तक कि शहरों से लेकर जगलो तक, उच्च से निम्न श्रेणी तक, मद्रास से मरुस्थलपर्यन्त--जहॉ कई-कई मील पर घर होते हैं। सर्वत्र एक ही धारणा वन गई कि पात्र मत छूना। तुम ईसाई हो गये।

भारतीय अपने को जगत्गुरु, विश्वगुरु कहेंगे किन्तु भारत से बाहर समुद्र पार करने में धर्म चला जाता है। जब पार ही नहीं होगे तब विश्वगुरु कैसे होंगे! वस्तुत सनातन धर्म इतना अगाध और उदार है, जिसके बल पर भारत विश्वगुरु कहलाता है। विश्व का मानव भारत की अध्यात्म विद्या का ऋणी है। वशिष्ठ, अगस्त्य इत्यादि महर्षियो ने विश्व का भ्रमण किया था। ऋग्वेद में वशिष्ठ की समुद्र-यात्रा का उल्लेख है। आज यहॉ तक रूढियॉ फैलीं कि समुद्र पार मत करो अन्यथा धर्म नष्ट हो जायेगा। कोलम्बस से भी हजारों वर्ष पूर्व भारतीय सभ्यता का प्रचार अमेरिका मे हो चुका था। वहॉ की प्राचीन प्रस्तर-मूर्तियो से ऐसा ज्ञात हुआ है। दक्षिण-पूर्वी एशिया तो पग-पग पर भारतीय सभ्यता से अनुस्यूत है। आज समुद्र-यात्रा से धर्म नष्ट हो जाता है।

ठीक इसी प्रकार की कतिपय रूढियॉ कृष्णकाल मे भी प्रचलित थीं। उनमें से एकाध रूढि का शिकार अर्जुन भी था। दोनों सेनाओं के वीच में उसके रथ को जव योगेश्वर श्रीकृष्ण ने खडा कर दिया तो अर्जुन ने वहॉ अपना परिवार, मामा का परिवार, ससुराल का परिवार, सुहृद और गुरुजनो को ही खडा पाया। अर्जुन ने केवल अपने परिवार और सम्वन्धियो को देखा और कुछ भी नहीं देखा। रोमाच हो आया, अश्रुपात होने लगा। वोला-अपने ही परिवार को मारकर मैं कैसे सुखी होऊँगा? कुलधर्म सनातन है। ऐसा युद्ध करने से सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा। कुलधर्म शाश्वत है- ऐसा युद्ध करने से शाश्वत धर्म नप्ट हो जायेगा। कुलधर्म पुरातन है, पुरातन धर्म नप्ट हो जायेगा। कुल की स्त्रियॉ दूषित हो जायेंगी। स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसकर पैदा होगा, जो

कुल और कुलघातियो को नरक मे ले जाने के लिए ही होता है। अत हम लोगो को धर्मरक्षा के लिए कोई उपाय तुरन्त करना चाहिए। हमलोग समझदार होकर भी महान पाप करने को उद्यत हुए हें। हम भी भूल करते हैं- ऐसी वात नहीं, आप भी भूल करते है। कृष्ण को भी लाक्षित किया। ऐसा कहते हुए अश्रुपात करता अर्जुन धनुष का त्याग करके रथ के पिछले भाग मे वैठ गया। वोला- गोविन्द। अव मै युद्ध कदापि नहीं करूँगा।

तव योगेश्वर श्रीकृष्ण ने हँसते हुए से कहा, "अर्जुन। तुझे इस विषम स्थल मे अज्ञान कहॉ से उत्पन्न हो गया? जिस स्तर को युद्ध मैने बताया है, उसकी समता का कोई स्थल दुनिया मे हे ही नहीं। तूने यह तर्क कहॉ से लाकर रख दिया? तुझे यह अज्ञान कहॉ से उत्पन्न हो गया? क्यों, अज्ञान् कैसा? अर्जुन तो सनातन धर्म की रक्षा के लिए उद्यत था। क्या सनातन धर्म की रक्षा भी अज्ञान है? कृष्ण कहते है- न तो श्रेष्ठ पुरुषो मे कभी इसका आचरण किया, न तो यह स्वर्ग को ओर न कीर्ति को ही देनेवाला है। अर्जुन जिसके लिए आहे भर रहा था, सम्भावित पुरुषो ने कभी उसका आचरण ही नहीं किया। यदि सनातन धर्म वही होता तो श्रेष्ठ पुरुप उसका आचरण अवश्य करते। सिद्ध है कि वह सनातन धर्म नहीं, मात्र अर्जुन का अज्ञान था।

अर्जुन ने प्रश्न किया, "भगवन्। मैने ऐसा सुना है कि कुलधर्म ही सनातन है। इसका पालनकर्ता ही वास्तविक सनातनधर्मी है। मैंने सुना भर है, देखा नहीं है। अब धर्म के रास्ते मे मोहित चित्त मैं आपकी शरण हूँ, आपका शिष्य हूँ। मुझे वह उपदेश कीजिए, जिससे मै परम कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। किन्तु भगवन्। स्वर्ग के साम्राज्य स्वामित्व और धन-धान्य सम्पन्न पृथ्वी के अकटक साम्राज्य में भी मैं उस कल्याण को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियो को सुखानेवाले शोक को दूर कर सके। अत इतना ही मिलेगा तो मै युद्ध नहीं करूँगा। बल्कि यही लोग राज्य करें, हम भिक्षा पर ही निर्वाह कर लेगे। (भीष्म, द्रोण इत्यादि गुरुजनों को मैं बाणों से कैसे मारूँगा? वस्तुत आध्यात्मिक पक्ष ऐसा है जिसमे अन्त में "गुरु न चेला पुरुष अकेला" रह जाता है। गुरु का गुरुत्व, ईश्वर का ईश्वरत्व शिष्य के अन्तराल मे प्रवाहित हो जाता है। न गुरु ही विलग रहता है, न प्रभु ही। उनका पृथक् अस्तित्व अन्ततोगत्वा मिट जाता है। यही उनका मरना है।) अत इसके आगे भी कोई सत्य हो तो उसे मेरे प्रति कहिए।"

तव कृष्ण ने कहा-- अर्जुन। तू शोक न करने योग्यों के लिए शोक करता है और पण्डितो जैसी वातें भर करता है। पण्डितों की जानकारी से तू वहुत दूर खडा है। पण्डित लोग जिनके प्राण चले गये हें उनके लिए शोक नहीं करते और जो जीवित हैं, उनके लिए खुशी भी नहीं मनाते, क्योंकि आत्मा न कभी मरती है, न जन्म लेती है। यह केवल वस्त्र वदलती है। अर्जुन ने पूछा था- इसके आगे भी कोई सत्य हो तो कहिए। श्रीकृष्ण ने बताया कि आत्मा ही सत्य है। यह आत्मा परम सत्य है। आत्मा ही सनातन है। हमलोग कौन है? सनातनधर्मी। आत्मा शाश्वत है। हमलोग कौन हें? शाश्वत धर्म के अनुयायी। जो इस आत्मा को उपलब्ध करा देनेवाली प्रक्रिया नहीं जानता वह सनातन धर्म का प्रत्याशी हो सकता है किन्तु सनातनधर्मी नहीं है। वह प्रक्रिया विशेष सनातन धर्म की क्रिया कहलायेगी जिसके द्वारा उस आत्मा की प्राप्ति सभव है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इसी क्रिया को कर्म, निष्काम कर्मयोग के नाम से सम्वोधित किया है, जो यज्ञ की प्रक्रिया विशेष है। इस आत्मा की प्राप्ति का वही एकमात्र उपाय है। मन के निरुद्ध अवस्था में ही उस आत्मतत्त्व का

दिग्दर्शन सभव है।

श्रीकृष्ण ने कहा कि यह आत्मा अकाट्य है, अशोक्य है। वायु इसे सुखा नहीं सकता, पानी इसे गीला नहीं कर सकता, अग्नि इसे जला नहीं सकती, आकाश अपने में समाहित नहीं कर सकता। यह अजर, अमर, शाश्वत और अमृत स्वरूप है। जिसमें मृत्यु का प्रवेश नहीं होता। प्रकृति मे उत्पन्न होनेवाली कोई भी वस्तु उस सनातन का स्पर्श ही नहीं कर सकती तो एक घूँट पानी पीने से तथा रोटी का एक टुकडा खाने से वह सनातन नष्ट कैसे हो सकता है? वह अजर-अमर सनातन मर कैसे सकता है? सिद्ध है कि धर्म के नाम पर कतिपय रूढियाँ प्रचलित हो गयी थीं। उन्हीं के चगुल में फँसकर सनातन धर्म को माननेवाला समुदाय अस्त-व्यस्त हो गया। वस्तुत वह सनातन धर्म नहीं था। उसके नाम पर एक रूढि पनप गयी थी।

जव सनातन शाश्वत आत्मा सवके अन्दर है ही तो ढूँढ़ा किसे जाय? शरीर के भीतर अजर-अमर-शाश्वत कोई वस्तु दिखाई तो नहीं पडती। रात-दिन शोक, सन्ताप और मृत्यु ही दिखाई देती है। कृष्ण कहते हैं- अर्जुन! यह आत्मा अचिन्त्य है। जव तक चित्त और चित्त की लहर है तब तक वह आत्मा दिखाई नहीं देती। तव तक हमारे उपभोग के लिए आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है। जव तक इन्द्रियों और विषयों का भोग है तब तक हमारे लिए आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। अर्जुन! वस्तुत· आत्मा ही अजर, अमर और शाश्वत है। प्रश्न उठता है कि आप कहते हैं इसलिए मान लें। कृष्ण समाधान करते हैं-अर्जुन! आत्मा को इन विभूतियों से युक्त केवल तत्त्वदर्शियो ने देखा कि आत्मा सत्य है, यही परम सत्य है, शाश्वत और सनातन है। किसने देखा? तत्त्वदर्शियों ने देखा! न किसी प्रोफेसर ने देखा, न दस भाषाओ के जानकार ने देखा, न किसी समृद्धशाली ने ही देखा। इन विभूतियों से युक्त आत्मा को केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा।

अब एक नवीन प्रश्न खडा होता है कि तत्त्वदर्शिता क्या है? कृष्ण कहते हैं कि तत्त्व की चाहवाले पुरुषो को चाहिए कि कर्म करें। सगदोष से अलग रहकर, इन्द्रियों को वासनाओं से भली प्रकार समेटकर, परम वैराग्य मे स्थित रहते हुए, एकान्त देश का सेवन करते हुए चित्त को ध्यान मे लगावे। यह नहीं कि हम कुछ भी करते हैं तो कर्म करते हैं। इस योग में निश्चयात्मक क्रिया एक ही है। उस नियत बिधि विशेष की जानकारी होनी चाहिए। लक्ष्य वास्तविक होना चाहिए। दीर्घकाल तक सतत् अभ्यास करते-करते मन इतना सूक्ष्म हो गया कि काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सर इत्यादि बाह्य प्रवृत्तियाँ अन्त करण से सर्वथा शान्त हो गयीं। विवेक, वैराग्य, ध्यान और समाधि उभरकर आ गये, पूर्णत परिपक्व हो गये। उस समय वह साधक ब्रह्म को जानने योग्य होता है। आवश्यकता तो थी तत्त्व जानने की किन्तु कृष्ण कहते हैं- ब्रह्म को जानने योग्य होता है, क्योंकि तत्त्व और ब्रह्म एक दूसरे के पर्याय है। इसी योग्यता का नाम पराभक्ति है, भक्ति अपनी पराकाष्ठा पर है, परिणाम देने की स्थिति मे है। इस पराभक्ति के द्वारा ही पुरुष उस परमतत्त्व को जानता है।

उस समय परमतत्त्व जानने मे तो आ जाता है किन्तु वह तत्त्व है कैसा? कृष्ण कहते हैं- अर्जुन! मैं जो हूँ, जिन विभूतियों से युक्त हूँ, अजर-अमर-शाश्वत-अव्यक्त जिन अलौकिक गुणधर्मो वाला हूँ उसको जानता है। अर्थात् भगवान जो हैं, जिन अलौकिक गुणधर्मो से सयुक्त हैं उनको

जानता है और मुझको जानकर अर्जुन! तत्क्षण मुझमे ही प्रवेश कर जाता है। पहले तो भगवान जानने में आता है और दूसरे ही क्षण अपनी आत्मा को ईश्वरीय गुणधर्मो से भरपूर खडा पाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी इसी स्थल के लिए सकेत करते हैं- **"तुम्हरिहिं कृपा पाव कोई कोई।"** भगवन्! तुम्हारी ही कृपा से कोई-कोई ही तुम्हें पाते है। पाने पर उसका स्वरूप कैसा होगा? **"जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।"** तुम्हे जानकर वह तुम ही बन जाता है। श्रुति है **"ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मैव भवति"** ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है। साधना की पूर्तिकाल मे उस परमतत्त्व परमात्मा का जिसने दिग्दर्शन और स्पर्श किया तो उस क्षण उसे भगवान दिखाई पडे किन्तु दूसरे ही क्षण वह अपनी आत्मा को ही ईश्वरीय गुणधर्मो से परिपूर्ण, अव्यक्त और शाश्वत की श्रेणी में पाता है। श्रीकृष्ण परमात्मा को ही परमतत्त्व मानते हैं, न कि पॉच तत्त्व या पच्चीस प्रकृति को।

तत्त्वदर्शी महापुरुषों ने, जिन्होने भगवान को प्रत्यक्ष देखा, साक्षात्कार किया, उन्होने देखा कि आत्मा ही परम सत्य है, आत्मा ही शाश्वत है, आत्मा ही सर्वत्र व्यापक है, इसके आगे कोई सत्य नहीं और यही सनातन है। अत॰ यदि हमे तत्त्व की चाह है, सनातन धर्म की चाह है तो हमे आत्मा की प्राप्तिवाली प्रक्रिया विशेष को समझना चाहिए और उस पर चलना चाहिए। आत्मानुभूति ही सनातन धर्म है।

आत्मा देश में, विदेश में, यूरोप में, अमेरिका में, रहस्यमय सौरमण्डल एव जो टापू खोज में न आये हों, उनमें भी सर्वत्र एक ही जैसी है, व्यापक है। सभी आत्माएँ उसी एक शाश्वत सत्ता की आशा करती हैं। यह वात अलग है कि सकटापन्न स्थिति मे उस सत्ता की याद धुँधली पड जाय। अरवी भाषा में उसे खुदा कहते हैं। अग्रेज उसी को 'सुप्रीम गॉड' कहकर पुकारते है, जिसे सस्कृत में ब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। आत्मा सब में समान है। कोई यूरोप में पैदा हुआ हो अथवा विश्व के किसी कोने में, यदि वह उस आत्मतत्त्व की ओर अभिमुख है तो सनातनधर्मी है। आग्ल भाषा के माध्यम से जल को वे 'वाटर' भले ही कह ले, 'सुप्रीम गॉड' कहकर वे उसी आत्मा की प्राप्ति करेंगे।

यदि हम आत्मा की प्राप्ति करा देने की प्रक्रिया से अवगत नहीं है तो हम सनातन धर्म के प्रत्याशी भले हो, सनातनधर्मी नहीं हैं। जब तक भूत-प्रेत या इधर-उधर पूजाएँ करते रहते है तव तक हम सनातन धर्म से अवगत नहीं है। इन्हीं रूढियों मे फॅसकर छूने-खाने से नष्ट होने की घडी आई, जवकि आजकल कोई छूने-खाने से नष्ट नहीं होता। इसका कारण यह नहीं कि अव धर्म सवल हे वल्कि लोग साक्षर हो गये हैं। वे पूछ बैठते है कि वताइये पण्डितजी! धर्म नष्ट कैसे हुआ? धर्म का स्वरूप क्या है? पडितजी तो वह भी नहीं जानते। चुप हो जाते हैं। अत धर्म सवल नहीं हुआ वल्कि धर्म पर उँगली उठानेवालों का समूह वॅट गया। छूने-खाने वाले लोग भी नहीं जानते कि वस्तुत धर्म है क्या? कर्म है क्या?

अव यदि आपको उस क्रिया विशेष को जानना है जिसका नाम धर्म है, सनातन आत्मा की प्राप्ति करनी है तो श्रीकृष्ण के शव्दों में तत्त्वदर्शी सद्गुरु के पास जाओ। निष्कपट भाव से सेवा और प्रश्न करके उन्हें प्राप्त करो।

।। ॐ ।।

जाति-प्रथा

प्रश्न-- महाराजजी, आज की जाति-प्रथा कहाँ तक उपयोगी है?

उत्तर- देखिये, वर्ण-व्यवस्था को लेकर दुनिया में पर्याप्त झगडे हैं। देश-विदेश में लाखों जातियॉ एव उपजातियॉ प्रचलित हैं और न जाने कितनी अतीत के गर्भ में विलीन हो गयीं। किन्तु गीता, रामायण इत्यादि प्रमुख भारतीय ग्रन्थों में ऐसा कुछ नहीं है। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार दुनिया मे सभी मनुष्य केवल दो प्रकार के होते हैं- एक देवता जैसा, दूसरा असुरों जैसा। इस विभाजन का आधार क्या है? वस्तुत अन्त करण की दो प्रवृत्तियॉ पुरातन हैं- एक दैवी सम्पद्, दूसरी आसुरी सम्पद्। आसुरी सम्पद् अधोगति और नीच योनियों के लिए होती है और दैवी सम्पद् परमकल्याण के लिए होती है। जिस हृदय में दैवी सम्पद् कार्य करती है वह मनुष्य देवताओं जैसा है और जिस हृदय मे आसुरी सम्पद् कार्यरत है वह मनुष्य असुरों जैसा है। एक अधोमुखी है तो दूसरी ऊर्ध्वमुखी। एक ईश्वर में विश्वास करती है तो दूसरी प्रकृति में। आसुरी सम्पद् अधोगति और नीच योनियो में ले जाने के लिए होती है तो दैवी सम्पद् परमकल्याण के लिए होती है।

दैवी एव आसुरी सम्पद् के लक्षण क्या हैं? श्रीकृष्ण ने इस पर भी प्रकाश डाला। इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, एकाग्रता, धारावाही चिन्तन की प्रवृत्ति, विवेक, वैराग्य, ईश्वर की वास्तविक जानकारी, शरणागति, सरलता--इस प्रकार चौबीस लक्षण गिनाये जो सबके सब तो किसी पहुँचे हुए महापुरुष में अथवा उनके समीप की अवस्था वाले में सम्भव है। आप में भी हो सकते हैं, हममे भी हो सकता है। यह दैवी सम्पत्ति परमकल्याण के लिए है। अर्जुन! तू दैवी सम्पत्ति को प्राप्त हुआ है। तू मुझमें निवास करेगा। शोक मत कर।

आसुरी सम्पत्ति के लक्षण बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, अनन्त तृष्णा-- सभी आसुरी सम्पद् हैं। आसुरी सम्पद् से आप्लावित पुरुष सोचता है कि स्त्री-पुरुष के सयोग से जितनी वस्तु दुनिया में दिखाई पडती है, उतना ही सत्य है, ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है। मैं ही ईश्वर एव ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ। वह सोचता है कि मेरे पास इतनी सम्पत्ति है, भविष्य मे इतनी और हो जायेगी। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और यश को प्राप्त होऊँगा। ऐसे पुरुष यज्ञ और दान भी केवल दिखावे के लिए ही करते हैं। उनकी दृष्टि में ईश्वर अनावश्यक है, वे प्रकृति में ही विश्वास करनेवाले हैं, इसीलिए असुर कहलाते हैं। परमदेव परमात्मा पर निर्भर रहनेवाले सुर कहलाते हैं और सुरत्व से विमुख प्रकृति प्रधान लोगों को असुर कहा जाता है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति मे दैवी सम्पत्ति सग्रहीत होती जायेगी, त्यों-त्यों वह देवत्व की ओर अग्रसर होता जायेगा। क्रमश उन्नत होते-होते सर्वथा निरोधकाल में, ध्यान और समाधि की अवस्था में, वह परमदेव परमात्मा का प्रतिबिम्ब पा जाता है। दिग्दर्शन के साथ ही वह उसी परमतत्त्व परमात्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर तो वह स्वय परमानन्द स्वरूप है, शाश्वत है, जिसे श्रीकृष्ण ने इगित किया--'अर्जुन! तू मुझमें निवास करेगा। जीवभाव में नहीं।'

कभी-कभी मनुष्य दैवी सम्पत्ति की ओर अग्रसर तो नहीं हो पाता किन्तु मन में विकलता रहती है कि काश! हम भी करते। इस दशा में स्पष्ट है कि उसके अन्तर्गत वह दैवी सम्पद् कार्यरत है। देवता की ओर उन्मुख तो है किन्तु सफल नहीं हो पाता, कर नहीं पाता--ऐसी स्थिति में वह

सामान्य मानव है। जब वह इस पथ पर चलने मे सफल होता है तो देवताओं जैसा है और जब वही प्रकृति प्रधान होता है तब मानव भी नहीं है। उस समय मानवाकृति होते हुए भी वह असुरों जैसा है। 'खाओ पीओ मौज करो' तक ही उनकी दृष्टि सीमित है। वे 'ससार' मे शोध के लिए चलते हैं किन्तु जब शरीर ही नश्वर है तो उसका भोग्य 'ससार' कब सत्य होगा। इसीलिए शरीर के साथ ही उनकी सारी शोध शान्त हो जाती है जबकि दैवी सम्पद्‌ उत्तरोत्तर बढती ही जाती है नष्ट तो कभी नहीं होती; 'अनेक जन्म ससिद्धः' तक का विधान है। मान लीजिए इस जन्म मे आपसे थोडा भी चलते बना और शरीर का समय समाप्त हो गया तो भविष्य के जन्म में साधन वहीं से पुन आरम्भ होता है जहॉ से छूटा था और क्रमश चलते-चलते ''अनेक जन्म ससिद्ध ततो यान्ति परा गतिम्।'' अनेक जन्मों के परिणाम मे वह वहीं पहुॅच जाता है जिसका नाम परमसिद्धि अर्थात् परमात्मा है। श्रीकृष्ण कहते हैं वह मेरा निज स्वरूप है।

जब से सृष्टि मे सभ्यता आयी (वैसे सृष्टि अनादि है। कब से जागृति आयी- यह कहना असम्भव है। कोई भी आदिवासी नहीं है), सुदूर अतीत मे यही दो जातियाँ थीं--सुर और असुर। देवासुर सग्रामों से शास्त्र भरे पडे हैं। वास्तव मे मनुष्य के यही दो स्वरूप हैं; आज के शब्दो में, एक आस्तिक और दूसरा नास्तिक। यही विभाजन सदैव रहा है और रहेगा। वैदिक काल की यह शोध अक्षुण्ण है।

प्रश्न- महाराजजी! तब तो आज जो नास्तिक है, सदैव नास्तिक ही बना रहेगा?

उत्तर- नहीं, ऐसी बात नहीं है। क्योकि सभी के अन्त करण मे दोनों प्रवृत्तियॉ विद्यमान हैं। जब आसुरी प्रवृत्ति बलवती होती है तो दैवी सम्पत्ति प्रसुप्त होती है, लेकिन वह मर नहीं जाती। कहीं ठोकर लगने से अथवा सत्सग से सत्सस्कार पडते ही दैवी सम्पत्ति उद्‌दीप्त हो उठती है और आसुरी सम्पत्ति सुप्त होती जाती है। शनै-शनै वह परमदेव का देवत्व प्राप्त कर लेता है। अन्त करण की दोनों प्रवृत्तियों का उतार-चढाव तब तक रहता है जब तक इष्ट के अंक मे प्रवेश नहीं मिल जाता। जब तक साधना इतनी उन्नत नहीं हो जाती कि ईश्वर उर-प्रेरक के रूप में सचालन करने लगे, तब तक आसुरी प्रवृत्ति कामयाब होती रहती है।

वाल्मीकि नास्तिक थे। डाका, चोरी हत्या ही उनके स्वभाव में था। नारदादि ऋषियों को भी न छोडा। पेड से बॉध दिया। किन्तु उन महापुरुषों की सगति से उनके अन्त करण का दस्यु स्वभाव समाप्त हो गया और वे ब्रह्मर्षि के पद पर प्रतिष्ठित हो गए। सतो का सग करो, टूटी-फूटी सेवा करो, उनके द्वारा निर्दिष्ट साधना पकडो। सब उसी पथ के पथिक हैं। नास्तिकता तो सगति के अभाव में पडी एक भॅवर मात्र है। आस्तिकता आत्मदर्शन की प्रवृत्ति सबमें है।

अन्त करण की इन्हीं दो प्रवृत्तियों के आधार पर मनुष्य दो जाति, दो स्वभाव अथवा दो प्रकार का होता है। सुदूर अतीत में देवासुर जातियों का उल्लेख इसी तथ्य को इगित करता है। कालान्तर में किसी ने किसी पर विजय पायी, उसके नाम पर वंश एव जाति-परम्परा का उद्‌भव हुआ। क्रमश यक्ष, रक्ष, किन्नर, गन्धर्व इत्यादि जातियों का सृजन हुआ। मडूक, वानर, ऋक्ष इत्यादि जातियॉ फेलीं। वे वन्दर और भालू नहीं, हमारे आपके ही पूर्वज थे, मनुष्य थे। जामवन्त अच्छे ज्योतिषी थे। क्या भालू ज्योतिषी होता है? कालान्तर में उन्हीं की औरस पुत्री जामवन्ती से श्रीकृष्ण का विवाह हुआ। क्या श्रीकृष्ण ने भालू से पाणिग्रहण किया? हनुमान भक्त और परम

विवेकी थे। वालि सन्ध्या करता था। वालि का दोप केवल इतना था कि अपने छोटे भाई की पत्नी पर अधिकार कर लिया। वालि यदि पशु होता तो मर्यादा पुरुपोत्तम राम मानवोचित उक्त नियम के उल्लघन के लिए उसे दण्ड क्यों देते?

वस्तुत वानर एक जाति थी, मण्डूक एक जाति थी, घोडा एक जाति थी। हैहय नरेशों का वर्णन पुराणो मे मिलता है। शनैः-शनै सभी जातियॉ अतीत के गर्भ में विलीन हो गयीं। तदनन्तर व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियॉ प्रकाश में आयीं। किसी समय इनका भी वहुत जोर था। अब तो इनमें भी एक जाति की लाखों उपजातियॉ वन गयीं। व्राह्मणो में दो वेद पर अधिकार रखने वाले द्विवेदी, तीन पर अधिकार रखनेवाले त्रिवेदी, चारों वेदों के ज्ञाता चतुर्वेदी कहलाये। अग्निहोत्र करानेवाले अग्निहोत्री वन गये। शिक्षा देनेवाले उपाध्याय वने। उपाध्यायों में भी कई शाखाएँ निकलीं। खोरिया उपाध्याय, कटोरी उपाध्याय, परात उपाध्याय? स्पष्ट है यज्ञों में किसी को परात लेने का अधिकार था तो किसी को कटोरा लेने का।

क्षत्रियों में राजाओं के लडकों को राजपूत कहा गया। प्रतिहारी करनेवाले प्रतिहार कहे गये। महाराजा रघु के राम पर रघुवंशी, इसी तरह सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी, यदुवंशी क्षत्रियों का वर्ग वना। कुरु के नाम पर कौरव वंश चला, पाण्डु से पाण्डव वंश किन्तु आज कोई कौरववशी नहीं है, न पाण्डव वशी। महाराणा प्रताप के वश की एक घटना है। किसी किले को हस्तगत करने के लिए राणा ने भरे दरबार मे बीडा रखा। दो सरदारों में होड लग गयी। दोनों की टुकडियों ने अपना-अपना शौर्य दिखाना प्रारम्भ किया। मुगलों से घमासान युद्ध होने लगा। सूर्यास्त हो चला तो एक सरदार चिल्लाया कि मुझे सूर्यास्त के पूर्व किले में प्रवेश कर जाना है, अन्यथा मेरा प्रण पूरा नहीं होगा। हाथी किले के फाटक को नुकीली कीलों के कारण तोड़ने में हिचक रहा था। सरदार ने कीलो पर सीना लगाकर महावत को हाथी आगे बढ़ाने का आदेश दिया और कहा- 'हर हर महादेव' वोलते हुए मेरी लाश सूर्यास्त से पूर्व ही किले के भीतर पहुँचा देना।" ऐसा ही किया गया। हाथी के दबाव और कीलों से सरदार का सीना छलनी हो गया। दरवाजा टूटने ही वाला था कि अकस्मात् दूसरे सरदार की दृष्टि उस पर पडी, जो सीढियॉ लगाकर अपने सैनिकों को किले के भीतर ले जाने के प्रयास में जीवन की बाजी लगा रहा था। उसने सोचा कि पहला सरदार तो मुझसे पहले ही किले मे प्रवेश कर जायेगा अत उसने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि मेरा सिर काटकर तुरन्त किले के भीतर फेक दो। सैनिकों ने सेनापति की आज्ञा का अक्षरश· पालन किया और कहना न होगा कि विजयश्री भी ऐसे उत्साहियों का ही वरण करती है। सूर्यास्त होने के पहले ही किला राजपूतों के हाथ में था। महाराणा ने दोनों सरदारों के नाम पर दो वश चलाये। शक्ति के नाम पर शक्तावत और चूडा के नाम पर चूड़ावत वश चला।

रीवॉ नरेश गुजरात नरेश के पुत्र थे, उनका नाम था व्याघ्रदेव। यहॉ लड-भिडकर उन्होंने रीवॉ राज्य की स्थापना की। उनके नाम पर वघेल वश चला। विद्वत्ता, शौर्य, व्यवसाय और प्रादेशिक निवास से जातियो के गठन का विस्तार होता गया। गन्ध बेचनेवाले गॉधी, हीरे-जवाहरात के व्यवसायी जौहरी, सोने के व्यवसायी स्वर्णकार, लोहे का काम करनेवाले लुहार, भूननेवाले भडभूँजा, तेल का काम करनेवाले तेली, हलवा वनानेवाले हलवाई, सोने की थाल में खानेवाले सोनथालिया, मूपक का आहार करनेवाले मूसहर, चमडे का काम करनेवाले चमार, कोटार पर

रहनेवाले कोठारी, भण्डार पर रहनेवाले भण्डारी, माला बनानेवाले माली, कपडा धोनेवाले धोबी, कन्नोज के रहनेवाले कान्यकुब्ज, मगध के मागध, अम्बष्ठ, जायसवाल--क्या यह सब भी कोई जाति है? पूर्ण समृद्धिशाली कौरव और पाण्डव जातियॉ भी नष्ट हो गयीं, जिनकी सुरक्षा के लिए सघर्ष हुए थे। हैहय इत्यादि समृद्ध जातिया खो गई तो क्या आज की जातियॉ सुरक्षित है? यह केवल तुच्छ पदवियों का मोह है। इसी प्रकार रूढ़ियो का प्रचलन बढता गया और लोग सकीर्णताओं से घिरते गये। अब तो ये जातियॉ भी धुँधली पडती जा रही हैं। भविष्य में सम्भव है सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, काग्रेस इत्यादि जातियॉ हो अथवा और कुछ हो। क्यों? क्योकि अतीत की जातियॉ, जिनका निष्ठा से पालन प्रचलन था, लुप्त हो गई तो इनके भी लुप्त होने मे कोई सन्देह नहीं। वस्तुत मनुष्य केवल दो प्रकार के होते हैं। श्रीकृष्ण का यही मत है।

प्रश्न- लेकिन, महाराजजी! कृष्ण तो मनुष्यों को चार प्रकार का मानते हैं- ''चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्।''

उत्तर- देखिये, चौथे अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं- ''चातुर्वर्ण्य मया सृष्टम्'' चार वर्णो को मैंने रचा। तो क्या चार प्रकार के मनुष्य बनाये? नहीं, बल्कि ''गुणकर्म विभागश '' गुणो के माध्यम से कर्म को चार भागों में बॉटा। गुण एक कसौटी है जिस पर कसकर कर्म को चार श्रेणियो में विभक्त किया। इसी को अठारहवें अध्याय में और स्पष्ट करते है-''कर्माणि प्रविभक्तानि'' कर्म बॉटे गये हें न कि मनुष्य। मनुष्य तो दो ही प्रकार का है। अब आप इग्लैण्ड में पैदा हुए हो या भारत में, अरव में अथवा दुनिया के किसी कोने में, यह दो प्रवृत्तियॉ उसमें स्वाभविक रहेगी। मनुष्य या तो देव ईश्वर प्रधान होंगे अथवा प्रकृति में विश्वास करनेवाला। देव प्रधान हैं तो देवताओ जैसे, और प्रकृति प्रधान हैं तो असुरों जैसे होंगे।

इस प्रकार दैवी सम्पत्ति की प्रवृत्ति वाला प्रत्येक पुरुष धार्मिक है। परमात्मा ही तो एक सनातन है, इसलिए उसकी पिपासा वाला सनातन धर्मी है। अपनी इसी देन के कारण भारत जगद्गुरु था। भारत ने ही विश्व को दैवी सम्पद् एव परमदेव परमात्मा तक की दूरी तय करा देने वाली प्रक्रिया दी। केवल पुस्तक पढने से वह क्रिया नहीं आती। प्राप्तिवाले, अनुभवी महापुरुषों की शरण में टूटी-फूटी सेवा और उनके अनुसार थोडी सी साधना करने से वह क्रिया जागृत हो जाती है, वे आराध्य आत्मा से खडे होकर पथ-सचालन करने लगते है जिसके माध्यम से चलकर साधक उसी देवत्व में प्रवेश पा जाता है। इसलिए विश्व में कोई कहीं पैदा हुआ है, यदि दैवी सम्पत्ति की ओर अग्रसर है तो सनातन धर्मी है। हॉ, यह बात अलग है कि वह सनातन धर्म का पिपासु मात्र है। सनातन धर्म का शुद्ध अनुयायी वह तब होगा जब कोई अनुभवी महापुरुष 'सद्गुरु' मिल जायॅ और उसके हृदय से आत्मा को जागृत कर दें अर्थात् जिस सतह पर वह आत्मा है, उसे उसी सतह से जागृत कर, शनै-शनै पथ-सचालन करते हुए उस परम की ओर ऊपर उठा दे। उस दिन से वह सनातन धर्मी की श्रेणी मे आ जाता है, इसके पूर्व वह पिपासु मात्र है।

अन्त करण की इन दोनों प्रवृत्तियों तथा मानव मात्र को अपने ही जैसा पाकर भारतीयों ने समग्र विश्व को स्थान एव विलय दिया। गोपनीय अध्यात्म विद्या के माध्यम से क्रमश उटाकर शाश्वत सत्य की गरिमा से उन्हें अवगत कराया। यही कारण था कि भारत विश्वगुरु वना? वाल्मीकि रामायण का उल्लेख है कि राम के यज्ञ में, जिसमें समस्त प्रजा एव ऋषि आमन्त्रित थे,

भोजन परसने इत्यादि की सेवा में राम ने अपने विश्वस्त अनुचरों एव मित्रों को नियुक्त किया जिसमे विभीषण और उसका परिवार, जामवन्त एव अगद का परिवार भी सम्मिलित था, किन्तु इन अधम जातियो के हाथ से परोसा भोजन करने मे ऋषियों, विप्रों एव जनता को कोई आपत्ति नहीं थी। सभी ने तृप्ति के साथ भोजन किया और इन सेवकों की सराहना की। अत छूने-खाने से धर्म कभी नष्ट नहीं होता।

वस्तुतः प्राप्तिवाले महापुरुष समाज के बीच कभी अन्तर नहीं डाल सकते। यह तो अधकुचलो की देन है। जो उस परम का दिग्दर्शन और मूल की स्थितिवाला है, जो कण-कण में व्याप्त है, वह समाज मे भेदभाव नहीं डाल सकता। वह कभी नहीं कह सकता कि भारत में ही राम हैं, बाहर नहीं। यदि कोई ऐसा कुछ कहता है तो सिद्ध है कि वह अभी ईश्वर तत्त्व को नहीं जानता। महापुरुषो के पश्चात् उनके नाम पर अपनी ख्याति अर्जित करनेवाले अथवा उदर-पोषण की प्रवृत्ति लेकर जीने-खानेवाले लोग ही सम्प्रदायवाद, रूढिवाद एवं मानव का विभाजन कर देते हैं। कबीर ऐसे ही लोगो को लक्ष्य करके कहते हैं--

कोई सफा न देखा दिल का।
सॉचा बना झिलमिल का रे......कोई।।
काजी देखा मुल्ला देखा, पंडित देखा छलका।
औरों को वैकुण्ठ बतावे, आप नरक में सरका।।
बिल्ली देखा बगुला देखा, सर्प जो देखा बिल का।
ऊपर ऊपर बनल सफेदी, भीतर गोला जहर का।।
पढ़े लिखे कुछ वेद शासतर, भरल गुमान बरन का।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लानत ऐसे तन का।।

कबीर कहते हैं कि ऐसे लोगो को धिक्कार है जो वेद-शास्त्र पढ़ें और शरीर का भेद बना रहे। तब उसने वेद पढा ही कहॉ? कृत्रिम जातियॉ तो पैदा होती आई हैं नष्ट हुई हैं, नित्य पैदा हो रही हैं, नष्ट हो रही है, पैदा होगी और नष्ट भी होती रहेंगी। मनुष्य की केवल दो श्रेणियॉ दो जातियॉ स्वाभाविक हैं। वास्तव मे मनुष्य मात्र दो प्रकार के हैं। न चार प्रकार के, न हजार प्रकार के।

प्रश्न- महाराजजी, यदि यही दो जातियाँ है तो असुर कहलाना कौन पसन्द करेगा?

उत्तर- करना तो नहीं चाहिए किन्तु अधिकाश पसन्द करते है। असुर का यह अर्थ नहीं कि दो सींग वाली, बडे दॉतोवाली, लाल-लाल ऑखोवाली कोई जाति रही हो। कृष्ण देवता थे, उन्हीं के सगे-सम्बन्धी पाण्डव मानव थे और सगे मामा कस, सम्बन्धी बाणासुर, जरासध, शिशुपाल सभी असुर थे। अच्छे आचरणों से मनुष्य ही देवता बन जाता है और बुराइयों पर चलकर वही असुर भी कहलाता है। असुर वह है जो परमदेव परमात्मा के देवत्व पर विश्वास न करे। बहुत से लोग आज भी ईश्वर को नहीं मानते। हैं वे असुर ही नाम चाहे जो दे ले। आजकल प्रचलित जाति-प्रथा न तो स्वाभाविक है और न उपयोगी ही। जो स्वाभाविक है, 'नेचुरल' है अनिवार्य है, उसे क्यों नहीं मानते? न भी मानें किन्तु वह आपके अन्तःकरण में प्रवाहित रहेगी।

।। ॐ।।

'विप्र'

प्रश्न- महाराजजी, ब्राह्मण कोई जन्म से होता है कि कर्म-साधना से बनता है? विप्र का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर- देखिये, विप्र ही नहीं शूद्र भी माता से जन्म नहीं लेता, यह योगसाध्य है। भजन की स्थितियाँ हैं। वर्ण पर प्रकाश डालते हुए योगेश्वर कृष्ण गीता में कहते है-

ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः।। (१८।४१)

हे परतप! 'स्वभाव प्रभवैर्गुणै ' स्वभाव मे जागृत गुणों द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म विभाजित किये गये हैं। विभाजित वस्तु कर्म है, न कि मनुष्यों को विभाजित किया गया। स्वभाव परिवर्तनशील है, सदैव बदलता रहता है। स्वभाव के परिवर्तन से गुणों मे परिवर्तन होता रहता है। अत गुणों में परिवर्तन होने पर वर्ण परिवर्तन होना स्वत सिद्ध है। कर्म की चरमोत्कृष्ट अवस्था में, इच्छाओ सहित अन्त करण जीत लेने पर गुण सहित स्वभाव भी शान्त एव विलीन हो जाता है। इसी अवस्था में परम कल्याण, परमतत्त्व की प्राप्ति होती है जिसे परम नैष्कर्म्य स्थिति कहते हैं। गोस्वामी जी ने गीता का ही अनुवाद विनय पत्रिका में कर दिया है--

गुण स्वभाव त्यागे बिनु, दुर्लभ परमानन्द।। (पद स २०३)

गुण स्वभाव के मिट जाने पर ही उस परमानन्द की प्राप्ति सभव है। गुणो के अतर्गत ही आवागमन है। स्वभाव के जीते जी प्रकृति जीती है। गुण और स्वभाव के विलय हो जाने पर परम तत्त्व सहज ही प्राप्त हो जाता है। साधना की पूर्तिकाल में गुण और स्वभाव नहीं रह जाते अत कोई वर्ण भी नहीं रह जाता। जब गुण ही नहीं है तो विभाजन किसका हो? वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी वर्ण नहीं रह जाता। आत्मा ही कैवल्य स्वरूप बच रहती है। इस प्रकार चारों वर्ण साधना के चार ऊँचे-नीचे सोपान हैं। कोई भी साधक स्वभाव और गुणों में परिवर्तन लाकर उच्च वर्गो में प्रवेश पा सकता है और अंत में वर्णो से परे भी हो सकता है। वर्ण का निर्धारण जन्म से नहीं वल्कि स्वभाव में जागृत गुणों से होता है।

अव आइये विप्र की व्युत्पत्ति और पराकाष्ठा पर दृष्टिपात करें। श्रीकृष्ण कहते है-

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।। (१८।४२)

तप (शाश्वत धर्म के लिये इन्द्रियो का तपाना ही तप है। उसके अनुरूप ढालना, उसकी कसोटी पर मन को कसना ही तप है।) इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, शुद्धता, अत करण की शान्ति, 'आर्जवम्' सरलता, वास्तविक क्रिया की जानकारी ज्ञान, विज्ञान अर्थात् अनुभवी उपलव्धि, आस्तिक भाव--ये सव "ब्रह्मकर्म स्वभावजम्" ब्राह्मण श्रेणी का कर्म है जो स्वभाव से जन्मा है, उत्पन्न हुआ है। यह ब्राह्मण श्रेणी के कर्म की प्रवेशिका है, निम्नतम सीमा है। ब्राह्मण श्रेणी की पराकाष्ठा में, प्राप्तिकाल में कोई कर्म नहीं रहता क्योंकि गुण और स्वभाव ही लुप्त हो जाते हैं। ब्राह्मण श्रेणी के कर्म करते-करते गुण स्वभाव से परे होते ही साधक वर्ण से परे हो जाता है।

शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

कोई भी प्राणी कर्म का सही स्वरूप समझकर इस ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता है, ब्रह्म में विलय पा सकता है। सबके लिए इसका समान विधान है। दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा--

त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। (२।४५)

अर्जुन! वेद तीनो गुणों तक ही प्रकाश करते हैं। तू तीनों गुणों से ऊपर उठ अर्थात् वेदों से ऊपर उठ। गुणों से ऊपर उठा तो वेदों से ऊपर उठ गया। किस प्रकार ऊपर उठ? निर्द्वन्द्व, नित्य, सत्त्व वस्तु में स्थित रहते हुए योगक्षेम को न चाहता हुआ, आत्मपरायण हो। प्रश्न उठता है कि हम ही उठें या और भी कोई ऊपर उठा है? वेदों या तीनों गुणों से ऊपर उठ जायेंगे तो हम क्या हो जायेंगे? हमारी स्थिति क्या होगी? श्रीकृष्ण कहते हैं--

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। (२।४६)

सर्वत्र परिपूर्ण स्वच्छ जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय (गडही) से मनुष्य का जितना प्रयोजन रह जाता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदों से उतना ही प्रयोजन रहता है। क्षुद्र जलाशय मे अधिक से अधिक लड़के शौच-क्रिया कर लेते हैं, इससे अधिक मनुष्य के लिये उसका कोई उपयोग नहीं रह जाता। ठीक इतना ही प्रयोजन ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदो से रह जाता है। महापुरुष के लिए वेद नगण्य हैं किन्तु दूसरों के लिए तो वेदों का सब प्रकार से महत्त्व है। वेद ब्रह्म को ही विदित कराते हैं और जिसने ब्रह्म को ही जान लिया उसके लिए वेद का क्या महत्त्व? किन्तु वह गड़ही के रूप में है, क्योंकि इन्हीं वेदों को ही कल्याणोत्थान के लिए निरूपित करता है। अत' अर्जुन! तू तीनों गुणों तथा वेद से ऊपर उठ। ब्रह्म को जान, ब्राह्मण बन। आज अर्जुन क्षत्रिय है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण एक स्थिति विशेष है। कोई भी साधक क्रमश चलकर उस विप्रत्व में प्रवेश पा सकता है और उसको भी पार करके ब्रह्म को जानकर ब्रह्म में पूर्ण स्थिति ही प्राप्त कर लेता है जो विप्रत्व की उच्चतम सीमा है। स्वयं के लिये वह न विप्र है और न शूद्र, किन्तु अन्य के लिये वह विप्र स्वरूप है। अत किसी जाति विशेष के लिए ही (जैसा आजकल समाज मे प्रचलित है) विप्रत्व का विधान हो, ऐसी बात नहीं है। यदि गीता सत्य है तो उसकी यही व्यवस्था सत्य है। इन्हीं शास्त्रों के माध्यम से हम समझ पाते हैं कि हमारा धर्म क्या है? कर्म क्या है? क्रिया क्या है?

उस विप्र के लक्षण क्या हैं? तत्त्ववित् पुरुष के लक्षण क्या हैं? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं--

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। (५।१८)

विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण और चाण्डाल में, गाय, कुत्ता तथा हाथी में 'पण्डिता' पूर्ण ज्ञानी लोग 'समदर्शिन' समान दृष्टि वाले होते हैं। उनकी दृष्टि में न गाय धर्म है, न कुत्ता अधर्म। न विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण कोई अधिक विशेपता रखता है, न वह चाण्डाल कोई हीनता। क्यों? क्योंकि सबके अतराल में जिस शाश्वत आत्मा का संचार है वे महापुरुष उसी परमात्मा की

स्थितिवाले हैं, सबके मूल में स्थित होते हैं। ऐसे महापुरुष की दृष्टि जब भी किसी पर पडती है, उसके आत्मिक प्रसार पर ही पडती है। आत्मा पर पडती है, चमडी पर नहीं। वह जीवात्मा उत्थान अथवा पतन जिस स्थिति मे होती है, उसको वहीं से मार्गदर्शन उन महापुरुष द्वारा प्राप्त होने लगता है। यह ब्रह्मस्थित, प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष के लक्षण है, विप्रत्व की चरम सीमा है।

एक अन्य श्लोक में श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि ब्राह्मण कब और कैसे होता है?--

यस्य सर्वे समारम्भाः काम संकल्प वर्जिताः।
ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। (४।१)

जिस पुरुष के द्वारा सम्पूर्णता से आरम्भ की हुई क्रिया, जिसमें लेशमात्र भी त्रुटि न हो, क्रमश उत्थान करते-करते इतनी सूक्ष्म हो गई कि 'काम सकल्प वर्जिता' जहॉ काम और सकल्प नहीं रहते (काम और सकल्प से रहित होना ही मन की विजेतावस्था है क्योकि सकल्प-विकल्प का उतार-चढाव तो इस मन पर है) तो मन के निरोध के साथ ही "ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माण" जिसे हम नहीं जानते है, वह शाश्वत, जिसका नाम परमात्मा है, विदित हो जाता है। इसकी प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है। उस ज्ञान की अग्नि में 'दग्ध कर्माण' कर्म सदा के लिये जल जाते हें। कर्म अर्थात् आराधना भी समाप्त हो जाती है। आगे कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसे ढूँढे, इसलिये कर्म सदा के लिए शेष हो जाते हैं। "तमाहु पण्डित बुधा" बोधस्वरूप महर्षियो ने ऐसे ही स्थिति वाले पुरुषों को पण्डित कहकर सम्बोधित किया। उनकी क्रिया में लेशमात्र भी कसर नहीं है अत यह ब्राह्मण की अधिकतम सीमा एव पराकाष्ठा है। वह ब्रह्म को पूर्णरूप से जानता है, ब्रह्म पर है। परब्रह्म से सयुक्त है इसलिये विप्र है। द्वि अर्थात् द्वैत पर जय पानेवाला है, इसलिये द्विज है।

अत ब्राह्मण, विप्र, द्विज साधना का ही एक स्तर विशेष है, न कि कोई जन्मना ब्राह्मण होता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र 'स्वभावजम्' स्वभाव तथा "स्वभाव प्रभवेर्गुणै" स्वभाव से होनेवाले गुणो से निर्धारित होते हैं। कालान्तर मे अपभ्रश हो जाने से लोगो ने अत करण की वस्तु को बाहर देखने का प्रयास किया इसलिए वहुत सी जाति, उपजाति और सप्रदाय पैदा हो गये। सभी मत-मतान्तर केवल उदर-पोषण की लिप्सा एव मान-सम्मान की भावना को लेकर वने हैं और वाह्य आडम्बर मात्र है। जिससे दवते वना दवा, जिसे दवाते वना दवाया। अन्यथा योगदर्शन, गीता, रामचरित मानस अथवा इसी स्तर के प्रत्येक महापुरुषों की वाणी में अन्य कुछ नहीं मिलता। भगवान महावीर, गौतम बुद्ध, शकराचार्य, गुरुनानक' और तुलसी इत्यादि सभी ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारो शव्दो का प्रयोग किया, चारों को स्वीकार किया लेकिन सवकी दृष्टि एक ही है कि आराधना के ही क्रम को चार श्रेणियो में वॉटा गया जिसमें ब्राह्मण एक पवित्र स्थल है। ब्राह्मणत्व की निम्नतम सीमा में ब्रह्म मे विलय दिलाने वाले सारे लक्षण होते हैं। विलय के पश्चात् वह स्वय में न तो ब्राह्मण है न क्षत्रिय, न वैश्य है न शूद्र। यही ब्राह्मणत्व की पराकाष्ठा है। हॉ, दूसरों के लिए वह ब्रह्म का परिचायक, उपदेशक और प्रेरक है। ब्रह्म में विलय दिला देने की उसमे क्षमता है इसलिये वे विप्र ही पुकारे जाते हैं। नहुप को शाप किन विप्रों ने दिया था? जिन तपोधनों ने उन्हें शाप दिया वे जन्म से कहॉ कुलीन थे? अत कोई भी व्यक्ति क्रिया पर चलकर विप्र वन सकता है, आप भी वनें। उस वास्तविक क्रिया की जानकारी

के लिये तत्त्वदर्शी महापुरुषों की शरण में जायें क्योंकि वही वस्तुत विप्रत्व के ज्ञाता हैं। धर्मशास्त्रों[२] का यही निर्णय है।

गीता के अनुसार ब्राह्मणत्व अर्जित किया जाता है। यह एक स्थिति है-

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणास्त्रिविधाः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्चविहिताःपुरा।। (१७/२३)

ओम्, तत् और सत् परब्रह्म परमात्मा का नाम है जो ब्रह्म के ही श्रीमुख से प्रसारित हुआ है। इसी ओम्, तत् और सत् के द्वारा यज्ञ, वेद और ब्राह्मण रचे गये हैं। अस्तु, ब्राह्मण एक रचना है।

यज्ञ एक निर्जीव क्रिया है। जिसमें एक परमात्मा में निष्ठा, सद्गुरु के ध्यान, उनकी सेवा, इन्द्रियो के सयम, मन के निरोध, श्वास-प्रश्वास के यजन से जहाँ प्राणायाम की स्थिति आयी तो सनातन ब्रह्म का दर्शन और प्रवेश यह यज्ञ का पूर्तिकाल है। जहाँ यज्ञ पूर्ण हुआ तहाँ वेद रचे गये। जो तत्त्व अविदित था विदित हो गया। अत वेद भी रचना है। जिसने उस प्रभु को विदित कर लिया, ब्रह्म का दर्शन, स्पर्श और स्थिति पा गया, वह ब्राह्मण है। अत ब्राह्मण एक रचना है न कि ससार के मनुष्यों की कोई प्रजाति।

---

१ गुरुनानक- "योग शब्द गियान शब्द ते ब्राह्मन" ज्ञान और योग शब्द में पाये जानेवाले भेद को जो यथार्थत जानता है, विप्र है।

२ बृहदारण्यक उपनिषद, तृतीय अध्याय अष्टम ब्राह्मण में जनक की यज्ञसभा में याज्ञवल्क्य गार्गी को बताते है- गार्गी! उस परमतत्त्व को ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं। जो उस अक्षर को जानता है, वही ब्राह्मण है।

वास्तव मे जो भी व्यक्ति ब्राह्मणत्व के गुण-धर्मो से युक्त है, वही ब्राह्मण है। वही सृष्टि में सर्वोपरि, एकमात्र पूजनीय है, इसमें दो राय नहीं है। अत महापुरुषों की जाति, वेष इत्यादि बाह्य गुण-धर्मो पर दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

।। ॐ।।



भिक्षा

प्रश्न- महाराजजी! गीता के दूसरे अध्याय में अर्जुन गुरुओं को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न भोगना भी श्रेयतर मानता है। कृपया बतलावें वह भिक्षा कैसी है?

उत्तर- भिक्षा के दो रूप हैं। एक तो हरिभक्त भिक्षान्न ग्रहण करता है, बदले मे वह भजन-चिन्तन का कुछ अश उस दाता भक्त के लिए व्यय करता है, उसे श्रेय-सुलभ आशीर्वाद देता हे यह परिव्राजक के लिए गृह-त्याग के अनन्तर विधेय है, जो भजन में अनवरत प्रवृत्त रहता है। भिक्षा के इस स्वरूप से अधिकाश विश्व परिचित है। गौतम बुद्ध इत्यादि भारतीय मनीषियो ने विविध तरीकों से श्रमणों के लिए भिक्षा पर बल दिया और दाता के लिए मगल-कामना की पुष्टि की। इससे साधक को सदैव अपनी दीनता का बोध होता रहता है, साथ ही शुभ सस्कारो के सृजन से परिव्राजको की लौकिक व्यवस्था का दायित्व समाज अनुभव करता है। इसीलिए ईसा मसीह ने भी अपने शिष्यों को निर्देश दिया कि "केवल एक कुर्ता पहनकर, हाथ में पात्र लेकर तुम लोग विचरण करो। जो तुम्हारी सेवा करेगा, तुम्हारे लिए भिक्षा की व्यवस्था करेगा, उसका कल्याण प्रभु करेंगे। जो तुम लोगों का सम्मान करता है, वह मेरा सम्मान करता है।"

भिक्षा का दूसरा रूप सूक्ष्म और गहन है। गृह-त्याग से हिचकिचाने वाले श्रद्धालु सनातन तत्त्व में स्थित महापुरुष, परम प्रभु परमात्मा से श्रद्धा निवेदन कर बदले में कल्याण की मॉग करते हैं। यह भी भिक्षान्न ही है। "अन्न ब्रह्म व्यजानात्" (तैत्तिरीय उपनिषद्) ब्रह्म ही वह अन्न है जो आत्मा की पूर्ण तृप्ति करानेवाला है। कृष्ण स्वरूप में स्थित महात्माओं के सर्वागीण पूजन से परम तत्त्व की मॉग ही भिक्षा है। जिन पुरुषों मे चिन्तन-क्रम मे प्रवृत्त होने की क्षमता नहीं है, ममत्व के सभी तामों को वटोरकर जो इष्ट के चरण कमलो मे बॉधने में सक्षम नहीं है, ऐसे लोगो के लिए श्रद्धा, सेवा एव भक्ति भाव से आप्लावित होकर स्वरूपस्थ प्रभु से ब्रह्मान्न की याचना करते रहना ही कल्याण का लम्बा किन्तु सफल साधन है। यह सद्गृहस्थ आश्रम में रहते हुए आराध्य उपलब्धि की भिक्षाजनित विधि है किन्तु सघर्षरत साधकों के लिए भिक्षा की आवश्यकता नहीं है।

अर्जुन जन्म-जन्म से चलनेवाला तथा अधिकारी साधक था। पारिवारिक आसक्तिवश स्वजन सम्बन्धियों में रहते हुए वह परम कल्याण की कामना करने लगता है, बचाव का रास्ता ढूँढने लगता है। कहीं भी उपाय न देखकर भिक्षान्न स्वीकार करने को उद्यत हो जाता है, किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण जैसे सद्गुरु की पीयूष-वर्षिणी प्रवचन-धारा से अर्जुन की कायरता समाप्त हो गई और वह उस परम पावन पथ में प्रवृत्त हो गया। प्रारम्भ में अर्जुन साधन-पथ पर विना चले ही, स्वजन सम्बन्धियों में रहते हुए परम कल्याण की आशा करता है और ऐसा सभव न देखकर कृष्णस्वरूप महापुरुष की दया, कृपा से जितना कुछ भिक्षान्न मिल जाय उतने से ही सन्तोष कर लेना चाहता है किन्तु सद्गुरु श्रीकृष्ण उसे उत्साहित कर प्रकृति-पुरुष के युद्ध में लगा ही देते हैं, साधना की कसौटी पर कसकर, तराश कर परम कल्याण का अधिकारी वना देते हैं।

।। ॐ ।।

भगवान कर्ता है अथवा अकर्ता?

प्रश्न- भगवन्! गीता के अनुसार- "निमित्त मात्रो भव सव्यसाचिन्" मनुष्य तो निमित्त मात्र है, फिर उसे दोषी क्यों ठहराया जाता है? मोटर एक्सीडेन्ट होने पर भी कोई मोटर को दोषी नहीं ठहराता। वह तो चालक की कला की त्रुटि है। अतः भगवान से संचालित जीव को दोषी क्यों कहा जाता है? भगवान के इशारे के बिना पत्ता भी नहीं हिलता तो मनुष्य को पाप का भागी बनाना कहाँ तक न्याय है?

उत्तर- देखिये, वास्तव में भगवान ऐसा नहीं करते। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! न वह प्रभु करता है, न कराता है और न क्रिया के संयोग को ही जोड़ता है। मान लीजिए वह न करता हो, न कराता हो किन्तु जुगाड़ तो लगा सकता है। किन्तु नहीं, वह क्रिया के संयोग को भी नहीं जोडता। इतने पर भी अर्जुन! जो लोग कहते हैं कि परमात्मा करता है उनकी बुद्धि मोह से आच्छादित है, इसलिए वे कुछ न कुछ कहते रहते हैं। वास्तव में भगवान नहीं करते।

इसी को स्पष्ट करते हुए अध्याय अठारह में वे कहते हैं कि शुभ अथवा अशुभ प्रत्येक कार्य के होने में पॉच माध्यम हैं- कर्ता, न्यारे-न्यारे करण, नाना प्रकार की चेष्टायें, आधार और दैव। यह मन कर्ता है। जिन साधनों से कर्म किये जाते हैं, करण कहलाते हैं। यदि शुभ कर्म करते हैं तो विवेक, वैराग्य, शम, दम, एकान्त देश का सेवन, धारावाही चिन्तन, प्रवृत्ति, आर्जवम् इत्यादि करण हैं। इनके द्वारा हम उधर प्रवृत्त होते हैं। यदि अशुभ कर्म होता है तो काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर, अनन्त चेष्टायें इत्यादि करण होंगे। इनके द्वारा ये कर्म रूप लेते हैं। इच्छायें अनन्त होती है, चेष्टाये भी नाना प्रकार की होती हैं लेकिन सबकी पूर्ति नहीं होती। उनमें से जिस इच्छा के साथ आधार मिल जाता है, अनुरूप वातावरण मिल जाता है, वही आधार है और पॉचवॉ हेतु दैव है। दैव होनी या प्रारब्ध को कहते हैं। शुभ या अशुभ कर्म के होने में बस ये पॉच कारण हैं, फिर भी जो कहते हैं कि कैवल्य स्वरूप परमात्मा कर्ता है, प्रेरक है, अर्जुन! वह अविवेकी है। वह यथार्थ नहीं जानता अर्थात् भगवान नहीं करते।

किन्तु महाभारत के युद्ध मे उस अठारह अक्षौहिणी जनसमूह में, जो महाभारत की गणना के अनुसार लगभग चालीस लाख होता है, वर्तमान गणना के अनुसार छ अरब होता है, केवल अर्जुन ही भगवान का निकटवर्ती रहा जिसके लिए भगवान स्वयं ताल ठोंककर खडे हो जाते हैं- "निमित्त मात्रो भव सव्यसाचिन्" अर्जुन! तू निमित्त मात्र बनकर खडा भर रह। कर्ता-धर्ता तो मैं हूॅ। मैं निश्चित कहता हूॅ कि तुम्हारी विजय होगी। तेरे लिए मैंने पहले ही इनको मार रखा है। भीष्म, द्रोण, कर्ण इत्यादि सभी मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। इन मारे हुए को मार और यश प्राप्त कर।

लीजिए! एक स्थल पर कहते हैं कि कैवल्य स्वरूप परमात्मा को कर्ता माननेवाला मूढ बुद्धि है, अविवेकी है, उसकी बुद्धि मोह से आच्छादित है, वह यथार्थ नहीं जानता अर्थात् भगवान नहीं करते और यहॉ भगवान स्वय खडे हो गये कि अर्जुन! तू निमित्त मात्र वनकर खडा भर रह। कर्ता-धर्ता तो मैं हूॅ। मैं प्रतिज्ञा करता हूॅ कि तुम्हारी विजय होगी। मुझ पर भरोसा रख। मेरे

आश्रित हो।

अन्तत वह महापुरुष कहना क्या चाहते है? वास्तव में भगवान और माया के बीच में 'ग्रेविटी' है, एक रेखा है। एक निर्धारित अवस्था तक माया प्रेरणा करती है, उसके पश्चात् ईश्वर प्रेरक हो जाता है। साधना के सही दौर में पडकर निर्धारित सीमा पार कर लेने पर ईश्वर प्रेरक हो जाता है। जब तक साधक माया के क्षेत्र मे है तब तक उससे प्रत्येक कार्य के होने में न्यारे-न्यारे करण ही माध्यम है। किन्तु जब साधक माया की परिधि पारकर ले जाता है, ईश्वरीय आकर्षण-क्षेत्र तक पहुॅच जाता है, ऐसे पथिक की बागडोर इष्टदेव अपने हाथ में ले लेते हैं। ऐसे भक्त के लिए वे स्वय कटिबद्ध रहते हैं और यहाॅ तक कि **"जहाँ भक्त मेरो पग धरै, तहाँ धरूँ मैं हाथ। पाछे लागा सदा रहूँ, कबहूँ न छाड़ूँ साथ।।"** इस अवस्था के पश्चात् यदि कोई पथिक स्वय पतित होना चाहे तो हो नहीं सकता। भगवान उसे पतित होने ही नहीं देंगे। वे बचा लेंगे, जेसे नारद को बचाया। अर्थात् उस सीमा के पार होने के बाद भगवान करते है।

अत प्रत्येक पुरुष को चाहिए, चाहे वह गृहस्थ आश्रम मे रहे या कहीं भी रहे, प्रात -साय नियमित रूप से उस आराध्य देव के स्वरूप का चिन्तन करे। रुचि के अनुसार किसी भी दो-ढाई अक्षर के नाम को ले ले। कृष्ण ने तो ॐ जपने का निर्देश दिया था- "ओमित्येकाक्षर ब्रह्म व्याहरन् माम् अनुस्मरन्" अर्जुन! 'ओम्' यह अक्षय ब्रह्म का परिचायक है। इसका तू जप कर और ध्यान मेरे स्वरूप का धर। मेरे अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का चिन्तन न करते हुए निरन्तर मेरा स्मरण कर। ध्यान मेरा और नाम ॐ का जप। क्योकि प्राप्ति के पश्चात् प्रत्येक महापुरुष का नाम वही होता है जिसे वह प्राप्त है। अत परमात्मा श्रीकृष्ण एक योगेश्वर थे, सद्गुरु थे।

प्रश्न- महाराजजी! कृष्ण-कृष्ण कहना यदि अपराध है तो जो लोग कृष्ण का जप करते हैं, क्या वे भ्रम में हैं?

उत्तर- देखिये, "कृष्ण-कृष्ण जप" ऐसा योगेश्वर श्रीकृष्ण ने नहीं कहा। इतना नहीं, अर्जुन को कृष्ण कहना अपराध प्रतीत हुआ।

प्रारम्भ में अर्जुन कृष्ण को सखा मानता था। बुद्धि में कुछ उनको तेज अवश्य मानता था किन्तु धनुर्धरों में अपने को ही सर्वश्रेष्ठ मानता था। श्रीकृष्ण का विराट रूप देखने पर अर्जुन बहुत भयभीत हुआ। वह गिडगिडाने लगा। क्षुद्र त्रुटियो के लिए क्षमायाचना करने लगा। कहने लगा- भगवन्! आपको न महर्षिगण जानते हैं और न देवता ही जान पाते हैं क्योंकि आप ही सबके आदि कारण हैं। आप स्वयं ही अपने आपको जानते हैं। मैंने कभी आपको हे सखा! हे यादव! हे कृष्ण! कहकर सम्बोधित किया था। इन त्रुटियों के लिए आप मुझे क्षमा करें। पिता जैसे प्रिय पुत्र की भूलों को क्षमा करता है, सखा जैसे सखा की भूलों को सहन करता है, उसी प्रकार मेरी उन त्रुटियों को भी क्षमा करें। जव अर्जुन ने ऐश्वर्य विभूतियुक्त उस परम स्वरूप को देखा तव उसने महसूस किया कि ये न कृष्ण काले हैं न गोरे, न सखा हैं न यादव। यह तो अनन्त अव्यक्त, शाश्वत, सनातन, परात्पर ब्रह्म हैं। इस प्रकार अर्जुन ने कृष्ण कहने की अपनी भूल के लिए क्षमायाचना की। यह तो अर्जुन की अनुभूति थी कि कृष्ण कहने में उसे सकोच हो रहा था। क्योंकि वे रंग-रूप से परे हैं। कालान्तर में भाविक भक्तों ने उनका नाम भी जपना आरम्भ कर दिया और अपनी श्रद्धा

और विश्वास के अनुसार उसका फल भी पाते हैं। ईश्वर का कोई भी नाम श्रद्धा और विश्वास से जपने से निश्चय कल्याण होता है।

अत· श्रद्धानुसार कोई भी दो-ढाई अक्षर का नाम ॐ, राम, शिव, कृष्ण में से लें। उसका चिन्तन करें और उसी के अर्थस्वरूप इष्ट का ध्यान करें। यदि सद्गुरु मिल जायेंगे तब तो सोने में सुगन्ध ही है। वे नाम का जो वास्तविक प्रवेश है, उसकी जागृति एव सचार करा देंगे, जो यथार्थ है। नहीं तो "यथाभिमतध्यानाद्वा" (पातजलि यो १/३६) जो तुम्हारे अभीष्ट मत में सहायक हो ऐसे किसी का भी स्वरूप पकड़ लें। इससे आपका पुण्य और पुरुषार्थ बढ़ेगा, जिससे आप शनै -शनै प्रकृति के क्षेत्र से पार होते जायेंगे और जहॉ इष्ट के आकर्षण क्षेत्र में आप पहुॅचे तहॉ फिर वह प्रभु ही सचालक हो जायेगा।

कृष्ण अध्याय नौ में कहते हैं- अर्जुन। मैं अव्यक्त हूॅ। सबमें समान रूप में व्यापक हूॅ। मेरा न कोई प्रिय है न अप्रिय है किन्तु जो मेरा अनन्य भक्त है वह मुझमे है और मैं उसमें हूॅ। अर्थात् भक्तो के लिए ही वे रथी हैं। "उर प्रेरक रघुवश विभूषण" अवश्य हैं किन्तु "सो केवल भगतन्ह हित लागी।" भक्त के लिए भगवान सदैव तत्पर हैं।

।। ॐ ।।

योग-विधि ही यज्ञ है, जगत् हवन-सामग्री है

प्रश्न- महाराजजी, भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार यज्ञ सम्पूर्ण पापों से निवृत्ति दिलाता है (३/१३) गीता। यज्ञ की पूर्तिकाल में यज्ञकर्ता पुरुष सनातन ब्रह्म का दर्शन पाता है और उसी ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है (४/३१) गीता। यज्ञ तो होते ही रहते हैं किन्तु सनातन ब्रह्म जैसा सर्वोत्कृष्ट परिणाम देखने को नहीं मिलता। अतः यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट बताने की कृपा की जाय?

उत्तर- महाराजजी ने बताया, "हो! भगवान ने स्वय यज्ञ का रूप समझाया है। गीता के अनुसार योग-विधि यज्ञ है, **"दैवमेवापरे यज्ञम्"** जिसमे बहुत से योगी अपने हृदय मे दैवी सम्पत्ति को अर्जित करते हैं। अन्य बहुत से योगी इन्द्रियो के बहिर्मुखी प्रवाह को सयमरूपी अग्नि मे हवन करते हैं। साधना और उन्नत हो जाने पर-

सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि प्राण कर्माणि चापरे।
आत्मसंयम योगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। (गीता, ४/२७)

सम्पूर्ण इन्द्रियों की चेष्टाओं को, प्राणों के व्यापार को, ज्ञान से प्रकाशित हुई आत्मा में सयमरूपी योगाग्नि में हवन करते हैं। आत्मा के मिलन का नाम योग है। साधना और उन्नत हुई तव वही योगी श्वास को प्रश्वास में तथा प्रश्वास को श्वास मे हवन करते है अर्थात् वे श्वास से जप करते हैं। साधना और उन्नत हो जाने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोककर प्राणायाम के परायण हो जाते हैं। न हृदय के अन्तराल में किसी संकल्प का अभ्युदय होता है और न वायुमण्डल के सकल्प अन्दर प्रवेश कर पाते हैं। प्राणों के व्यापार पर विराम लग जाना- प्राणायाम, मन की निरोधावस्था है। इस निरोध के साथ ही यज्ञ का परिणाम निकल आता है। वह सनातन ब्रह्म का दर्शन और प्रवेश पा जाता है।

यज्ञ शिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नाय लोकोऽस्त्यज्ञस्य कुतोऽन्य कुरुसत्तम।। (गीता, ४/३१)

प्रश्न यह है कि यज्ञ करने का अधिकार किसे है? अगली ही अर्धाली में कहते हैं कि यज्ञरहित पुरुष के लिए पुन मनुष्य शरीर सुलभ नहीं है तो परलोक कैसे सुलभ होगा? अर्थात् यज्ञ करने का अधिकार मानव-तन को है। उनका जन्म चाहे जहॉ हुआ है- उत्तरी ध्रुव में, अरव, आस्ट्रेलिया या भारत में- इससे कोई अन्तर नहीं पडता।

इस प्रकार योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने यज्ञ के तेरह-चौदह विन्दुओं पर प्रकाश डाला, जैसे- आरम्भ में किसी यज्ञस्वरूप तत्त्वदर्शी महापुरुष के प्रति समर्पण, उनके स्वरूप को हृदय में पकडना, उन महापुरुष के द्वारा ही साधन को आगे बढ़ाना, दैवी सम्पद् को हृदय में अर्जित करना, जो परमदेव परमात्मा के देवत्व तक की दूरी तय करा दे।

देवत्व अर्जित करने के लिए सयम आवश्यक है। इसलिए इन्द्रियों के वहिर्मुखी प्रवृत्तियों को **'सयमाग्निषु जुह्वति'**- सयमरूपी अग्नि में हवन करत्ते हैं। आप एकान्त में वैटे हैं, किन्तु कोई

शब्द इत्यादि कान में पडते हैं तो उनके आशय को बदलकर योगपरक बनाकर ग्रहण कर लेना और जब ईश्वरीय अनुभूति का सचार हुआ तो योगाग्नि में हवन, श्वास-प्रश्वास का जप, प्राणों के व्यापार का निरोध, निरोध के साथ ही यज्ञ का परिणाम सनातन शाश्वत ब्रह्म-दर्शन, स्पर्श और स्थिति यह सब यज्ञ है।

इस यज्ञ में कहीं भी अग्नि नहीं जलती और न ही तिल, यव का हवन या किसी बाह्य सामग्री की आवश्यकता ही होती है। आवश्यकता है तो केवल अपने ही मन के सयम की; क्योंकि ससार मन के अन्तराल में ही विद्यमान है और जहॉ निरुद्ध मन का भी विलय हुआ, ससार विलीन हो जाता है- **"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।"** (गीता, ५/१९) उन पुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में (मृत्यु के पश्चात् नहीं) सम्पूर्ण ससार जीत लिया गया, जिसका मन समत्व मे स्थित हो गया। समत्व की स्थिति और ससार के जीतने से क्या सम्बन्ध? वस्तुत ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर साधक का मन भी निर्दोष और सम की स्थिति वाला हो गया इसलिए वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। ससार से सम्बन्ध-विच्छेद और ब्रह्म से सम्बन्ध जुड जाता है। अत वह शाश्वत सनातन ब्रह्म के दर्शन के साथ ही उसमें स्थित हो जाता है।

सात्विक पुरुष इसी यज्ञ को समर्पण के साथ श्रद्धापूर्वक करते हैं। राजसी पुरुष इसी यज्ञ को कामना व दम्भ से युक्त होकर करते है, किन्तु तामसी पुरुष यज्ञ के नाम पर कुछ गढ लेते हैं। नाम तो यज्ञ ही रहता है किन्तु यज्ञ रहता नहीं। आसुरी वृत्ति को प्राप्त पुरुष कहता है- मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, यश को प्राप्त करूँगा। वह शास्त्र-विधि से रहित नाममात्र के यज्ञ को दम्भपूर्वक करता है। किन्तु अर्जुन! वह अर्न्तयामी रूप से अपने और दूसरे के हृदय में स्थित मुझ परमात्मा से द्वेष करनेवाला होता है, न कि भजता है। उन क्रूरकर्मी, पापाचारी, नराधर्मो को मैं बारम्बार आसुरी योनियों मे गिराता हूँ। (गीता, १६/१७) मनुष्य से शत्रुता करके लोग बच भी जाते हैं किन्तु यहॉ तो भगवान से ही शत्रुता हो गयी। ऐसे आसुरी स्वभाववाले क्या बच जायेंगे? भगवान कहते हैं- नहीं! वे क्रूरकर्मी हैं, पापाचारी हैं। भले ही यज्ञ का नाम दे रखा हो किन्तु वे शुद्ध पाप का आचरण करनेवाले हैं। वे नराधम अर्थात् मनुष्यों में अधम हैं। ऐसे लोग भगवान को प्राप्त न होकर उत्तरोत्तर निम्न योनियो में ही गिरते हैं। उत्तरोत्तर अधम योनियों में पतन ही नरक है।

अत यज्ञ के नाम पर कुछ भी कर डालना यज्ञ नहीं है। यज्ञ एक निश्चित विधि है। वह भगवान के श्रीमुख से गीता में अभिव्यक्त है। किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के द्वारा ही उस यज्ञ का सूत्रपात् होता है, उसकी जानकारी होती है, इसलिए संतो की सगति करनी चाहिए। किसी अच्छे महापुरुष का शरण, सान्निध्य, घडी-आध घडी उनकी टूटी-फूटी सेवा से भजन की जागृति और यज्ञ में प्रवेश मिल जाता है।

॥ ॐ ॥

एक भाविक का प्रश्न

प्रश्न- एक समय पूज्य महाराजजी से एक भाविक ने प्रश्न किया, "महाराजजी! यह रामायण तेली, कुम्हार, श्वपच, कोल, किरात और कलवारों को अधम पुकारती है। जिससे प्रतीत होता है वर्ण कोई धर्म नहीं है। यह तो मनुष्यों का बँटवारा है। इस पवित्र रामायण में जहाँ 'मानउँ एक भगति कर नाता' वहाँ यह वर्णाधम और वर्णीय चित्र का अभिप्राय क्या है?

उत्तर- महाराजजी ने बताया कि सत्पुरुष का सान्निध्य न प्राप्त होने से ऐसी भ्रान्तियों का सृजन हो जाया करता है किन्तु वस्तुत रामायण में ऐसी भ्रान्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है। आपकी जिज्ञासा उत्तरकाण्ड के कागभुशुण्डि-गरुड सवाद प्रकरण का है। जिसमें कागभुशुण्डिजी ने अपने से लाखों वर्ष पूर्व के एक कल्प में दोषों से परिपूर्ण युग कलियुग का चित्रण किया है, जिसमें सभी स्त्री, पुरुष अधर्म परायण और वेद के प्रतिकूल आचरणवाले थे। **"कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भए सद्ग्रन्थ।"**, **"वर्ण धर्म नहिं आश्रम चारी।"** न तो वर्ण-धर्म थे और उनके पालन का स्थान था ही नहीं। **"वरनाश्रम धरम अचार गये।"** वर्ण-धर्म के आचरण तिरोहित हो गये, समाप्त हो गये। सद्ग्रन्थ लुप्त हो गये फिर भी दम्भियो ने अपनी बुद्धि से कल्पना करके धर्म के नाम बहुपथ प्रगट कर दिये, जैसे- **"मिथ्यारम्भ दम्भ रत जोई। ता कह संत कहहि सब कोई।।"** झूठ-मूठ का कोई आडम्बर खडा कर दिया। लोग कहने लगे-अच्छे सन्त हैं। **'पर त्रिय लंपट कपट सयाने।' 'तेहि अभेद वादी ज्ञानी नर। देखा मैं चरित्र कलियुग कर।।'** आचरणहीन अपने को अभेदवादी कहने लगे। ज्ञानी कहलाने लगे। उन्हीं दम्भियों ने मनुष्य-मनुष्य में ऊँच-नीच का बँटवारा भी कर दिया और वर्ण-धर्म की मान्यता दे दी। **"जे वरनाधम तेली कुम्हारा"**। तेली-कुम्हार अधम हैं- यह उन दम्भियों के हृदय की उपज थी, न कि यह रामचरित मानस में प्रतिपादित सिद्धान्त है। उन्हें अधम कहना धर्म नहीं है। धर्म तो ग्रस लिया गया था। तुलसीदास जी इस अधमता को अस्वीकार करते है तभी तो इसे दम्भियों की व्यवस्था कहते हैं। उन दिनों निरक्षर, लोलुप, कामी, आचरणहीन, शठ तथा वृषली स्त्रियो के स्वामी भी विप्र बन बैठे थे। **"द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी।"**- उनकी पहचान जनेऊ थी। विचार करें, जब विप्र के यही लक्षण हैं तो इनसे सेवा लेने पर उभय लोक कैसे नष्ट होगा? यह तो लाखो वर्ष पूर्व घटित कागभुशुण्डि जी का मात्र सस्मरण है। उसके एक हजार जन्मों के पश्चात् वे स्थितप्रज्ञ महापुरुष हुए। सत्ताइस कल्पों तक उन्होंने नीलगिरि पर निवास किया। तब से अब तक के अन्तराल पर ध्यान न देकर उसे आज के समाज का चित्रण मान बैठना भ्रान्ति नहीं तो क्या है?

रामराज्य में वर्णधर्म की पुन स्थापना हुई। **"वरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग। चलहि सदा पावहि सुखहिं नहि भय शोक न रोग।।"** राम के राज्य में (परमात्मा के पथ में जहाँ प्रवेश मिल गया उसके पश्चात्) साधक अपने-अपने वर्ण अर्थात् नियतकर्म को करने की क्षमता अनुसार "निरत" अर्थात् विरक्त होकर "चलहि वेद पथ लोग" वेद अर्थात् अन्त करण में मिलने वाली ईश्वरीय निर्देशनों के आलोक में अहर्निश चलते हैं। जिसके परिणाम में भय, रोग, शोक और वियोग से परे शाश्वत सुख की प्राप्ति करते हैं।

रामराज्य में **"राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी।।"** चारों वर्णो के लोग एक परमात्मा राम की ही भक्ति करते थे। नारियों को भजन का समान अधिकार था। सभी वर्णो के नर-नारी परमगति मोक्ष के अधिकारी थे।

"अल्प मृत्यु नहि कवनिउ पीरा।" रामराज्य में चारों वर्णो के लोगों की अल्पमृत्यु नहीं होती थी क्योंकि इस साधन-पथ में बीज का नाश नहीं है। **"सब सुन्दर सब विरुज शरीरा।"** चारों वर्णो के लोग सुन्दर और निरोग होते थे। ज्यों-ज्यों कोई ईश्वर-पथ पर अग्रसर होता जाता है, त्यो-त्यों ईश्वरीय आभा प्रस्फुटित होने लगती है। **"काम वात कफ लोभ अपारा"** जैसे रोगों से मुक्ति मिलने लगती है। इस पर चलनेवाले साधक को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आक्रान्त नहीं कर पाते। **"नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना"** आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। एक बार मिल जाने पर यह कभी आपका साथ नहीं छोडती। इस सम्पत्ति को प्राप्तकर्ता कभी अपने को असहाय नहीं पाता। ईश्वर का वरदहस्त सदैव उसे प्राप्त रहता है। **"नहि कोउ अबुध न लक्षण हीना"**। साधक की जो श्रेणी है उसी स्तर का निर्देशन प्रभु से मिलता रहता है। यह वेद-पथ प्रभु पढाते हैं और वह समझता है। इसलिए सबके सब प्रवुद्ध हैं। कल्याण के जो लक्षण चाहिए सब उसमें विद्यमान है। **"सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी।"** रामराज्य में शूद्र हैं अवश्य, वैश्य भी हैं किन्तु है वे पडित। अपनी श्रेणी का उन्हें भली प्रकार वोध है। प्रश्न-परिप्रश्न या शका समाधान हेतु उन्हें कहीं जाने की आवश्यकता नहीं रहती। अपौरुषेय वाणी ही उनका सदा समाधान करती है। उन्हें आवश्यकता है तो सदा केवल गन्तव्य पर चलने की। चित्त की स्थिति में परिवर्तन होते ही भगवान उन्हें तुरन्त बता देते हैं। सभी कृतज्ञ प्रत्युपकार परायण तथा निश्छल है।

रामराज्य में सरयू के राजघाट पर चारों वर्णो के लोग भेद-भाव की भावना से मुक्त होकर एक साथ स्नान करते थे। अस्पृश्यता की गर्हित प्रथा सज्ञान में न थी। वास्तव में यजनपूर्ण स्वर ही सरयू है। इस श्वास के जप मे अल्पज्ञ श्रेणी वाले का मन कम, मध्यमा श्रेणी वाले का उससे अधिक लगता है जबकि ब्राह्मण श्रेणी वाला ध्यानस्थ होकर समाधिस्थ हो जाता है। कोई उन्नत अवस्था में है तो कोई आरम्भिक स्तर पर है। किन्तु घाट तो एक ही है जहाँ चारों वर्णो के साधक पहुँचते और स्नान करते हैं। जो भी रामराज्य की परिधि में आता है उसे चार वर्णो के क्रमोन्नत साधन में प्रवृत्त होना है, और यही धर्म है।

जाति-पाँति कोई धर्म नहीं है। सम्पूर्ण रामचरित मानस मे कहीं भी इस कुत्सित प्रथा का समर्थन नहीं किया गया है। मनुष्य किसी न किसी व्यवसाय से विभूषित परिवार में जन्म लेता है। कोई महर्षि कुभज की तरह घड़े में पडा मिलता है। वह जाति नहीं, केवल मनुष्य के रूप में जन्म लेता है। वह भगवान की करुणा का परिणाम है, भाग्यशाली है, क्योंकि मानव-तन साधन का धाम है, मोक्ष का दरवाजा है। कुलीन अथवा खाते-पीते परिवार को ही भगवान के यहाँ वरीयता मिलने जैसी भी कोई बात नहीं है। मानव-शरीर किसी पूर्व शुभ सस्कार की अपेक्षा नहीं रखता। वह कर्मो का रचयिता है, सस्कारों का दास नहीं। मनुष्य शरीर मिल गया तो आपका भाग्य पूर्ण है। केवट लोक-वेद दोनों में सव प्रकार से नीच माना जाता था **"साधु समाज न जाकर लेखा। राम भगत**

महु जासु न रेखा।।" उसके भाग्य में राम-भक्ति की रेखा नहीं थी किन्तु राम ने अपना लिया "राम कीन्ह आपन जबहीं तें। भयेउँ भुवन भूषन तबहीं तें।।" वह तीनो लोको मे पवित्र पुरुष हो गया। भगवान को प्राप्त कर लिया। जिसका छाया छू जाने मात्र से स्नान करने का विधान समाज ने बनाया था। वह भी भगवान को पा गया। वशिष्ठ ने उसे गले लगाया। आज लोग किसी गरीब को अपनाते हैं तो कहते हैं कि वह हमारा है, किन्तु वहाँ नीचे जमीन पर बैठो। भगवान इस तरह से नहीं अपनाते है। केवट को उन्होने कहा "तुम मम सखा, भरत सम भ्राता। सदा रहेउ पुर आवत जाता।।" तुम मुझे उतने ही प्रिय हो जितना भरत। हे तात! सदैव आते रहना, अपने घर का दरवाजा ही खोल दिया। आप्त पुरुषों की वाणी मे जाति की पैरवी कहीं नहीं है।

उन भाविक ने पुन निवेदन किया कि "भगवन्! वाल्मीकि रामायण मे है कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम ने शम्बूक का मात्र इसलिए वध किया था कि वह शूद्र होकर तपस्या कर रहा था इसका क्या आशय है? क्योंकि वाल्मीकि भी अस्पृश्य श्रेणी से उठे थे। उन्हे तो राम ने सादर दण्डवत् किया था।" मुनि कह राम दण्डवत् कीन्हा।

पूज्य महाराजजी ने उन्हें बताया कि यह भी एक आध्यात्मिक, साधनात्मक कथानक है कि शम्बूक ने तपस्या आरम्भ की, जिससे ब्राह्मण बालक मर गया। वर्षो तक इसके कारण की शोध चलती रही। राम ने उधर तलवार से शिरोच्छेदन किया, इधर बालक जी उठा। बिना किसी शल्य-क्रिया के ऐसी प्राण-प्रतिष्ठा अभी तक देखने-सुनने में तो नहीं आयी।

शम्बूक शूद्र था अर्थात् अल्पज्ञ श्रेणी का आरंभिक साधक था। ऐसे साधक प्राय. उच्छृंखल हो जाते हैं- "**सोचिइ शूद्र विप्र अवमानी। मुखर मान प्रिय ज्ञान गुमानी।।**" शूद्रकाल में कागभुशुण्डिजी से भी ऐसी भूल हुई थी। उन्होंने न केवल भजन में बैठने की भूल की अपितु (विप्र अवमानी) गुरुदेव का अपमान कर बैठे, जिसका प्रायश्चित उन्हें करना पडा। अल्पज्ञ साधक उन्नत साधकों की नकल करने लगते हैं। इससे उनमें उन्नत अवस्था तो नहीं आती प्रत्युत आरम्भिक स्तर की साधनात्मक जागृति भी प्रसुप्त हो जाती है। यही ब्राह्मण बालक का मरना है। शम्बूक समत्व की वृत्ति की नकल करनेवाले साधक का प्रतीक है। वह वृक्ष में उलटा लटककर तपस्या कर रहा था। "**ससार विटप नमामि हे**" वह ससार वृक्ष में, गर्भवास में उलटा लटका हुआ था किन्तु शम्बूक समत्व प्राप्त ब्रह्मस्थित महापुरुष की नकल करने मे लगा था। इससे जो ब्रह्म आचरण जागृत हुआ था वह भी प्रसुप्त हो जाता है किन्तु जब भगवान रथी हो जाते है तो साधक को पतित होने नहीं देते। त्यागरूपी तलवार से वे उसे उस स्तर से गिरा देते हैं। वर्षो का मरा हुआ ब्राह्मण बालक जी उठता है। ब्रह्माचरण पुन जागृत हो जाता है और इस प्रकार योग की साज-सभार करते उसे लक्ष्य तक की दूरी तय करा देते हैं। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं "परधर्मो भयावह." अल्पज्ञ श्रेणी वाला साधक, यदि उन्नत की नकल करता है तो भय अर्थात् आवागमन को प्राप्त हो जाता है। स्वभाव से उत्पन्न क्षमता के अनुसार आचरण करनेवाला क्रमश परमश्रेय को प्राप्त कर लेता हे।

।। ॐ ।।

सन्तों का उद्भव एवं उनकी परंपरा

परमपूज्य परमहसजी का जीवन पूरा का पूरा उन महापुरुषों से मिलता है, जो आदि से लेकर आज तक होते आये हैं, जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध इत्यादि से लेकर तुलसी-कवीर आदि हुए हैं। आज का मानव इन प्राचीन महापुरुषों को जिन युक्तियों के द्वारा सम्वोधित करता है, उनका यही तो रूप है कि दो या तीन को जीवनदान, कुछ रोगियों एव पागलों का ठीक होना आदि। पूज्य परमहसजी में इन सब का पाया जाना एक साधारण बात थी। मनुष्य अपने समझने के लिए चाहे जो भी बना ले, परन्तु उन महापुरुषों के अन्दर की वस्तु यह नहीं है। मारने, जिलाने अथवा रोग-निवारण से उन महापुरुषों की उपलब्धि का लेशमात्र भी सम्वन्ध नहीं है। यह तो उनकी ऐसी आभा है जो स्वाभाविक घटित होती रहती है। जब कोई चलकर वास्तव में व्रह्म में लीन हो जाता है, तब ये रश्मियॉ स्वाभाविक कार्य करती रहती हैं और भली-वुरी जैसी जिनकी मन स्थिति पाती हैं, वैसा ही उनका निदान करती रहती हैं। हॉ, प्राचीन महापुरुषों के पीछे अनुयायियों ने शनै -शनै. पीढी दर पीढी कुछ न कुछ उपाधि देते हुए अवतार आदि वडी-वडी संज्ञाओं से विभूषित कर दिया और अपने-अपने लिए प्रतीक बना लिया, किन्तु महापुरुषों के यहॉ संघ या संस्था नहीं होती।

महापुरुष किसी देश-काल मे जव भी हुए हैं, वास्तव में वे उस परम सत्ता को एक ही जैसा पाये हैं। कारण कि सबके ऊपर नियत्रण करनेवाली परमसत्ता एक ही जैसी रहा करती है अर्थात् वह भगवान एक ही जैसा है। यदि वास्तव में किसी ने उस परमात्मा की उपलब्धि की है तो वह समाज के बीच दरार नहीं डाल सकता। तुम खुदा के साथ हो गये और हम गॉड के- इसी प्रकार अनन्त शाखाएँ हो सकती हैं। यदि कोई दलबन्दी की दरार डालता है तो सिद्ध है कि अभी वह पाया नहीं है। महापुरुष के लिए आप सब एक ही मानव के रूप में हैं। यदि आप अधिकारी की स्थिति में हैं तो महापुरुष प्रकृति के दलदल की एक सीमा से उठाकर दूसरी सीमा को पार कराता है।

महापुरुष जिस इष्टमयी युक्ति से पथिक को साधना में उत्तरोत्तर उठाते हैं वह लिखने में नहीं आता। अधिकारी के हृदय में स्वयं महापुरुष प्रेरक के रूप में खडे हो जाते हैं। अधिकार के अर्जन में हममें सर्वभावेन श्रद्धा एव लगन की आवश्यकता है। इसमें किसी जाति व कुल के लिए प्राथमिकता हो, यह भूल है।

जब प्राचीन कथानको पर दृष्टि डाली जाती है तो उसमें किसी जाति विशेष का वर्णन नहीं मिलता। देवासुर-सग्राम में दो जातियों का अभ्युदय हुआ, पहली देवता एव दूसरी असुर। उसके वाद यक्ष, रक्ष, किन्नर, गन्धर्व, नाग और यवन के रूप में मनुष्य का जन्म हुआ एव आगे चलकर इस मनुष्य ने वानर, रीछ, मण्डूक आदि में पलटा खाया। शनै -शनै मानव आर्य का रूप लेकर व्राह्मण, क्षत्री, वैश्य एवं शूद्र के रूप मे बदल गया। यह वदलना वन्द नहीं होगा, कारण कि यह सामाजिक सद्व्यवस्थाओं का चक्र है। मनुष्य सदैव अपने रहन-सहन के तरीके को सुलझाता आया है, यही कारण है कि अपने को दलों में विभक्त कर अनेक रूढिगत परम्पराओं का अनुयायी वताने लगा है। हो सकता है कि आगे चलकर मानव और कोई रूप ले ले, क्योंकि प्रत्येक द्वीपों में यही

होता आया है। इन शारीरिक व्यवस्थाओ के सुधार से उस परमात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। उस परमात्म धर्म की प्रक्रिया मन से क्रियान्वित होती है और क्रमश· मन के अचल, स्थिर व पूर्ण निरोध हो जाने पर इष्ट-दर्शन के साथ पूरी होती है।

यदि अनुराग व विरह-वैराग्य है तो आवश्यक नहीं कि आप सही माता-पिता के पुत्र हों तभी ब्रह्मर्षि व सन्त की स्थिति मे आयेगे। महर्षि वशिष्ठ उर्वशी के उदर से उत्पन्न हुए थे, परन्तु उनके ब्रह्मत्व में कोई कमी नहीं थी। महर्षि वाल्मीकि कोल के सयोग से और ब्रह्मर्षि व्यास मछोदरी (मत्स्यपालिका) के सयोग से उत्पन्न हुए थे किन्तु उनके ऋषित्व में कोई अन्तर नहीं था। कबीर तालाव के किनारे शैशवकाल मे मिले। ईसा अपनी मॉ के अविवाहित काल में ही सात माह के उदर मे थे, इतने पर भी पूर्ण सन्त हुए। अत भगवत्-पथ मे माता-पिता की त्रुटियों का कोई प्रभाव नहीं पडता। हॉ, भगवत्-पथ का पथिक इन्द्रिय सयम की पूर्ण कसौटी के बिना उस लक्ष्य को नहीं पाता। चिन्तन की प्रवेशिका से ही यह सयम आवश्यक है।

अब इन महापुरुषों को विशेष तारीफ का कलेवर पहना देना तो उन लोगों की देन है जो महापुरुष को हृदय से पकडने में असफल रहे और कोरी भावुकता से भरे है। अब उन महापुरुषों पर विचार करें, जिनके पीछे सकीर्णता पैदा हो गई है, जिनके परिणामस्वरूप सघ का निर्माण हो गया। भावुक उन्हें ईश्वर का इकलौता बेटा कहते हैं। बडे-बडे अक्षरों में इतना अवश्य लिख देते हैं कि ईश्वर ने अपने इकलौते बेटे को स्वर्ग से भेजा। इसका मतलब अब ईश्वर के पास कोई और पुत्र नहीं है एव कोई दूसरा पुत्र हो भी नहीं सकता, किन्तु महात्मा ईसा ने बताया कि केवल मैं ही ईश्वर का पुत्र हूँ, अब नहीं होगे, ऐसी बात नहीं। ईसा ने कहा- मेरे पास आओ, इसलिए कि ईश्वर के पुत्र कहलाओगे। सत के पास आने का तात्पर्य है संत के साधना स्वरूप मे आना।

कवीर के अनुयायी कहते है कि तालाब के किनारे वह प्रकाश एकत्रित हुआ और बालक वन गया। यह कोरी भावुकता है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि भविष्य में कोई कबीर होना ही नहीं चाहिए। अत परमात्मा ही पिण्डरूप में ढल गया, किन्तु उन महापुरुष ने अपनी वाणी में अपना परिचय देते हुए कहा है कि--

कबिरा कबिरा क्या करै, सोधो सकल शरीर।
आशा तृष्णा बस करै, सोई दास कबीर।।

जब कवीर ने महापुरुष की स्थिति प्राप्त कर लिया तब समाज कुछ कल्याण के कारण देखकर कहने लगा कि कवीर बडे अच्छे महापुरुष हैं, वे तो योगी हैं आदि। तब कवीर ने अपना परिचय देते हुए कहा कि क्या कवीर-कबीर की रट लगाए हो, सम्पूर्ण शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) की शोध करो। आशा और तृष्णा को वश मे कर लो, बस तुम कवीर हो। कवीर एक स्थिति है, वह रहनी पाकर सभी कवीर हो सकते है।

अत सिद्ध हुआ कि महापुरुष किसी देश, जाति एव कुल-विशेष के नहीं होते। उनकी उपलब्धि सार्वभौमिक चेतन में होती है, अधूरी अवस्था मे नहीं। परमपूज्य श्री परमहसजी भी ऐसे ही आदर्शों में थे। अब चाहे हम भारतीय हों अथवा विदेशी, हिन्दू हों या यवन, सिक्ख, ईसाई या कोई भी हों, यदि उस आत्मा को परम कल्याण की स्थिति में प्रत्यक्ष पाना है, तो सभी

सामाजिक सीमाओं को तोडकर किसी महापुरुष के प्रति अपने को समर्पित करना होगा।

हॉ, स्वयसिद्ध कुछ समस्याएँ मानव में समक्ष हैं। यह मौलिक रूप से विचारणीय है कि मनुष्य किसी न किसी कुल-विशेष में पैदा होता है और पैदा होते ही उसमें कुल-धर्मो के सस्कार पडने लगते है। धीरे-धीरे वह कुल-धर्म की सीमा में बॅध जाता है और उसी को परमशान्ति का लक्ष्य मान बैठता है, परन्तु समाज में अनेकानेक कुल पाये जाते हैं। इस तरह तो वह लक्ष्य भी अनेक रूपो में दिखाई देगा, जबकि वस्तुत वह एक ही है। यथार्थत यदि हम परम कल्याण की ओर बढना चाहते है तो इस सकीर्ण कौटुम्बिक सीमा का परित्याग कर व्यापक विचारों की ओर अग्रसर होना पडेगा। जब हम कुटुम्ब-धर्म से आगे बढकर जैसे ही विकासोन्मुख होने के लिए प्रयत्नशील होते है, वैसे ही अपनी जाति का ममत्व हमें जाति-धर्म के बन्धन में पूर्णतया आबद्ध कर लेता है।

यदि कोई सच्चा अनुरागी है उसकी समझ कार्य कर रही है तो उसे जाति-धर्म को भी ठीक उसी प्रकार तिलाजलि दे देनी होगी, जैसे कि कुल-धर्म को। ऐसी अवस्था में ही वह ससीम से असीम की ओर बढ़ सकेगा, व्यष्टि से समष्टि का स्पर्श कर सकेगा क्योंकि वह भगवान नाम की अलौकिक वस्तु एक ही है, भाषा-भेद से भले ही उसे अनेक रूपों में सम्बोधित किया जाय। जाति-धर्म की सीमा का परित्याग कर जैसे ही हम साधनोन्मुख होते हैं, वैसे ही अनेक मत-मतान्तरों का बन्धन हमें पुन. अनेकात्मकता की संकीर्णता में जकड लेता है। इसी बीच कतिपय नैतिक आदर्शवादियों के सपर्क से कुछ अनुरागी देश-प्रेम की ओर उन्मुख हो जाते हैं। वे अपने देश का विकास ही चाहते हैं, उसी को सर्वोपरि मानते हैं और उसके लिए प्राणोत्सर्ग करने के लिए भी तत्पर रहते हैं। परन्तु क्या भारत भर ही देश है? क्या परमात्मा यहीं तक ही सीमित है? इस प्रकार अनेक देश होने के कारण वह एकरस सत्ता तो अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होगी। यदि वस्तुत आप परमशान्ति प्राप्त करना चाहते है तो देशभक्ति की सीमा व देशभक्ति के भ्रम का परित्याग कर सार्वभौमिक विचारों को आत्मसात् करना पडेगा। इस सीमा के आगे बढने पर मजहब (सम्प्रदाय) साधक को सीमाबद्ध कर लेते है। कोई राम को मानता है तो कोई रहीम को, कोई ईसा को मानता है तो कोई बुद्ध को, कोई महावीर स्वामी को मानता है तो कोई खुदा को। इस प्रकार हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, जैन, बौद्धिस्ट आदि अनेक मजहबी रोगों से साधक ग्रसित हो जाता है किन्तु इन अनेक मजहबो से ईश्वर की अभिन्न स्थिति नहीं मिल सकती जो कि व्यापक है। अन्तत. जब अनुरागी साधक कुल-धर्म, जाति, सम्प्रदाय, मत-मतान्तर, देश-प्रेम एव विविध मजहबों के द्वन्द्व को तिलाजलि देकर असीम सत्ता का अन्वेषण करने लगता है तभी क्रमागत प्रगति के पश्चात् उस सर्वव्यापी स्वरूप का साक्षात्कार होता है, जो सभी कुल-धर्मो एव जातियों मे है। सभी संप्रदायों में विभिन्न मत भले ही क्यों न हो, पर हर देश व धर्म का वही सर्वोपरि परमचेतन स्वरूप है जो शुद्ध, बुद्ध, असीम एव व्यापक है। इसी परमतत्त्व की उपलब्धि मानव जीवन का अमर लक्ष्य है।

॥ ॐ ॥



तृतीय उच्छ्वास

परमहंसजी की लोकोक्तियाँ,
लोकेतर शक्तियाँ
एवं
विद्या

परमहंस जी की लोकोक्तियाँ

-:१:-

प्राय भाविक समाज पूज्य महाराजजी से निवदन करता था कि "महाराज! मैं भी आश्रम के सेवकों की तरह आपकी सेवा में रहूँगा और भजन करूँगा।" उनके इन विचारों पर श्री गुरुदेव भगवान कहते थे- "हो! आन के मुहें चने की रोटी वहुत नीक लागत है! पीयर-पीयर लेकिन गटई धरत है।" उसके साथ नियमरूपी नमक चाहिए, प्रेमरूपी पानी चाहिए तभी यह निगलते बनता है। चित्त ही चना है। चित्त की प्रवृत्तियों को समेटना तथा उनका निरोध करना ही निगलना है। इस चित्त के पूर्ण निरोध के साथ ही उस परमतत्त्व का आलोक है, जहाँ जीवात्मा समाहित हो जाती है।

-:२:-

वस्तु के अभाव में भाविकों की ओर से किसी कार्यक्रम का प्रस्ताव आने पर महाराजजी कहते थे- "हूँ, सुवा न सुतारी, चले हैं बन के व्यापारी।" "उकताइल कुम्हार नखे से माटी खने।" इस तरह उकताने से कहीं कार्य होता है? सूत न कपास जुलाहे से लट्ठम लट्ठा। "पहले प्रवध करो, पुन· धैर्य और शान्ति से कार्य आरम्भ करो। घोडे के दिन और आदमी के दिन सदैव एक जैसे नहीं रहते, बदलते देर नहीं लगती।" इस प्रकार समझाते हुए, विभूति-प्रसाद देते हुए आप सस्नेह एक छडी लगा देते थे।

यह छडी आशीर्वाद के रूप में इष्ट के निर्देशानुसार ही लगती थी। कुतूहलवश एक वार हमने जिज्ञासा व्यक्त की कि महाराजजी! आप छडी क्यों मारते हैं? श्री महाराजजी ने वताया कि भगवान जब निवृत्ति देते हैं तो साथ ही कुछ 'हथियार' भी दे दिया करते हैं। हमें जव निवृत्ति मिली तो भगवान ने आशीर्वाद दिया कि दाहिने हाथ से यदि किसी को मार दोगे तो उसकी फॉसी भी कट जायगी। कल फॉसी होनी है और आज छड़ी लग जाय तो नहीं होगी, सजा चाहे जो हो जाय। बायॉ हाथ किसी के ऊपर रख दूँ तो उसकी सब दुर्गति हो जाय, वह शाप के रूप में होगा।

एक समय की घटना का स्मरण करने में मुझे सदैव भय लगता है। एक आर्य-समाजी गुरुदेव भगवान के समक्ष उपस्थित हुए। दो-एक सज्जन उनके साथ और भी थे। वे अपने को ही उद्भट विद्वान समझते थे जब कि पूज्य महाराजजी तत्त्वद्रष्टा महापुरुष थे। सत्सग आरम्भ हुआ और वाद-विवाद में परिणत हो गया। उनकी हठधर्मिता एव पूर्वाग्रह देखकर उन आर्य-सज्जन से कहा, "जरा इधर आओ।" वे पास में आ गये तो "मोरेहु कहे न सशय जाहीं। विधि विपरीत भलाई नाहीं।।"-इस प्रकार गुनगुनाते हुए उन सज्जन के सिर पर वायें हाथ से स्पर्श करते हुए कहा, "हूँ . अव आप वात करे।" वस, ऐसा हुआ कि वे सज्जन जडवत् स्तव्ध हो गये। दो-एक घटे विस्मित नेत्रों से यत्र-तत्र देखते रहे, शयनकाल आने पर शयन करने चले गये।

प्रात उठने पर वे सभी अतिशीघ्र नित्यक्रिया से निवृत्त हो पूज्य महाराजजी के पास आकर वैट गये। उन आर्यसमाजी ने कहा, "प्रभु आप योगी हैं, प्रत्यक्षदर्शी हैं। यथार्थ वही जानता है जो



श्री परमानन्द परमहस जी महाराज की छडी

करता हे, क्रिया से चल चुका है। हम लोगो के पास मात्र पुस्तकीय जानकारी है, बौद्धिक उग्रता हे। जो मन और वुद्धि से परे है उसे हम बौद्धिक जोड-गॉठ से कैसे जान सकते हैं? हम आपके कथन को स्वीकार करते हैं। कृपया आप हमें साधना का स्रोत दिखाये। कल महाराजजी! न जाने मुझे क्या हो गया था? 'स्पर्श से भी कुछ हो सकता है'- इसमे मेरा विश्वास न था, किन्तु कल आपके हाथ का स्पर्श होते ही स्मृति लुप्त होने लगी, मस्तिष्क निष्क्रिय (बुत्त) हो गया। अब आपके समक्ष पुन स्वस्थ हूँ। मुझ पर आपकी दया बनी रहे।'' आशीर्वाद लिया और चले गये।

एक समय बिना किसी विशेष कारण के दाहिने हाथ की दो छडी हम पर भी पडी। पहले तो हम चौंके! कहीं कोई भूल भी नहीं हुई थी। महाराजजी ने कुछ बताया भी, किन्तु विश्वास जम नहीं रहा था। विश्वास की दृढता के लिए केवल कहना पर्याप्त नहीं होता। कुछ दिन पश्चात् मैं वीमार पडा। रोग उत्तरोत्तर बढता जा रहा था। बडी वेदना थी। दो-एक दिन इसी तरह व्यतीत हुए। एक दिन ब्राह्म-बेला में अनुभव का प्रसार मिला। चार जाने-पहचाने व्यक्ति आये, सादर मिले ओर हमें साथ ले चले। पथ में भुलाया देते वे हमे एक जगल में ले गये। वहाँ अक्षुण्ण अस्त्रागार के किवाड स्वत खुल गये। प्रविष्ट होते ही कपाट स्वत बन्द भी हो गया। उन शस्त्रो से तीव्र प्रकाश निकल रहा था। सहसा उन सबने झपट कर एक-एक शस्त्र उठा लिया और परस्पर सकेत करने लगे कि देखते क्या हो, इसको समाप्त कर दो। सभी घूम पडे। मैं कॉपने लगा, ऐसा लगा कि मृत्यु आसन्न है। गिडगिडाते स्वर मे याचना की, ''एक बार छोड दो . बस, इस बार छोड दो।''

परन्तु हमारी प्रार्थना का उन पर प्रभाव नहीं पडा। अन्तर्मन में निरतर सकल्प उठ रहा था कि इनसे छूटकर मैं भजन मे ही जुट जाऊँगा, जिससे इनका आतक पूर्णत टल जायगा। किन्तु वे तो प्राण लेने को ही उद्यत थे। प्राण-पखेरू उडने को तत्पर थे कि सहसा वे पीछे हटने लगे। मुझे गुरुदेव की छडी का स्मरण हो आया, बोला, ''मैं व्यर्थ ही तुम लोगों से क्षमा याचना कर रहा था। गुरुदेव की छडी मुझे लग चुकी है अत तुम लोग अब मुझे मार नहीं सकते।'' स्थिति पूर्णत बदल गई। शस्त्रागार विलीन होने लगा। भजन का भाव लेकर मैं वहाँ से चल पडा। वह भीषण वीमारी भी उसी समय दूर हो गयी। इसी प्रकार पूज्य गुरुदेव की छडी का प्रताप देखने के अनेक अवसर मिले हैं, जिनमे मरती-जीती घटनाएँ भी हैं।

-:३:-

किसी अनन्य भक्त को कठिनाइयो, रोग इत्यादि से घवराया देखकर पूज्य महाराजजी सान्त्वना देते थे- ''हो. । माया के और भगवान के सदा ही से लड़ाई है। मोर वढती माया देखै नहीं चाहत हे। आखिर शखिया वाजी, पर वावा के खिझाय के। जो, ले फिर सव ठीक होई जाई।''

कोई भाविक कार्य में सफल होते-होते सहसा असफल हो जाय और आकर महाराजजी से प्रार्थना करे, तव वे कहते थे, ''राति भर गायेन वजायेन, सवेरे ववुआ के नूनियै नाहीं।'' देखिये तो हमने कितना सचेत किया, यहाँ से कितना प्रण करके गया फिर भी आलस्य और निद्रा में समय खो दिया। बेटा! ''आलस निद्रा जमुहाई। तीनों काल के माई।'' जाओ, आलस्य त्यागकर कार्य

करो। हताश होने की आवश्यकता नहीं है। कोई उलझन आये तो प्रातः-साय मेरा स्मरण कर लेना। मन से आते-जाते रहोगे तो सब ठीक रहेगा।

-:४:-

अनुसुइया आश्रम मे आनेवाले भक्तों की सुख-सुविधा का महाराजजी वडा ध्यान रखते थे। उनके आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु आश्रम में सदैव रहती थी। उनके लिए प्रतिदिन दाढी वनवाने की व्यवस्था, चाय-काफी का प्रबन्ध, तेल-साबुन-कंघी-शीशे की व्यवस्था में भी महाराजजी ध्यान रखते थे यद्यपि आश्रम के लिए इनका कोई उपयोग नहीं था। भक्तों को महाराजजी वडे स्नेह से खिलाते-पिलाते और अपने हाथ से प्रसाद देते थे। भोजन की इतनी पुष्कल व्यवस्था तो अव कहीं देखने को भी नहीं मिलती। घी से तर रोटियों से लेकर नित्य नवीन व्यंजन प्रतिदिन सर्व-सुलभ था। भक्तों के भोजन के अवसर पर महाराजजी किसी न किसी वहाने आसन से उठकर उनके बीच पहुँच ही जाते थे, उनसे कहते थे, "हो! चूतर टेकि के बैठो! उकड़ बैठकर खाने से पेट में सिलवट पडि जात है। आधा पेट खाइल और जवानी क मरल बराबर होत है।" परसने वाले साधुओं से बिगड कर कहे, "अरे, अँचार तो दिया ही नहीं। अब मैं क्या करूँ? अरे! ये सब भले घर के अच्छा खाने-पीनेवाले लोग हैं। थोड़ा घी और डाल। खिचडी के चार यार। दही, पापड, घी, अचार। इसे एक रोटी और दे दो।" जब समझ ले कि अब इन सबका पेट भर गया और तो किसी तरह नहीं लेगे तो कह उठते थे, "अरे यार! हम तो भूल ही गये। बडी अच्छी बर्फी आई है, रखी है। अब उसके साथ एक-एक रोटी और चल जायगी।" महाराजजी का अमित स्नेह पाकर भाविक विभोर हो उठते थे।

किन्तु साधकों के आहार-विहार पर पूज्य महाराजजी सतर्क दृष्टि रखते थे। जब वे देख लें कि कोई साधक भजन न करके केवल खाने पर ही उतारू है तो बिगड़ते हुए कहें, "खाये रहो बेटा! बाबा का आटा, बाबा का घी। शाबास-शाबास बाबाजी! न भजन, न चिन्तन। अरे साधू को सूक्ष्म और सात्विक आहार करना चाहिए। दो कौर कम खाना चाहिए, कम सोना चाहिए और सयमपूर्वक निरन्तर भजन में सलग्न रहना चाहिए। भागो यहाँ से! बाँधो बिस्तर! विरह-वैराग्य शून्य अकर्मण्यो की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है।" इतने से ही साधक में ग्लानि एव शान्ति की लहर दौड़ जाय और पुन: खान-पान के व्यसन से छूटकर वह अनवरत साधना में प्रवृत्त हो जाय।

महाराजजी का 'स्पेशल' प्रसाद गाँजा था। एक सज्जन साधू बनने के लिए आश्रम आये। श्रद्धावश झाडू लगा रहे थे। कुछ लोग चिलम पी रहे थे। एक ने उन सज्जन से भी कहा, "क्या आप भी दम लगायेगे?" वे सज्जन तत्क्षण झाडू फेंककर चिलम की ओर लपके। वे चिलम के पास पहुँचे ही थे कि महाराजजी बिगड पडे, "गँवार कहीं का! भाग यहाँ से! आया साधू होने। खाने को मिले, ऊपर से ज्ञान मिले तब तो दुनिया ही साधू वन जायेगी। ये त्याग सीखने आये हैं। देखिये, कैसा झपट रहे हैं, चिलम के लिये! हर दे, हरवाह दे, पीछे से खोदे के पैना दे! जाओ, घर पर अपना बाल-बच्चा देखो। सुख-दु ख तो आता-जाता रहता है। अभी तुम्हारे साधू वनने का समय नहीं आया है। जब वह समय आयेगा तो भगवान ही सहायता कर देंगे, वुला भी लेंगे, तभी पार लगोगे।" इस प्रकार साधको की सूक्ष्म गतिविधियो पर पूज्य महाराजजी सतत् सतर्क

दृष्टि रखते थे। इस तरह की प्रताड़ना से आश्रमीय साधकों एव सुननेवाले भाविकों को भी साधनात्मक दिशा मिलती थी।

-:५:-

प्रारम्भ में अनुसुइया में बहुत कम दर्शनार्थी आते थे, किन्तु महाराजजी के निवासोपरान्त शनैः-शनैः भक्तों की सख्या बढ़ने लगी। महाराजजी कुछ न कुछ प्रसाद सबको देते थे, जिसे सभी सादर ग्रहण करते थे। कभी-कभी कोई कर्मकाण्डी भी आ जाता था जो भगवान के नाम पर कुछ करते थे किन्तु वास्तविक क्रिया से अनभिज्ञ रहते थे। उनके पथ को प्रशस्त करने के लिए पूज्य महाराजजी उन्हें छाछ तथा कुछ अन्य प्रसाद देते हुए कहते थे, "लो, पानी पी लो! बहुत दूर से आये हो। धूप में मुँह सूख गया है।" पंडित बोलते, "महाराजजी! अभी तो हमने स्नान-ध्यान नहीं किया है। सोचते थे कि गगा स्नान कर लेते।" महाराजजी बोल पड़ते थे, "हूँ लिपटै के चमाइन, भूखा रहे इतवार। पंडित जी, पडित बने हैं! अरे लो प्रसाद, पानी पियो; ज्ञान ही गगा है। स्वाँसा में सुरत लग जाने पर ही वह ज्ञान मिलता है। प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही ज्ञान है। श्वास में सुरत के तद्‌रूप हो जाने पर ही वह इष्ट विदित होता है।"

-:६:-

कभी-कभी आश्रम के ही शिष्य महाराजजी के समक्ष कोई सुझाव प्रस्तुत करते तो आप एक दृष्टि उस शिष्य पर डालें और चुप रहें। जब वह कुछ दूर हट जाय, सुनने की स्थिति मे रहे तब पास बैठे भाविकों की शिक्षा के लिए महाराजजी कहते थे, "हो, देखत हो? अडा कहे बच्चा से चूँ-चूँ मत कर। हमार जनमावल हमहीं के ज्ञान सिखावत है। अभी क्या हुआ है? परीक्षा की घडी तो अभी आगे पडी है। जव माया परीक्षा लेती है तो बूढे जवान हो जाते है, नामर्द मर्द वन जाते हैं। शृगी के भृगी करि डारी, पराशर के उदर विदार। वे सभी योगी ही तो थे। कल का जोगी ओर गोडे ले जटा। बक-बक लगाए है। अरे, जितना पूछा जाय, उतने का ही उत्तर देना चाहिए। साधक को मन और इन्द्रिय से मौन रहना चाहिए।"

ऐसी प्रताडना मिलने पर कोई-कोई साधक दो-एक दिन के लिए मौन धारण कर लेते थे। महाराजजी उन्हें सुनाते हुए कहते थे, "वाह! मौनी बने हैं। केवल बोलना बन्द करने से क्या होगा? जिम से न वोला जाय किन्तु मन तथा इन्द्रियों में तरग है तो वह मौन कहाँ? साधक को चाहिए कि पूर्तिपर्यन्त बाह्य वातावरण को कदापि स्थान न दे। चलते-चलते साधक जव आकाशवत् हो जाता है तभी उस लक्ष्य के दिग्दर्शन के साथ मौन होता है। चढते-चढ़ते साधक जव पुलई (टुनई या चोटी) तक पहुँचा और पोल पा गया तव पावा मौन।"

-:७:-

प्राय कुछ श्रद्धालु घर से रूठकर क्षणिक वैराग्य के आवेश में पूज्य महाराजजी से निवेदन करते थे "महाराज! अव मैं आपकी शरण में रहूँगा।" ऐसे उद्‌गारों पर पूज्य महाराजजी उसे सान्त्वना देते हुए बोले- "क्या हुआ? घर से क्यों निकल पडे?" वह व्यक्ति अपनी व्यथा व्यक्त

करता था, "महाराज, ससार एकदम स्वार्थी है। भाई, पुत्र, पत्नी कोई भी आज्ञाकारी नहीं है। कोई मेरी सुनता ही नहीं है।" इस पर महाराजजी हॅसते हुए से एक कथानक सुनाया करते थे, "तोर मोर अनुराग जगा, आव चली वन के। झर गया तो आवा चली घर के।।" एक पति-पत्नी थे। कभी-कभी पतिदेव पर वैराग्य सवार हो तो कहते थे कि अव तो मुझे घर अच्छा नहीं लग रहा है। श्रीमती जी भी कहतीं, "आप ठीक कह रहे हैं, मुझे भी घर-गृहस्थी से कोई लगाव नहीं रह गया।" दोनों घर से निकले और जगल मे भगवान का भजन करने लगे। किसी तरह पॉच-सात दिन भूख-प्यास सहन करें तो सारा वैराग्य उतर जाय, घर ही दिखायी दे। पतिदेव तव कहते- "अब तो यहॉ मन नहीं लग रहा है।" इस पर श्रीमती सुझाव देतीं, "अभी क्या विगडा है? "आवा चलीं घर के" चलो घर चला जाय।" और दोनों घर चल दे।

उस श्रद्धालु को सम्वोधित करते हुए महाराजजी कहते थे, "तुम्हारा वैराग्य भी ऐसा ही है, मर्कट वैराग्य। जाओ घर! अपना काम-काज देखो। घर गृहस्थी मे यह हडहड़-भड़भड तो लगा ही रहता है। चार बर्तन इकट्‌ठा होने पर खन्न-खुट्‌ट तो होता ही है। तुम तो भले घर, भले वातावरण में पले हो। जाओ, सव ठीक हो जायगा।"

-:ट:-

भगवान राम की तपस्थली एव ऋषियों की मनन-चिन्तनभूमि होने के कारण चित्रकूट महात्माओ के लिए आकर्षण का विशिष्ट केन्द्र है। दूर-दूर से साधक, अनुरागी, भाविक योगी तथा महापुरुष इस क्षेत्र मे दर्शनार्थ पहुॅचते ही रहते हैं। अनुसुइया आश्रम मे आनेवाले अभ्यागतों के बारे मे महाराजजी को पहले से ही अनुभव हो जाता था। अन्दर से अध्ययन करते महाराजजी उनके भोजन, प्रसाद, सेवा, रहने की व्यवस्था का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे, ढोंगी भी आश्रम में आया-जाया करते थे। उनके पहुॅचने से पूर्व ही महाराजजी कह देते थे, "हूॅ...'मीटर' खटकत है। इनकी बहिनियॉ राखो, कौनो ढोंगी-ढपाली ससुरारी से कूॅडा लिये चले आ रहे है। उन्हें खाने को दो, बैठने को दो, तापने को दो, पीने को गॉजा दो और सोने को विस्तर दो।" समीप बैठे भाविकों मे कौतूहल होने पर आप बताते थे, "कोई आ रहा है, अभी देखना। कुपात्रो को दान देने से दाता ही नष्ट हो जाता है।"

इतने मे ही किसी ओर से महात्मा वेश में कोई आता दिखायी पड जाता था और दूर से ही अपना कुछ प्रदर्शन करते हुए आश्रम की ओर आने लगता था। महाराजजी तडककर वोलते, "हूॅ नानी के आगे ननियउरे का बखान? हमें सिद्धि दिखावे आवत हैं, एकरि बहिनियॉ के राखों।" इतने पर भी जव वह अपना प्रदर्शन बन्द न करे तो आप पुन कहते थे, "हूॅ , जटा फकिरऊ और आचरण गिरस्तऊ! करे कहॉ घर है? कहॉ रहता है? काहे ई वेष बना के भगवान के आड में अधम करम करे के उतारू भवा है? एतना पाप होई कि हजारन जनम वैल वनके ढोये का पडी! बेटा, रोये का ऑसू न मिली! अरे जब वेश में आ ही गया तो किसी अनुभवी महात्मा की शरण पकड, जिससे वह क्रिया जागृत हो जाय जो भगवान् से सीधा भेट करा देती है। अव से भी कुछ विगडा नहीं है। कहे कवीर जनम क उढ़री। जव से चेते तवे से सुधरी।।"

कुछ भूले-भटके साधू तो महाराजजी के दो-चार उपदेशों से अपनी जीवन-दिशा वदल दें

किन्तु जीविका के लिए साधु-वेश धारण करनेवाले ढोंगी, 'गुरुजी-गुरुजी' कहते हुए वहाँ से खिसक जाते थे। इसी प्रकार चित्रकूट के घाटों पर एक सिद्ध की बडी चर्चा थी, जिसने कहीं से आकर कुछ ही दिनो मे हजारो लोगो को प्रभावित कर लिया। मन की बात बता देना, कहीं से किसी वस्तु को मँगा लेना, दुष्प्राप्य वस्तुओ का वितरण करना इत्यादि चमत्कारो के आधार पर चित्रकूट के अनेक महात्माओ को भी वह अपने प्रभाव में ले चुका था। लोगो ने परमहस जी के समक्ष उनकी सिद्धियो के परीक्षण का प्रस्ताव रखा और एक बडी भीड के साथ वे सिद्ध अनुसुइया आश्रम पहुँचे। साथ आये लोगो ने महाराजजी को उनका परिचय दिया। महाराजजी ने कहा- "वडी अच्छी बात है। जगल में हमको भी कुछ देखने का सौभाग्य मिलेगा। हमे भी कुछ चमत्कार दिखाइये।" परन्तु महाराजजी के समक्ष वे कोई चमत्कार नहीं दिखला पाये। झेप मिटाने के लिए और लोगों से पीछा छुडाने के लिए उन्होने कहा- "अभी मुझे सरभग आश्रम जाना है, फिर कभी महाराजजी की सेवा मे आयेंगे।"

कुछ दिनो पश्चात् उनका पत्र आया और बाद मे स्वय अकेले आये, विनीत स्वर में महाराजजी से निवेदन किया- "महाराजजी! मैं कोई साधु नहीं हूँ। मैं कामरूप (आसाम) का एक पडा हूँ। लोगों को कुछ दिखलाकर परिवार का उदर-पोषण करता था किन्तु जब से आपके समक्ष मने उन चमत्कारों का प्रयोग करना चाहा तभी से मै असफल हो रहा हूँ। आवाहन करने पर भी वे सभी मत्र निरर्थक हो जाते हैं। बडे कष्ट में हूँ। कृपा हो जाय जिससे मेरी सिद्धियाँ वापस आ जायँ।"

उसकी प्रार्थना पर द्रवित होकर महाराजजी ने कहा- ठीक है, लेकिन साधु-वेश धारण करके या किसी महात्मा के सामने उनका प्रदर्शन न करना। यहाँ से दो-एक मील जाने के पश्चात् अपनी सिद्धियों का आवाहन करना, लौट आयेगी।" महाराजजी को प्रणाम करके वह चला गया, उसकी जीविका चलने लगी, वराबर उसके पत्र आते रहे किन्तु भयवश वह फिर कभी महाराजजी के सामने नहीं आया। महाराजजी कहते थे कि इस प्रकार की सिद्धियो को 'आसुरी माया' कहना अधिक सगत होगा किन्तु महापुरुषों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पडता। योग की सिद्धियाँ भी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए व्यवधान हैं, साधक को उनकी ओर दृष्टि भी नहीं डालनी चाहिए। महापुरुष चमत्कारों का प्रदर्शन नहीं करते। इनके पास केवल सिद्धि होती है और वह है 'सकल्प सिद्धि'। वे जो भी इच्छा करते हैं उसे भगवान पूरा कर देते हैं, "जो इच्छा करिहउ मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।" उस इच्छा को भगवान पूर्ण करते हैं इसलिए महापुरुष उसे अपनी कोई उपलब्धि नहीं मानते। जव लोगों ने पूछा कि उसकी सिद्धि कैसे समाप्त हो गयी? आपने वताया कि कैवल्यपद प्राप्त महापुरुष के समक्ष टोना-टोटका, तत्र-मंत्र, यक्षिणी, जादू, भूत-प्रेत इत्यादि सब अन्तर्धान हो जाते हैं। स्वरूपस्थ महापुरुष तो वहुत वडी वात है। जो केवल एक हरि का स्मरण करते हैं, उनके सामने भी इनका प्रभाव नहीं होता।

-:६:-

पूज्य महाराजजी ने जव अनुसुइया को अपना निवास वनाया, उस समय घोर जगल एव आवागमन की सुविधा न होने के कारण दस वजे प्रात से पूर्व दर्शनार्थियों का अनुसुइया पहुँचना

सभव न हो पाता था। अत महाराजजी की सेवा में अनुरक्त पॉच-सात साधक तव तक निर्विघ्न, एकान्त में साधन-भजन करते रहते थे। परन्तु एक जगली महिला सूर्योदय के समय ही आश्रम के सामने से प्रतिदिन नियमित रूप से आने-जाने लगी। महाराजजी ने साधकों के चित्त की चचलता देखकर कहा कि उस 'माई' को मना कर दो, इस रास्ते से नौ-दस वजे से पूर्व न निकला करे। यदि जाना ही है तो वगल के रास्ते से चुपचाप निकल जाया करे।

साधकों ने मना किया किन्तु उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उल्टा कहने लगी, "अरे वावा! गली छीद देत है?" अर्थात् रास्ते वन्द कर दे रहे हैं? साधकों ने वहुत कहा कि देखो, महाराजजी नाराज होते हैं, मना करते हैं, किन्तु उसका आना-जाना पूर्ववत् रहा। महाराजजी ने उस युवती को पुन· आते-जाते देखा तो साधकों से पूछा, "क्यों? उसे मना नहीं किया? वह देखो, आ रही है। उसका पॉव 'झन्न-खट' वोल रहा है। (उस क्षेत्र में कोल भीलों की स्त्रियॉ एक पैर में गिलट का कडा पहनती हैं जिसमें कंकड रहने से खनखनाहट होती है।)

साधकों ने कहा, "महाराज! हमने कल भी कहा, परसों भी कहा परन्तु वह मानती ही नहीं, कहती है कि आप रास्ता रोकेंगे क्या?" महाराजजी ने कहा, "जव मना कर ही दिया जायगा तो कैसे नहीं मानेगी? तुम लोगों से मना ही नहीं करते वनता होगा। तुम सभी वादाम के छिलके जैसे ऊपर से चिकने-चिकने हो, भीतर से खोखले हो। वह मानेगी क्यों नहीं?

प्रतिदिन तो आप ब्राह्म मुहूर्त से ही ध्यानस्थ हो जाते थे किन्तु दूसरे दिन उसके आने से पूर्व तक गॉजे का दम-सम लगाकर, मूॅछो पर ताव देते हुए वैठे रहे। इतने में 'झन्न खट' की ध्वनि कानों में पडी। बोलें- हूॅ आ रही है! झन्न खट, झन्न खट। ससुरी हथिनी वनी है। न मुॅह देखे लायक, न साथी बनाने लायक। ला तो हॅसिया! ससुरी के गोड़वौ काटि डार। समझवले से नहीं मानत! जगलउ आए में वाधा।"

महाराजजी की आवाज सुनते ही वह भाग चली और जंगल में ओझल हो गई। उसके जाने पर आप वोले- "देखें, अव कैसे आती है?" साधना का क्रम पुन· निर्विघ्न शान्ति में चलने लगा। उस महिला का आवागमन उस रास्ते पर वन्द हो गया। लगभग छ· महीने पश्चात् उसी महिला ने कई अन्य महिलाओं के साथ आकर महाराजजी को प्रणाम किया। दृष्टि पड़ते ही महाराजजी ने उसे तुरन्त पहचान लिया, हॅसे और वोले, "मॉ, तूने मुझे निरन्तर छ· माह तक गाली दिया होगा। मैंने गाली दी थी। तूॅने भी गाली दी होगी। चलो, वदला पट गया।" उस युवती ने विनीत स्वर में क्षमा-याचना की, "महाराज! हम लोग अज्ञानी हैं। हमें ज्ञात नहीं था कि ध्वनि अथवा आवागमन से भजन में विघ्न पडता है हमें क्षमा करें।" इस प्रकार पूज्य महाराजजी ने जिसको गाली भी दी, कालान्तर में उसकी परमार्थ में श्रद्धा और निष्ठा हो गई। पूज्य महाराजजी कहते थे, "विगडने या गाली देने से लोगों के कुविचार वदल जाते हैं। इसी में लोगों का और साधकों का कल्याण देखकर ही गाली देना पडता है अन्यथा गाली देना सन्तों को कव शोभा देता है?" महाराजजी के दृष्टिपात, वार्तालाप, दर्शन तथा स्पर्श से नास्तिकों को भी पूर्ण आस्तिक होते देखा गया, जो अद्यावधि परमार्थ में सलग्न हैं।

-:१०:-

जब कभी कोई अच्छा साधक कुछ समय साधन-पथ पर चलने के पश्चात् लडखडा जाय तब आप उसे घण्टों उपदेश देते और उसके लिये कल्याण का चिन्तन करते थे। उसकी अनुपस्थिति में अन्य साधकों को समझाते हुए पूज्य महाराजजी कहा करते थे-

धरी न काहू धीर, सब के मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुवीर, ते उबरे तेहिं काल महुँ।। (मानस, १।८५)

वही बच पाते हैं, जिसको स्वय इष्ट (सद्गुरु अथवा भगवान) ही हाथ पकडकर बचा ले। कुछ कालोपरान्त जब वही साधक अपनी उन भूलों के लिए महाराजजी से अनुनय-विनय करने लगे, तब आप कहते थे- हूँ. . , चलो, ठीक है। जो घूमकर लड़ता है, कायर नहीं कहा जाता। अब सग-दोष से दूर रहो। महापुरुष की शरण में रहकर चलो। यदि कुछ आयु साधन के लिए मिल जाती है तो परिस्थिति सुधरते देर नहीं लगेगी। इष्ट से यदि हवा भर भी दूरी है, तब तक माया पीछा करती है और सफल भी हो जाती है। इसलिए सदैव डरना चाहिए। साधक जहाँ अपने दल पर आया कि "मैं ज्ञाता हूँ, मैं ध्याता हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मै ध्यानी हूँ" तहाँ समझना चाहिए कि माया ही सफल हो चली-

माया बस्य जीव अभिमानी। ईश बस्य माया गुणखानी।। (मानस-७/७७/६)

अभिमान ही 'जीव' की सज्ञा देता है।

-:११:-

पूज्य महाराजजी कथानकों के माध्यम से भी पथिकों का पथ प्रशस्त किया करते थे, जो [illegible]यी प्रभाव अकित करता था। प्रस्तुत प्रसंग भी उन कथानकों में से एक है-

दो विद्यार्थी गुरुकुल में संस्कृत का अध्ययन कर रहे थे। शिक्षा के समापन पर जब वे घर [illegible] ओर चले तो उन्हें चिन्ता हुई कि जीविकोपार्जन कैसे हो? सद्गृहस्थ आश्रम के सचालन में यदि अधिक नहीं, तब भी अभ्यागत की सेवा, पारिवारिक जीवन-निर्वाह हेतु धन नितान्त आवश्यक [illegible]ता है। दोनों सहपाठियों में से एक ने अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए कहा-

"**देत भुवालम् फरत लिलारम् न विद्या न च पौरुषम्।।**" उसका आशय था कि हम राजा [illegible] अपने लिए आवश्यक वस्तुओं की माँग करेंगे, राजा ही सब कुछ है। यदि राजा कृपा कर दे [illegible] हमारा लिलार (भाग्य) फलीभूत हो सकता है, हम सुखी रहेंगे, अन्यथा न तो विद्या काम आती [illegible] और न पोरुष ही काम आता है।

दूसरे सहपाठी ने इस मन्तव्य से असहमति व्यक्त की। उसने कहा कि भगवान तथा भाग्य [illegible] अपनी सत्ता है। राजा किंवा कोई हो, उसमें परिवर्तन नहीं कर सकता। ऐसा कहते हुए उसने [illegible] में सशोधन प्रस्तुत किया-

फरत लिलारम् देत भुवालम् न विद्या न च पौरुषम्।

अर्थात् जब भाग्य साथ देता है तभी राजा भी देता है अन्यथा न तो विद्या काम आती है [illegible] न पुरुषार्थ ही साथ देता है।

सम्पूर्ण रास्ता समाप्त होने को आया किन्तु इस विवाद का हल न निकला। अन्ततोगत्वा दोनों ने राजा से इस विवाद के निर्णय का आग्रह किया। अभिमानी नरेश को भी अपनी प्रशंसा अच्छी लगी। स्पष्ट निर्णय न देकर उसने प्रशसक को एक वस्त्र में काशीफल (कुम्हडा) प्रदान किया, जिसमें छिद्र करके हीरे-जवाहरात भरे गये थे। भाग्यवादी युवक को उसी प्रकार के दूसरे वस्त्र में उतना ही सत्तू प्रदान किया गया और कहा गया कि अव आप लोग एक महीने पश्चात् आवें, तभी इस विवाद का निर्णय होगा।

काशीफल पाने वाले युवक ने सहपाठी से रास्ते में कहा- "भाई! एक महीने से मुझे सत्तू खाने की प्रबल इच्छा हो रही है। क्यों न हम दोनों अपना-अपना पुरस्कार आपस में वदल लें।" दूसरे ने कहा- "ऐसी बात है तो तुम्हीं सत्तू खा लो।" राज-प्रशंसक युवक ने सत्तू लेकर काशीफल अपने साथी को दे दिया और तालाव पर सत्तू खाकर अपने घर की ओर चल पडा।

भाग्यवादी बालक ने घर पहुँचने पर काशीफल तोड़ा तो हीरे-जवाहरात पाकर ईश्वर को धन्यवाद दिया और गृहोपयोगी सुख-सामग्रियों की व्यवस्था करते उसे देर न लगी। नियत समय पर दोनों युवक राज-सभा में उपस्थित हुए तो राजा ने पूछा कि उनके ये दिन कैसे वीते? भाग्यवादी बालक ने काशीफल प्राप्त होने की घटना का वर्णन करते हुए वताया कि उसका यह माह बड़े आनन्द से बीता, जवकि राज-प्रशसक ने अपने अवसाद एव दैन्य की चर्चा की।

राजा को भी अपनी भूल का भान हुआ। अपने अहंकार पर पश्चाताप करते हुए उसने निर्णय दिया कि यदि भाग्य फलीभूत है तो उसका कुछ भी निमित्त वन जाता है। पूज्य महाराजजी इस प्रसग का रोचक प्रस्तुतीकरण करते हुए कहते थे कि भाग्य राजा या किसी दूसरे के वनाने से नहीं बनता--

जो जस करे सो तस फल चाखा।।

पूर्व का सस्कार ही भाग्य बनता है। किन्तु वह आया कहाँ से? वह भी तो हमारे आपके द्वारा किये गये कर्मो का फल ही तो है। वस्तुत अच्छा कर्म करने से अच्छे संस्कार बनते हैं, जो- "मेटत कठिन कुअक भाल के।" यदि मत्र जपने की युक्ति उपलब्ध हो जाय तो भाग्य का असाध्य कुअक भी मिटाये जा सकते हैं। भजन से कुसस्कारों का पहाड भी काटा जा सकता है। मनुष्य स्वय अपने भाग्य का विधाता है, निर्माता है। अत कर्म करना चाहिए। कर्म का वास्तविक अर्थ आराधना है।

-:१२:-

योगी प्रत्येक कार्य स्वेच्छा से नहीं, अपितु भगवान का यंत्र वनकर करता है। वह निमित्त मात्र होता है। किन्तु सामान्य मानव अपनी करनी के साथ-साथ परिस्थितियों अथवा होनी से अधिक प्रभावित होता है। इसी तथ्य की ओर इगित करते हुए महाराजजी एक कथानक सरस शैली में इस प्रकार कहते थे--

एक ब्राह्मण देवता राजकीय पुरोहित थे, घोर जगल मे राज्य की वरिष्ठ पाठशाला के आचार्य थे। उस युग की मान्यता के अनुसार पाठशाला जन-कोलाहल से दूर निर्जन एकान्त में होती थी, जिससे छात्रों पर सग-दोष का कुप्रभाव न पड सके।

राजकन्या युवा हो चली थी। विवाह हेतु आवश्यक निर्देश के लिए पुरोहित को दरवार मे वुलाया गया। राजा ने पुत्री से प्रणाम कराते हुए उसके भाग्य एव विवाह-व्यवस्था के सदर्भ मे पुरोहित से जानना चाहा। कन्या के शुभ लक्षणो एव सौन्दर्य को देखते ही पुरोहित की विवेक-बुद्धि असतुलित हो गई। उन्होंने अपने चेहरे को उदास बनाते हुए शुष्क शव्दो मे कहा- "राजन्! खेद है कि यह कन्या इस आयु के पश्चात् जहॉ जायेगी, वहॉ सर्वनाश हो जायेगा और यदि यहॉ रहेगी तो यहॉ भी सर्वनाश निश्चित है, रेखायें कुछ ऐसा ही कहती है। इस कुयोग के निवारण का एकमात्र उपाय है कि तैरने वाले ठोस सन्दूक में वायु इत्यादि की व्यवस्था करके कन्या को नदी में प्रवाहित कर दें। यदि कोई इसे पायेगा तो उसके लिए कन्या का अनिष्टकारी प्रभाव टल जायेगा।"

राजा ने वहुत विचार के पश्चात् निश्चित किया कि यदि गॉव के कारण देश का नाश हो तो गॉव का तथा व्यक्ति के लिए कुटुम्ब का नाश हो तो व्यक्ति का परित्याग कर देना चाहिए, अत व्यथित हृदय से पडितजी की बात मान लिया। पुरोहित ने अपने देख-रेख में ही कन्या को सन्दूक में वन्द कराया, नदी मे प्रवाहित कराया और राजा को आशीर्वाद देकर दौडते-भागते अपने विद्यालय पहुॅचे। शिष्यों को उन्होंने एकत्र किया और कहा- "बच्चो! देखो, एक सदूक नदी में तैरता आ रहा है। तुम सब नदी के किनारे उसकी प्रतीक्षा करो। उसे निकालकर इस कोठरी मे वन्द करके वाहर से ताला लगा देना। कोई शोरगुल हो तब भी दरवाजा न खोलना-- यह मेरा आदेश है।"

गुरुभक्त शिष्यों ने 'आज्ञा शिरोधार्य' कहकर नदी-तट पर सन्दूक की प्रतीक्षा करना आरम्भ किया। वहते हुए उस सदूक को एक शिकारी राजकुमार ने देखा। शिकार से श्रान्त-क्लान्त होकर नदी-तट पर वह विश्राम कर रहा था। कुतूहलवश उसने सिपाहियों को आदेश दिया और सिपाही वात की वात में उस सन्दूक को किनारे लाये। सन्दूक खोलते ही अनिद्य सुन्दरी राजकन्या निकल पडी। राजकुमार को वडा अचम्भा हुआ और उस कन्या का परिचय जानने के लिए अधीर हो उठा। राजकुमारी ने अपनी सारी गाथा कह सुनायी। वृत्तान्त सुनने के पश्चात् राजकुमार ने प्रश्न किया कि अव तुम्हारी कहॉ जाने की इच्छा है ? राजकुमारी ने कहा, "घर से निकल जाने के पश्चात् अव मेरा है ही कौन? अव तो ससार मे मेरे एकमात्र आश्रय आप ही हैं।" कन्या का समर्पण भावना का समादर करते हुए राजकुमार ने जगल में ही उससे विधिवत् विवाह किया, शिकार में पकडे गये जीवित भालू को उसी सन्दूक में वन्द कर, यथावत् प्रवाहित कर, सपत्नीक स्वदेश लौट गया।

तैरता हुआ वह सन्दूक जव पाठशाला के समीप पहुॅचा तो वच्चों ने उसे निकाला और गुरुजी के आदेशानुसार उसे कोठरी में वन्द करके ताला लगा दिया, जिसमें गुरुजी भी थे। गुरुजी ने धडकते हृदय से ज्योंही संदूक खोला त्योंही भूखा-प्यासा, सताया हुआ भालू उन पर टूट पडा। पडितजी ने उससे मुक्त होने का प्रयास किया, वच्चों से दरवाजा खोलने के लिए पुकारने का तॉता लगा दिया किन्तु गुरुभक्त शिष्यों ने कोई ध्यान न दिया।

क्रमश पडितजी का स्वर धीमा पडने लगा। भाग-दौड में पडित जी के हाथ एक खडिया

आ गयी। शिष्यों के उपदेशार्थ उन्होंने यह श्लोक लिखा--

मम इच्छा दैवनास्ति दैव इच्छा परवलम्। राजद्वारे राजकन्या विप्र भालू भच्छतम्।।

अर्थात् मेरी इच्छा उस कन्या को प्राप्त करने की हो गई थी किन्तु दैव की वैसी इच्छा न थी। दैव की इच्छा ही प्रवल होती है। हस्तरेखा के अनुसार कन्या राजरानी वनकर किसी राजप्रासाद में पहुँच गई किन्तु मुझ विप्र को भालू खा गया। भावी ही भालू है। (भावी, होनी गति, दैव, सचित, प्रारब्ध, भाग्य, ललाट-रेखा तथा संयोग प्राय. समानार्थक एवं एक दूसरे के पर्याय ही हैं।) इसी को कबीरदासजी ने व्यक्त किया है--

करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि वशिष्ठ से पंडित ज्ञानी, शोधि के लगन धरी।
सीता हरन, मरन दसरथ को, बन में विपति परी।।

होनी होकर ही रहती है किन्तु उसका प्रभाव ऐसे साधक पर ही नहीं पड़ता जो भगवान पर निर्भर रहता है- "भाविहु मेटि सकहि त्रिपुरारी।" किन्तु कव? "जव तप करै कुमारि तुम्हारी" जव पथिक की बुद्धि तपस्या में अनुरक्त हो जाये। प्रेम ही पार्वती है। जब यही कुमारी (वुद्धि) तप, चिन्तन, भक्ति का आश्रय ग्रहण करने लगे तो भाग्य के असाध्य कुअंक मिटाये जा सकते हैं- "मेटत कठिन कुअक भाल के।"

-:१३:-

जब कभी साधन-परायण पथिक में कमजोरी दिखलाई पड़े और उस कमजोरी की अवहेलना करके जीवन के अमूल्य क्षणों को व्यर्थ में गॅवाने लगे अथवा किसी भी पुरुष को अनाधिकार चेष्टा में पाये, जो मूल पतन का ही कारण होती है, तब पूज्य महाराजजी बैठे हुए व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए कहा करे- "हो...नाम तो ॲधियारी वारी, होम करे के पल्लव नाहीं।" अरे एके केहू त समुझाइ दे कि प्रकृति की अनन्त सतहे है। बेटा बहुत सम्हल के चलै के चाही, नहीं तो-

छोरत ग्रन्थि जान खगराया। विघ्न अनेक करई तब माया।

जब माया के बन्धन के टूटने का समय आता है तब माया अनेक विघ्न उपस्थित करती है, अपनी सारी शक्ति लगा देती है। ऋद्धियॉ प्रदान करती है, यहॉ तक कि सिद्ध बना देती है। वही उपक्रम रचती है जिससे वह पुन माया में लौट आये। ऐसे में साधक को निरन्तर श्वास में लगे रहना चाहिए। मन कहीं न कहीं जगेगा। यदि भजन से छुट्टी दोगे तो माया में जगेगा। यदि श्वास चिन्तन में नहीं लगाओगे तो यह कुछ न कुछ करता रहेगा, बैठेगा नहीं। न जाने यह क्या रूप लेगा। सदा इससे डरना चाहिए। इस धक्का-धुक्की की अवस्था में साधक सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर पाता, वहॉ एक ही सहारा है कि इष्ट के निर्देशनों का मन, वचन, कर्म से पालन भर करता रहे। ऐसे पथिक के लिए आज्ञा पालन ही भजन है। यदि पालन में त्रुटि नहीं है तो साधक शीघ्र ही लक्ष्य को बेध लेगा। इस योग की जागृति के पश्चात् ही साधक निमित्त मात्र हो जाता है। भजन तो भगवान करावत हैं।" इस प्रकार श्री महाराजजी साधना के गूढतम रहस्यों को इतनी सरल भाषा में व्यक्त करते कि सत्सग में बैठे हुए साधारण व्यक्ति भी आध्यात्मिक पथ की ओर अग्रसर हो उठते।

-:१४:-

जव पूज्य महाराजजी की दी हुई शिक्षा तथा अन्तस्प्रेरणा के निर्देशनों में कोई स्वेच्छा से परिवर्तन करके मनमुखी (मनमाने) निर्णय से कार्य सम्पादित करने की चेष्टा करने लगे तब आप उसकी भूलों तथा गतिविधि से अवगत कराते हुए कहा करें-"एके देखौ मेहरिया में बैठके ज्ञान कहत है। अरे! पूर्तिपर्यन्त खतरा है, एक इच भी भगवान से दूरी है तो माया कामयाब हो सकती है।"

इतना सुनने पर कोई-कोई साधक दबे स्वर में बोले- "लेकिन महाराजजी, मन में कोई भाव-कुभाव भी तो नहीं है?" तब आप डपट कर कहा करें- धत् गॅवार कहीं का। बेटा-

हम जानी मन मर गया, मरा हो गया भूत।
मरने पर भी आ लड़ा, ऐसा मना कपूत।।

अरे! मन में यदा-कदा जो शान्ति दिखाई पड़ती है वह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। वह तो तभी सम्भव है जब स्वय भगवान उसे प्रमाणित कर दे। जब तक मन के स्थान पर भगवान प्रसारित न हो जायॅ, तब तक मन को मिटा हुआ नहीं मानना चाहिए। "गुरु के वचनों में गुजाइश, कलियुग की तिकडमवाजी।"

फिर आप एक उदाहरण देते हुए हॅसते हुए कहे कि घोर जंगल में एक आश्रम था। जिसमें एक महापुरुष के सरक्षण में कई शिष्य साधन-भजन में सलग्न थे। उनमें से एक शिष्य के मन में प्रवल वेराग्य का उदय हुआ और निर्द्वन्द्व विचरण एव तीर्थ देखने की कामना जागृत हुई। कई दिनों से वह निरन्तर गुरुदेव से तीर्थाटन की आज्ञा मॉग रहा था कि तीव्र वैराग्य के पालन हेतु उन्मुक्त विचरण की अनुमति प्रदान कीजिए, किन्तु उस समर्थ महात्माजी ने कहा कि नहीं वेटा, अभी तुम्हारे अन्दर वह क्षमता नहीं है, अभी तो तुम मेरे सरक्षण मे हो, बाहर निकलते ही पता नहीं किस घाट लग जाओ। अत अभी तो अहर्निश साधना में ही सलग्न रहो। वह समय आने में अभी काफी देर है।" किन्तु दो-चार दिनो बाद शिष्य पुन बोला कि महाराज अव तो अत्यत प्रवल इच्छा हो रही है।

उन महात्मा ने किचित् रोष से कहा- देखो, माया बडी दुर्धर्ष होती है। जाना ही चाहते हो तो जाओ किन्तु एक वात स्मरण रखना कि "गुरु के वचनों में गुजाइश कलियुग की तिकडमवाजी"। शिष्य ने कहा- 'जो आज्ञा' और सहर्ष प्रणाम करके चल पडा। जव वह कुछ दूर चला गया तो सोचने लगा कि महाराज जी के कथन का क्या अभिप्राय है? अर्थ समझ में नहीं आ रहा था, अत. वह लौट पडा और महाराजजी के चरणों में प्रणाम कर उनके कथन का आशय पूछा तो महाराजजी ने कहा--जव शिष्य गुरु की आज्ञा में अपने मन से उलट-फेर करने लगता है तो वहीं कलियुग प्रभावशाली हो जाता है और साधक का पतन हो जाता है। शिष्य ने हाथ जोड़कर पूछा कि महाराज! मेरे लिए क्या आज्ञा है? तो महात्मा ने कहा कि माई-दाई के चक्कर में मत पडना। उन्हें दूर से ही प्रणाम कर सदैव उनसे सजग रहना। दूसरी आज्ञा यह हे कि कहीं अपने अथवा गुरु महाराजजी का नाम वढाने के चक्कर में आश्रम-धर्मशाला इत्यादि निर्माण-कार्यों में न उलझ जाना। गुरु महाराज का नाम तो तुम्हारी करनी और गुरुत्व की प्राप्ति होने पर ही

होगी। तुम्हारे रूप मे गुरु ही प्रस्फुटित तो जायँ और तुम खो जाओ, वही उपलब्धि का क्षण है। अन्तिम चेतावनी यह है कि सिद्ध मत वनने लगना। यह सिद्धियाँ भी माया ही प्रदान करती हैं। पहले वह परमतत्त्व परमात्मा सिद्ध हो जाये, उसकी उपलब्धि ही परम सिद्धि है। इसके पश्चात् जो कुछ रास्ते मे मिलने वाली सिद्धियाँ है, वाधक नहीं रह जातीं। यही कलियुग की तिकड़मवाजी है। इससे सदैव सजग रहना, इससे वचना और जो मेरा उपदेश है उसमें जरा भी फेर वदल न कर लेना, यही आदेश है।

साधक ने वडी प्रसन्नता से प्रणाम किया और कहा कि महाराजजी आपकी कृपा से सब ठीक हो जायेगा। और वहाँ से चल पडा। गुरु के आदेश उसे अत्यत सरल प्रतीत हुए। विचरण करते-करते उसने एक पहाडी पर आसन लगा दिया। समाचार फैलते देर न लगी कि एक वडे सिद्ध महात्मा दिन-रात जागरण करके अपने भजन में सलग्न रहते हैं, युक्तियुक्त तथ्यपूर्ण वातें करते है। शनै-शनै भीड वढने लगी। उसी भीड-भाड़ में साधना-पिपासा लेकर एक नवयौवना भी पहुँच गई। बोली कि महाराज! हमने वहुत ढूँढा, आज आपके दर्शन से आँखें तृप्त हुई। कृपया गुरुमत्र प्रदान करें, जिससे घोर ससार-सागर से मेरा भी उद्धार हो सके।

महात्मा सरल चित्त होते ही है, साधना का क्रम समझाकर विदा कर दिया और बताया कि यहाँ कुटी मे रात्रि मे किसी के रहने का विधान नहीं है क्योंकि इससे भजन में बाधा पडती है। पहले दिन तो वह बाला चली गई किन्तु प्रात पुन सेवा मे उपस्थित हो गई। सायकाल महात्मा ने उससे पुन घर जाने का आग्रह किया तो उसने कहा कि दो-एक दिन गुरु-चरणों का सामीप्य तो मिले। आश्रम में रहकर, सेवा करके एव चरणामृत पान करके जीवन सार्थक तो करने दें। इसी प्रकार की प्रार्थना करते-करते अन्ततोगत्वा एक दिन आश्रम मे निवास करने की अनुमति भी उसने प्राप्त कर ही लिया।

सग-दोष का प्रभाव होकर ही रहा। धीरे-धीरे दो-चार सन्तानें भी हो गई। पहले तो भाविक भक्त उन्हें हृदय से मानते थे किन्तु जब उनकी स्थिति पतन के गर्त में पहुँच गई, तब उन्हें कोई भी नहीं पूछता था। पहले कोई कमी न थी, अब माँगने पर भी पूर्ति नहीं होती थी। लोगो को तो जो कहना था कहते ही थे, किन्तु वह युवती भी बिगडा करे। एक दिन उसने कहा कि जव भिक्षा माँगने चलना ही है तो छोटे बच्चे को गोद में क्यों नहीं ले लेते? उससे चला नहीं जा रहा है। पहले पैदा करते समय इसका ध्यान नहीं था क्या?

अब तो साधू को महान् दु ख हुआ। वह सोचने लगा कि कहाँ तो हम इतने महान पुरुष की सेवा कर रहे थे, और आज हमारी यह दशा हो गई है? उन्होंने मना भी किया परन्तु मन की तरगों ने न माना। महान दु ख के उन क्षणों मे आकाशवाणी हुई- "गुरु के वचनों मे गुजाइश, कलियुग की तिकडमबाजी। बेटा! बार-बार मना करने पर भी नहीं माने। अब से भी सम्हल जाओ।" साधक साहसी था। उसने तुरन्त लडको और स्त्री को छोडा और वहुत दूर निकल गया। अज्ञात स्थान पर पहुँचकर सोचने लगा कि सर्वस्व खोकर पुन गुरुदेव के पास कैसे जाऊँ। अत पूर्ण तपस्या का अर्जन करके ही उनकी शरण में चलूँगा। ऐसा दृढ निश्चय करके नदी के किनारे एक टीले पर आसन जमाकर वैठ गया।

कुछ ही समय में चतुर्दिक ख्याति फैल गई कि महात्मा बडे अच्छे हैं। विकल की तरह दिन-रात भजन में ही लगे रहते है। भाविको की भीड पुन बढने लगी। अच्छे-अच्छे सत्सगी वृद्ध लोग नियमित आने लगे। एक आसन मे और उसी लगन से उन्होने बारह वर्ष व्यतीत कर दिया। अन्तराल में शक्ति और सम्बल भी प्रतीत होने लगा। भाविकों के चाहने पर भी वहॉ अपने लिए कोई भवन भी वनने नहीं दिया। केवल फूस की झोपडी में रहा करते थे।

एक दिन वह साधू नित्य-क्रिया के लिए दूर की पहाडी पर निकल गये। अचानक सामने ही एक चट्टान स्वर्ण के समान चमकती दृष्टिगोचर हुई। महात्मा ने स्पर्श किया और पाया कि वह तो शुद्ध सोना ही है। शौच से लौटने पर भी ऑखों के समक्ष वही स्वर्ण चट्टान कौधने लगी। उन्होंने विचार किया कि जगल में इस चट्टान का क्या उपयोग है? यदि यहॉ आश्रम, धर्मशाला, पाठशाला वन जाय तो इसमे गुरु महाराजजी की ही कीर्ति फैलेगी। हमे तो कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तो गुरु महाराजजी के लिए ही यह सब कर रहा हूॅ। ऐसा विचार कर बहुत समय से नियमित सत्सग करने वाले वृद्ध भाविको से आपने अपना मन्तव्य व्यक्त किया कि यहॉ पर एक आश्रम, धर्मशाला, कूप, पाठशाला बन जाय तो देश का ही कल्याण हो जाय। वृद्ध बोल पडे कि महाराज! आपने ही तो कभी इसकी अनुमति न दी थी। यह तो हम लोगों के लिए परम-कल्याण की वात है कि आज आपने आदेश दिया। अस्तु, अब हम सब चन्दा किये लेते हैं और कल से निर्माण कार्य प्रारम्भ हो जायेगा।

महात्मा जी ने कहा कि नहीं, चन्दे की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल मिस्त्री, गॉव के सभी लोग एकत्र होकर एक साथ कार्य प्रारम्भ करें, सबको पैसा भगवान देंगे। दूसरे दिन ही कार्य प्रारम्भ हो गया। सेकडों लोग पैमाइश नींव खोदने में लग गये। शाम को वे महात्मा शौच गये और एक स्वर्ण खण्ड उठा लाये तथा वयोवृद्धों को समर्पित कर कहा कि इसे वेचकर सवका पारिश्रमिक दे देना तथा अन्य कारीगरों को भी आमंत्रित कर देना। कारीगरो की भीड सहस्रो तक पहुॅची और वे महात्मा उसी अनुपात से स्वर्णखण्ड लाकर वृद्धों को देते रहे, जिसे वृद्ध भाविक कारीगरों में वितरित कर देते। आश्चर्य तो सभी को था किन्तु उन वृद्धों के हृदय में तीव्र कौतूहल होने लगा कि महाराज इतना स्वर्ण कहॉ से ले आते हैं। यह क्रिया जानकर हम भी अपने गृह-कार्य की व्यवस्था, नाती-पोतों का विवाह भी आसानी से कर लेते। आपस में वहुत विचार करके उन्होंने सलाह किया और महाराजजी से निवेदन किया कि आप प्रतिदिन सोना ले आते हैं आपको कितना कष्ट होता है। यह कार्य तो हम लोग ही कर सकते थे। क्या आपका हमारे ऊपर विश्वास नहीं है? आप तो इसे छूते भी न थे, आपको यह शोभा भी नहीं देता। आप केवल स्थान भर वता दें और यही आसन पर विराजे। आपके आदेशानुसार हम लोग वितरण करते रहेंगे।

जव वडे-वूढे पीछे पड गये तो महात्मा ने विचार किया कि मेरे भक्त ठीक ही तो कहते हैं। मुझे स्वर्ण से क्या लेना-देना है। यदि यही लोग प्रवन्ध कर लिया करें तो और भी अच्छा है। अत इन सवको वह स्थान दिखा ही दें। ऐसा निश्चय करके उन सवको साथ लेकर उस स्वर्ण-चट्टान की तरफ चले। संकेत किया और कहा कि इस स्थान से स्वर्ण लेकर वितरण किया करें।

वूढो का अभीप्सित सामने ही था। उन्होंने आपस में सकेत किया और झपटकर महात्मा को धर दवोचा। समीप के वृक्ष में बॉधने लगे। महात्माजी ने कहा कि अरे! क्या तुम्हारी बुद्धि खराव हो गई है। सनक तो नहीं गये। तुम्हें स्वर्ण लेना है तो ले लो। हमें क्यों वॉधते हो। जानते ही हो कि हमे धन की कोई आवश्यकता भी नहीं है। यह तो परमार्थ में ही मैं लगा रहा था। किन्तु लोभाक्रान्त तथा विवेक-रहित वृद्धों ने उधर कोई ध्यान न देकर उन्हें वॉध ही दिया और निश्चिन्त मन से स्वर्ण चट्टान की तरफ वढे। किन्तु यह क्या? वृद्धों के स्पर्श से ही वह चट्टान तो ऊवड-खावड पत्थर के रूप में परिवर्तित हो चुकी थी जो अव किसी भी उपयोग में आने लायक न रही। वयोवृद्ध भक्त अव तो उदास हो उठे। कहॉ तो मन ही मन सात पुश्तों तक के प्रवन्ध तक की योजना थी, लडके-बच्चों की शादी-विवाह की सोच रहे थे, किन्तु अव तो महात्मा जी की सेवा और विश्वास से भी गये। सभी ने विचार किया कि अव यदि महात्माजी को खोल भी दें तो कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है। अत वदनामी के डर से, महाराज के आग्रह पर भी न खोला और आगे बढ गये।

तीन-चार दिन उसी तरह वॅधे रहने पर महात्मा पुन महान दु ख में डूब गये कि कहॉ फॅस गये? कल तक सभी इशारे पर नाचते थे, आज आगे-पीछे कोई भी नहीं है। कष्ट के उन क्षणों मे मस्तिष्क मे आकाशवाणी गूॅज उठी, "गुरु के वचनों में गुजाइश कलियुग की तिकडमवाजी। बेटा! कहा था कि चिन्तन-परायण पुरुष को लोककीर्ति, आश्रम, कुटीर इत्यादि में नहीं फॅसना चाहिए, जैसे-तैसे निर्वाह कर लेना चाहिए। यथा लाभ में सन्तोष करके वैराग्य की रक्षा करनी चाहिए। बहुत मना करने पर नहीं माने। अब तो बेटा! तुम गिर ही गये।"

महात्मा अधर में लटके ही थे कि आराध्य की प्रेरणा से चरवाहे उधर से निकले और महात्माजी को बॅधा देखकर उन्होने बन्धन खोल दिया। चरवाहों ने बहुत पूछा किन्तु महात्मा मौन धारण कर वहॉ से चल पडे और अपने गुरुदेव की स्मृति में अधीर होकर रोने लगे। सोचते थे कि गुरुदेव के पास कौन सा मुख लेकर जाऊॅ? इस वार भी आज्ञा का पालन नहीं हो सका। किन्तु अब तो भजन पूर्ण करके कुछ अर्जन करके ही जाऊॅगा। उन्होंने निर्जन एकान्त मे तपस्थान चुना और इस बार वडी सतर्कता और निष्ठा से योग-प्रक्रिया में तल्लीन हो गये। बारह वर्ष बीत गये। भजन से सन्तुष्ट होकर अब वे गुरु-धाम की ओर बढ़े।

गुरुदेव का आश्रम अभी दस-बारह मील दूर था कि शाम होने को आई। महात्मा ने गॉव के वाहर ही तालाब के किनारे भजन करते रात्रि व्यतीत किया। सूर्योदय के पूर्व ही एक व्यक्ति पास के मार्ग से निकला, महात्मा को देखा, तुरन्त सिर पटक कर उतने ही वेग से आगे बढ गया। महात्मा से न रहा गया। पूछ ही बैठे कि ऐसी कौन-सी विपत्ति है जो भागे जा रहे हो? वह व्यक्ति, जो स्वर्णकार था, लौट पड़ा और वोला, "महाराजजी! परिवार में एक ही लडका है, न जाने कौन-सी वीमारी हो गई है कि सभी वैद्य, डाक्टर जवाव दे गये। यही अन्तिम वच्चा है। सव ओर से हताश होकर वैद्य के यहॉ जा रहा हूॅ। सम्भव है भगवान उन्हीं को यश देना चाहते हों।"

महात्मा की सावधानी तनिक विस्मृत हुई और अपना तपोवल उन्हें याद आ गया। झटके से उन्होंने अपनी जननेन्द्रिय के पास से एक वाल तोडते हुए कहा, "इसका तावीज वनाकर वच्चे को

पहना दे। देख, फिर क्या होता है?" वह व्यक्ति सोनार तो था ही, ठोक-पीटकर ताबीज बनाकर बच्चे के गलें में डाल दिया। बच्चे की स्थिति में सुधार होने लगा। बच्चा उठने-बैठने लगा और कुछ की घटों में स्वस्थ हो चला। स्वर्णकार के परिवार के लोग बारी-बारी से तालाब की ओर जाने लगे। कोई दूध लिये है तो कोई दही, तो कोई कुछ अन्य मिष्ठान्न ही लिए चला आ रहा है। गॉव का जमींदार वडी देर से इन बातो को देख रहा था। वह भी शौच इत्यादि के लिए तालाब की ओर आया था।

वह स्वर्णकार भी दिखाई पडा। जमींदार ने पूछ ही तो लिया, "अरे सुखुआ! तूॅ वार-बार घर-भर इधर कहॉ जात है? तोरे लडिकवा के का हाल है?" तब वह बोला, "मालिक! वह तो ठीक हो गया।" जमींदार को आश्चर्य हुआ। पुन पूछा, "किसकी दवा की? कैसे ठीक हो गया?" स्वर्णकार ने कहा, "मालिक दवा तो किसी की कारगर न हुई। हॉ, एक महात्मा इसी तालाव पर आये हैं। उन्हीं के आशीर्वाद से ठीक हुआ है। महात्मा क्या साक्षात् भगवान है। बडे सिद्ध है।"

गॉव भर में चर्चा फैल गई। जमींदार, छोटे-बडे सभी लोग तालाब पर एकत्र होने लगे। कोई लडकी के विवाह की प्रार्थना सुना रहा था, कोई जन्मजात रोगी था, कोई पागल था, किसी को निर्धनता ने परेशान कर रखा था- इत्यादि समस्याये आने लगीं। दुनिया ही दुखी है तिसपर गॉव भर वहीं था। अत समस्याओं का ढेर लग गया। महात्मा जाना भी चाहते तो सभी उनके पैरों के नीचे लेट जाते थे। तब महात्मा वहीं आसन पर बैठ गये और समझाने लगे कि हम कुछ भी नहीं जानते, आप लोग भ्रमवश मेरा पीछा कर रहे हैं। किन्तु सभी के सामने प्रमाण वहुत ही वडा था। सभी कहने लगे कि आप महापुरुष हैं, अपने को छिपा रहे हैं। सम्भावित पुरुप अपने को छिपाते ही हैं।

धीरे-धीरे सॉझ होने को आई और लोगों को अपने घर, पशुओ की व्यवस्था का ध्यान आया। लोग उकताने लगे तो जमींदार ने सुनार से पूछा- "करे सुखुआ! इ त वता कि तोरे लरिका के महाराज का दिहे रहे?" तब वह बोला, "मालिक! मै वैद्य के पास जा रहा था कि महाराज दिखाई पडे। मेने सोचा वच्चे का अन्तिम समय है, शायद दुआ ही लग जाय। जव मै प्रणाम करके आगे वढा तो इन्होंने पूछा कि ऐसी क्या व्यग्रता है कि भाग रहे हो? जव मैंने लड़के की दयनीय दशा सुनाई तो इन्होंने अपने जननेन्द्रिय के बगल का एक बाल उखाडकर उसे तावीज में भरकर पहनाने को कहा, जिससे बच्चा स्वस्थ हो गया।"

जमींदार ने कहा कि तव महाराजजी को क्यों परेशान कर रहे हो, जव इन वालों में इतना गुण है तो प्रार्थना करके महाराजजी के सव वाल ही क्यो नहीं ले लेते हो। वाल निर्जीव होते हैं। कभी न कभी कटते ही हैं, नाई वुलवा कर कटवा लो और हम लोग आपस में वॉटकर महाराजजी को जाने दें।

इतना सुनने पर वह नाई घर की ओर दौड गया क्योंकि उस्तरा तो घर पर ही था। महात्माजी के वगल में एक अत्यन्त गरीव आर्त भक्त भी खडा था। उसने सोचा कि वडे आदमियों का मसला है, पता नहीं उसके हिस्से में वाल आयें या न आयें। यदि वाल न मिला तो दुखी का दुखी ही रह जाऊॅगा। अधीरता से सोचते-सोचते उसने अचानक लपककर महात्मा जी के वालों

में हाथ लगाया और नोंचकर भागा। फिर कौन प्रतीक्षा करता। वात की वात में सभी टूट पडे और महाराजजी के सिर से पॉव तक का एक रोऑ भी न वचा। नाई कुछ देर से पहुॅचा। रही सही कसर उसने पूरी कर दी। वस्तु जव समाप्त हो गई तो महात्मा को ही लेकर सव क्या करते? अत वहीं महात्मा को छोडकर सभी अपने घर चले गये।

अव तो वे साधू मेंड पर अकेले विकल पडे-पडे विलाप करने लगे तथा वार-वार गुरुदेव का स्मरण करने लगे। पुन आकाशवाणी हुई, "गुरु के वचनों में गुंजाइश कलियुग की तिकडमवाजी। वेटा! तू फिर गिर गया।" साधु को विश्वास हो गया कि अव हमारे करने से कुछ नहीं होगा। जैसे भी हो गुरुदेव के शरण में अविलम्व पहुॅचे। अत· उसी प्रकार विलखते, विलाप करते गुरुदेव के आश्रम में पहुॅचे। गुरुदेव ने कहा, "क्यों वेटा! अव घूमने की इच्छा नहीं है? वेटा तू श्रेष्ठ से श्रेष्ठ है, मगर चाह करके भ्रष्ट है।" गुरुदेव ने उस साधक की दयनीय दशा पर तरस खाकर उसके पुनरुद्धार का प्रयास किया और अपने प्रभूत अनुभवों द्वारा समझाते हुए कहा, "बेटा! भगवान की आज्ञा मानना, उसका पालन करना ही भजन है। अरे! भजन तो स्वयं भगवान ही कराते है। साधक को तो निमित्त मात्र वनकर खड़ा रहना चाहिए। तुमने अपनी कल्पित क्षमता से वैराग्य तथा तीर्थाटन का संकल्प वनाया और पथ से विचलित हो गये। जव तक भगवान हृदय में प्रकट होकर निर्देश न देने लगें तब तक अपने मन से कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए और किसी महापुरुष की शरण पकडकर सर्वतोभावेन उन्हीं के आदेशों का पालन करना चाहिए। साधक के लिए यही भजन है।"

-:१५:-

अनुसुइया आश्रम घोर जगल में है फिर भी लोग पहुॅचते ही हैं। स्कूल में फेल हो जाने पर, घर में झगड़ा हो जाने पर, रोगी होने पर लोग राम की तपोभूमि चित्रकूट आते ही रहते थे और वहॉ भीड़-भाड देखकर अनुसुइया तक भी पहुॅच जाते थे। घोर जंगल में एक सिद्धपुरुष, उनका स्नेह, स्वाभाविक आकर्षण! मन वरबस रम जाता था। लोग प्राय· कहते थे कि महाराजजी हमें शरण में रख लें। महाराजजी किसी को डॉट-डपटकर, किसी को किराया-भाड़ा देकर, किसी के घर पत्र देकर उन्हें वापस भेज देते थे, किन्तु जिसके लिए अनुभव में आदेश मिलता कि "ये भ्रष्ट योगी हैं, इन्हें रास्ता दिखाओ, ब्रह्मविद्या वताओ"- पूज्य महाराजजी उन्हें ही आश्रम में स्थायी स्थान देते थे।

एक समय वीस वर्ष का एक युवक आश्रम में पहुॅचा, बोला- "महाराजजी! शरण में रख लीजिए।" महाराजजी वोले- "करे तोरे में तो एकौ लच्छन सधुअई का नहीं है। काहे चला आया रे!" वह वोला- "महाराजजी! वैराग्य पैदा हो गया।" महाराजजी विगड़े- ढोंगी कहीं का! असली वात नहीं वतावत है, कहथ है वैराग्य पैदा हो गया, वोल काहे भागा?" तव उसने वताया, "महाराजजी! हमारी कुण्डली में कुल आयु वाईस साल लिखी है। हमारे हाथ में आयु रेखा भी नहीं है। वीस वर्ष के हम हो ही गये। अव दो वर्ष में गृहस्थी में क्या कर लेंगे? जव दो वर्ष ही वाकी है तो सोचा भगवान का भजन ही करें। इसलिए महाराज हम भाग आये और शादी भी नहीं किया।"

महाराजजी ने पास बैठे लोगो से कहा- "देखो हो! का कहथ है। देखो रेखा है कि नहीं। दिखा तो हाथ!" सभी देखने लगे। वास्तव में आयु-रेखा नहीं थी। मृत्यु का भय सबसे बुरा होता है। युवक भी सिर नीचा किये बडा उदास था। अचानक महाराजजी ने छडी उठाई और खींचकर हाथ पर सटाक से मारा। तुरन्त उसने हाथ खींचा और सी-सी करते हुए दस कदम पीछे हटकर बैठ गया। महाराजजी स्वाभाविक मुद्रा में बिगडते हुए बोले- "मरै का डेरात है। देखत हो भागत फिरत हे। मन में होई खटपट तो चल बाबा के मठ पर। अरे जब काल आ जाई त भागे से बची।" रात्रि में सवने शयन किया। सवेरा हुआ! युवक बोला- "महाराजजी! रेखा तो जम गई।" महाराजजी ने कहा- "देखो हो! का कहत है?" सबने देखा तो वह रेखा वास्तव मे बन गई थी। महाराजजी ने पूछा- "बोल बेटा! अब क्या करोगे?" वह बोला- "महाराजजी! आज्ञा होती तो अब घर चले जाते।" सभी हँसने लगे।

तत्त्वदर्शी महापुरुष अपनी इच्छा-शक्ति से कर्म को बदल सकता है। यही आशीर्वाद कागभुशुण्डि जी को भी था। भगवान जब अपना लेते है तो इच्छा ही इच्छा-शक्ति बन जाती है- "जो इच्छा करिहउ मन माहीं, हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।" महाराजजी इसी सदर्भ मे एक कथानक सुनाया करते थे, जो इस प्रकार है- दो भाई थे। एक भाई नित्य एक तत्त्वदर्शी महात्मा के सत्सग में जाता था। लगन से उनकी सेवा किया करता था। दूसरा भाई विख्यात वेश्या के कोठे पर प्रतिदिन जाता, शराब पीता था। पहला भाई रोज समझाता था, "देखो! हम लोग भले घर के है। तुम्हें यह शोभा नहीं देता। सत्सग में चला करो। यही हमारा कर्तव्य है। एहि तन कर फल विषय न भाई।" किन्तु दूसरे भाई पर कुछ प्रभाव ही नहीं पडता था।

कुछ काल पश्चात् पहला भाई रात में सत्सग से लौट रहा था। रात अँधेरी थी। पॉव में एक खूँटी गड गई। इस पार से उस पार हो गई। खून ही खून फैल गया। किसी तरह घर पहुँचा। सवेरा होने से कुछ पहले दूसरा भाई वेश्या के यहाँ से लौटा तो रास्ते में हार पडा मिला। लाखों का हार मिला। प्रसन्नता से घर पहुँचा तो भाई कराह रहा था, बोला, "ले, और कर ले सत्सग! फल मिला? अरे चार दिन की जिन्दगी है! मौज-पानी ले ले। देख, मुझे लाख रुपये का हार मिला और तुम्हें पाँव में खूँटी लग गई। सत्सग से क्या मिला? टिटनेस हो जायगा तो मर भी जायगा।" छोटा भाई बोला- "नहीं! सन्त-दर्शन से कभी अनिष्ट नहीं हो सकता।" बड़ा बोला, "सामने दिखाई तो दे रहा है। पॉव चीरे वैठा है, कहता है अनिष्ट नहीं होता।" तय किया गया कि ज्योतिपी से विचार लगाया जाय कि हार क्यों मिला और खूँटी क्यो गडी?

दोनों अपनी-अपनी कुण्डली लेकर ज्योतिषी के पास गये। उनकी विद्या वहुत वढा-चढी थी। कुण्डली सामने रखी गई। ज्योतिषी ने एक कुण्डली उठाई, चौंका!- "यह व्यक्ति तो आज सवेरे मर गया होगा। सवेरे-सवेरे ऐसी कुण्डली क्यों ले आये?" दोनों ने कहा- "महाराज! दूसरी कुण्डली भी देखें।" ज्योतिपी ने देखा, वोला- "विलक्षण कुण्डली है। इतनी शुभ कुण्डली तो हमने जीवन में कहीं नहीं देखी। इस पुरुष को आज राजा होना चाहिये। मैं उस भाग्यवान से अभी मिलना चाहता हूँ। ज्योतिषी ने सोचा, होनेवाले राजा से पहले ही मिल लेने पर धाक जम जायेगी, सदैव सम्मान मिलेगा।

भाइयों ने बताया कि कुण्डली हमी दोनों का है। ज्योतिषी ने कहा- "अरे! ऐसा कैसे हो सकता है। ज्योतिष तो गलत हो ही नहीं सकता। तुम अभी तक जीवित कैसे हो? बताओ तुम लोग करते क्या हो?" छोटे भाई ने वताया, "मैं नित्य महात्मा की सेवा में जाता हूँ, उनकी वाणी सुनता हूँ, उपदेशानुसार जीवन में कुछ ढालने का प्रयास भी करता हूँ, चिन्तन के लिए भी समय निकालता हूँ।" ज्योतिषी ने सिर हिलाया और दूसरे भाई से पूछा- "तुम क्या करते हो?" वह बोला- "मैं तो शराब पीता हूँ, वेश्या के यहाँ जाता हूँ और यह भाई मुझे नित्य विगडता है।"

ज्योतिषी ने समाधान किया कि तुम गलत करते हो। तुम्हारे छोटे भाई को आज मर जाना चाहिए किन्तु महापुरुष के दर्शन, सत्सग, सेवा के प्रभाव से इसे मात्र खूँटी ही गड़ गई। इसकी आयु बढ गई। तुम्हें आज राजा होना चाहिए था किन्तु कुकृत्य करते-करते पुण्य क्षीण हो गया। एकाध लाख का हार मिल गया। दो-चार महीने में फूँक-तापकर उसे भी बराबर कर दोगे। फिर तो न पुण्य है न पुरुषार्थ। उस दिन से बडा भाई भी सत्सग में जाने लगा। बुराइयाँ छूट गईं।

वस्तुत: मनुष्य कर्मो का रचयिता है। शेष चौरासी लाख योनियाँ तो केवल भोग भोगने के लिए हैं। मानव-तन में भला-बुरा जैसा भी कर्म किया जाता है उसी के अनुसार भविष्य की योनियों का सृजन होता है। योगेश्वर कृष्ण कहते हैं कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन के द्वारा जिस कार्य-कलाप को करके यह जीवात्मा शरीर त्यागता है उसी के अनुसार उत्तम अथवा अधम योनियों में प्रवेश करता है। "कर्मानुबन्धीनि मनुष्य लोके" (१५/२, गीता)। मनुष्य योनि ही ऐसी योनि है जिसमे कर्मो के अनुसार शुभ अथवा अशुभ बन्धन तैयार होता है। शुभ कर्म करेंगे तो हाथ में शुभ रेखाये बन जायँगी, अशुभ करेंगे तो शुभ रेखायें नष्ट हो जायँगी, अशुभ शेष बचेगा। केवल मनुष्य योनि में ही कर्मो का सृजन होता है। अन्य योनियाँ मात्र उन कर्मो के भोग के लिए हैं। आज से लाखों वर्ष पूर्व शेर जगलो में रहते थे। कोई शक्तिशाली मिला तो भाग खड़े हुए, कमजोर मिला तो फाड खाया। आज भी उनका वही स्वभाव है। उनका रहन-सहन, बुद्धि-विचार कुछ भी तो नहीं बदला। किन्तु मानव दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति करता जा रहा है। कभी वह पत्थरों से लडता था तो आज क्षेप्यास्त्रों से लडता है। अंतरिक्ष में जा रहा है। भौतिक आविष्कारों से हटकर यही मानव-मन ईश्वर की ओर अग्रसर हुआ तो सूक्ष्म होते-होते, मन का निरोध करते-करते परमतत्त्व परमात्मा तक को शोध निकालने मे सक्षम हुआ। इस प्रकार मनुष्य कर्मो का रचयिता है, उसके आश्रित नहीं। सभी को चाहिए कि शुभ कर्म करें, अशुभ से बचें।

-:१६:-

गुरु पूर्णिमा के पावन पर्व पर दसियों हजार की भीड़ अनुसुइया आश्रम में हो जाया करती थी। सैकडों माताएँ भी सपरिवार महाराजजी के दर्शनार्थ एकत्र हो जाती थीं। जब घर जाने की अनुमति हो तो दो-एक महिलायें निवदेन करती थीं कि महाराजजी! अब मैं यहीं रहकर आपके सान्निध्य में भजन करूँगी। ससार में मेरा कोई नहीं रह गया है। महाराजजी कहते थे- "देखो हो! का कहत है? वैराग्य सवार है। घर में रहिहैं तो मारे गृहस्थी के साल भर फुरसत न मिली और इहाँ वैराग चढा है। मरकट वैराग! अरे! हम इहाँ अपने बहिन को रहने की अनुमति दें, माई को रखें अथवा विटिया को रहने दें तो लोग का जनिहैं कि माई-वहिन है। लोग तो इहै कहिहैं

कि बाबा मेहरिया रखे है। यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धम् न करनीयम्। हालॉकि मन-क्रम-वचन से तनिको दोष नहीं है फिर भी जो लोकदृष्टि के विरुद्ध है वह नहीं करना चाहिए। उससे समाज में गलत संस्कार पडते हैं।''

''नहीं! महाराजजी! आप महापुरुष हैं। आपको कोई कुछ नहीं कहेगा। यहॉ पर हमारा मन बहुत लगता है। यहीं भजन करने की आज्ञा दीजिए।''- महिलाओं के ऐसा कहने पर महाराजजी कहते, ''हूँ! चामे की धोकरी कुत्ता रखवार। ताजा उतारा चमडा है, कितना ही वफादार कुत्ता है, ऊ जरूर छुई। जबै मौका पाई, दॉत जरूर लगाई। स्वभाव है न। अरे! मै साधू हूँ। मोके कौनो फरक नाहीं। दो-चार औरउ ऐसन हैं जिनके ऊपर संगदोष का प्रभाव नहीं है, मोरै स्वरूप है, लेकिन जो नये साधक है उनका तो गुण-स्वभाव पुराने है। गुण-स्वभाव त्यागे बिना दुर्लभ परमानन्द। दस-बारह साल में तो साधक लाइन पकडता है तब कहीं खतरा टलता है। अबै तो ई सब कुम्हड बतिया हैं। सग से जती नष्ट होई जात है। जो भाग! घर ही से भजन कर। मनै से आवा-जावा कर। कल्यान मै करिहौं। सॉझ-सबेरे मोर रुपवा देखा कर। कौनो एक नाम जपा कर। राम-राम जप। जो और पति की सेवा कर। जवन तैं इहॉ पइहै वह मैं वहीं दे देइहौ।'' इस प्रकार सान्त्वना देकर उन्हें घर भेज देते थे।

महाराजजी प्राय भाविको से कहते थे कि 'ॐ', 'राम', 'शिव' किसी भी दो-ढाई अक्षर के नाम को चुन लो। सबका आशय एक है। 'ओम्' पर अधिक बल देते थे। कहते थे, ''मोरै रूपवा देखा कर। शरीरिया से कहूँ रहो, मनवा से आवा-जावा करो। सुबह-शाम सॉझ-विहान जब याद आवै तब-तब मन से पहुँच जाया करो। जब भी मोरे रूप को एक भी मिनट हृदय में रोक लोगे तो जिसका नाम साधना है वह भजन मैं तुम्हें प्रदान कर दूँगा। तुम्हारे हृदय से ही प्रेरणा करके भजन की प्रशस्त पटरी पर मैं खडा कर दूँगा, भगवान खडा करते हैं। ''मन बस होइ तबै जब प्रेरक प्रभु बरजे।'' तुम एक मिनट ध्यान तो धरो। 'ओम्' जपो तो।''

-:१७:-

पूज्य महाराजजी कहा करते थे, ''बेटा! जब माया परीक्षा लेत है तब बूढे जवान होइ जात हैं। नामर्द मर्द बनि जात हैं। साधू बनब आसान है लेकिन निबाहब कठिन है। धरा न काहू धीर, सबके मन मनसिज हरे। हो, माया बडी अपरबल है।''

घोर जगल में एक आश्रम था। बडे अच्छे तत्त्वदर्शी महापुरुष वहॉ निवास करते थे। दस-पन्द्रह शिष्य भी उनके सरक्षण मे क्रिया तथा सेवा में संलग्न थे। एक दिन एक शिष्य बोला, ''महाराजजी! आज्ञा हो तो वैराग कर आऊँ। तीर्थाटन की प्रबल इच्छा है।'' महाराजजी बोले, ''बेटा! अभी तुममें क्षमता नहीं है। माया बडी प्रबल है। उसकी सर्वत्र धार है। न जाने कब कोन-सा दाँव लगा दे, तुम जान ही नहीं पाओगे।'' शिष्य ने कहा, ''महाराजजी! बस आपकी कृपा बनी रहे तो माया क्या कर लेगी?'' महाराजजी ने कहा, ''हॉ, कृपा तो है लेकिन बचना! मैं भी तो कुछ न रहा हूँ।'' शिष्य ने प्रणाम किया तो महाराज ने पुन. बचने के लिए सतर्क किया।

शिष्य अभी आश्रम से एक मील भी न गया होगा कि सामने से एक बुढिया तेजी से आती दिखाई पड़ी। चेहरे पर झुर्रियॉ पड गयी थीं किन्तु ऑखों में तेज चमक थी। घोडे की एक लगाम

लिए वह उडती-सी चली आ रही थी। इधर-उधर देखती हुई आगे वढ़ती जा रही थी। महात्मा को दया आ गयी। सोचा, वेचारी का घोडा लगता है कहीं खो गया। वोला, "वुढिया, इधर कोई घोडा नहीं गया! तू लगाम लेकर कहॉ दौडी जा रही है?" वुढिया वोली, "वावा! यह महात्माओं को लगाती हूॅ, घोडों को नहीं।" ब्रह्मचारी विगडा, "कुतिया कहीं की! कहती है महात्माओं को लगाम लगाती हूॅ। जो करना हो कर! क्या उखाडेगी?" वुढिया वोली, "अच्छी वात है वावा! बचना।" ब्रह्मचारी पुन. जोर से विगड़ा। वुढिया आगे वढ गयी।

ब्रह्मचारी एक मील और आगे वढ़ा तो नदी पड़ी। नदी के पार एक वाला विकल होकर रो रही थी। मुॅह लाल हो गया था। ऑखें रोते-रोते सूज आयी थीं। पैरों में मेंहदी लगाये, सजी-सॅवरी किसी भले घर की नववधू प्रतीत होती थी। पार होते ही महात्मा ने दयावश पूछा, "तुम रो क्यों रही हो? तुम्हारे साथी क्या जगल में भटक गये? तुम्हें क्या दुख है?" वाला कुनमुनाई, उठी और धीरे-धीरे चलकर ब्रह्मचारी के पास आयी। पॉच रुपया उनके चरणों पर रखा, प्रणाम किया, वोली, "महाराज! मेरे जैसी अभागिन इस सृष्टि में कोई नहीं है।" इतना कहकर वह पुन. वहीं जाकर बैठ गयी और रोने लगी। ब्रह्मचारी ने विचार किया- है बडी धर्मात्मा! इसके ऊपर कोई भारी आफत आयी है। इसकी सहायता करनी चाहिए। बोले, "कुछ वतायेगी भी कि वात क्या है?" बाला क्रमश शान्त हुई, बोली, "महाराजजी! मैं मायके से आ रही हूॅ। उस पार, वह जो गॉव दिखाई दे रहा है, हमारी ससुराल है। बीच में यह नदी वढ गयी। अव लौटती हूॅ तो वडा अपशकुन माना जाता है। शुभ घडी में विदाई हुई है। उस पार कैसे जाऊॅ? नदी वढ़ी है। वस यही दु ख है। अब तो हम न घर के रहे न घाट के। मर जाना शेष है। शेर वाघ इस जगल में खा लें, यही बाकी है। हमारी दुनिया का दीपक वुझ गया। महाराज! हमारे ऐसा अभागा कोई नहीं है। आप दयालु हैं। सन्त हैं। आप से क्या प्रयोजन? आप जायें। क्यों मुसीबत में पडते हैं? महाराजजी! अपनी करनी पार उतरनी। जैसा मैंने किया है, कौन भोगेगा?" उठी और दस रुपया पुन पैर पर चढाया, प्रणाम किया। बोली, "महाराज! तीरथ में जा रहे हैं। ले लें, गॉजा-भॉग में काम आयेगा।"

ब्रह्मचारी चलने लगा तो सोचा, क्या कोई उपाय हो सकता है? रास्ते में कहीं कोई दिखलाई भी नहीं पड रहा था। लौटे, बोले, "देखो! नदी मे इतना वेग नहीं है जितना तुम समझती हो। केवल घुटने तक पानी है। तुम चलो तो।" नववधू बोली, "महाराज! हमको बहुत डर लगता है।" ब्रह्मचारी बोले, "अच्छा, यह डंडा पकड! हम पार कर देंगे।" जहॉ पानी के पास आयी, तहॉ छडी छोडकर वधू बडी जोर से चींख पडी, वापस हो गयी और पुनः जाकर वहीं बैठ गयी। विकल होकर रोने लगी। ब्रह्मचारी अवाक् रह गये बोले, "अब क्या हुआ?" रोते हुए वह वोली, "महाराज! मेरे अभाग्य का अन्त नहीं है। अब तो कोई उपाय नहीं है। हमारे पास सौ-सवा सौ रुपया है। यहॉ मुझे शेर-चीता तो खा ही जायेंगे, ये पैसे मेरे पास पड़े-पडे सड़ जायेंगे, आप तीरथ-वरत में जा रहे हैं। इसे स्वीकार करें। किराया-भाडा, गॉजा-भॉग में काम आ जायेंगे।" रुपया फेंका, प्रणाम किया और वापस वहीं जाकर रोने लगी। महात्मा दयार्द हो चले थे, पूछा, "क्या वात हुई। क्यों पीछे हट गयी?" वह वोली, "महाराजजी पैर में महावर लगा है, वह तो पानी में धुल जायेगा? ससुराल में वे मुझे रखेंगे नहीं। कहेंगे, न जाने कितने दिन की चली है। महावर कहॉ छुडाकर आयी है।"

महात्मा ने सोचा, विपत्ति तो भारी है किन्तु बेचारी है बडी धर्मात्मा। पूछा, "क्या कोई भी उपाय नहीं है?" "महाराज! आप जायँ।" ब्रह्मचारी ने कहा, "सुन तो लें, क्या है?" वधू बोली, "अपने कन्धे पर बैठा लीजिए, हमारे पैर का रंग न छूटे और उस पार कर दीजिए।" ब्रह्मचारी बोले, "ऐसा कैसे हो सकता है?" वह बोली, "अरे महाराज! वह तो हमने पहले ही प्रार्थना किया। आप जाइये।"

ब्रह्मचारी सकोच में पड गया, सोचा- है बडी दयालु, साधुसेवी है। हमको इतना खर्च दिया। रास्ते की ओर आगे-पीछे देखा। कोई नहीं था। बोला, "शीघ्र कन्धे पर बैठ। हम पार कर दें।" ब्रह्मचारी के मन में उस समय कोई विकार भी न था। कन्धे पर बिठाया और नदी पार करने लगे। बीच धारा में पहुँचते ही नववधू ने ब्रह्मचारी के मुँह पर लगाम लगाकर पैर से एड लगा दिया। टिक-टिक हॉकने लगी। ब्रह्मचारी बिगडे, बदतमीज कहीं की! क्या करती है? ऊपर झॉका तो वही बुढिया। बोली, "कहा था न बाबा बचना! द्रवित हो ही गये। साधक के लिए दया का विधान कहॉ है। थोडा-सा चारा फेंका, उतने में ही फॅस गये। तुम्हारे पीछे पुण्य प्रबल है। जंगल वाले महात्मा हृदय में बैठे हैं इसलिए बच गये अन्यथा तुम्हें तो अभी पटककर चढ बैठती। जन्म भर रोने के आँसू न मिलते।"

ब्रह्मचारी ने झुँझलाकर बुढिया को नदी में फेंका तो न कहीं बुढिया थी, न लडकी। सोचने लगे कि सचमुच माया प्रबल होती है। इसको तो हम पहचान ही नहीं सकेंगे। लौटे और आश्रम चले गये। महाराज ने पूछा, "वैराग्य कर आये?" ब्रह्मचारी बोले, "महाराज! आपकी आज्ञा नहीं मानी! बाल-बाल बच गये। माया मिली थी, कहा- गुरुजी तुम्हे पकडे हैं नहीं तो अभी पटककर चढ बैठती। अब तो महाराज हम यहीं रहकर सेवा करेंगे।"

अत साधक को तब तक गुरु आश्रम में धक्का-मुक्की खाते हुए सेवा और साधना में लगे ही रहना चाहिए, जब तक साधना की पटरी पर अनवरत चलने की क्षमता न आ जाय। इसके पश्चात् 'कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रणामा। कतहुँ विलोकत मन अभिरामा।।" कोई अन्तर नहीं पडता। विचरण करता भी रहे और चिन्तन में लगा भी रहे। साधना की पकड में दुर्बलता रहने पर विचरण करने में खतरा है। माया की धार सर्वत्र है। "काले मूड़ का एक न छाड़ी, अजहूँ आदि कुमारी।।" कबीर कहते हैं कि माया से एक भी कुकृत्य नहीं बचा फिर भी वह आदि कुमारी बनी है। इसका कुछ नहीं बिगडता। यह सदैव युवा है। जितना ही इसका स्पर्श करेंगे, उतना ही यह युवा होती जायेगी।

माया दया के वेश में, सेवा के वेश में, अनन्त मार्गों में न जाने किस रास्ते से साधक पर [illegible] हो जाती है। साधक के लिए दया का विधान नहीं है। सीताजी ने दया की तो लका में कष्ट भोगना पडा। "दया बिनु सत कसाई, दया करी तो आफत आई।। हॉ, दया-धाम की [illegible] होने पर महापुरुष दया का स्रोत ही बन जाता है। फिर तो "खाय न खुटे, चोर न लूटे, दिन-दिन बढ़त सवायो।" "पूर्णमदः पूर्णमिदं" वह पूर्ण है- भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में पूर्ण है। पूर्ण में से पूरा दान देने पर भी पूर्ण बच रहता है। ऐसे मनीषी दया के धाम [illegible] उनसे सदैव कल्याण होता ही रहता है, और उन्हीं से दया की आशा भी की जाती है

साधक के लिए दया का विधान नहीं है। साधक पहले अपनी तो परीक्षा दे ले, फिर दूसरों को डिग्री-डिप्लोमा देगा। हॉ, ऐसे साधन परायण पुरुषों की सेवा से लाभ सदैव है। वे भले दया न करें किन्तु उनसे स्वतः मिलता है। पूर्तिपर्यन्त खतरा रहता है। इष्ट से एक इन्च की भी दूरी है, तब तक माया कामयाव हो जाती है। वास्तव में साधु वनना आसान है लेकिन निर्वाह करना कठिन है। निर्वाह किसी महापुरुष की सेवा से ही होता है।

द्वार धनी के पड़ि रहे, धक्का धनी का खाय।
कवहुँक धनी निवाजिहै, (जो) दर छोड़ ना जाय।।

-:१८:-

पूज्य महाराजजी से एक भाविक ने पूछा, "महाराजजी! योग कैसा होता है?" महाराजजी ने उसकी ओर देखा, वोले-हूँ .मॉगे का भीख, पूछे गॉव का जमा! अरे! जोग कहिले से आवत है? घर पर कौन काम करते हो?" वह वोला, "महाराजजी! दुकान है। आजकल वड़ी घटी दे रही है। वरक्कत नहीं हो रही है इसीलिए आया हूँ।" महाराजजी ने कहा- "हूँ...भितरॉ कुछ अउर भरा है, ऊपर से जोग पूछत है। नाम अन्हियारी वारी, होम करै के पल्लव नहीं। अरे! जोग अधिकारी की वस्तु है। हूँ! जौने लिए आया है वही मॉग! जो, विभूति उठा! अव देख का होत है! फिर आकर बताना क्या हाल है?" इसी प्रकार महाराजजी सवको समझा-बुझाकर वापस कर देते थे।

किन्तु पास बैठे अनेक भाविकों के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो ही जाती थी। कुछ लोग विनयपूर्वक पूछ बैठते थे कि महाराजजी! भजन कैसे होता है? महाराजजी उन्हें सस्नेह समझाते थे कि देखो, सब लोग भक्ति का अर्थ नहीं जानते। लोग समझते हैं कि ऑख बन्द कर लो या एकान्त में वैठकर कुछ समय बीता दो अथवा कोई कॉटे पर सोता है, कोई खड़ा ही रहता है या महात्मा जगल में बैठे रहते हैं, यही भजन है। लेकिन भक्ति के जितने भी दाता और ग्रहणकर्ता हुए हैं, उन सबका चरित्र देखने पर ज्ञात होता है कि भक्ति-भाव के लिए सेवा का वडा महत्त्व है। 'भज' का अर्थ ही सेवा करना होता है।

राजा दिलीप वशिष्ठ की गाय चराया करते थे। वे चाहते तो अपने स्थान पर दस-पॉच हजार नौकर लगा देते। किन्तु नहीं, नौकरों द्वारा सेवा कराना एक बचाव (गुंजाइश) निकालना है। हम स्वय मन से लगें तभी हमारे अन्दर उन सस्कारों का सृजन होगा, मन निर्मल होगा, भक्ति पुष्ट होगी। यदि नौकरों द्वारा सेवा कराते हैं तो नौकरों को भले ही कुछ मिल जाय, भेजने वाले के लिए तो खाना-पूर्ति ही हाथ लगेगी। इसीलिए महाराजा दिलीप चक्रवर्ती नरेश होते हुए भी स्वय गुरुवर वशिष्ठ की सेवा में अपने कल्याण के लिए उपस्थित थे। संसार में अन्य सभी वस्तुएँ सुलभ हैं, केवल भक्ति ही एक दुर्लभ पदार्थ है। 'भग इति स. भक्ति।" भग प्रकृति को कहते हैं, माया को कहते हैं। इस माया का अन्त जिस क्षण हो जाय वही भक्ति की पराकाष्ठा है। प्रकृति का अन्त और परमात्मा में स्थिति ही भक्ति का अन्तिम परिणाम है। इस उपलब्धि के लिए विषयों में संलग्न मन को सव ओर से समेटकर उन चरणों में लगाना होगा इसीलिए दिलीप स्वयं सेवारत थे।

पुराणों में वहुत सी कथाएँ मिलती हैं, जिनमें अनुरागियों ने गुरुदेव की शरण में पहुँचकर ब्रह्मविद्या के उपदेश के लिए प्रार्थना की। गुरुदेव ने सत्यकाम नामक शिष्य से कहा, "इन सौ गायों को जगल में ले जाओ, इनकी सेवा करो। किसी का साथ न करना। एकान्त का सेवन करना। हम एक छोटा-सा नाम बता रहे हैं, इसी का जप करना और कोई आपत्ति-विपत्ति आये तो हमारी ओर देख लेना। जिस समय सहस्र गायें हो जायँ, आ जाना। उस समय हम तुम्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश करेंगे।" कभी कोई भाविक किसी महर्षि के पास पहुँचा और ब्रह्मविद्या का रहस्य जानना चाहा तो महर्षि ने उसे बारह वर्षो तक गोशाला की देख-रेख करने को कहा। छान्दोग्य उपनिषद की कथा है कि इन्द्र सौ वर्षो तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के पश्चात् ब्रह्मविद्या के अधिकारी हुए।

वस्तुतः भक्ति, जो प्रकृति से पार स्थिति प्रदान करनेवाली है, उसका उतार-चढाव इस मन पर है। आज हम नि सन्देह ब्रह्मविद्या चाहते हैं किन्तु कल तक हम क्या थे? मन तो आज भी वही है, हजारों मायिक ग्रन्थियों में उलझा है। क्षणिक वैराग्य मन का यथार्थ स्वरूप नहीं है। इसीलिए वे महापुरुष मन को योग्य बनाने के लिए कोई सेवा निर्धारित कर देते थे। उस सेवा से दस-बारह वर्षो के अन्तराल में पारिवारिक आसक्ति निकल जाती थी, सगदोष का कुप्रभाव नहीं पडने पाता था। उत्तरोत्तर ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा बढ़ती जाती थी, ब्रह्म का मूल्य समझ में आने लगता था। एक-एक दिन गिनना भारी पडता था। अनुरागी लालायित रहत्ता कि कब अवधि समाप्त हो, कव क्षमता आए और मैं ब्रह्मविद्या प्राप्त करूँ। इसीलिए सेवा का सदैव विधान था। अनायास किसी को साधना बता दी जाय तो न तो ब्रह्मविद्या उपयोगी रहती है, न ब्रह्म। उस साधना को करने की क्षमता भी साधक में नही होती। किन्तु कुछ काल तक महापुरुष की सेवा करने से वही योग्यता स्वत आ जाती है। सद्गुरुओं की शरण में जाने का विधान यही है कि **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।"** सम्पूर्ण धर्मो को त्यागकर मन-क्रम-वचन से उनकी शरण में हो जाओ। जब हम मन से उनका स्पर्श करने लगेंगे तो उनके अन्दर जो योग्यता है, आपके भीतर भी स्वत. प्रसारित हो जायेगी।

हम भी जव महाराजजी की शरण मे गये तो पूज्य महाराजजी ने ब्रह्मविद्या का उपदेश किया किन्तु हमारी समझ में कुछ आया नहीं। कुछ काल पश्चात् जब समझ में भी आया तो जब चिन्तन करने बैठें तो महाराजजी का स्वरूप सामने से हट जाय और एक विशालकाय मुर्रा भैंसा ध्यान में आकर खडा हो जाय। कई दिन तक ऐसा होता रहा। हमने महाराजजी से निवेदन किया कि महाराजजी, आपका स्वरूप प्रयत्न करने पर भी ध्यान में नहीं आता और एक वडा भैंसा जिसकी कभी कल्पना भी नहीं थी, आकर सामने खड़ा हो जाता है। महाराजजी ने वताया- "वेटा! यमराज है। इन्हीं से तो लडाई लेनी है। इसी की तो फॉसी काटनी है। अच्छा वताओ-चिन्तन में मन लगता है?" हमने कहा, "महाराजजी! उत्साह तो है किन्तु भजन में वैठता हूँ, दृश्यों की कतार लग जाती है। जो कभी याद नहीं था, वीसों वर्ष पहले भी जो घटना घटी थी, वह भी सजीव चित्रित हो उठती है।" महाराजजी ने निर्देश दिया, "यह ऐसे नहीं ठीक होगा। तुम चिन्तन के साथ समर्पित भाव से सेवा करो, वस!"

उस समय सेवा का वास्तविक अर्थ एवं महत्त्व भी हम नहीं जानते थे। गुरुदेव

थी, सोचा- चलो ठीक है। हाथ-पैर इधर-उधर चलते रहें किन्तु मन सदेव चरणों में लगा रहा। जब तक सेवा का वास्तविक महत्त्व मेरी समझ में नही आया तव तक हम इसी प्रकार दिखावटी सेवा ऊपरी मन से करते रहे। किन्तु जव इप्ट गुरुदेव अनुभवों द्वारा वार-वार वही वात हृदय-देश से वताने लगे तव सदेह दूर हो गया। तव से मन लगाकर सेवा करने लगे। ऐसा ही विधान पूर्व महर्षियों का था, अव भी है और ऐसा भविष्य में भी रहेगा।

जब तक मन साधना मे प्रवेश पा नहीं लेता तव से पूर्तिपर्यन्त सेवा में समय देना होगा। यदि कोई सेवा छोड़कर चिन्तन में वैट जाता है तो केवल शरीर वैठा रहता है। जिस मन को वैठना चाहिए वह तो हवा से वातें कर रहा होता है। कुछ दिनों तक साधक हठवंश वैठे रहते हैं किन्तु साल-दो साल पश्चात् हताश होकर किसी आडम्वर को स्वीकार कर लेते हैं अथवा इधर-उधर बहकने लगते है। श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! जो हठ से इन्द्रियों को रोककर, मन से विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह दम्भाचारी है। अत. मन से इन्द्रियों को रोककर जो निर्धारित क्रिया करता है वही श्रेष्ठ है, वही योग की प्राप्ति के लिए प्रयत्नवाला है। इसीलिए सेवा का विधान है।

आज भले ही हमें विकार प्रतीत न हों किन्तु जो पहले से भरे पड़े हैं, वडे स्नेह से जिनका कभी हमने चिन्तन किया था, वे कुकृत्य वरवस चिन्तन के समय आयेंगे। उनका शमन हुए विना चिन्तन मे मन नहीं लगेगा। केवल शरीर से वैटने से कोई लाभ नहीं है। इसीलिए महापुरुषों की सेवा का विधान है। महापुरुष के हृदय का वायुमण्डल शान्त रहता है। जहॉ भी वे रहते हैं उनसे निरोध के ही परमाणु प्रसारित होते रहते हैं। उनकी हर श्वास से तपस्या के सस्कारों का सचार होता रहता है। इसीलिए उनके दरश-स्पर्श, सेवा तथा संसर्ग से जो योग्यता आज मन में नही है वह भी कुछ ही काल मे आ जाती है। फिर तो मन मायिक पथ को छोडकर इष्ट की पटरी पर क्रमश. गमन करने लगता है। साधना गति पकडने लगती है। भगवान राम कहते हैं-

सुचि सुशील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति अस, सावधान सुनु काग।। (७/८६)

सुशील, बुद्धिमान, प्रयत्नशील सेवक किसे प्रिय नहीं होता? पिता अपने सभी वच्चों पर समान स्नेह रखता है किन्तु जो पुत्र मन-क्रम-वचन से पिता का भक्त है, पिता की सेवा ही धर्म जानता है अन्य कोई धर्म नहीं जानता है, वह सुत पिता को प्राणों की तरह प्रिय होता है, भले ही वह मूर्ख क्यों न हो। इसी प्रकार, भगवान राम कहते हैं कि यह सम्पूर्ण विश्व मुझसे उत्पन्न है और सभी जीवो पर मेरी समान दया भी है किन्तु उनमें भी जो मद-माया का त्याग करके मन-क्रम-वचन से मेरा भजन करते हैं वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। भक्तिहीन विरचि भी सामान्य जीवों की तरह प्रिय हैं। **"सत्य कहऊँ खग तोहिं सुचि सेवक मम प्राण प्रिय।"** प्राणप्रिय तो सेवक ही होगा।

इस प्रकार प्रारम्भ में महापुरुष की सेवा शरीर से की जाती है किन्तु चिन्तन की एक निर्धारित सीमा पार कर लेने पर, किंचित् परिपक्वता में, यही सेवा मानस-पूजा में ढल जाती है। साधना जागृत होने पर स्वत साधक समझता जाता है और इष्टदेव पूर्तिपर्यन्त एक न एक नया रूप प्रदान करते रहते हैं, सेवा की विधि समझाते ही रहते हैं। प्रारम्भ में वताते हैं। इस तरह नाम

पकड़ने की क्षमता आ गयी तब वे स्वय ही छुट्टी देकर बाहर वाणी से, अन्दर अनुभवों द्वारा सचालित कर समीप के ही किसी एकान्त स्थान पर निवास के लिए भेज देते हैं, उसे अलग रहने की अनुमति प्रदान कर देते हैं। वहॉ साधक का मन भी लगने लगता है। अब तक सेवा शरीर से होती थी और इसके वाद वह अब भी सेवा ही करता है किन्तु मन से करता है। दिन-रात उन्हीं महापुरुष की प्रार्थना करता है, उन्हीं के अनुरूप अपने को ढालता जाता है। मन द्वारा की गयी मानसिक सेवा शारीरिक सेवा से उत्कृष्ट होती है।

मानसिक सेवा के क्रमागत उत्कर्ष में साधक जब इष्ट के समीप की अवस्था तक पहुॅच जाता है, प्राप्ति में अब तब लगा है, उस समय ये साधनाऍ छूट जाती हैं। एक नयी दिशा इष्टदेव स्वय प्रदान करते हैं जो अनुभवगम्य है। गौतम बुद्ध भी पहले अथक परिश्रम कर रहे थे किन्तु जब भजन पराकाष्ठा पर पहुॅचा, वे प्राप्ति के लिए हठ करने लगे तो इष्ट से आदेश मिला कि सितार के तार ढीले कर दो। यह श्वास ही सितार है। इसी से इष्ट के नाम का यजन होता है, जिह्वा से नहीं। कवीर कहते है-

शब्द-शब्द सब कोई कहे, वह तो शब्द विदेह।
जिभ्या पर आवे नहीं, निरखि परखि कर लेह।।

शब्द-शब्द तो सभी कहते हैं। तालु और कण्ठ से स्वरों की उत्पत्ति की कल्पना भ्रान्तिपूर्ण है। अक्षर ब्रह्म वाणी से उच्चरित होनेवाला नहीं है। चलते-चलते योगी जब विदेहावस्था में प्रवेश करता हे उस समय अक्षर ब्रह्म, वह शब्द जागृत हो जाता है। उस शब्द का उतार-चढाव इस श्वास-प्रश्वास पर निर्भर है। इसीलिए बुद्ध को आदेश मिला कि सितार के तार ढीले कर दो। तुरन्त उन्होंने भजन में न्यूनता कर दी। वहुतों ने सोचा कि बुद्ध साधन से च्युत हो गये किन्तु उन्होंने उसकी परवाह न की। उस अवस्था में पहुॅचने पर प्रत्येक साधक के समक्ष यह स्थिति आती है। उस समय भी इष्ट की आज्ञा का पालन ही भजन है। वहॉ 'क्यों' का प्रश्न नहीं होता। यदि यह सेवा पार लग गयी, इष्ट सन्तुष्ट हो गये तो तत्क्षण अपने ही स्वरूप में प्रवेश दिला देते हैं। इस प्रकार पूर्तिपर्यन्त सदैव सेवा का विधान है।

इष्ट के इन आदेशों को केवल साधक ही सुनता है अथवा स्वरूप में स्थित कोई महापुरुष या साधकों की गतिविधि को भली प्रकार जानते हैं- **कै जाने जिउ आपना, कै रे जनावे पीउ।** साधक जानता हे अथवा वह प्रियतम जनावें। इसलिए महाराजजी प्राय कहते थे कि साधन ही एक ऐसी वस्तु हे जो लिखने में नहीं आती। जो लोग लिख-पढ़कर योग का प्रचार-प्रसार करते हैं उनसे संस्कारों का सृजन भले हो जाय, योग नहीं मिलता।

सारांशत सेवा दो प्रकार की होती है- एक तो शारीरिक और दूसरी मानसिक। इष्ट का स्वरूप पकड़कर हृदय में ही उन्हें धूप-दीप-नैवेद्य, माल्यादि अर्पित करना, वन्दन-अर्चन मानसिक सेवा के अन्तर्गत हैं। अन्तर्देश में स्वरूप पकड़कर की जानेवाली यह सेवा उन्नत तथा सूक्ष्म हे और इष्ट से सीधा सम्बन्ध जोड़ देनेवाली है। सेवा ही भजन की प्रवेशिका है और वही भजन की पराकाष्ठा भी है।

-:१९:-

पूज्य महाराजजी कहा करते थे- "हो! महात्मा की सेवा करे में अउर खवावे में तनिकौ कसर न रखे के चाही। एमें जवरदस्तियौ किहा जाइ सकत है। एसे कल्यानड होत है। हाथ सूखा, साधु भूखा।" इस सन्दर्भ में महाराजजी एक कथानक भी सुनाया करते थे। एक वडे अच्छे महात्मा थे। परमहस स्वरूप में थे। टाट और ठाट में उन्हें कोई अन्तर नहीं था। अपने भजन की मुद्रा में विचरण किया करते थे। कभी मुट्ठी भर चना तो कभी घिउ घना। प्राय. स्वभाव से ही दिगम्बर थे। जब साधना पूर्ण हो चली तव इष्टदेव ने कहा- "कहीं स्थायी रूप से निवास करो।" किन्तु एकाकी विचरण और भजन में उन महात्मा को मस्ती मिलती थी इसलिए इष्ट की आज्ञा प्रणाम करके टाल देते, बैठे नहीं।

माघ का महीना! कडाके की ठंड! विचरणशील महात्मा को कोई व्यवस्था न दीख पड़ी। एक कुम्हार ऑवें में से बर्तन निकालकर उसी में दीवाल के सहारे ढेर लगा रहा था। ऑवे की विभूति कुछ गरम थी। महात्मा बोले, "कुम्भकार भाई! हमें रातभर यहॉ ठहरना है। तुम यह स्थान मुझे बैठने के लिए दो।" कुम्भकार ने सादर प्रणाम किया, वोला- "महाराज! मैं इन्हीं वर्तनों से जीविका चलाता हूॅ। सभी तरफ वर्तनों का ढेर है। कहीं फूट-फाट गये तो मर जाऊॅगा। आप क्षमा करें। थोडी ही तो जगह है। आप वैठ भी तो नहीं सकेंगे।"

महाराजजी ने कहा, "हमें सोना नहीं है, केवल वैठकर भजन करेंगे और सवेरे चलते वनेंगे। तुम्हारे ऊपर कोई भार नहीं है।" महात्मा को बैठाकर कुम्हार बोला, "देखिएगा महाराज! ख्याल रखियेगा।" महात्मा बोले, "तूॅ न घवड़ा! कोई नहीं ले जायेगा।" कुम्हार ने प्रणाम किया और "आप विश्राम करे" कहता हुआ घर की ओर चला गया।

महात्मा उस गरम स्थली में अबाध चिन्तन में रत हो गये। रात में दो-तीन बजे सोचा, थोडी कमर सीधी कर लें। हाथ-पॉव समेटकर वहीं लेट गये। तुरन्त ऑख लग गयी, यद्यपि सोने का अभ्यास नहीं था। स्वप्न दिखाई पड़ा कि वही महात्मा एक सुरम्य स्थान पर वैठे हैं। हजारों लोग दर्शन कर रहे हैं। कुछ न कुछ चढ़ा रहे हैं। महात्मा उसे उठाकर बगल की कोठरी में वैठे-वैठे ही फेंकते जा रहे हैं। फेंकते-फेंकते महात्मा थक गये। सोचा, थोड़ा भोजन कर लें। जहॉ भोजन के लिए हाथ बढ़ाया कि एक सेठ थैली अर्पित कर बोला, "महाराजजी! इसे कहीं परोपकार में लगा दें।" महात्मा बिगड़ पड़े, "ऐसी तैसी इन भक्तों की! चॉदी का जूता मार रहे हैं। कहते हैं परोपकार में लगा दें। तुम क्यों नहीं लगा देते? हमें वीच में डाल के फॉसी दिए पड़े हैं। न खाने को समय, न चिन्तन को।" इस प्रकार प्रताड़ित करते हुए उस धन की थैली पर लात मारा। पैर थोडा वढ़ गया, जाकर नीचे वाली वड़ी हॅडिया में लगा। जहॉ वह फूटी, नीचे की आड हटी तहॉ भड-भड, भड़-भड करते सभी बर्तन ऊपर से नीचे चकनाचूर हो गये।

महात्मा की नींद खुल गयी। पश्चाताप करने लगे- अरे! उस वेचारे ने जगह दिया, भलाई की। उसका इतना वड़ा नुकसान हो गया। गरीव मारा गया। सुवह आयेगा तव क्या कहेगा? हम चले जायॅ तो वडी वदनामी होगी। जव हम वावा हैं तो इस प्रकार मुॅह छिपाकर जाना शोभा नहीं देता। लोग साधुओं को क्या कहेंगे? अवश्य यह कोई मायिक उपद्रव है। इसी उधेडवुन में रात वीत गयी।

सवेरा हुआ। कुम्हार आया, वोला, "अरे महाराज! हम कल ही कह रहे थे कि लम्बा-चौडा गाँव है, कहीं भी रुक जायँ, हम गरीब को फाँसी न दे। लेओ, हमारे सभी बर्तन फूट गये। बरस भर की कमाई चौपट हो गयी। अव क्या होगा?" महात्मा को मौन देखकर कुम्हार निवेदन के स्वर में वोला, "आप वतावें तो! यह हुआ कैसे?" महात्मा ने स्वप्न की घटना ज्यों की त्यो सुना दी और वताया कि किस प्रकार पाँव चल गया था। कुम्हार ने सोचा, महात्माओं के स्वप्न व्यर्थ नहीं जाते। लगता है कि ये सिद्धकोटि के महात्मा है। पुण्यवान भक्तो की भीड यहाँ अवश्य होगी। लक्ष्मी इन भगवत्स्वरूप की सेवा करना चाहती है। न हो तो इनको यहीं रोक लूँ। कदाचित् हमारी भी कमी पूरी हो जाय और इनकी सेवा करने का सौभाग्य भी मिले। जो चढेगा मैं ले लूँगा। ऐसा निश्चय कर बोला, "अच्छा तो महाराजजी! जो हुआ सो हुआ। अब आप यहाँ से कहीं न जायँ, हमारे ही यहाँ रुकें। मै आपकी सेवा करूँगा।"

दयावश महात्मा रुक गये। दो महीने वहाँ रहे। वास्तव मे वैसी ही भीड लगने लगी। कुम्हार को भी वडा सन्तोष मिला। कमी तो कभी की पूरी हो गयी थी। जब महात्मा ने समझ लिया कि अव कुम्हार को कोई अभाव अथवा कष्ट नहीं है, तव एक दिन अकस्मात् अन्यत्र चले गये। इष्ट-आज्ञा से एक स्थान पर निवास करने लगे तथा उसी स्थान से कल्याण का अजस्र स्रोत निकल पडा, समष्टि का कल्याण उनसे होने लगा।

महाराजजी कहा करते थे- हो! जव भगवान कृपा करत हैं त विपतियैं सपति बनि जात है। जब भगवान आज्ञा दे दे, बैठ जाना चाहिए, दोष नहीं है। जव किसी वस्तु को लेने के लिए कहें तो ग्रहण कर लेना चाहिए, तव दोष नहीं है। साधन-काल में वही दोष है किन्तु आदेश के पश्चात् वही हितकर हो जाता है।

नोट- इस कथानक के महात्मा अन्य कोई नहीं, पूज्य गुरुदेव ही थे परन्तु कहते इसी तरह थे।

-:२०:-

साधना में अनुशासन नितान्त आवश्यक है। अनुशासनविहीन कोई साधक इस भगवत्पथ पर सफल नहीं हो सकता। जन्म-जन्मान्तरों से चलनेवाले पथिक की वात अलग है। यही कारण था कि पूज्य महाराजजी अकारण ही साधारण-सी गलती पर ताडना प्रदान करते थे और जव कोई बहाना न मिले और साधक की वुद्धि साधना से कुछ हटती प्रतीत हो तो उसे सुनाकर कहें- "इहाँ झाडू नहीं लगा। क्चडा होई। फलानी जगह ऊ काम विगडा है।" अपने आप भुनभुनाया करें। वह साधक सुनकर, भाव-विभोर होकर जव छत पर झाडू लगाने लगे तो विगडे- "कौन है? कौन हमारे पर झाडू फेरत है? ला! ला! धर! धर सारे के! पकड!" ललकारने लगते थे। जव वह सामने आता था, वह सोचे कौन गलती हुई, तव तक दो डण्डे लगा दिया। जहाँ सव हट जायँ, वह डरनेवाला साधक भी हट जाय तव शेष लोगों से हँसे और कहें कि- "सार का मैं एक महीना से देखत रहेउँ। कहीं गलती में पावत नहीं रहे। आजु मिला।"

इस प्रकार जव वे समझते थे कि अव ताड़ना की ही आवश्यकता है तो कोई न कोई वहाना ढूँढ लेते थे नहीं तो उन्हें छत और झाडू से क्या प्रयोजन? जिस प्रकार भले परिवार में लडकी

जब युवा हो जाती है तो माता-पिता, घर के लोग उसकी देखभाल करते हुए, कर्मो में व्यस्त रखकर शादी तक निर्वाह करा देते हैं। ठीक इसी प्रकार एक सद्गुरु अपने नादान शिष्य को प्रकृति के द्वन्द्वो से निकाल कर, उसकी साधना पार करा देते हैं। यदि वह ध्यान न दें तो अपने वल पर भवसागर पार होना असम्भव है।

गुरु बिनु भव निधि तरइ न कोई। जौं विरंचि संकर सम होई। (मानस ७/९२/७)

व्रह्मा और शकर की स्थिति वालों को भी यदि सद्गुरु उपलब्ध नहीं, तो वे भी भवसागर पार नहीं कर पाते।

राखइ गुरु जो कोप विधाता। गुरु रुठे नहिं कोउ जग त्राता।। (मानस, १/१६५/६)

यदि तकदीर रूठ जाय, किस्मत में घोर नरक और यातनायें लिख दी जायॅ तो भी सद्गुरु वचा लेगे किन्तु यदि गुरु ही रूठ गये तो विश्व में भगवान नाम की कोई वस्तु नहीं है। भगवान वैसे सर्वत्र हैं, हैं तो, किन्तु हमारे उपयोग के लिए नहीं होते। क्योंकि उन भगवान तक की दूरी तय करने का एकमात्र माध्यम सद्गुरु और उनसे निर्दिष्ट पथ है।

अब प्रश्न खडा होता है कि उनको ढूॅढा कैसे जाय? माया वडी प्रवल है-

माया ऐसी प्रवल है, तजि मालिक की छाप।
बनकर बैठी जगत में, कर्ता धर्ता आप।।

माया ऐसी प्रवल है कि जगत् में स्वय कर्ता-धर्ता भगवान वनकर वैट गई। देखा कि मन्दिरों में लोगो की आस्था है, तो वहॉ भी ढोंग धतूर वनकर प्रवेश पा गई। तीर्थो से लोगों का कल्याण होते देखा तो पडों के माध्यम से वहॉ भी धूर्तता खडी कर दी। अव देखा, सद्गुरु का वडा महत्त्व है तो गुरुओ की कतार खडी कर दी। **घर में बीबी झोंके भार। वाहर मियॉ सूबेदार।।** भीतर तो गुरुत्व नाम की कोई वस्तु नहीं लेकिन बाहर से टीमटाम ऐसा कि मानो सचमुच के गुरु हैं। ऐसी परिस्थिति मे कैसे ढूढा जाय कि ये महापुरुष पूर्ण हैं? एक महापुरुष वास्तविक हैं तो हजारों उसी कतार मे वैठे हैं। सभी शुद्धता की गारटी देते हैं। आप ही वतावें, इनमें महापुरुष कौन है? कैसे पहचाना जाय? तो-

पुण्य पुंज बिनु मिलहि न संता। सत संगति संसृति कर अंता।।

पुण्य का बहुत बडा सग्रह जब तक प्रकट होकर साथ नहीं देता तब तक सन्त अथवा सद्गुरु नहीं मिलते। नहीं मिलते का यह अर्थ नहीं है कि दिखलाई नहीं देते। विना पुण्य के वे ही नहीं, साक्षात् भगवान शकर भी खडे हों तो हम उन्हे भी चार खरी-खोटी सुना ही देंगे- "देखो कैसा रूप वनाये खडा है? एनके ऐसन चाही? अभै त ए चारि आदमी क पेट भरे के लायक रहेन।" क्यो? जिन ऑखों से सन्त अथवा सद्गुरु पहचाने जाते हैं वह दृष्टि ही पुण्यमयी है। इन चर्म-चक्षुओं से हम उन्हें नहीं देख सकते। कारण यह है कि भगवान मन-वुद्धि से परे हैं। अभ्यास करते-करते निरोध की अवस्था में योगी मन-बुद्धि से उपराम होकर, भगवत् तत्त्व से सयुक्त होकर गुरुत्व में प्रवेश पाता है, तव वही सद्गुरु कहलाता है, सत्य से सयुक्त होता हे, इसलिए सद्गुरु कहलाता है। मन-वुद्धि से उपराम हुए महापुरुष को हम मन-वुद्धि से कैसे जान पायेगे? इसके लिए तो एक ही उपाय है-पुण्य पुज। यदि सद्गुरु नहीं मिले है तो सिद्ध है कि पुण्य

की कमी है, आप इसे अर्जित कीजिए, पुण्य-पुरुषार्थ को बढाइये। जब भी वह प्रकट होकर साथ देगा, उस समय सन्त अथवा सद्गुरु जिस सिंहासन पर बैठे होंगे अथवा जिस दलदल मे लोटते होंगे, मिल जायेंगे। या तो आप ही वहाँ तक पहुँच जायेंगे अथवा वे ही आपके पास आ जायेंगे। विश्वास भी हो जायेगा। आप उनके हो जायेंगे और उनके द्वारा आपका पथ-सचालन भी हृदय से होने लगेगा। उसके लिए एक ही माध्यम है- पुण्य-पुंज। जिन ऑंखों से सन्त अथवा सद्गुरु पहचाने जाते हैं वह दृष्टि पुण्यमयी है। और जब सद्गुरु ही मिल गये तब **'सत्संगति संसृति कर अन्ता'** उनका सत्व और सत्सगति ससृति एवं आवागमन का अन्त करनेवाली होती है। सद्गुरु या साधक बनावटी नहीं होता। **देखा देखी साधे जोग। छीजै काया बाढ़ै रोग।।** कोई कार्य देखा-देखी नहीं करना चाहिए। सयोग से भगवत्-पथ पर कदम रख ही लिया, वेश में आ ही गये, तो जब तक प्राप्ति न हो हमें हताश नहीं होना चाहिए। महाराजजी के पास जब कोई महात्मा आयें तिलक-मुद्रा लगाये तो महाराजजी बोले- "का है? ले पानी पी।" वह कहते, "महाराज थोडा स्वरूप बना लेइत त पीयित।" महाराजजी हँसते थे- "धत् तेरे की। वैरागी भये, मरी न गये।" महाराज को धीरे-धीरे लोगो ने समझ लिया था, इसलिए हँसने लगते थे।

वस्तुत भगवत्पथ मे कोई सम्प्रदाय नहीं है। अन्तर इतना ही है कि कोई साधना की प्रवेशिका में है तो कोई मध्य में है और कोई करीव की अवस्थावाला है तो कोई प्राप्तिवाला। द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं न कि कोई सम्प्रदाय। सम्प्रदाय तो अधकुचलों की देन है, जो लक्ष्य की प्राप्ति तो नहीं कर सके किन्तु ख्याति उन्हीं महापुरुषों की चाहते हैं। सनातन धर्म के धुन्ध ग्रसित होने का मूल कारण यह भी है। श्रीकृष्ण के अनुसार भगवत्पथ में साधना एक ही है- **व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।** इस भगवत्पथ में क्रियात्मक बुद्धि एक ही है, दिशा एक है, क्रिया एक है और परिणाम भी एक ही है। पता नहीं, लोग बीच में दरार कहाँ से डाल देते हैं? सिद्ध है, उन्होंने पाया नहीं है। यदि वास्तव में किसी ने उस सर्वत्र व्याप्त सत्ता को पाया है तो वह समाज के बीच में दरार नहीं डाल सकता। यदि दरार डालता है तो सिद्ध है कि वह अधकुचला है। एक सन्यासी महाराज आये तो सीता का हरण कर ले गये। लक्ष्मण को शक्ति लगी थी, मरणासन्न थे, तो दूसरे मुनिराज ने हनुमान जी को अर्धरात्रि तक बरगलाये रखा। चक्रवर्ती नरेश प्रतापभानु का सर्वनाश कर दिया। सधुअई वेश ही ऐसा है कि जिसका बाहर कहीं गुजारा नहीं होता वे भी इसकी ओट में छिपाव ले लेते हैं। आज भी कम्बल चुराने-वाले साधू मिल ही जायेंगे। पहले की आदत तो छूटती नहीं। चोरी नहीं तो कम्बलों की हेरा-फेरी ही करते हैं। परन्तु साधू कभी बुरा नहीं होता। साधू की ओट में असाधू घुस आते हैं, सम्प्रदाय उन्हीं की देन है। भजन की वास्तविक जानकारी तो सद्गुरु के क्षेत्र की वस्तु है।

-:२१:-

तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा से उनके सरक्षण में अभ्यास करते-करते इष्टोन्मुख लगन जागृत हो जाती है। उस समय भी साधक के लिए आन्तरिक अनुशासन की बडी आवश्यकता होती है। साधना में सयम एव दृढ सकल्प का अत्यधिक महत्त्व है। क्योंकि कोई भी पथिक जब इस पथ

पर अग्रसर होता है तो पहले कुछ दिन तक तो बडा उत्साह रहता है किन्तु कुछ ही काल पश्चात् यह मन बडा दुर्धर्ष हो जाता है। साधना में उसे अपनी मृत्यु दिखलाई देती है इसलिए वह पहले से भी विकाराल हो जाता है। तुलसीदास जी को भी पहले तो अच्छा लगा था कि हम भजन करेंगे किन्तु जब निकल पडे तब वह मन छटपटाने लगा। मन की इस दशा को उन्होंने व्यक्त किया- **"बिगरत मन सन्यास लेत, जल नावत आम घड़ो सो।"** (विनय पत्रिका-१७३)। भगवन्! सन्यास लेते समय तो बहुत अच्छा लगा कि भजन करेंगे लेकिन सन्यास लेते ही मन ऐसा बिगडा जैसे कच्चा घडा। कच्चे घडे में पानी भर दें तो सव जगह से बुनकी-बुनकी करके सहस्र छिद्रों से चूने लगता है, पूरा घड़ा समाप्त हो जाता है। यही दशा (गोस्वामीजी निवेदन करते हैं) हमारे मन की भी है। जितना आपका सनेह भरा था वह समाप्त हो गया। मन इतना विकराल हो उठता है कि लगता है इष्टोन्मुखी लगन ही नहीं रह गयी। ऐसी स्थिति में महापुरुषों ने मन को वार-वार डॉटा है, इस पर विवेक का अकुश लगाया है।

प्रत्येक महापुरुष के समक्ष ऐसा अवसर आता है। पूज्य महाराजजी प्राय· कहते थे कि घोर जगल में एक भजनानन्दी महात्मा रहते थे। रात-दिन भजन में सलग्न रहते थे। लोगों में उनकी अच्छी ख्याति थी किन्तु थे वे साधक ही। हॉ, अच्छी अवस्था वाले साधक थे। एक दिन उनके अन्दर सकल्प उठा कि कढी होती तो खाते। दूसरे दिन से यही सकल्प बढ़ने लगा। जहॉ भजन मे बैठे तहॉ दिखायी पडे कढी। इष्टदेव का ध्यान धरे तो कढाई में बढिया-बढ़िया फुलौरी दिखायी पडे। तब वे मन को समझाने लगे- "रे मन! कढी में क्या रखा है? क्या इसी के लिए घर छोडा था? साधक को युक्ताहार करना चाहिए। आज कढी की इच्छा कर रहा है, कल न जाने कौन-सी इच्छा करेगा? रे मन! तू भजन में लग।" -इस प्रकार स्वय को बहुत समझाया किन्तु उनके अन्दर से वे भाव गये नहीं। पन्द्रह-बीस दिन के बाद ऐसी दशा हो गयी कि 'ओम्' जपने बैठें तो चार-छ बार के पश्चात् 'ओम्' तो छूट जाय 'कढी-कढी' ही जपने लगे। पहले ध्यान में गुरु महाराज का रूप रहता था अब कडाही मे धरी-धराई कढी गमका करे। नाम में कढ़ी, ध्यान में कढी, चले तो कढी। दिमाग हो गया कढी-कढी।

तब तो उन महात्मा को बडा पश्चाताप हुआ कि भगवन्! घर-बार छुडाया, घोर जगल में रहने का सुअवसर भी आपने दिया, महापुरुष की कृपा और सान्निध्य भी प्रदान किया, भजन की विधि भी बतायी, बीच में यह कढी कहॉ से टूट पड़ी? मन को बहुतेरा समझाया किन्तु वह माना नहीं। तब महात्मा ने अपनी छडी उठायी और निकटतम गॉव की ओर चल पड़े, जो वहॉ से दो मील की दूरी पर था। गॉववालों ने महात्मा को देखा तो भाव-विभोर हो उठे। कहने लगे-"महाराज! लाख कहने पर भी आप गॉव में नहीं आते थे। आज हमलोगों का परम सौभाग्य है जो आप सहसा पधारे। हमलोगों के लिए क्या आज्ञा है?" महात्मा बोले- "पहले कढी बनाओ।" गॉववालों ने कहा- "महाराज! यह कौन बडी बात है। अभी बनाए देते हैं।"

जब कढी की तैयारी होने लगी तो महाराजजी ने कहा- "एक कडाही भरकर लगभग बीस सेर कढी तैयार करना।" "जो आज्ञा महाराज!"-कहकर लोग जुट गये। स्वादिष्ट और सुगन्धित कढी तैयार हो गयी। महात्मा बोले- "भाई! किसी को मिलेगी नहीं। हम अकेले खायेंगे। उसे कमरे

में रख दो। हम भी उसी कमरे में रहेंगे। बाहर से ताला लगा देना।'' फिर तो ''जैसी गुरु महाराज की आज्ञा।''-बाहर से ताला लग गया और भीतर महात्मा कढी पर टूट पड़े।

पहले तो कढी वडी स्वादिष्ट लगी। महात्मा ने एक किलो खाया, दो किलो खाया किन्तु कितना खाते? कढी अच्छी ही न लगे, फिर भी महात्मा खाते चले गये। तीन किलो, चार किलो खाया। अरुचि हो गयी, एकदम घृणा हो गयी फिर भी वे खाते रहे। उसी कडाही में वमन भी कर दिया फिर भी खाना बन्द नहीं किया। भयकर घृणा हो गयी। दस्त भी होने लग गया, वमन भी होने लगा फिर भी खाते जाते थे, कहते थे-- खाओ! खाओ! और खाओ! अरे! घर-द्वार छोडा, जिन्दगी में सव कुछ खाया लेकिन क्षुद्र मन तूने तुच्छ वस्तु के पीछे दो मील तक दौडाया, भजन छुडाकर लाकर यहाँ पटक दिया। महीने भर से कढी-कढ़ी, कढ़ी-कढी, न राम, न ध्यान! कढी-कढी! ले खा कढी! वमन होती जाय उसको भी मिलाकर खाते जायँ। इतनी घृणा हो गयी कि उधर देखने से शरीर कॉप जाता था, खाने को हाथ नहीं उठता था तो अन्त में उसी कडाह में कूद पडे।

लोगों ने ताला खोला तो पूरे कमरे में कढी ही कढी दिखायी पडी, पूछा- ''महाराज यह क्या?'' महाराज ने कहा-चिन्ता न करो, अब सब ठीक हो गया। लोगों ने स्नान कराया, आश्रम तक पहुँचाया। उस दिन से कढी तो क्या किसी भी वस्तु के खाने का सकल्प नहीं आया। वस्तुत यह मन वडा दुष्ट है। जब आप चिन्तन-पथ में अग्रसर होंगे, पहले तो बडा अच्छा लगता है किन्तु जब आप उधर लग जायेंगे तो धीरे से एक पटरी खींच लेगा। जब आप भजन की पूरी सीढी चढ जायेंगे तव भी कुटिलता से बाज नहीं आयेगा, उसी अनुपात का विघ्न भी उपस्थित करेगा।

ऐसा व्यवधान प्रत्येक महापुरुष के समक्ष आता है। महाराज भर्तृहरि उज्जयिनी के राजा थे। वडा सम्पन्न राज्य था। एक समय राजा को रानी में दोष दिखायी पड़ा। ससार से बडी घृणा हो गयी, वैराग्य उदित हुआ। गुरु गोरखनाथ की शरण में पहुँच गये। गोरखनाथ जी वस्तुत महापुरुष थे। उन्होंने साधना का क्रम बताया और भर्तृहरि उसी में लग गये। पागलों की तरह, दिगम्बर वेश में, केवल एक चिट लपेटे दिन-रात भजन में सलग्न रहते थे। कभी दो उपवास, कभी तीन उपवास आये दिन की घटना थी। वे दिन मे एक वार भिक्षा के लिए निकलते थे। जो स्वत मिल जाता, स्वीकार कर लेते थे। किसी से न मॉगने का उन्हें आदेश था।

एक दिन उनका मन करने लगा कि जलेवी मिलती तो खाते। अव जलेवी दे कौन? भाविक तो वहुत थे, लेकिन किसी को क्या मालूम कि महाराजजी को जलेवी खाने की इच्छा है। एक दिन भर्तृहरि हलवाई की दूकान पर जाकर खडे हो गये कि कोई भक्त आ जाय और दिला दे लेकिन भगवान भी वडे कोतुकी हैं, लम्वी परीक्षा लेते हैं। किसी के मन में जलेवी का भाव ही न आये। महीना-दो महीना वीत गया। जव भजन में वैठे तो जलेवी, ध्यान में वैठे तो जलेवी, नाम जपे तो जलेवी। भर्तृहरि परेशान हो गये।

एक दिन विवश होकर वे किसी निर्माणाधीन मकान में दिनभर मिट्टी ढोते रहे। साय उनको दो पैसे मिले। मिट्टी से लथपथ हाथों से पैसा लिया। दौडते हुए हलवाई के पास गये, 'जलेवी' कहते हुए पैसा फेंका। दूकानदार ने टोकरी में जलेवी भरकर दे दिया। सस्ती का जमाना था, काफी

मिल गयी। मन कहता था- तुरन्त प्रारम्भ हो जाओ। भर्तृहरि ने मन को समझाया- "रे मन! तेरे कहने पर मैंने दिनभर मिट्‌टी ढोया। देख तो! मिट्‌टी से सने हाथ हैं। इन्हें गंगा के किनारे धो तो लेने दे।" दौडते हुए गगा के किनारे पहुँचे। हाथ-पॉव धोया। मन तो जलेवी पर था। रह-रहकर मुॅह मे पानी भर आता था। यह हो कितना शीघ्र जलेवी खा जायॅ।

भर्तृहरि बैठकर विचार करने लगे- "ओह! ऐसी कौन-सी मिटाई थी जो हमने न खायी हो। केशर-कस्तूरी और मुहरो से छौंककर वननेवाली मिठाई हम खाते थे किन्तु मैदे से वननेवाली साधारण जलेवियों के पीछे दुष्ट मन ने हमें गिरा दिया। ऐसा विचार आते ही भर्तृहरि जलेवियॉ लेकर बैठ गये। जलेवी मुॅह तक ले जायॅ- "वडी सुन्दर है। कैसी लाल-लाल कुरकुरी जलेवियॉ हैं। रस से ठसाठस भरी हैं।"- इस प्रकार मन को ललचावें और एक-एक जलेवी पानी में फेंकते जायॅ। जब अन्तिम जलेवी उठाया, पानी में फेंकने चले तो एक छाया सामने आकर खडी हो गयी। बोली- "यह हमको दे दीजिए।" भर्तृहरि ने पूछा- "तुम कौन?" वह वोली- "आपकी इच्छाशक्ति!" भर्तृहरि विगडे- "हरजाई कहीं की! घर छोडा, द्वार छोडा, ऐसा कौन-सा मिष्ठान्न था जिसे तूने न खाया हो? किन्तु इच्छा देवी! तूने मुझे अन्ततोगत्वा फॉसी दे ही दिया। तूने मुझसे दिनभर मिट्‌टी ढुलवाया, भजन छुडवाया, अभी तुझे जलेवी देंगे ही?" इच्छाशक्ति ने कहा- "इस एक जलेवी को खा ले। अब आपको किसी वस्तु की इच्छा नहीं होगी।" भर्तृहरि ने उस जलेवी को खा लिया, पानी पीया और चल दिये। उनकी साधना सुचारु रूप से चलने लगी। उनके जीवन मे एक समय ऐसी ही घटना और घटित हुई । बनारस जैसे पानप्रेमी शहर महोवा की गलियों में भर्तृहरि नग-धडग चले जा रहे थे। कागज के ऊपर किसी ने पान थूक दिया था। चॉदनी रात थी। लपझप-लपझप वह पीक चमक रही थी। भर्तृहरि ने सोचा- "यह तो मणि हो सकती है। करोडपतियों का मुहल्ला है। किसी बडे आदमी की गिर गयी होगी। कोई न कोई तो उठा ही लेगा। क्यों न मै ही ले लूँ? किसी सेठ साहूकार को दे दूँगा, उसी से जीवन-यापन करते हुए भजन करूँगा।" मन विचलित हो गया। जहॉ हाथ लगाया, तहॉ वह पीक से भर गया। हथेली रग गयी। रोशनी मे देखा तो पश्चाताप करने लगे- "रे दुष्ट मन! तू राजा था, चक्रवर्तियों जैसा तुम्हारा रहन-सहन था। कौन-सी मणि तुम्हारे सामने से नहीं गुजरी। अरे दुष्ट! तू त्यागी है, महापुरुष का अनुयायी है। भगवान के लिए तू सब कुछ त्याग कर कटिवद्ध था। एक मणि के प्रलोभन में हमें गिरा दिया।" कई दिन उन्होने उपवास किया, मन को वहुत फटकारा, फिर उसमें सवलता आ गई। यही भर्तृहरि भविष्य मे पूर्ण तपोधन महर्षि हुए जिन्होंने 'वैराग्यशतक' लिखा।

वस्तुत इष्टोन्मुखी लगन जब जागृत होती है तो मायिक प्रवृत्ति उसका पीछा करती है। उसके निवारण के लिए मन को ही सबल और सक्षम बनाया जाता है, उसे अनुशासन मे रखना पडता है। इन्द्रियॉ वडी चचल है। वे सदैव विषयो मे ही सुख चाहती है, ठीक उसी प्रकार जैसे नावदान का कीडा बाहर नही आना चाहता। इसीलिए कोई साधक महापुरुष के सरक्षण मे जाता भी है तो मन शीघ्र ही उचटने लगता है। जहॉ रोटी वनाना पडा, वर्तन मलना पडा, तहॉ मन सोचता है- "हटो, यहॉ वडा कप्ट है। क्या यही करने यहॉ आये है? चलो, कहीं वाहर भजन करे।" अरे! भजन क्या खाक करेगे। महापुरुप के सान्निध्य मे सेवा

करते-करते इतनी क्षमता आ जाय कि चार घण्टे ध्यान मे बैठ सकें, मन रुकने लगे तब बाहर भी भजन होता है। इतने के लिए ही तो महापुरुष की सेवा मे रहा जाता है। इतने के पश्चात् महापुरुष आपको अपने पास रखेंगे भी नहीं। सद्गुरु जब किसी को अपनाता है तो गुरु ही बना देता है, चेला बनाकर नहीं रखता। वह झाडू लगवाने के लिए शिष्य नहीं बनाता। वह शिष्य को इसीलिए अपने पास रखता है कि यह हमारी वास्तविक विद्या को सीखे, आचरण में ढाले और रामबाण की तरह इष्ट की ओर सनासन अग्रसर होता जाय।

बन्धुओ! धान के छिलके की भाँति जीव मे मल स्वाभाविक है तथापि वह नष्ट अवश्य हो जाता है। अतएव उद्योगी बनो। कठोपनिषद् का निर्देश है- **उत्तिष्ठत! जाग्रत! प्राप्य वरान्निबोधत।** उठो! जागो! महापुरुषो के पास जाकर उस क्रिया को सीखो।

-:२२:-

सस्कारों से विवश व्यक्ति से भूल हो जाना स्वाभाविक ही है। इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पूज्य महाराजजी के सामने जब कोई किसी की शिकायत लेकर पहुँच जाय और कहे कि इतनी उमर हो जाने पर भी वह ऐसी गलती कर रहा है तो हँसते हुए उससे महाराजजी कहते थे- "हो पके आम को पहले लोग धीरे-धीरे चूसते हैं। ज्यों-ज्यो उसका रस समाप्त होता जाता है लोग उसे और कसकर चूसते हैं। शरीर बूढा होने से मन बूढा नहीं होता, वासना उग्र ही होती जाती है। वह तो साधना और प्रभुकृपा से ही परिष्कृत होती है। एक स्थान पर दो औरते थीं। एक दूसरे से बडी ईर्ष्या थी। छिद्रान्वेषण चल रहा था। सहसा उग्र रूप धारण कर एक महिला बोली- "तूने तो धोबी कर रखा है।" दूसरी तमककर बोली- "तू कौन मुँह लेकर बात करती है? तू जो चमार रखे है! अभी वहाँ बात कर रही थी।" पहली औरत तुरन्त सतर्क होकर बोली- 'चुप-चुप! **तैं राखि लिहे धोबी, हम राखि लिहे चमार। न तैं कही हमार, न हम कही तोहार।।**" कौन दूध का धोया है? **जो जस करे तो तस फल चाखा।** काहे ओकरे चक्कर में पडा है। तू आपन देख! पाँव तर क बरल दिखाते नाहीं, पहाड पर बरेला!

इसी सन्दर्भ में महाराजजी एक कथानक भी सुनाते थे। किसी नदी के किनारे अच्छी वेश-भूषा के महात्मा मछली भून रहे थे। एक विद्वान पण्डित उसी रास्ते से निकले। देखकर बडे आश्चर्य में पडे, पूछा- "महाराज! आप मछली भून रहे हैं?" महात्मा बोले- "हाँ!" पण्डित ने पूछा- "खाते हैं क्या?" महात्मा ने उत्तर दिया- "हाँ!" पडित ने पुन पूछा- "तब तो आप शराब भी पीते होंगे?" महात्मा ने कहा- "हाँ" पण्डित ने फिर पूछा- "तब तो आप वेश्या-गमन भी करते होंगे?" तहाँ वे (किसी समय के अच्छे महात्मा) झल्लाये, तमतमाकर खडे हो गये, बोले- "रे पण्डित! जब हम पतित हो ही गये तो ऐसा कौन-सा कुकर्म है जो हम न कर लें? क्या टन-टन पूछते हो, खोपडी खा रहे हो? अपना रास्ता नापो, हम तो रोते हैं ही।"

महाराजजी कहते थे- "ई भगवत्पथ से अच्छा कुच्छौ नहीं है लेकिन ई है बडा कठिन! चढे त चाखे प्रेमरस, गिरे त चकनाचूर।" अत किसी की त्रुटि पर हँसना नहीं चाहिए, स्वय उनसे [illegible]। साधक को अपना ही दोष देखना चाहिए। जब तक भगवान न मिल जायँ, तब तक [illegible] छोटा-सा दोष भी पहाड ही है क्योंकि तभी तो भगवान नहीं मिल रहे हैं।

भरत जी को भगवान से मिलने में केवल एक दिन ही रह गया लेकिन वे अधीर हो उठे। अपनी ही करनी की ओर उनका ध्यान गया। क्या भरत की करनी खराव थी? महर्षियों ने तो कहा था- **समुझब कहब करब तुम जोई। धरम सार होइहैं जग सोई।।** वर्तमान में तो भरत की करनी ही धर्म का मापदण्ड बन चुकी थी, फिर भी भरत अपने में ही दोष खोजते हैं। उनके चिन्तन में कितना दैन्य है? साधक से दीन ससार का कोई जीव होता ही नहीं। वह तो इष्ट की इच्छा पर, उनके सकेत पर नाचता है। अपने मन से कुछ भी करने की स्वतन्त्रता उसे नहीं रहती। हवा भर भी भगवान से दूरी है तब तक साधक को अपने को सही नहीं मानना चाहिए। पूर्तिपर्यन्त विरह-वैराग्य मे न्यूनता नहीं लानी चाहिए। प्राप्ति के पश्चात् वही साधक साधनाओं से मुक्त हो जाता है, 'पेशनीयर' हो जाता है किन्तु इसके पूर्व उसे दीन बनकर साधना में ही रत रहने का विधान है। किसी के दोष से उसे क्या लेना-देना? **करै आपके; न माई के न बाप के।**

-:२३:-

पूज्य महाराज जी कहा करते थे कि प्रारब्ध भोगना ही पडता है किन्तु सद्गुरु के माध्यम से वह भी कट जाता है। इस प्रसग मे वे अपने को इगित करते हुए एक कथानक सुनाया करते थे। एक समय एक साधक ने पूज्य महाराजजी से निवेदन किया- ''महाराज! मन करता है गया हो लूँ।'' महाराजजी ने कहा- ''देखो! गया-वया मे कुछ नहीं है। **तीरथहू में खोजिया, गहरी बुड्डी मार। जल पषान के बीच में तिन पाया करतार।।** तीरथ-व्रत से पुण्य बढता है, पुरुषार्थ बढता है किन्तु उतना ही पर्याप्त नहीं है। उसका परिणाम होता है यौगिक क्रिया की जागृति। जब चितनक्रम पकड मे आने लगा है तब अब तुम्हारे लिए भजन में लगने से ही कल्याण है। अब तुम्हारे लिए गया विधान नहीं है। एकान्त में अनवरत भजन-चिन्तन में लग जाओ।''

दो महीने पश्चात् साधक पुन बोला- ''महाराजजी! गया जाने का मन है।'' कुछ ही दिन बाद पुन कहने लगा- ''गया जाने की प्रबल इच्छा हो रही है। जब भजन में वैटता हूँ तो गया की याद आती है।'' महाराजजी ने सोचा- ''कल्याण तो हमारे पास है! ई गया करै जात है? इसे भुक्ति-मुक्ति तो मुझसे मिलनी है फिर यह गया-गया क्यो रटता है?''

उसके चिन्तन में महाराजजी प्रवेश करने लगे तो अनुभव में आया कि एक सेठ के यहाँ आठ-दस दाने चने पूर्वजन्म के बकाया है। वही दाने खींच रहे हैं। महाराजजी ने सोचा- ''मोर भगत इतनी दूर जाय! आठ-दस ही दाने तो मिलने को है, खाने भर का भी नहीं मिलेगा। इधर वह आठ-दस दाना पीछा किए पडा है, गया की ओर खींच रहा है।''

पूज्य महाराजजी सर्व-समर्थ थे। उन्होंने सेठ के अन्तर्मन मे प्रेरणा भर दी। सेठ के मन में भाव आया कि चले तीर्थ कर आयें। वह सेठ यात्रा करते-करते चित्रकूट होते हुए अनुसुइया पहुँचा। स्वभाव एव प्रथावश रुपया-बीस आना निकालकर महाराजजी के सामने भी रखने लगा। ऐसा करने में जेब से दस दाने चने भी गिरे। जहाँ चने पर महाराजजी की दृष्टि पडी तहाँ वे चौंके, वोले- ''ऐं! कहाँ से आये हो?'' वह वोला- ''महाराजजी गया से आ रहा हूँ। वहाँ मेरी चने की आढत है।'' महाराजजी ने कहा- ''अच्छा-अच्छा ला वह चने भी मुझे दे दे।'' सेठ सकुचित होकर वोला- ''महाराज! यह तो जमीन पर गिर गया! दूसरा मँगा दें?'' महाराजजी ने कहा- ''अरे नहीं!

तू यही चना मुझे बटोरकर दे।" महापुरुष की आज्ञा! विवश होकर सेठ ने उन दानों को उठाकर दिया। महाराजजी ने उसका हाल-चाल पूछा और आशीर्वाद देकर विदा किया।

इतने में वही साधक वहाँ आ गया। महाराज बोले- "ले बेटा! प्रसाद है। मेरे सामने ही जल्दी से खा जाओ।" शिष्य ने विनीत भाव से चना लिया, मुँह में डाला, पानी पी लिया। अब वह गया जाने का नाम भी न ले। चार-छ महीने बीत गये। एक दिन गुरुदेव स्वय कहने लगे- "बेटा! साधक को इष्ट के भरोसे निराधार पर्यटन करना चाहिए। लेकिन तुम चाहो तो मुझसे खर्च ले लो। न हो तो गया ही घूम आओ।" शिष्य बोला- "न जाने क्या हो गया महाराज! अब गया जाने को मन करता ही नहीं।"

वस्तुत· अन्न-जल का सस्कार बडा प्रबल होता है। वह न जाने कैसे, कहाँ उठाकर फेंक देता है। बलात् मनुष्य को घसीट लेता है। अत· प्रारब्ध में क्या भरा है- इस पचडे मे न पडकर दो-ढाई अक्षर का कोई नाम चुन ले, उसका जप करें और किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा करें। महापुरुष अपनी इच्छाओं, सस्कारों का अन्त कर चुके होते हैं इसलिए उनकी सेवा में लगे रहने वालों के प्रारब्ध का सक्रमण उनमें सहज ही होता रहता है क्योंकि दबाव सदैव रिक्त स्थान (वैकुअम) की ओर ही बढता है। दयालु महापुरुष उसे थोडे में ही भोगकर सेवकों का कल्याण करते ही रहते हैं। व्यक्ति का प्रत्येक कार्य सम्पूर्ण सृष्टि को प्रभावित करता एव उससे प्रभावित होता है किन्तु भक्तों के भाव के अनुसार महापुरुष नियमबद्ध विधि-विधान में भी उलटफेर करने से नहीं हिचकते। भवितव्यता अनिवार्य है किन्तु पूर्णत्वप्राप्त महापुरुषों के सरक्षण में वह भी कट जाती है।

-:२४:-

गुरु महाराजजी की शरण में जब अनेक युवा साधकों को प्रवेश मिल गया, महाराजजी प्राय उन्हें सचेत करते थे- "हो! जवानी अंधेरी रात्रि है। इसमें कब ऊँचे-नीचे पॉव पड जायेगा पता नहीं चलता। इसलिए साधकों को उठते-बैठते, चलते-फिरते स्मृति के साथ रहना चाहिए। सुरत सदैव श्वास या गुरु के चरणों पर केन्द्रित रहनी चाहिए। किंचित् असावधानी होते ही स्मृतिविहीन साधक खतरे को ही आमन्त्रित करता है। अत· सदैव भरत, सुतीक्ष्ण की तरह चिन्तन में अनुरक्त साधक ही सफल हो पाता है।

इस सन्दर्भ में पूज्य महाराजजी एक आख्यान सुनाया करते थे। बाल्यकाल से ही एक महात्मा भजन में अनुरक्त थे। आयु पचहत्तर-अस्सी की हो चली थी। भाविकों ने गॉव के बाहर तालाब के किनारे एक कुटिया का निर्माण उनके लिए कर दिया। उस शान्त एकान्त कुटीर में वह महात्मा अपने विगत जीवन का अनुशीलन करते तो उनके मुख से सहसा यह वाणी ध्वनित होती- "अगली नीक, पिछली नीक, बिचली नाहीं नीक।" उनके मुख से ये शब्द प्राय प्रस्फुटित हो जाया करते थे।

तथा मध्यवाली को आगे करके देखा किन्तु महाराजजी की वाणी के शव्द यथावत रहे। वे समझ तो गयीं कि महाराजजी का हमलोगो से कोई प्रयोजन नहीं है फिर भी उन्होंने परिवार जनों से उल्टा-सीधा कह सुनाया।

आवेश के वशीभूत ग्राम्यजन लाठी लेकर चले कि ऐसा कौन साधू आ गया? अपने ही गुरु महाराजजी को पाकर वे ऊहापोह की स्थिति में कुटिया के पृष्ठ भाग में चुपचाप वैठ गये। अकस्मात् महाराजजी के मुख से वही वाक्य ध्वनित हुआ। लोग उनके समक्ष प्रणत हुए, निवेदन किया- "आजकल आप यह कौन-सा मत्र जपने लगे हैं महाराजजी! इसका आशय वताने की कृपा करें।"

उन महात्मा ने वताया- "वेटा! जीवन की तीन अवस्थाएँ होती हैं- वचपन, यौवन और वृद्धावस्था। हम बाल्यकाल से ही साधू है। वचपन का समय अच्छा व्यतीत हुआ। गुरु महाराजजी की सेवा में मन लगा। भजन होता रहा। अव वृद्धावस्था भी सन्तोषजनक है, शान्ति है। भजन में कोई सकल्प-विकल्प की आवृत्ति नहीं होती। किन्तु वीच में युवावस्था में व्यवधान अधिक आये। वह तो गुरु महाराजजी की दया, कृपा थी अन्यथा रोने को ऑसू भी न मिलते। इसीलिए मैं कहता हूँ कि भजन के लिए अगली अर्थात् वाल्यावस्था उत्तम है, पिछली वृद्धावस्था भी सन्तोषजनक है किन्तु विचली अर्थात् युवावस्था तो सघर्ष मे ही बीता, वह ठीक नहीं है। यह तो असिधारा तुल्य है। लोहे के चने चवाने जैसा है। इसे पार करने में सदैव सावधानी अपेक्षित है।

ग्रामीण श्रद्धालुजनो मे उन महिलाओ का मनोभाव कह सुनाया। महात्मा हॅसे और कहे- "हमने तो उन्हे देखा ही नहीं। उनसे कहो कि भजन किया करे, तभी कल्याण है।"

अस्तु, साधक को वोलते, देखते, सुनते, कदम उठाते सर्वत्र सयमित और सतुलित होना चाहिए। जो इन प्रतिवन्धो से वॅधकर चलता है, वही सफल हो पाता है अन्यथा उपलव्धि में एकाध जन्म का अन्तराल आ जाता है।

-:२५:-

पूज्य महाराजजी की प्रत्येक वाणी सूत्र मे ही प्रस्फुटित होती थी। वार्ताओं के सहज स्वाभाविक चक्र मे साधनात्मक उपदेशो की सरणियॉ अविकलरूपेण नि सृत हुआ करती थीं। महाराजजी प्राय कहते थे कि कुपात्र को दान देने से दाता नष्ट हो जाता है। अनाधिकारी को विद्या देने से दाता का अपकार तथा विद्या का नाश हो जाता है-"यह न कहिय सठही हठसीलहि" इत्यादि चौपाइयों का उद्धरण देकर अनेकश ऐसे तथ्य को दृढ़ाया करते थे। पूज्य महाराज जी की वास्तविक विद्या, जिसे वे ब्रह्मविद्या कहते थे, गुरुदेव के कतिपय शिष्यों द्वारा आर्त-अधिकारियों मे अद्यावधि प्रसारित होता जा रहा है। चिरन्तन विधान भी है कि सन्तजन आर्त अधिकारियों के लिए कृपण नहीं होते- **गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।।**

प्रस्तुत कृति यथार्थ की ओर अग्रसर होने एव तत्सम्वन्धी प्रारभिक विधि-निषेधों के परिपालनार्थ प्रेरणा मात्र है। यह मानव मात्र के मानस-धर्म की ओर अभिमुख करती है जिसमें निश्चित कल्याण है। साधना के विस्मृत प्राय मानसिक एव आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन आज

के विश्व के लिए पूज्य महाराजजी की अनुपम देन है। सामान्य बातचीत एवं गीतों में अध्यात्म का निरूपण करते-करते आप सुध-बुध खोकर समाधिस्थ हो जाते थे। 'रामचरित मानस', 'गीता', 'पातंजल योगदर्शन' महाराज जी के प्रिय ग्रन्थ थे। मानस के लिए वे कहते- "बाल आदि उत्तर कै अंता। बीच अयोध्या डूबै सन्ता।।" बालकाण्ड की प्रारंभिक चौपाइयों एवं किष्किन्धाकाण्ड के वर्षा, शरद वर्णन को गुनगुनाते हुए पूज्य महाराजजी तल्लीन हो उठते थे। लोक-जीवन में प्रचलित कई पद एवं भजन पूज्य महाराजजी को बहुत प्रिय थे, जैसे-

गुरु उड़ि चलो देशवा विराना है।



छाओ-छाओ हो फकिरवा गगन कुटिया।।
आसन मारी, मगन होई बैठे; ध्यान धरे लोकेला तिरकुटिया।।



मोरि सुरत सुहागिन जाग री।
का सोवत है मोह-निशा में, उठी के भजनिया में लाग री।
मोरि सुरत सुहागिन जाग री।
चित दे शब्द सुनो सरवन लगि, उठत मधुर धुन राग री।।
मोरि सुरत सुहागिन जाग री।।



शंभु करें असनान, गौरा पनिया भरें।।



भज ले मन राम सिया, राम सिया, राम।
राम नाम निर्मल नीर.....राम नाम कमल फूल....राम नाम
वेद मूल...राम नाम ओंकार...



शिव-शिव जपत मन अनन्द।
कटत कोटि जम को फन्द।।[1]



ॐ गुरु शरणम् श्री हरि शरणम्।।

---

१ प्रस्तुत भजन पूज्य महाराजजी को अनुभव में आया था। उन्होंने बताया, "जब मुझमें सम्पूर्ण कलाओं के साथ सरस्वती का प्रवेश हुआ तो मुझे लगा कि मैं आकाश में उन्मुक्त उड़ रहा हूँ। उस समय मेरे मुख से यही भजन निकलकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में निनादित हो रहा है। समस्त वाद्य, राग-रागिनियाँ मेरे स्वर में मिलकर उत्कृष्टतम संगीत का सृजन कर रही हैं। इस भजन को सुनकर मैं भाव-विभोर, आत्म-विस्मृत होता जा रहा हूँ। [illegible] यह भजन विश्व के कण-कण में अनन्तकाल तक [illegible]



हरि ओम सिद्धम्, हरि ओम सिद्धम्।।



जब लगि राम नाम जीहा तू न जपिहै।
तब लौं तू कहूँ जाय, तिहूँ ताप तपिहै।।

पूज्य महाराजजी की प्रत्येक वाणी साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से ऊपर एवं मनुष्य मात्र की जागृति, उत्थान एव कल्याण के लिए समान प्रेरणा देती है। इस पर मनन करें, आत्म-कल्याण के लिए कटिबद्ध होवे। अन्यथा **"धोबी बसि के क्या करे, दिगम्बरन के देश।।"** नागा लोगों के गॉव में धोवी अपनी कौन-सी कला दिखावे? सदुपदेशों के अनुसार आचरण की प्रेरणा प्रदान करना ही इस कृति का अभीष्ट है।

।। ॐ ।।

महाराजजी की लोकेतर शक्तियाँ

महाराजजी कहते थे, "हो, जब भगवान् ने निवृत्ति देते हैं तो कुछ हथियार भी देते हैं। हमें भी निवृत्ति देने के पश्चात् कुछ आशीर्वाद दिया है कि तुम्हारे दाहिने हाथ में यह गुण है, बायें हाथ में यह गुण है। तुम्हारी विभूति में यह गुण है, तुम्हारी वाणी में यह गुण है। तुम जद-बद कह दोगे तो उससे लोगों का कल्याण हो जायेगा। कल फाँसी होनी है और आज उसे मेरी छडी लग जाय तो उसे फाँसी नहीं होगी, सजा चाहे जो हो जाय। इसी से मैं मार दिया करता हूँ, नहीं तो मुझे कहाँ शोभा है। "**गाली देत न पावहु शोभा।**" गाली देना सन्त को कहाँ शोभा देता है? मैं तो इसे अनुग्रह रूप में देता हूँ। यही तो हमें हथियार के रूप में मिले हैं।"

महाराजजी के आशीर्वाद से अनेक मरती-जीती घटनाएँ घटित होती रहती थीं। क्षेत्र में कहीं कोई पागल होता तो लोग उसे लेकर महाराजजी के पास पहुँच जाया करते थे। रस्सियों और सीकडों से जकडकर उन पागलों को महाराजजी के पास लाते थे। क्षेत्रीय भाषा में वे कहते थे, "महाराजजी! ई बइकल होइगा।" अर्थात् यह सनक गया है। महाराजजी कहते कि मेरे पास आ जाने पर भी अभी सीकड से बाँधे हो? खोल सीकडी! धूनी को प्रणाम कर। लोग उसकी सीकडी खोल देते। उससे प्रणाम करने को कहते। ज्योंही वह प्रणाम करने को झुकता, महाराजजी छडी खींचकर उसे सटाक से मारते थे और उसे मन्दाकिनी गगा में नहलाने का आदेश देते थे। लोग उसे नहला लाते थे। वह आकर महाराजजी को प्रणाम करता, विभूति खाता, हँसते-खेलते घर लौट जाता और दो-चार दिन बाद अपने पूर्व स्वरूप में आ जाता था। महाराजजी की छडी खाकर स्वस्थ हुए अनेकों विक्षिप्त आज भी स्वस्थ हैं। न दवा, न कोई अन्य उपचार!

यह घटना उस समय की है जब ब्रह्मचारी सच्चिदानन्द जी धारकुण्डी पहुँच चुके थे। समीपवर्ती गाँव गोपीपुर के प्रधान को टी बी हो गया। वह आश्रम आते-जाते थे। ब्रह्मचारी जी के गले पड गये। धारकुण्डी महाराजजी ने कहा, "अनुसुइया चला जा! महाराजजी का पैर पकड लेना और छोडना मत! तुम्हारी टी बी तभी ठीक होगी।" उन दिनों टी बी असाध्य राजरोग समझा जाता था।

उठाया और दो-तीन बार प्रधान को मारा। प्रधान की पीठ में आसा इतनी जोर से लगा कि वह पैर छोडकर भागा। महाराजजी उठ खडे हुए, बिगडे- "खड़ा तो रह, तेरे खल की ऐसी की तैसी! कहाँ गया रे? कौन था? जगल आवे में उपद्रव, शान्ति से भजन भी नहीं करने देते। सब लोग कहाँ चले गये?" भयवश कोई साधक महाराज जी के सामने जाने का नाम नहीं ले रहा था। कोई धूनी ठोकने लगा था। कोई इधर-उधर कुछ करने लगा।

मैंने भी पता लगाया। किसी ने वताया कि महाराजजी नाराज हैं। किसी ने महाराजजी का पैर पकड लिया, जबकि महाराजजी पॉव छूने नहीं देते थे। हमने सोचा कि मुझे महाराजजी के सामने चलना चाहिए। उस समय सामने वाला धूना घर बना ही था। बॉस के टुकडे रखे हुए थे। मुझे देखते ही महाराजजी ने दो-तीन सीढी ऊपर से ही बॉस का एक टुकडा खींचकर मारा। ऐसा लगा मानो सारा शरीर ही सुन्न हो गया। मैं वहीं सिर पकडकर बैठ गया। महाराजजी ने डपटकर कहा, "वहॉ से उठना नहीं, नहीं तो मारकर घायल कर दूँगा।" स्वयमानन्दजी एवं शिवानन्दजी की भी पिटाई हुई। इतने मे मंगल आ गया। वह बोला, "सरकार का हो गया?" महाराजजी बोले, "देख, मेरे पास आना भर मत! उधर ही रहना।" किन्तु वह चढ़ा चला आ रहा था। उसे भी महाराजजी ने पत्थर खींचकर मारा, वह भी भागा। सेमरिया गॉव का एक सेवक सहदेव था। वह कुख्यात बदमाश रह चुका था। उसे भी महाराजजी ने पत्थर फेंका तो वह तीन-तीन, चार-चार सीढ़ियॉ एक साथ कूदकर भागने लगा। महाराजजी को हॅसी आ गयी, बोले- "देखो-देखो! बदमाश कैसे भागते हैं।" महाराजजी को पत्थर मारता देख मन्दाकिनी के किनारे दर्शनार्थियों के मेले मे भगदड मच गयी। शोर मच गया कि "भागिहे रे बाबा बइकल होइगा।" लोग कूदकर नदी के उस पार हो गये। आश्रम परिसर मे एकदम सन्नाटा छा गया।

महाराजजी का क्रोध थोड़ी देर ही रहता था, वह भी एक दिखावा था। दस-पन्द्रह मिनट बाद वे आकर अपने आसन पर बैठ गये। उन्होंने साधकों को बुलाना आरभ किया, "चलो रे, कहॉ छिप गये? चलो धूना ठीक करो। पानी कहॉ है? अच्छा पानी ला।" सबकुछ यथावत मानों कुछ हुआ ही न हो। सब अपने-अपने सेवा कार्य मे लग गये। धीरे-धीरे लोग महाराजजी के पास आने लगे। हॅसते हुए महाराजजी ने कहा, "कहते हैं बाबा बइकल होइगा। अपना नहीं देखते बाबा ही को क़हते हैं। जिसने मेरा पैर पकडा था, वह कहॉ गया?" डरते-कॉपते वह प्रधान आया। प्रणाम करके वह बैठ गया। महाराजजी ने उससे पूछा, "बात क्या है? किसने तुम्हें सिखाया-पढाया था? क्यो पैर पकड लिया?" वह बोला,"जी! ब्रह्मचारीजी ने बताया कि महाराजजी का पैर छू ले तभी तुम्हारी टी बी. दूर होगी।" महाराजजी ने कहा- अब जाओ हो गया। वह प्रणाम करके चला गया। टी बी -के लिए एक भी टैबलेट उन्होंने नहीं खाया। आज भी वह जीवित हैं, स्वस्थ हैं।

एक बार गुरु पूर्णिमा के दिन एक व्यक्ति बेहोश हो गया। श्रद्धालु भक्तों में कई एक अच्छे डाक्टर भी थे। उन सवने परीक्षण किया और वताया कि अव यह नहीं बचेगा। महाराजजी व्याकुल हो गये। वे कहने लगे, "हो, का वताऊँ, मेरी तो गुरु पूर्णिमा यह चौपट कर देगा। इसे मरना ही था तो कहीं भी मर जाता। यहॉ क्यों चला आया?" शरीर ठंडा हो चला। लोगों ने ग्यारह वजे

रात आकर महाराजजी को सूचित किया। महाराजजी ने जाकर उसे यहाँ-वहाँ सहलाया किन्तु वह तो मृतप्राय था। महाराजजी ने कहा कि इसका तो शरीर ठडा पड़ता जा रहा है। कोई इसे चन्द्रोदय रस शहद में मिलाकर चटा देता! मेरे पास रखी है। शरीर में गर्मी तो आ जाती। लोगों ने मधु मिलाकर चन्द्रोदय उसके मुख में डाल दिया। किसी ने यह भी नहीं सोचा कि दवा दूसरी बार भी दी जाती है। सवेरे वह व्यक्ति भला-चंगा था। उसने पूडी-प्रसाद लिया और पैदल ही स्टेशन का रास्ता पकडा।

कुछ ही दिन पश्चात् की घटना है। नित्य की तरह बड़े सवेरे ही महाराजजी दतुवन कर चुके थे। हम हाथ धुला रहे थे, इतने में दो व्यक्ति आये। उन्होंने महाराजजी को प्रणाम किया। महाराजजी ने पूछा, "इतने सवेरे कहाँ से आये हो? कैसे आए?" उन्होंने वताया कि वे ददरी गॉव के रहने वाले थे। उनका भाई मर गया था। उसका अन्तिम सस्कार करने वे अनुसुइया के पास भवरा नामक ग्राम में जलाने आये थे। उनके दो साथी वहीं शव के पास थे। शव उस पार रख वे दर्शन के लिए आये थे। महाराजजी ने कहा, "लाश लेकर आये हो तो पहले उसे जलाना चाहिए था, यह बीच में दर्शन करने कैसे आ गये?" उन्होंने कहा, "महाराजजी! एक शका है। घर से चले थे तो उसकी न तो नाडी चल रही थी, न श्वास। हाथ-पैर ठडे थे। केवल नाभि के चारों ओर एक रुपये के वरावर थोडी गर्मी थी। हमने सोचा था, यह गर्मी भी कुछ देर में समाप्त हो जायेगी, यहाँ समय नष्ट करने से क्या लाभ? किन्तु नदी के किनारे भी हम लोगों ने छूकर देखा तो उतनी ही गर्मी वनी हुई है। हम लोग सोच रहे हैं कि यह गर्मी भी समाप्त हो जाय तो उसे फूँके। अथवा हम अव क्या करें, जैसा आपका आदेश हो।"

महाराजजी ने कहा, "ऐं! क्या कहा? नाभि में अव भी गर्मी है? कहीं उसे गर्मी ही न हो गयी हो। देखना उसे जिन्दा ही न जला देना। यह विभूति ले जाकर उसके शरीर में लगा दो ओर वॉस की लकडी से उसका मुख खोलकर मुख में भी विभूति डाल देना। ओर हॉ, नींवू की गात या नों पत्ती उस पेड से तोड लो ओर पत्थर पर पीसकर वॉस की लकडी से मुँह खोलकर उसके मुख में डाल देना। जल्दी जाओ।" उन लोगों ने आदेश का पालन किया। गर्मी वटने लगी। पत्ती भी पिला दिया। धीरे-धीरे उसे होश आ गया। उसे लेकर वे लोग वापस चले गये। सातवें दिन एक आदमी कन्धे पर कुल्हाडी लिये फटी हाफ सर्ट पहने आकर प्रणाम किया। महाराजजी ने पूछा, "तू कौन है?" उसने कहा, "सरकार वह मैं ही था, जो मर गया था। आपने ही मुझे जीवनदान दिया तो सोचा जाकर दर्शन कर आऊँ।" महाराजजी ने कहा, "देखो तो लोग इसे जिन्दा फूँक रहे थे और यह जीकर चला गया।"

महाराजजी के आशीर्वाद से विलक्षण घटनाएँ घटित होती ही रहती थीं किन्तु हम उन घटनाओं पर ध्यान नहीं देते थे। हम सोचते थे कि यह भी पूर्णत्व की उपलब्धि का अनिवार्य परिणाम होगा। जो कोई भी इस स्तर को प्राप्त करेगा, तो एक जैसा नशा एक जैसी मस्ती [illegible] हो जायेगी। हमने इसे साधुता का एक स्तर मात्र माना किन्तु महाराजजी के [illegible] में [illegible] समझ में आया कि उनमें दिव्यता विशेष थी। इस स्तर के अनुरूप [illegible] । [illegible] महाराजजी की लीला को अंकित करने का विचार आया। अन्यथा मन उसे [illegible]

अनुसुइया मे महाराजजी के निवास के आरम्भिक दिनों में आश्रम की व्यवस्था अत्यन्त साधारण सामानो तक ही सीमित थी। वर्तनों में एक वहुत मोटा तवा था, एक तवा पतला था। दो बटलोही, एक दो करछुल, तात्पर्य यह कि वहुत नपा-तुला हिसाव था। उपयोग के अतिरिक्त बर्तनो का सग्रह न था। कुएँ के पास वर्तन धोने का स्थान था। एकदिन मोटा तवा छिटककर कुएँ में चला गया। उस तवे के अभाव मे असुविधा होने लगी। कुएँ में डुवकर उसे निकाले कौन?

तीन-चार दिन पश्चात् एक आदमी आश्रम पहुँचा। महाराजजी को साष्टाग दण्डवत कर वह बोला, "महाराजजी! मैं छपरा ग्राम निवासी शीतल पण्डित हूँ। एक आदमी को मारकर आया हूँ। मुझे आशीर्वाद दे जिससे मेरे जीवन की रक्षा हो सके।" महाराजजी ने कहा, "क्यों रे! तुमसे कोई अपराध हो ही गया तो यहाँ जगल में क्यों चला आया? जाकर हाजिर हो जा।" महाराजजी ने पुन पूछा, "तूने किया क्या? क्या सचमुच मार डाला? वात क्या थी?" उसने आप बीती कह सुनाया कि चित्रकूट मे महात्माओं की पाँच-सात पुरानी गद्दियाँ हैं। इन गद्दियों में भी अच्छे महात्मा होते आए है किन्तु एक महन्तजी गृहस्थ आचरण के निकले। उन्होंने किसी स्त्री से सम्बन्ध बना लिया जिससे एक पुत्र पैदा हुआ। महन्तजी उस लडके से वड़ा स्नेह रखते थे।

जब लडके को थाह लग गया कि वह किसका लडका है तो वह और भी खुलकर खेलने लगा। नवयुवक होते-होते वह सात-आठ बन्दूकधारी, लठैतों को साथ लेकर घूमने लगा। दो-चार गाँव उस मन्दिर के नाम थे। उन गाँवों में महन्तजी की जमींदारी थी। उन गाँवों में जिस किसी की भी बहू-बेटी लडके को पसन्द आती, अपने आदमियों को भेजकर उसे अपने पास बुला लेता था। वह इतना तप गया कि पूरा क्षेत्र उससे आतकित और त्रस्त था।

कल उसके चार लठैत मेरे घर भी आए और बोले कि अपनी बिटिया विदा कर दो, दादू का आर्डर है। 'दादू' उस क्षेत्र का रोबीला सम्वोधन है। मैने उन लठैतों को समझाना चाहा, "भाई! दादू के पिता महंतजी हमलोगों के जमींदार अवश्य हैं लेकिन उन्हे ऐसा कार्य शोभा नहीं देता कि हमारे-तुम्हारे जैसे गरीवो की बहन-बेटी की इज्जत लें। उन्हें कुल और परम्परा की रक्षा करनी चाहिए।" किन्तु मेरी बात उन लोगों के गले के नीचे नहीं उतरी। तब तक उनके दो-तीन साथी और आ गये। उन्होने धमकी दी, सीधे से भेजते हो या नहीं?"

हमने देखा, यह तो टेढ़ी खीर है। गुण्डे तो गुण्डे! हमलोगो को मारपीट कर ये लोग उसे हर हालत मे ले जायेगे। इनके विरोध मे गाँव भर में एक भी हमारी सहायता को न आयेगा। अत. हमने उन गुण्डों से कहा, "हमलोग थोडा आपस में विचार कर लें।" हमने पिताजी के साथ अलग बैठकर विचार किया। निश्चय कर लिया कि जब इज्जत ही नहीं रहेगी तो ससार में जीकर ही क्या करेंगे? अव तो मरेंगे या मारेगे। मर्यादा तो खोई नहीं जा सकती। निर्णय पर पहुँचकर मैंने कहा, "देखो ऐसा है, दादू हमारे मालिक हैं, राजा हैं। उन्हें अपनी बिटिया सौंपने में हमें कोई एतराज नहीं है। लेकिन हमें यह अच्छा नहीं लगेगा कि तुमलोग इसे हमारे सामने से घसीटकर ले जाओ। स्वेच्छा से तो वह जायेगी नहीं। तुमलोग दादू को भेज दो। वह बिटिया को चाहे जैसे ले जाय, हमें कोई आपत्ति नहीं है।"

लठेत सदेश लेकर चले गये। महत का वह लड़का मनवढ तो था ही! वन्दूक लेकर अपने पॉच-सात लठैतों के साथ दरवाजे पर आ धमका। वीच ऑगन में चारपाई विछी थी। महत का लडका चारपाई पर वैठ गया। वन्दूक वगल में रख दिया। साथी अगल-वगल खडे हो गये। पिताजी कुछ मीठा-पानी लेकर आये, उसे चारपाई पर रखा और लपककर वन्दूक घर में उछाल दिया। पलक झपकते ही मैं घर में से दौडकर निकला और महत के लडके को दो लाटी मारा। लडका तो वहीं ढेर हो गया और चल वसा। लठैत खडभडाए तो मैंने कहा-खवरदार! कोई हिलना नहीं। हमारी इज्जत का सवाल है। हम मर के ही छोडेंगे। तुमलोग वीच में मत पड़ो। सवके सव भाग गये।"

महाराजजी ने कहा, "परिस्थितिवश जव तुमसे कोई अपराध हो ही गया तो जाकर हाजिर हो जाय। सव कुछ सच-सच वता दे। अव जो दु ख-सुख वदा है, वह तो सहना ही पडेगा। धोखे से सही, जव घटना घट गयी तो भोगना ही पडेगा। इसमें हम क्या करेंगे? किसी वकील वैरिस्टर के पास जा। यहॉ कहॉ चला आया तू?" किन्तु वह उदास होकर एक ओर बैठा ही रह गया।

महाराजजी दूसरे लोगों से वातें करने लगे। वे किसी से कह रहे थे, "हो, मेरा तवा कुएँ में गिर गया है। कोई निकाल नहीं देगा?" इतना सुनते ही पण्डित आर्त तो था ही, तुरन्त कुएँ में कूद पडा और एक ही डुवकी में तवा लेकर रस्सी पकडकर ऊपर चला आया। कुएँ में एक डार गिरी पडी थी, जो जल में डूवी होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी। पण्डित इसी के ऊपर सीधा गिरा। उसके पॉव का तलवा फट गया था, जिससे रक्त की धार निकल रही थी। महाराजजी की दृष्टि पडी तो वोले, "वस वेटा वस! खून के वदले खून! जाओ अव फॉसी तो नहीं होगी, सजा चाहे जो हो जाय। जाकर हाजिर हो जा। थोडी वहुत सजा भोग ले। विभूति खा ले, प्रणाम कर।" जहॉ उसने सिर पटका, महाराजजी की एक छडी लगी और वडे भाव से वार-वार नतमस्तक होकर वह गया, सीधा हाजिर हो गया। दस वर्ष की सजा उसे हुई। जिसे पॉच-छ वर्ष में काटकर वह घर आ गया। जेल में भी वह पण्डित जी वनकर पूजा कराता था। सवने वहॉ भी उसे वडे सम्मान से रखा। छूटते ही वह महाराजजी के पास पहुॅचा। महाराजजी ने दूर से उसे देखकर कहा, "देखो, शीतल आ गया।" गदगद होकर कहा, "आपने हमें पहचान लिया। हम सोच रहे थे कि इतना दिन हो गया। महाराजजी हमें क्यों पहचानेंगे? लेकिन आपको तो मेरा नाम तक याद है। आपके आशीर्वाद से जान वच गयी। थी तो जेल लेकिन कोई कष्ट नहीं था। आपकी दया से वहाँ भी आराम से रहा हूॅ।" इस प्रकार महाराजजी की विभूति, छडी और ताडना भी अनुकम्पा हेतु ही प्रयुक्त हुआ करती थी।

घने जगल, घाटियों के गुजरते हुए उस लडके को पगडडी के समीप ही झाडियों में शेर का लगभग एक माह का शावक दुवका दिखाई पडा। जंगली वच्चे स्वभाव से साहसी होते ही हैं, उस पर भी वह लडका, ऐसे महाराजजी (महापुरुष) की सेवा में रहनेवाला, जिसे वह भगवान से भी अधिक जानता था। उसने उस बच्चे को उटाकर चद्दर में लपेटा और उसे वगल में दवाकर आश्रम की ओर बढा। उन लडकों को यह पता था कि वच्चे जहॉ होते हैं, शेरनी भी सौ-दो सौ कदम के अन्तर में अगल-बगल ही रहती है, वह दूर नहीं जाती। शेर की घ्राणशक्ति अत्यन्त तीव्र होती है। वच्चे को न देख गध से उसका पीछा करते-करते शेरनी भी उन लडकों के पीछे आ गयी। शेरनी को देखते ही उन लडको ने उसे पत्थर मारते हुए, "धर उसे! पकड लो उसे! बचना रे! भागना रे!" कहते हुए वहॉ से लगभग दो-तीन किलोमीटर दूर आश्रम तक चले आए। शेरनी को अपने बच्चे की महॅक आ रही थी, वच्चे को बुलानेवाली भाषा में घुरघुरा रही थी, किन्तु वह बच्चा इतना सधा-सधाया दुवका बैठा रहा कि चूँ तक नहीं किया। यदि वह बोल देता या छटपटाता तो कोई उसे गोली ही क्यों न मारता वह चीड-फाड़ कर रख देती।

लडकों ने शेर के उस बच्चे को ले जाकर महाराजजी के सामने रख दिया। महाराजजी बोले, "क्यो रे बदमाशो! यह क्या उठा लाये? मेरी श्वास तुमलोगो ने चौपट कर दिया। तभी तो मैं सोच रहा था कि बात क्या है? कौन खतरे मे है, तुम इतनी देर से घर कर क्या रहे थे?" "इसी को लाने में देर हो गयी।" महाराजजी वोले, "यह क्यों नहीं कहता कि जान बच गयी। वह तुम्हारी मॉ अब तक तुम्हें खा गयी होती। यह तो भगवान की दया थी जो उसने चूँ नहीं किया।" वह बोला- "जब आपने उसकी श्वास पकड ली तो यह कैसे बोलता? महाराजजी ने कहा- "चल अब तो ले ही आया है।"

महाराजजी ने बढई बुलाकर शेर के उस बच्चे के लिए काठ का एक बडा-सा पिजडा बनवा दिया। उसी मे बैठकर वह केऊ-केऊ करता था। उसे खिलाना-पिलाना भी एक समस्या थी। वह मॉसाहारी जीव! आश्रम मे उसके भोजन की कौन-सी व्यवस्था होती। वह दूध भी नहीं पीता था। दूध रख देने पर वह उसे थोडा-सा चाट लेता था और बस! उधर गॉवों में यह समाचार तेजी से फैल गया कि महाराजजी ने शेर का बच्चा पाल रखा है। उसे देखने दूर-दूर से ग्रामीण आने लगे। चित्रकूट से एक दरोगा जी अपने दस सिपाहियों के साथ बन्दूक लेकर आश्रम आये। उन्होंने पूछा- "महाराजजी! सुना है आपने शेर का बच्चा पाल रखा है?" महाराजजी ने कहा, "हॉ हो! वह शकरजी के चबूतरे के पास, वहॉ पिजडे में है।" वे सब पिजडे के पास पहुँचे। उनको आता देख वह बच्चा पिजडे के दूसरे कोने मे दुबक गया। ज्योही वे लोग पिजडे के पास आकर झॉकने लगे, शेर का वह शावक तेजी से उनकी ओर उछला। दरोगाजी पीछे की ओर गिर पडे। सिपाही लोग छितरा गये। महाराजजी हॅसते हुए वोले, "अरे वह पिजडे में बन्द है। अभी उसके दॉत भी नहीं निकले हैं।" दरोगा जी वोले, "फिर भी इसका नाम ही वहुत है, यह उछला तो कुछ ख्याल ही नहीं आया। किसी को ध्यान ही न रहा कि हमारे पास वन्दूक भी है।"

शेर का वह वच्चा आश्रम मे लगभग एक माह तक रहा। महाराजजी ने एक दिन कहा, "देखो, इसकी खुराक हम दे नहीं पा रहे हैं। अव इसे यहॉ रखना ठीक नहीं है। जानते सभी हैं,

किन्तु न तो जगल विभागवाले इसे लेने आये और न चिडियाखाने वाले। अत इसे जगल मे छोड दो। उसकी मॉ इसका पालन कर लेगी।" इस प्रकार उस वच्चे को महाराजजी ने जगल में छोडवा दिया। किसमें हिम्मत है कि खुले जगल, जहॉ आस-पास शेरनी खडी हो और कोई उसका वच्चा पकड ले, किन्तु उन विश्वासी जगली वच्चों ने महाराजजी के भरोसे उसे भी सकुशल कर दिखाया।

॥ ॐ ॥

आतुर कोटिन सत में, जिन्ह कहँ पकड़ा राम।
करणी सफल वखानिये, विनु स्रम पावहि धाम॥

भावार्थ- करोडों पथिकों में से जिसका हाथ पकडकर भगवान स्वय चलाने लगे, उसी की "करनी सफल वखानिये" तभी चिन्तन की पूर्ण सफलता सभव है। ऐसे सरक्षक द्वारा सचालित साधक अन्य किसी श्रम के विना ही परमधाम की उपलब्धि कर लेता है।

महाराजजी की विद्या

अनुसुइया मे मेरे निवास के दो दिन पश्चात् ही ब्रह्मचारीजी के साथ चित्रकूट जाने का अवसर प्राप्त हुआ। महाराजजी ने उनसे कहा, "इसे भी लेता जा, मार्ग में साधनात्मक उतार-चढाव की सूक्ष्मता समझाना।" उन्होंने बताया कि हर समय भजन में लगे रहना चाहिए। एक भी श्वास चिन्तनविहीन व्यर्थ नहीं जानी चाहिए। हमने निवेदन किया, "अभी चलते हुए आप मुझसे जो वार्तालाप कर रहे हैं, क्या इस दशा में भी भजन संभव है?" उन्होंने बताया, "दस-वीस मिनट का अन्तराल कोई महत्त्व नहीं रखता है।"- यह समाधान मुझे युक्तिसगत न लगा। मन में एक वात बैठ गयी कि एक भी श्वास व्यर्थ नहीं जानी चाहिए। नियम तो नियम! इसमें शिथिलता कैसी?

आश्रम पहुँचने पर गुरुदेव ने समझाया- साधक को अपने टेक का पक्का होना चाहिए, हठी होना चाहिए। हठ ही हनुमान है। कैसी ही परिस्थिति क्यों न आ जाय, उसकी दृष्टि सीधे लक्ष्य पर ही होनी चाहिए। उपलब्धि अन्तरायों (मन के अन्दर के विकारों) से सघर्ष के अन्त का प्रतिफलन है।

साधक को अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। मन में भी विषयों का चिन्तन नहीं आना चाहिए। वह सतत् अभ्यास से सुदृढ होता है। **"संग ते जती कुमंत्र के राजा"**- बेटा, संगदोष से वडे-बडे यती भी नष्ट हो जाते हैं। साधक को सदैव जागरुक रहना चाहिए। सगत अपने से अच्छों की करनी चाहिए। सूर्पनखा के नाक-कान काटे बिना कोई यती न कहाई। साधक के लिए ससार की प्रत्येक स्त्री माता ही है। फिर भी स्त्रियों की ओर दृष्टिपात नहीं करना चाहिए क्योकि वह तो हमे पुत्र नहीं मानती। उसकी दृष्टि सासारिक होना स्वाभाविक है। उसके चिन्तन का भी प्रभाव पडता है। वहुत आवश्यकता पडने पर भी लक्ष्मण की तरह केवल उनके चरणों में देख उन्हें मॉ समझ मन में प्रणाम कर ले। चिन्तन के अतिरिक्त अन्य कोई संकल्प स्फुरित भी नहीं होना चाहिए।

नाम- महाराजजी ने कहा, 'ओमू', 'राम' या 'शिव' दो-ढाई अक्षर का कोई एक नाम पकड लो। अध्ययन करते-करते हमने पाया कि स्वय महाराजजी ॐ का जप करते है। अतएव हमने भी उसी नाम का चयन किया। नाम-जप की विधि पर प्रकाश डालते हुए महाराजजी ने कहा कि एक ही नाम को चार श्रेणियो से जपा जाता है- बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा। नाम-जप की प्रारम्भिक अवस्था बैखरी है। बैखरी वह है जो व्यक्त हो जाय। इसमें नाम का स्पष्ट उच्चारण करना होता है, जिसे समीप बैठने वाला भी साफ सुन सकता है। मध्यमा में यही नाम मध्यम स्वर में जपा जाता है। जिह्वा मुॅह के भीतर स्पन्दित होती रहे, होठ हिलते रहे। यह जप कण्ठ से होता है किन्तु अत्यन्त समीप वैठने वाले को भी सुनाई न पडे। बिना बैखरी का निरन्तर जप किये मध्यमा जागृत नहीं होती और बिना मध्यमा वाणी का निरन्तर जप किए श्वास का जप पकडने की क्षमता नहीं आती। इसलिए बैखरी और मध्यमा का दीर्घकाल तक अभ्यास करते-करते जव मन शान्त हो जाय, टिकने की क्षमता आ जाय तो पश्यन्ति की प्रवेशिका आती है। यह जप श्वास से होता है। इसके लिए शान्त वैठ जाओ। मन को द्रष्टा की तरह खडा कर दो। श्वास कव भीतर

गयी, उसे देखो। कितनी देर अन्दर रुकी, उसे जानो। कब बाहर निकली, उसे जानो। बाहर कितनी देर रुकी (लगभग आधा सेकेण्ड) उसे पहचानो। पुन कब अन्दर गई, उसे जानो। जब मन जानने लगे तो धीरे-धीरे चिन्तन द्वारा उसमें नाम ढाल दो। श्वास भीतर गयी तो 'ॐ', बाहर आयी तो 'ॐ', अथवा श्वास में 'रा' और 'म' देखते रहो।

आरम्भ में यह अभ्यास पकड में नहीं आता। ऐसी परिस्थिति में जैसे शरीर पर कहीं तिल जैसा निशान होता है वैसा ही छोटा कोई विन्दु जमीन पर चुन लो। दृष्टि वहाँ स्थिर कर दो। ऑखें पूरी अथवा आधी खुली रखो। ऑखें नहीं देखती, इनके पीछे विचार देखता है। उस विचार को हृदय में श्वास के पास ले जाओ। देखो श्वास कब अंन्दर गयी, कब बाहर आयी। इस प्रकार ऑख खुली की खुली रहे किन्तु जो विन्दु देख रहे हो उसे देखना बन्द कर चिन्तन के द्वारा श्वास में नाम जपाओ। श्वास को न वढाओ न घटाओ वल्कि स्वाभाविक रूप से (अवस्था भेद से बच्चों में बच्चों जैसी, वृद्धों मे वृद्धों जैसी) चल रही है, उसी में नाम ढाल दो। अपनी ओर से दबाव मत डालो। केवल श्वास-प्रश्वास में नाम को देखते रहो। जिसकी पलक जितनी देर तक खुली रहती है, उसका मन उतना ही अधिक रुकता है।

मन एक मतवाले हाथी के सदृश्य है। इसे वश में करने के लिए एक मजबूत स्तम्भ और उतना ही मजवूत सीकड चाहिए। श्वास एक स्तम्भ है। सुरत की सीकड से मनरूपी मतवाले हाथी को श्वास से बॉध दो। पहले यह झूमता ही रहेगा, शनै -शनै परावाणी के प्रवेशकाल में यह शान्त हो जायेगा। अचल स्थिर ठहर जायेगा।

जव नाम में सुरत स्वाभाविक लग जाय, तैल धारावत् श्वास बॉस की तरह खडी हो जाय, क्रम न टूटे, तहॉ अजपा अर्थात् परावाणी में प्रवेश मिल जाता है। परावाणी के प्रवेश के साथ ही नाम अपने अन्तराल में मन को टिकने का स्थान दे देता है। "मन अन्तर स मन्त्र।" जब नाम मन को अपने अन्तराल में रोकने में सफल हो जाय, दूसरा कोई संकल्प, कोई चिन्तन बीच मे न आये तो यही साधारण नाम मन्त्र की श्रेणी प्राप्त कर लेता है। पहले श्वास में नाम को ढालना पड़ता था, अब वही नाम श्वास में स्वाभाविक रूप से रवॉ हो जाता है। नाम की राम अथवा ओम् की धुन स्वत उठने लगती है। सुरत स्वत. श्वास के साथ जुडने लगती है। उस समय यह जप अजंपा की श्रेणी प्राप्त कर लेता है। उस समय नाम के अतिरिक्त मन मे न कोई सकल्प उठता है और न वाह्य वायुमण्डल के सकल्प भीतर प्रवेश ही कर पाते है। केवल शब्द मात्र रह जाता है। **"सुरत समानी सबद में, ताहि काल ना खाय।"** मन की दृष्टि का नाम सुरत है। जब मन की दृष्टि शब्द में समाहित हो जाय, सुरत समाप्त हो जाय, शब्द मात्र रह जाय, जहॉ ऐसी अवस्था आयी, इसके साथ ही साधक उस परमचेतन का दर्शन, स्पर्श और प्रवेश पा लेता है जो काल से अतीत है।

ध्यान- नाम के साथ ही ध्यान के लिए रूप देखने का विधान है। वह भगवान तो **"तन बिन परस, नयन बिन देखा"** सर्वत्र व्याप्त है किन्तु अमूर्त है, अरूप है। उसे पाने की कुजी सद्गुरु के चरण ही हैं। अत हृदय में सद्गुरु का स्वरूप देखना चाहिए। तू अपने हृदय में मेरा रूप देखा कर। **"सुमति भूमि थल हृदय अगाधू"** गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि हृदय एक

अगाध स्थल है, एक कक्ष है। इसमें अच्छा सा मानसिक आसन बिछा दें। उस पर अपने गुरु महाराजजी को बैठायें। उनका सम्पूर्ण रूप नख से शिखापयेन्त देखें। उनके चरण दिखाई पडे तो मन की दृष्टि को उनके चरणों और फिर नाखून में स्थिर कर दें। जिस दिन दो-एक मिनट उन चरणो को श्रद्धा से देख ले जाओगे, जहॉ उन चरणों पर ध्यान केन्द्रित हुआ तो जिसका नाम भजन है, वह तुम्हारे हृदय मे जागृत हो जायेगा। जैसे शीशे में अपना चेहरा स्पष्ट दिखाई देता है, उतना ही स्पष्ट जब गुरु महाराजजी का रूप झलकने लगे तव ध्यान ठीक है। आरम्भ में तुम रूप पकडोगे किन्तु वह अस्पष्ट रहेगा। वार-वार भागता रहेगा। इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता है। **"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।"**

महाराजजी द्वारा उनके रूप के ध्यान का निर्देश पाकर हमें चिन्ता हुई कि महाराजजी तो महात्मा ही है, शरीरधारी हैं, मुझे तो भगवान चाहिए। इनका रूप देखने से भगवान क्यों मिलेगा? किन्तु आदेश था इसलिए चिन्तन के आधे समय तक महाराजजी के रूप को देखने का प्रयास करते और उतना ही भगवान श्रीकृष्ण के विराट स्वरूप का ध्यान उस चित्र के अनुसार करते, जिसे हम अपने साथ ले गये थे। यह क्रम लगभग ढाई वर्ष तक चलता रहा। महाराजजी के अनुभवी प्रवेश के पश्चात् ही उस विराट स्वरूप के प्रति मोह समाप्त हुआ। क्रमश. महाराजजी का रूप स्थायित्व लेने लगा, भीतर से महाराजजी वोलने-वताने लगे। वैसा बाहर देखने को मिलने लगा, तभी मन आश्वस्त हुआ।

आहार- नाम और रूप के साथ ही महाराजजी साधकोपयोगी चर्या के अनुपालन के लिए मुझे उत्साहित करते रहते थे। युक्ताहार-विहार पर महाराजजी बहुत वल देते थे। वे कहते थे कि साधक को एकाहार अर्थात् दिन मे एक बार ही भोजन करना चाहिए। दिन में एक वार भोजन कर लेने पर रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन की पूर्ण मात्रा से एक रोटी कम ही खाना चाहिए। पेट खाली रहने से भजन में मन अधिक लगता है। पेट भरा होने से आलस्य, निद्रा और प्रमाद घेर लेता है जिससे साधक भटकशून्य खपतुलेहवास हो जाता है किन्तु भजन नहीं हो पाता है।

महाराजजी जैसा कहते थे, वे स्वयं करते भी थे। उनका आचरण ही उपदेश था। प्रात नित्यक्रिया से निवृत्त होकर महाराजजी भजन में बैठ जाते थे। उनके साथ ही साधक भी यत्र-तत्र भजन मे बैठ जाते थे। लगभग दस बजे महाराजजी भजन से उठते थे। उन्हे स्मरण आता तो बालभोग के रूप मे सबको गुड की एक भेली दिलाते। बस चाय और स्वल्पाहार के नाम पर इतना ही मिलता था। कदाचित् उन्हे स्मरण न आये तो वह गुड भी नहीं मिलता था।

अनुभव- इन्हीं निर्देशों के आलोक में ज्योंही दो-ढाई महीने व्यतीत हुए, अनुभव दिखाई देने लगे। वस्तुत पूर्ण निवृत्ति दिला देनेवाले भजन की शुरुआत अनुभव जागृत होने के पश्चात् ही है। इसके पूर्व का भजन प्रवेशिका के लिए प्रयास है। अनुभव का अर्थ होता है- अन अर्थात् अतीत और भव है ससार, अर्थात् भव से अतीत करनेवाली विशेष जागृति। जिस परमात्मा की हमें चाह है, वह हमारे आत्मा से अभिन्न होकर जागृत हो जाय और हमारा मार्गदर्शन करने लगे। यह जागृति तत्त्वदर्शी सद्गुरु द्वारा ही सभव है। अन्य कोई तरीका नहीं है। ध्यान में आनेवाला गुरु

महाराजजी का रूप ही साधक को प्रत्येक श्वास पर सुझाव देते, सभालते हुए चलाता है। "यद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता। अनुभवगम्य भजहि जेहिं सन्ता।। ब्रह्म तो अखण्ड है, अनन्त है। कण-कण में व्याप्त है। इसे पकडे कहॉ से? गोस्वामी जी कहते हैं-अनुभव के द्वारा वह गम्य है, वहॉ पहुँचा जा सकता है। जो अनुभव के आलोक में भजन करते हैं, वे सन्त हैं। महाराजजी ने कहा- भगवान जब जागृत होते हैं तो इस पेड से बोल सकते हैं।

महाराजजी ने अग-स्पन्दन के अनुभवों पर प्रकाश डाला। दाहिना कान फडकने से भगवान कहते हैं इसे सुनो, यह वार्ता तुम्हें सुनने योग्य है। बायॉ कान स्पन्दित हो तो भगवान का निर्देश है मत सुनो, इसके सुनने का दुष्परिणाम तुम्हें साधना से भटकना पड़ेगा। इसी प्रकार दायीं ऑख फडके तो शुभदर्शन, बायीं ऑख का स्पन्दन अशुभ दर्शन इगित करता है। दाहिना ओठ फडके तो बोलो, बायॉ फडके तो मत बोलो। इसी प्रकार ठोढी क्यों फडकती है? पॉव क्यों फडकता है? तलवा क्यों फडकता है? इत्यादि पचासों संकेतों का निरूपण करते हुए आपने बताया कि इससे आगे अब तुझे भगवान पढायेगे। मेरा रूप तुम्हारे भीतर से तुम्हें पढाता रहेगा। अनुभव दृश्य के रूप में भी आने लगे। जैसे लहलहाती खेती देखना--पुण्य की वृद्धि तथा गन्ना इत्यादि खडी फसल का कटना पुण्य क्षीण होना है। बालों का कटना पुण्य क्षीणता का द्योतक है। इन्हीं अनुभवों से ज्ञात हुआ कि वृत्ति ही बहन है, भक्ति ही माता है, ज्ञान ही पिता है। ये प्रतीकात्मक रूप अनुभव में आते रहते हैं।

अनुभव के सचार की अनन्त धारायें हैं किन्तु स्थूल रूप में उसके चार भाग हैं- १. स्थूलसुरा सम्बन्धित अनुभव, २. स्वप्नसुरा सम्बन्धित अनुभव, ३. सुषुप्तिसुरा सम्बन्धी अनुभव, ४ समसुरा सम्बन्धी अनुभव। भगवान जब अपनाते हैं तो सदैव साधक की रक्षा मे खडे रहते हैं। तुम सोते रहो, भजन में बैठो अथवा किसी भी परिस्थिति में हो, भगवान वहॉ सदैव साथ है।

दाहिने अग-स्पन्दन को शकुन और बायें अग-स्पन्दन को अपशकुन मानते है। एक सकारात्मक है तो दूसरा निषेधात्मक, किन्तु इन दोनों सकेतों को देने वाला भगवान ही है। पूज्य महाराजजी ने बताया कि योगी कभी स्वप्न नहीं देखता। जन्म-जन्मान्तरो के दृश्य अतीत के सस्मरण, वर्तमान में मन की अवस्था, भविष्य का सकेत स्वप्नों मे आया करता है। इन सकेतों को समझने में कभी-कभी बुद्धि भी कार्य नहीं करती। ऐसी परिस्थिति में भगवान से सविनय प्रश्न करना चाहिए अथवा गुरु महाराजजी से समाधान करवा लेना चाहिए। ये दोनों अनुभव साधना की आरम्भिक अवस्था में महापुरुषों की टूटी-फूटी सेवा और उनमें श्रद्धा मात्र से जागृत हो जाते हैं। शेष दो अनुभव साधना की उन्नत अवस्था में होते है।

तीसरा अनुभव सुषुप्ति सुरा का है। साधना मे सुषुप्ति काल वह है जब शरीर जागृत रहे किन्तु मन सुप्त हो जाय। मन शान्त, सम, स्थिर श्वास में प्रवाहित हो जाय अथवा ध्यानस्थ हो जाय उस भजन काल में भगवान एकाध मिनट के लिए आपको चेतनाशून्य करके कुछ बता देते हैं। जिस प्रकार शल्य चिकित्सक क्लोरोफार्म सुघाकर चेतनाशून्य कर, आवश्यक चिर-फाड कर पुन होश में ले आता है उसी प्रकार जब भगवान को कुछ बताना होता है तो भजनकाल मे ही एक मिनट के लिए बेहोश करके कुछ दिखा-सुनाकर पुन सचेत कर देते है। सुषुप्तिसुरा का यह

अनुभव ध्रुव अकाट्य होता है।

चौथा अनुभव समसुरा सम्बन्धी है। यह परमात्म स्थित महापुरुष के लिए है। महाराजजी कहते थे, "हो, जैसे टेलिफोन एक्सचेंज में सब कनेक्शन धड़ाधड़ काम करते हैं वैसे ही तरह-तरह की परिस्थितियाँ, साधकों की गतिविधियाँ मैं बैठे-बैठे देखता, मारता-पीटता उन्हें व्यवस्थित करता जाता हूँ। ऐसे महापुरुष को भगवान खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, लोगों से बातें करते किसी भी समय, सोते-जागते हर परिस्थिति में, अपना निर्णय देते रहते हैं। इन अनुभवों में आकाशवाणियो का भी समावेश है।

"मन बस होई तबहि, जब प्रेरक प्रभु बरजे।" मन तभी वश में होता है जब प्रेरक के रूप में स्वय सद्गुरु सार-सभार करने लगे। इसके बिना साधक नहीं समझ पाता कि मैं कब सही कर रहा हूँ और कब गलत कर रहा हूँ। **"छूटइ मन की मलहि के धोए। घृत की पाव कोउ बारि बिलोए।।** प्राय लोग कहते हैं कि हमने बहुत विचार करके विकारों को हटाया। विश्लेषण करते-करते विकारों के तह तक पहुँच गये। विशेष दृष्टि से देखा। जैसे काम विकार आया तो हमने चिन्तन किया कि रूप क्षणभंगुर है। विषयासक्ति क्षणिक पागलपन है। हमने देखा और उसे अपने से अलग कर दिया। शान्त होकर बैठ गये किन्तु यह कोई तरीका नहीं है क्योंकि सारी योजनाएँ तो मन बना रहा है। **"गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।"** अपने मन से लिया गया प्रत्येक निर्णय माया के अन्तर्गत है।

ब्रह्मविद्या- इसी तारतम्य में ब्रह्मविद्या, मन को साधना की परिधि में बाँधकर रखने की कुंजी है। साधनाकाल में जितने भी अनुभव आते हैं उन सबको समझने में यह सहायक है।

योग-साधना में नाम, रूप और ब्रह्मविद्या का सर्वोपरि स्थान है किन्तु ब्रह्मविद्या अधिकारी के लिए है। इसी परिप्रेक्ष्य मे भजन की जागृति के पश्चात् महाराजजी ने मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश किया, जिसमे रामायण की कथावस्तु का आध्यात्मिक रूपक प्रस्तुत किया गया था। यह विद्या अन्त करण की आसुरी तथा दैवी वृत्तियों का चित्रण है। जो साधक एक ही बार में इसे याद कर ले, वह सर्वोपरि है। फिर भी आरम्भ के दस महीने तक हम इसे हृदयगम न कर सके किन्तु महाराजजी के निरन्तर निर्देशन पर हमने इसे याद करके एक वरिष्ठ सन्त को सुना दिया। उन्होंने कहा- रटने से क्या होगा? यह तब सार्थक है जब यह अन्त करण की वृत्तियों में ढल जाय। वैसा दृश्य भीतर दिखाई पडने लगे। एक नयी उलझन हमारे सामने खड़ी हो गयी।

महाराजजी ने कहा, "देखो, **जुगुति बेधि पुनि पोइअहि, राम चरित वर ताग। पहिरहि सज्जन विमल उर, सोभा अति अनुराग।।** (१/११) राम के चरित्रो को युक्तिपूर्वक वेधकर अर्थात् इसका आशय यह है, इसका अर्थ यह है- इस प्रकार वेध कर स्मृति के धागे में पिरोकर पहन लो। अभ्यास करो, मनन करो। हमने तो अभी सामान्य रूप-रेखा दी है। विस्तार से तुम्हारे हृदय में मैं पढाऊँगा। **"गुरोर्मौन व्याख्यानं, छिन्नते सर्व संशयम्।"** गुरु मौन व्याख्यान हृदय से देते हैं, जिससे सारे सदेह मिट जाते हैं। अब इसे चिन्तन द्वारा सूक्ष्म करना, विस्तृत करना तुम्हारा कार्य है। प्रतिदिन इसकी एक माला, एक आवृत्ति अवश्य किया करो।" हम इसके चिन्तन में लग गये। आरम्भ में इसमें आधा घण्टा लगता था। जब यह सूक्ष्म होने लगी, क्रमश समय बढने लगा और

यह अभ्यास तीन घटे तक पहुँच गया। यह समय ऐसे बीत जाय कि समय का भान ही न हो। एक ओर से आरम्भ कर इसका यह आशय, उसका वह अर्थ करते हम दूसरे छोर पर पहुँच जाते थे। बीच में तीन-चार बार इतर सकल्प आकर मन में विक्षोभ उत्पन्न करने का प्रयास करते किन्तु आने से पूर्व ही जानकारी हो जाया करती थी। उसे काटकर हम तत्क्षण ब्रह्मविद्या में पूर्ववत् लगे रहते थे। नित्य एक माला की आवृत्ति से साधन सूक्ष्म होता जाता है और विस्तार में भटकने वाले मन को घसीटकर एक ब्रह्म की धारा में प्रवाहित कर देता है। मस्तिष्क मे ब्रह्मविद्या का एक-एक प्रसग अलग-अलग तालिका जैसा स्पष्ट हो गया। तव अनुभव में आया कि अव तुम्हें ब्रह्मविद्या आ गयी। इसके उपरान्त भी ब्रह्मविद्या चलती रही।

मन तो इतना बडा है जितना बडा ससार किन्तु ब्रह्मविद्या के मनन से यह सिमट जाता है। उसी क्षण इस सिमटे हुए मन को श्वास में लगा दो। श्वास मे दो-तीन घटे जव मन और सिमट जाय तो उसी मन को स्वरूप के ध्यान में लगा दो। वस मन लगने लगेगा। मन नहीं लगता, यह शिकायत समाप्त हो जायेगी। भगवान् शिव, कागभुशुण्डि और लोमश से लेकर अद्यावधि यह ब्रह्मविद्या गुरु-शिष्य परम्परा में सुरक्षित है। किन्तु यह गोपनीय है, अधिकारी के लिए है।

महाराजजी कहा करते थे, "भजन जागृत होने के पश्चात् हर समय मन के पीछे विचारों का पहरा लगाये रखो, मन को नाम, रूप या ब्रह्मविद्या में ही सदैव लगाकर रखो। यह अन्यत्र कहीं भटकने न पाये। यदि मन को भजन से छुट्टी दोगे, यह माया में जायेगा। विरह हो, वैराग्य हो, इष्ट के प्रति श्रद्धा हो, हारिल पक्षी की तरह टेक अर्थात् प्रतिज्ञावद्धता हो तभी सफलता मिलती है। जिस साधक में विरह नहीं, वैराग्य नहीं, भगवान को पाने की तडफन नहीं है; उसके लिए भगवान नहीं हैं।

॥ ॐ ॥

भाव-सुमन

:: १ ::

अनुसुइया में श्री परमहंस जी, धूनी रमाये बैठे हैं।
नहिं वर्णन कर सके जुबां, वे दिल को चुराये बैठे हैं।।
सरकार हैं सर्वोपरि सुन्दर, वे ब्रह्म ऋषि कहलाते हैं।
गिरी महेंद्र शिर ऊपर है, चरणों से स्रोत बहाते हैं।।
साथी जिनके बन्दर मछली, आते तीतर के जोड़े हैं।
बाघम्बर बिस्तर है उनका, सत शान्त चदरिया ओढ़े हैं।।
मन्दाकिनि गंगा तट पर, केशरी किलोलें करते हैं।
मृग शावक फुदक रहे निर्भय, करुणा के झरने झरते हैं।।
यह सिद्ध भूमि भी धन्य हुई, जबसे सरकार विहरते हैं।
है ऐसी विकट घनी झाड़ी, अवलोकत दुर्जन डरते हैं।।
धूनी ऊपर हैं दो त्रिशूल, रुद्राक्ष की माला लटके हैं।
जहँ नित डमरू बाजे डिम-डिम, सत्संगी आगम कहते हैं।।
स्वयं परमानन्द, सच्चिदानन्द, अड़गड़, अखण्ड भगवान ही हैं।
शरणं सत्गुरु बलदेव राम, आनन्द सहित शिव बैठे हैं।।

:: २ ::

सन्त मोहिं श्याम स्वरूप लखाओ।
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल, उर भृगुचरण दिखाओ।।
मरकत-माल, कंबु-कल-ग्रीवा, चरण कमल दरसाओ।
मति अति नीच, ऊँच रुचि चाहौं, सेवक कहँ अपनाओ।।
पीताम्बर अरु शंख चक्र गहि, रज सत तमहिं भगाओ।
विरही परमहंस थकि बैठे, उरझी अब सुरझाओ।।

:: ३ ::

श्री परमहंस स्वामी बिना दिल बेकरारी है।
करूँ मैं किस तरह वर्णन, यती-प्रेमी पुजारी है।।
कलाधर भाल पर झलके, हैं काले केश घुँघराले।
कबूतर के सदृश गर्दन, कमल युग नेत्र भारी हैं।।
बतीसी दाँत की चमके, अधर बिम्बा के फल लाजे।
कीर के तुण्ड सम नासा, विभूति अँग सँवारी है।
भुजा आजानु वृष सीना, उमर चालिस बयालिस की।
कदलि के खम्ब सम जंघा, कटि केहरि विदारी है।।
चरण जिनके बहुत कोमल, मनोहर नख सुधाकर हैं।
कहै बलिराज सुन अंगद, ए सुषमा सबसे न्यारी है।।

:: ४ ::

इस सघन तमिस्रा के नभ में तुम एक मनोरम चाँद खिले।
इस अमाँ निशा अँधियारी में, तुम पूनम बनकर आ निकले।।
हे परम पिता! हे परम इष्ट! हे जग त्राता! हे ब्रह्मनिष्ठ!
हे कर्ता-भर्ता संहर्ता! हे विश्व-विधाता! हे वरिष्ठ!!
वास्तविक सनातन मूल धर्म का आशय तुमने समझाया।
जग पड़ा विश्व, भूले भटकों तक ये नवीन दर्शन पाया।।
भक्तों की रक्षा में तत्पर, प्रतिपल आतम-पथ उन्नेता।
प्रारब्ध झेलते दीनों का, तुम अतुलनीय सुख-दुख जेता।।
अनसुइया जी के राजहंस! उन्नत ललाट पर शशि झलके।
कुन्दन-काया कर्पूर गौर, मृग शावक सी आँखें छलके।।
दुनिया में भक्त कहीं भी हों, सबके संकल्प पकड़ते हो।
तुम अकथनीय लावण्ययुक्त चिन्तन में कभी उभरते हो।।
हे चित् स्वरूप! आनन्द परम! तुमको प्रतिपल भजता हूँ।
यह आवागमन कटे प्रभुवर, प्रार्थना यही करता हूँ।।

मानवता का चरमोत्कर्ष

इन्द्रियो और विषयो के सयोग से उत्पन्न सुख समस्त योनियों को उतनी की मात्रा में उपलब्ध है, जितना कि हमारे मन की मजिल। स्त्री-पुरुष का सयोग, माता-पिता का वात्सल्य, राग-द्वेष एव सम्पूर्ण विषयों का प्रसार समस्त जीवधारियों में समान रूप से है। इन्द्रियों के अनुकूल विषयो की प्राप्ति से तुष्टि और प्रतिकूल विषयों का सयोग होते ही अत्यन्त शोक एव ग्लानि का भाव तो पशु-पक्षियो मे भी पाया जाता है। जैसे कि किसी स्वस्थ बैल की तरफ सयोगवश यदि कोई गीदड या कुत्ता बढता है तो वह तत्काल क्रोधित होकर उसे श्रृग प्रहार हेतु दौड पडता है किन्तु जब वही बैल किसी शेर के सामने पड जाता है तो भयातुर होकर अत्यन्त दैन्यावस्था में गिर पडता है। यदि इसी हर्ष एव शोक की परिधि में ही मानव जीवन-यापन करता है तो वह पशु-पक्षियों के सदृश्य ही है।

परमात्मा के साक्षात्कार की स्थिति वाले महापुरुषों ने इस मानव-तन की प्रशस्ति की है। वस्तुत यह मानव-तन तभी सराहनीय है, जवकि उस परमपुरुष के चरण कमलों में सतत् स्नेह हो।

अब् प्रश्न यह उठता है कि वह अपार्थिव स्नेह किस प्रकार प्रारम्भ हो? वह परमात्म तत्त्व ईश्वर, सच्चिदानन्द और आदि अलौकिक शव्दो से व्यक्त होनेवाला अमृतमय परमपुरुष चेतन स्रत्ता तो सर्वत्र समान रूप से ही व्याप्त है। आकाश, पाताल, सूर्य, चन्द्रमा, यहॉ तक कि प्रकृति के कण-कण में भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतम स्वरूप में उसी परमचेतन सत्ता का सचार हो रहा है। मनुष्य की हर प्रक्रियाऍ उसकी दृष्टि से ओझल नहीं हैं। उसे प्रत्यक्ष देखने के लिए करोडों प्रयत्नशील जिज्ञासुओं में से एकाध उसमे फना हो जाते हैं, ऐसे ही स्थितप्रज्ञ महापुरुषों ने समय-समय पर उस विश्वव्यापी सत्ता को खोजने की अनुपम युक्ति का दिग्दर्शन कराया है। जिस कार्य की पूर्ति के लिए उन्होंने इस पार्थिव शरीर को धारण किया, उसकी पूर्ति कर लेने के उपरान्त उस परम पावन रहनी में स्थूल शरीर का सम्बन्ध छोड़ गये। कालान्तर में उन महापुरुषो के पश्चात् उन्हीं के स्रत्प्रेरित शब्दों के ऊपर मानव की विभिन्न प्रवृत्तियों का जाल बिछ गया, जो एक भ्रान्तिपूर्ण दलदल बन गया।

सत्य-पथ के आभास हेतु उस परम प्रभु का अन्वेषण परम आवश्यक है किन्तु "नौ दिन चले अढाई कोस" की उक्ति को चरितार्थ करनेवाले हमारे बहुत से भाई चलने में श्रम तो करते हैं परन्तु पहुँचते नहीं, इसलिए हम सत्य को किधर से खोजें? उसके लिए थोडी सी प्रेरणा इस कृति से मिलेगी। जैसा कि पूज्य श्री गुरुदेव के शब्दो से स्पष्ट है कि साधन कोई करता नहीं वल्कि महापुरुष ही कराते है।

इस कृति में सम्प्रदाय विशेष का समर्थन अथवा खण्डन नहीं किया गया है, क्योंकि परम लक्ष्य से साक्षात्कार करानेवाली पीयूषवर्षी साधनात्मक क्रिया एक ही है। वस्तुत यदि उस अदृश्य सत्ता की चाह है तो हमें निर्विवाद रूप से उसी प्रयोगात्मक पथ पर चलना पडेगा। अपौरुषेय निधि श्री गुरुदेव की अमरवाणी में श्रीमद्भगवद्गीता, शास्त्रो एव उपनिषदों का अध्यात्म-प्रसूत विलक्षण

अर्थ प्रस्फुटित होता था परन्तु वह लिपिबद्ध नहीं किया गया क्योंकि परमपूज्य महाराजजी सदैव यह कहते रहे हैं कि चरमोपलब्धि का गूढ रहस्य केवल उपयुक्त अधिकारियों के लिए ही है। वह पारलौकिक वस्तु तक पहुँचकर ही रहेगा।

चेतावनी व सस्कार सृजन के लिए दर्श-पर्श एव पूछे गये प्रश्नों के उत्तर ही अन्य परिस्थिति वाले लोगों के लिए पर्याप्त हैं। उदाहरणार्थ यदि वैज्ञानिक अन्वेषण या साहित्यिक शोध कार्य की विषय-वस्तु से सम्बन्धित कोई उच्चस्तरीय पुस्तक किसी प्रारम्भिक, स्तर के छात्र को अध्ययनार्थ दे दी जाय तो क्या वह उसका महत्त्व समझ सकता है?

हॉ, कालान्तर में वही प्राथमिक स्तर का छात्र क्रमागत अध्ययन पटुता के विकासोपरान्त उस योग्यता को प्राप्त करेगा। अत इसको छोटी बात नहीं समझना चाहिए। क्षमतोपलब्धि के बाद उपयुक्त स्तर मिलता ही है। यथा- **गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।।**

यदि वस्तुत कोई अधिकारी है तो उसके लिए कोई दुराव नहीं है। ईश्वर के लिए जिज्ञासु व परम उत्कण्ठा वाला व्यक्ति ही इस पथ पर चलने योग्य है। भगवत् भक्ति के अतिरिक्त आवागमन से छुटकारा पाना असम्भव है। यथा-

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वान।
ज्ञानवन्त अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ विषान।।

यदि कोई भगवद् भजन के बिना कल्याण (मोक्ष) चाहता है तो ज्ञानी होने पर भी वह पशु है। अन्तर केवल इतना ही है कि उसके पास पूँछ नहीं है। अत भजन में सदेह होना अपनी ही हत्या है। भजन की यथार्थता पर सदिग्ध भाव जागृत होते ही प्रत्याशी परावर्त होकर दूसरे के ऊपर दोषारोपण करना प्रारंभ कर देता है किन्तु मौलिक रूप से दूसरो पर दोषारोपण करने से अपना ही अमूल्य समय नष्ट होता है। प्रत्येक प्रयत्नशील के जीवन का सौन्दर्य तो सतत् क्रियाशीलता में ही है जिसकी परिणति परमशान्ति या परमानन्द है।

परमपूज्य श्री परमहसजी महाराज का पावन वृत्तान्त (जीवनादर्श एव आत्मानुभूति) जन-मानस के उत्थान हेतु आपकी सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। हम इस आशा एव विश्वास के साथ लेखनी रख रहे हैं कि आप प्राचीन परम्परागत आध्यात्मिक सत्यता एव परमकल्याण के पथ को समझने का यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे।

अन्त में हार्दिक कामना प्रगट करते हुए उन्हीं महापुरुष सद्गुरु से प्रार्थना है कि समस्त प्रयत्नशील प्राणियों के ब्रह्मोन्मुखी प्रयास को सफल बनाने की कृपा करे।

ॐ- पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

- हमारे प्रकाशन -

पुस्तकें	भाषा
यथार्थ गीता	
• भारतीय भाषायें	हिन्दी, मराठी, पंजाबी, गुजराती, बगला, तमिल, तेलगू, मलयालम,कन्नड,उर्दू
• अन्तरराष्ट्रीय भाषायें	अग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, नेपाली, स्पेनीश, इटालियन, ।
शका समाधान	हिन्दी, मराठी, गुजराती ।
जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति	हिन्दी, मराठी, गुजराती ।
अंग क्यों फडकते हैं ?	
क्या कहते हैं ?	हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती ।
अनछुये प्रश्न	हिन्दी ।
एकलव्य का अगूठा	हिन्दी, मराठी ।
भजन किसका करें ?	हिन्दी ।
ऑडियो कैसेट्स	
यथार्थ गीता	हिन्दी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी ।
अमृतवाणी (श्री स्वामीजी के मुखारविन्द से नि सृत अमृतवाणियों का सकलन - वाल्यूम १ से ४४ तक ।)	हिन्दी ।
गुरुवंदना (आरती)	
ऑडियो सिडिज् (MP3)	
यथार्थ गीता	हिन्दी, गुजराती, मराठी, अग्रेजी ।
अमृतवाणी	हिन्दी ।